

प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर

लेखक

प्रोफेसर डॉ० वासुदेव उपाध्याय

(पटना विश्वविद्यालय)

मंगलाप्रसाद पारितोषिक, जोधसिंह पुरस्कार, बंगाल हिंदी मंडल
पुरस्कार, हीरानाल स्वर्णपदक एवं गुलेरी पदक विजेता ।



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना-३

सर्वाधिकार बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा सुरक्षित

विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार (शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय) के अत-प्रतिगत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशन संख्या—२५

प्रथम संस्करण . मई. १९७२
५००० प्रतियाँ

मूल्य : २३ ०० (तेईस रुपए)

प्रकाशक :

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, वादमकुआँ,
पटना-३

मुद्रक :

श्री रामनरेश सिंह
बाल्मीकि प्रेस, पटना ४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री मुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकारों द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर' डॉ० वासुदेव उपाध्याय की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इस ग्रंथ से विद्यार्थी और विद्वज्जन लाभान्वित होंगे, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

पटना-३

दिनांक २३-५-७२

अस्मीनाथ दुधौ

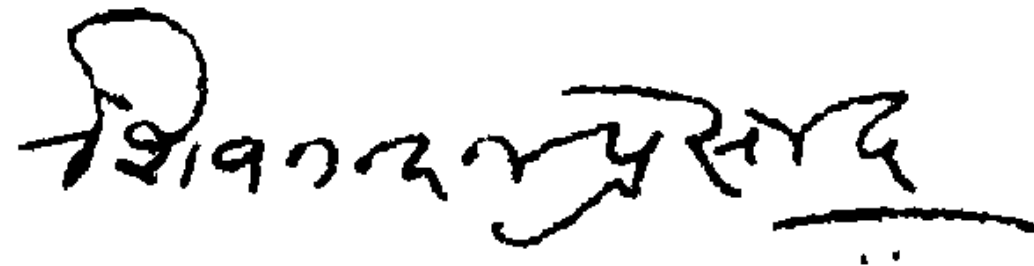
अध्यक्ष, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर' डॉ० वासुदेव उपाध्याय की मौलिक रचना है। डॉ० उपाध्याय पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व विभाग में वर्षों प्राध्यापक रहे हैं एवं अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं। उनके प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा, भाषा की जाती है, भारतीय संस्कृति के संबंध में पाठकों को नया प्रकाश मिलेगा।

इस ग्रंथ का मुद्रण-कार्य वाल्मीकि प्रेस, पटना—४ ने किया है। आवरण-शिल्पी श्री श्यामलानंद हैं और प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री हिमांशु श्रीवास्तव ने किया है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

पटना-३
दिनांक २३-५-७२



निदेशक, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

समर्पण

जिन्होंने

मेरे जीवन की धारा बदल कर

इतिहास तथा संस्कृति के प्रति

हृदय में नैसर्गिक प्रेम

एवं अनुराग पैदा किया,

जिनकी अनुकम्पा से

मैं साहित्य-सेवा में रत हुआ,

उन्हीं पितृतुल्य ज्येष्ठ भ्राता श्रद्धाभाजन

आचार्य पं० बलदेव जी उपाध्याय,

भूतपूर्व निदेशक, अनुसंधान संस्थान,

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

के

करकमलों में यह कृति

सादर समर्पित ।

—वासुदेव

भूमिका

ऐरावत समारूढं नानामणि विभूषितम्
चतुः षष्टिकलाविद्या निपुणं वदनोज्ज्वलं,
भुजद्वये सुगर्भा च अपरे मानधारकम्
वदे विष्णुं महातेजो विश्वकर्मन नमोस्तुते ।

कला मानव-संस्कृति की उपज है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई और उसके द्वारा वह आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त करता रहा। कला का उद्गम सौंदर्य की मूलभूत प्रेरणा से हुआ है। सौंदर्य की अभिरुचि मनुष्य की अनुकरण-प्रवृत्ति द्वारा प्रमाणित होती है। मानव की सर्वोपरि चेतना प्रकृति के अनुकरण में निहित है। भारतीय कला में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष तथा सत्य की अपेक्षा कल्पना को ही अधिक महत्त्व दिया गया है; क्योंकि कल्पना के द्वारा मनुष्य में नव चैतन्य का जन्म होता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की भावनाओं तथा विचारों का प्रत्यक्षीकरण कला के द्वारा हो जाता है। प्रत्येक प्रकार की कलात्मक प्रक्रिया का ध्येय है—सौंदर्य तथा आनंद की अभिव्यक्ति।

किसी देश की कला एक व्यक्तिविशेष के उत्साह का फल नहीं है, बल्कि कलाकारों की शताब्दियों की मनोरम कल्पना का परिणाम है तथा आंतरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है। कलाकृतियाँ समान रूप से समाज के सभी अंगों को प्रभावित करती हैं। भारतीय कला-दर्शन पर विचार करने के पश्चात् शिल्प को 'मूक काव्य' कहना सर्वथा उचित होगा।

भारतीय कला का विस्तार ऋग्वेद के समय से ही हुआ, अतएव शिल्पियों की परंपरा वैदिक युग से आरंभ मानते हैं [ऋ० वे० १०/७०/६]। इसमें अधिकांश मात्रा में कला धर्म से संबंधित है। यदि कलात्मक उदाहरणों का गंभीर अध्ययन किया जाए, तो कला की लोक-मंगल कामना और उसके स्थायीभाव का गुण सर्वत्र प्रतिध्वनित होता है। इस कारण समाज में शिल्पशिक्षा के निमित्त श्रेणियाँ कार्य करती रही। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन में कला का महत्वपूर्ण स्थान रहा तथा शिल्पी कल्पना के सहारे समाज को अपरिमित सुख पहुँचाते रहे।

वास्तुकला का इतिहास अत्यंत पुराना है। यह शब्द 'वस' धातु से बना है; जिसका अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। अर्थशास्त्र (अध्याय ६१) में गृह, सेतु, क्षेत्र आदि इमारतों के भाव में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। अतएव, वास्तुकला का प्रतिपाद्य विषय है—मानवगृह, देवमंदिर या अन्य प्रकार के भवन। किसी भी विषय के वैज्ञानिक सिद्धांत के सुव्यवस्थित रूप को प्रतिपादित करने के लिए आधारभूत मौलिक पदार्थों की स्थिति आवश्यक होती है। वैदिक साहित्य में कई प्रकार की वास्तु कृतियों का वर्णन मिलता है। परंतु, उनकी रचना किस प्रकार हुई, इस विषय पर प्रकाश नहीं पड़ सका है। बौद्धग्रंथ भी वास्तुकला की कृतियों के विवरण से परिपूर्ण हैं तथा उनके भग्नावशेष भी मिलते हैं। चाणक्य-युग में वास्तुविज्ञान अत्यंत प्रसिद्ध था। पौलिंगिक साहित्य भी इस प्रकार के विवरण से भरे पड़े हैं। विष्णु धर्मोत्तर में मानव तथा देवगृहों (देवालय) की रचना का निरूपण पृथक्-पृथक् किया गया है। भारतीय वास्तुकला-संबंधी साहित्य की तिथियाँ अंधकारमय हैं। केवल भोजकृत 'समणांगण सूत्रधार' (ई० स० १०१८) तथा मंडन मिश्र के शिल्पशास्त्र की तिथियाँ (१५ वीं सदी) ज्ञात हैं। असाधारण स्थिति में भी भारत के प्राचीन शासकों द्वारा निर्मित भवनों और देवालयों की तिथियाँ अभिलेखों के आधार पर स्थिर की जाती हैं तथा निर्धारित की गई हैं।

धार्मिक परंपरा-से संबद्ध जितनी इमारतें उपलब्ध हुई हैं, उनका विश्लेषण समसामयिक इतिहास के सहारे हो चुका है और उनके मूलभूत सिद्धांतों का भी दिग्दर्शन कुछ अंश तक किया गया है। मानव-निवासगृह की सामग्री में लकड़ी का अधिक प्रयोग होता रहा और इस प्रकार के विचारों के विकास में भी लकड़ी ही सर्वाधिक उपादान सामग्री थी। उसकी सहायता एवं प्रयोग से ही प्रासाद तथा देवालय निर्मित हुए। यहाँ स्तूपों की वेदिका तथा चैत्य मंडप के मेहराब की पंक्तियों (शहतीरों) में लकड़ी का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। समाज में यह विश्वास था कि अष्ट दिक्पालों के शक्तियों के रूप में सभी आकार शरीर धारण करते हैं—

अष्टानां लोकपालानां वपुः धारयेत् नृपः

यही कारण है कि दक्षिण भारत के गोपुरम् पर आठ दिक्पालों की आकृतियाँ भी मिलती हैं।

भारतीय कला के इतिहास का अध्ययन तथा अध्यापन करते समय यह धारणा निश्चित हो गई कि स्थापत्य कला का जो विवरण उपस्थित किया गया

है, उसमें पाश्चात्य विद्वान भारतीय आत्मा को देखने में असमर्थ रहे । कलाकारों की कल्पना एवं कलादर्शन में तथा भारतीय समाज की झांकियाँ स्थापत्य-संबंधी उदाहरणों में मिलती हैं । वास्तुकला के विभिन्न पहलुओं पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने से भारत की सांस्कृतिक चेतना भी प्रकाश में आ जाती है । सत्पश्चात् बृहत्तर भारत में भी उन विचारों के प्रवाह तथा भावनाओं के प्रवेश की जानकारी हो जाती है । राजनैतिक कारणों ने स्थापत्य के परिवर्तन में योग दिया, जिस कारण उनका समसामयिक विकास हुआ । यों तो विषय को व्यापक बनाने के लिए पुस्तक को तीन खंडों में विभक्त किया गया है, परंतु सूक्ष्म विचार में सर्वत्र भारतीय आत्मा की पुकार सुनायी पड़ रही है । स्तूप के वेष्टनी या तोरण पर जिस स्था में सामाजिक विचार, धार्मिक भावना तथा अन्य प्रमुख विषयों को उत्कीर्ण किया गया; गुहा के भित्तिचित्र अथवा दीवार पर खुदाई उसी भाव को प्रतिध्वनित करती है । जिन सांसारिक विषयों को गुहा-अलंकरण में स्थान दिया गया है, मंदिरों की दीवारों पर उन्हें ही प्रदर्शित देखते हैं । भरहुत, सांची तथा अमरावती (यानी संपूर्ण भारत) की वेष्टनी पर उत्कीर्ण विषयों की समरूपता के अनिरिक्त भावों की अभिव्यजना समान है । वस्त्राभूषण की अभिव्यक्ति में नारी का शृंगार प्रेम तथा उनकी प्रकृति का भावात्मक चित्रण गुहा या मंदिरों की दीवारों पर दृष्टिगत होते हैं । अमरावती की यक्षिणी स्त्रियों के आंतरिक प्रणयी भाव को व्यक्त करती है । अजंता के भित्तिचित्र या लिंगराज एवं कोणार्क मंदिर अथवा कंदरिया महादेव की उत्कीर्ण दीवारें नारियों की विषयवासनाओं की ओर अभिरुचि प्रकट करती हैं । अजंता के चित्रों में मनुष्य का चित्रण यह संकेत करता है कि कलाकार मानव-प्रकृति का अध्ययन कर चुके थे । उनके अवलोकन तथा परीक्षण से पशु-जीवन की एकरूपता जात हो जाती है । गुहा-स्तंभों पर उत्कीर्ण दपति तथा मिथुन आकृतियाँ गार्हस्थ्य जीवन पर प्रकाश डालती हैं । मंदिरों के संबंध में भी ऐसी बातें अत्युक्तिपूर्ण तथा अपंगत न होंगी । मंदिरों में आध्यात्म चिंतन के पवित्र स्थल पर प्रणय-संबंधी चित्रण दर्शकों को आश्चर्य में डाल देता है । इसी प्रसंग में जातक प्रदर्शनों की एकरूपता पर दो शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा । स्तूपों की वेष्टनी या तोरण पर उत्कीर्ण जातक प्रदर्शन अजंता के भित्तिचित्र के मूल स्रोत हैं । उदाहरण के लिए महाकपि तथा पड्डंत जातकों और सांची तोरण पर मारविजय का प्रदर्शन काल्पनिक होते हुए भी भारतीय समाज का चित्र उपस्थित करते हैं । वह साहित्यिक वर्णन से निम्न स्तर का

नहीं है। बोधगया में तपस्वी गौतम पर मार (विषयवासनाओं) का आक्रमण, मार की सेना की पराजय तथा भगदड़ भारत की दार्शनिक भावना को प्रति-
ध्वनित करती है। इस प्रकार कल्पना तथा रचनी घटना का सुंदर प्रदर्शन
बौद्ध शिल्पकारों ने अत्यंत कुशलता के साथ किया है।

इस स्थान पर दार्शनिक वादविवाद में न जाकर यह कहना आवश्यक
प्रतीत होता है कि बोधिसत्व की कल्पना हीनयान मत में निहित थी। महं यान
से इसका संबंध अंतिम रूप से जोड़ा नहीं जा सकता। जातक प्रदर्शनों का
अध्ययन इसी निष्कर्ष पर ले जाता है।

भारतीय इमारतों का परीक्षण यह प्रकट करता है कि ब्राह्मण तथा जैन
मतावलंबियों ने बौद्ध इमारतों का अनुकरण अवश्य किया, किंतु उसके विचार
में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। सर्वत्र एकरूपता व्याप्त रही। धर्म के मूल
सिद्धांतों तथा दार्शनिक भावनाओं में समानता देखकर ही किसी ने इमारतों
में आमूल परिवर्तन नहीं किया। इस विषय के सागोपाग वर्णन के साथ विचारों
के प्रवाह के अध्ययन से स्थापत्य की कल्पना एवं मृजनात्मक शक्ति का आभास
मिलता है। इन सभी पृष्ठों में भारतीय संस्कृति के स्वरूप को उपस्थित करने
का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक प्रतिपादित विषय (स्तूप, गुहा एवं मंदिर) पर
पृथक्-पृथक् पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, परंतु लेखक का मुख्य उद्देश्य उनके
सिद्धांत, विकास, प्रसार तथा अनुकरण को सामने रखना है। पारस्परिक
धार्मिक प्रभाव के कारण इमारतों की विविधता में एकता है। प्राचीन भारत
की इमारतों का क्रमिक विकास तथा समाज में उनके स्वागत का विवरण भी
उपस्थित करना लेखक का उद्देश्य है।

वास्तुकला-संबंधी नाना विषयों के स्पष्टीकरण को ध्यान में रख कर
प्रस्तुत ग्रंथ में सामाजिक तथा धार्मिक पहलुओं पर विचार किया गया है। इस
ग्रंथ में तीन खंड हैं। प्रथम खंड में स्तूप-संबंधी विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण
है। वैदिक युग से ही चक्रवर्ती राजाओं की राख पर स्मारक बनाया जाता रहा,
जिसका वर्णन महापरिनिब्बान सूत्र में किया गया है। बौद्ध युग में उसी परंपरा
को अपनाया गया और बुद्ध की राख को भस्मपात्र में रख कर स्तूप बनाए
गए। यह कहना प्रामाणिक है कि स्तूप सर्वथा बौद्ध मत की देन नहीं है। यह
भी सत्य है कि कल्पना के स्थान पर बौद्ध शिल्पियों ने वास्तविकता पर जोर
दिया, किंतु वे दार्शनिक विचारों से प्रभावित रहे। स्तूप के दार्शनिक पहलू तथा
वेष्टनी या तोरण पर खुदाई के आदर्शवादी विचारों से अछिने न रहे। शुंग-

काल में बौद्धमत के ह्रास का वातावरण था, किंतु स्थापत्य की ओर उदासीनता न थी। भरहुत एवं बोधगया से सांची तोरण की खुदाई उच्चतम स्थान पर पहुँच गई। उन सभी मौर्ययुगी नकारात्मक कला प्रवृत्तियों का फल था कि बौद्ध स्थापत्य को प्रोत्साहन मिलता रहा।

द्वितीय खंड में गुहा के वास्तविक प्रयोजन, गुहा का इतिहास तथा उनके अलंकार का गंभीर रूप में विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के उन अभिलेखों का निरूपण है, जिनमें गुहा-दान का उल्लेख है। प्रारंभ में गुहा के दो विभेद थे—१. विहार तथा २. चैत्य। दोनों की पृथक्-पृथक् स्थिति अधिक समय तक रुचिकर न रही और असुविधा को हटाने के लिए विहार तथा चैत्य मंडप का संमिश्रण कर दिया गया। इस विषय का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। स्तूप परंपरा को चैत्य मंडपों में भी प्रमुखता दी गई थी। इस कारण दोनों की स्थापत्य-पद्धति में विभेद रहा। पर्वत के माथे को देख कर ही दूर से दर्शक विहार या चैत्य का अनुमान कर लेता था। परंतु, महायान के उदय के कारण उस शैली में परिवर्तन आ गया। हीनयान चैत्य के माथा (भाजा पितलखोरा, कोनदने आदि) पर चैत्य वातायन (Chaitya Window) की प्रमुखता थी, जिसे महायान कलाकारों ने बुद्धप्रतिमा से विभूषित किया। तात्पर्य यह है कि धार्मिक भावना की प्रगति देख कर शिल्पियों ने सामाजिक परिवर्तन ला कर कलाकृतियों को नया रूप दिया। बौद्ध चैत्य ही ब्राह्मणमत के मंदिरों का मूल स्रोत था। विहार मिश्रित चैत्य कक्ष (बुद्धप्रतिमा का स्थान) को गर्भगृह या देवन का नाम दिया गया, जहाँ भगवान् शिव या विष्णु की प्रतिमाएँ स्थापित होने लगीं। एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर एवं एलिफेंटा की गुफा इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। सांची का गुहा मंदिर उसी का परिचायक है।

तृतीय खंड में भारत के मंदिरों के उद्गम तथा विकास पर बल दिया गया है। उत्तरी भारत के आर्य शिखरयुक्त मंदिरों के निर्माण की चरम सीमा खजुराहो के कंदरिया महादेव मंदिर में दीख पड़ती है। खजुराहो शैली का समाज में इतना गहरा प्रभाव रहा कि आज भी उत्तरी भारत के मंदिर उसी शैली में ऊरुशृंग सहित बनते हैं। समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं तथा पूजा-विधान में सुविधा के लिए चार कक्षों (गर्भगृह, सभामंडप, भोगमंडप तथा नटमंडप) का निर्माण किया गया। भगवान के समुख संगीत एवं

(च)

कीर्तन निमित्त नटमंडप का मुख्य मंदिर के क्रम में जोड़ना जनता की अभि-
याचना का फल था । स्थापत्य कार्य में आवश्यकतावश परिवर्तन होता गया ।
उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के मंदिरों में कोई मूलभूत सैद्धांतिक विभेद न होने
पर भी स्थानीय भेद दीख पड़ता है । जिस गर्भगृह में देवता की स्थापना की
गई है, उस मंदिर का स्वरूप भी मानवदेही है । इस प्रकार के विषयों का
निरूपण करने के पश्चात् आर्य शैली तथा द्राविड शैली के मंदिरों का काल-
क्रमानुसार वर्णन किया गया है ।

परिशिष्ट में बुद्ध के शरिर (भस्म) संबंधी लेख, वेष्टनी एवं तोरण पर
अंकित लेखों की चर्चा इस ग्रंथ की विशेषता है । बृहत्तर भारत में भी भारतीय
संस्कृति के साथ स्तूप, गुहा एवं मंदिर की परंपरा के विस्तार का विवेचन प्रस्तुत
किया गया है । इन पृष्ठों में संघ की आर्थिक स्थिति तथा भिक्षावृत्ति को
निर्मूल करने के मार्ग और साधन का निर्देश मिलेगा । प्राचीन भारत के मंदिरों
से संबद्ध प्रमुख संस्था सत्र की कल्पना वर्तमान परिस्थिति में नहीं की जा
सकती । परंतु वह कल्पना नहीं, वास्तविकता थी । परिशिष्ट के अंत में पाठकों
की सुविधा के लिए इमारतों की तालिका तथा पारिभाषिक शब्दावली को भी
स्थान दिया गया है, जिससे विषय के समझने में कठिनाई न हो ।

वर्तमान भारतीय साहित्य में ऐसे ग्रंथ का अभाव-सा है, जिसमें समाज,
धर्म एवं दर्शन का स्थापत्यकला से संबंध निर्धारित किया गया हो । इस
अविद्यमानता को दूर करने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ की योजना तैयार की गई ।
आशा है, इससे उस अभाव की पूर्ति होगी ।

इस कथन को समाप्त करने से पूर्व मैं बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के
पदाधिकारियों का आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी तत्परता से यह ग्रंथ शीघ्र
प्रकाशित हो सका ।

निवेदन है—सूर्पवदोषमुत्सृज्य, गुणं गृह्णन्ति साधवः ।

पाटलिपुत्र
कर्क संक्रांति
१३ अप्रिल ७२

}

वासुदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खंड

भूमिका	क-च
अध्याय १	पृष्ठ
स्तूप का अर्थ एवं उद्गम	३-१०
स्तूप या चैत्य	४-५
स्तूप या महाचैत्य	५
चैत्य या गुहा	५
स्तूप की वैदिक परंपरा	६
शव की वैदिक चर्चा	६
दाह संस्कार	७
बौद्ध युग से पूर्व स्मारक-स्तूप	८
धातुगर्भ और स्तूप	८
अभिलेखों में अवशेष का वर्णन	९
अवशेष पर स्तूप	१०
अध्याय २	
स्तूप का प्रयोग, आकार तथा दार्शनिक विश्लेषण	११-२०
बुद्ध के चार प्रधान प्रतीक	११
चैत्य में स्तूप	१२
सांची तोरण (अवशेष प्रदर्शन)	१२
कुशीनगर में परिनिर्वाण	१२-१३
अवशेष का आठ भाग	१३
स्तूप की पूजा	१३
स्तूपों का वर्गीकरण	१४
स्तूप का आकार	१४-१५
मेघि की स्थिति	१४
वेदिका का पूर्वरूप	१५
वेदिका के अलंकरण	१६

वेदिका के भाग	१६
तोरण का निर्माण	१७
चैत्य में स्तूप	१७-१८
चैत्य का आकार	१८
स्तूप का दार्शनिक विश्लेषण	१८-२०
अध्याय ३	
स्तूप-निर्माण की परंपरा	२१-२६
वैदिक समाधि	२१
चक्रवर्ती राजा का स्तूप	२२
आनंद-बुद्ध का वार्तालाप	२३
शुंगकालीन स्तूप	२२
वेदिका का स्थायी रूप	२४
स्तूप-निर्माण कार्य	२५
मध्ययुगी स्तूप	२५
अध्याय ४	
स्तूप अलंकरण के आधार	२७-३३
स्थायी निर्माण का रूप	२७
अमरावती की विशेषता	२८
सांची तोरण	२८
तोरण के अंग	२८
भरहुत तोरण	२९
बंडेरियो पर जातक प्रदर्शन	२९-३०
सातमानुषी बुद्ध	३०
प्रदक्षिणापथ की कल्पना	३०
वेष्टनी लेख	३१
फलक का अलंकरण	३२
अध्याय ५	
स्तूप के अलंकरण	३४-५५
अलंकरण का क्रमिक विकास	३५
भरहुत अलंकरण में गतिहीनता	३५
बोधगया की परिष्कृत योजना	३५-३६

सांची तोरण में जीवनशक्ति	३६
संगमरमर का प्रयोग	३६
अमरावती में सर्वांगीण अलंकरण	३६
मीर्यकला का अभावात्मक स्वरूप	३६-३७
हीनयान संबंधी आलंकारिक प्रदर्शन	३७
खुदे प्रदर्शित दृश्य	३८-३९
बुद्ध के चार प्रधान प्रतीक	३९
मायादेवी का सपना	४०
गजलक्ष्मी	४०
महाभिनिष्क्रमण	४०
मार विजय	४१
बुद्धत्व प्राप्ति	४१
धर्मचक्र परिवर्तन	४२
महापरिनिर्वाण	४२
चार गौड़ चमत्कारों का प्रदर्शन	४२-४३
अन्य प्रतीक	४४-४५
जातक प्रदर्शन	४५-५०
कथा साहित्य के उपविभाग	४६
वेसंतर जातक	४६
महाकपि जातक	४७
षड्दंत जातक	४८
ऐतिहासिक प्रदर्शन	४९
वेदिका पर अधार्मिक अलंकरण	५०
सामाजिक विषयों का प्रदर्शन	५१
नाग तथा यक्ष	५२
नाग के तीन स्वरूप	५२
नाग प्रदर्शन	५३
लेखों में यक्ष यक्षिणी	५४
ब्राह्मण मन से संबद्ध अनुकरण	५४
सूर्य का प्रदर्शन	५५
बारह राशियाँ	५५

अध्याय ६

शुंगकालीन प्रधान स्तूप	५६-७४
भरहुत स्तूप	५६-९०
वेदिका आकार	५७
मानुषी बुद्ध	५८-५९
गोलाकार फलक	६०
हास्यपूर्ण प्रदर्शन	६०
बोधगया स्तूप	६१
सामाजिक प्रदर्शन	६१
साँची स्तूप	६२
साँची गौड़ स्तूप	६३
साँची तोरण का क्रमिक निर्माण	६४
जीवन-घटनाओं का प्रदर्शन	६५
साँची-तोरण की विशेषता	६५-६६
(अ) सापेक्ष महत्त्व	६६
(ब) अनुपात तथा परिमाण	६७ ६८
(स) मनुष्याकृति का शुभारम्भ	६८
(द) वनस्पति परिकल्पना	६९
(च) मालवा शैली	६९
साँची स्तूप सं० २	६९
अमरावती तथा अन्य स्तूप	७०-७४
दक्षिण भारतीय स्तूप-निर्माण	७०
आयक-स्तंभ	७१
हीनयान तथा महायान प्रदर्शन	७१
अमरावती स्तूप अलंकरण	७२
अलंकरण के आधार	७२
अमरावती का क्रमिक विकास	७३-७४
मानवाकृति	७४
अलंकरण	७४

अध्याय ७

भारत में स्तूप-निर्माण का इतिहास	७५ ८१
----------------------------------	-------

महायोगी बुद्ध	७५
पारिभोगिक चिन्ह	७५
स्तूप-निर्माण के स्थल	७७-७८
स्तूपों का स्थायित्व	७९
स्तूप अभिलेख	८०
उत्तर गुप्तकालीन स्तूप	८१

अध्याय ८

कतिपय स्तूपों के भग्नावशेष	८२-८७
सारनाथ	८२
कुशीनगर	८४
श्रावस्ती	८५
कौशाम्बी	८५
राजगृह	८५
नालंदा	८६-८७
विभिन्न युग में विस्तार	८७

द्वितीय खंड

अध्याय १

गुहा का प्रयोजन एवं योजना	९१-९०१
वैदिक परिपाटी	९१-९२
गुहा स्थान का चयन	९२-९३
संघ का शुभारंभ	९३
संघ स्थापना की योजना	९३
त्रिरत्न के शरण	९४
त्रिरत्न की वैदिक कल्पना	९४
अशोक के लेखों में संघ का वर्णन	९६
विहार या संघाराम	९७
विहारों का नामकरण	९८-९९
गुहा या लेण	९९
अभिलेखों में लेण की चर्चा	१०१

अध्याय २

गुहा की धार्मिक परंपरा	१०२
------------------------	-----

दो प्रकार की गुहा	१०२
राजाश्रय का अभाव	१०३
समतल भूमि पर विहार	१०४
विहार तथा चैत्य	१०४
रामायण में चैत्य की चर्चा	१०५
चैत्य का आकार	१०५-६
झोपड़ी से चैत्य की कल्पना	१०६
चैत्य में स्तूप पूजा	१०७
चैत्य में बुद्ध प्रतिमा	१०७
विहार तथा चैत्य का संमिश्रण	१०७

अध्याय ३

गुहा का इतिहास	१०८-१२०
अशोक की गुफाएँ	१०८
उड़ीसा की गुफाएँ	११०
सह्याद्रि की गुफाएँ	१११
नासिक लेखों में गुहा-वर्णन	११२-१३
लेण की तिथियाँ	११३-१४
सातवाहन नरेशों द्वारा निर्मित लेण	११४-१५
गुप्तकालीन गुहाएँ	११५-१६
ब्राह्मण गुफाएँ	११७
सांची का विहार	११८
विहार-शिक्षा केंद्र	११८
समतल भूमि पर विहार	११९
नालंदा का बालपुत्रदेव विहार	११९
विहार : एक परिषद्	१२०

अध्याय ४

विहार को दान	१२१-१२६
भारत की प्राचीन परंपरा	१२१
दान वस्तुओं का वर्गीकरण	१२२
प्रतिमा दान	१२३
कुषाण लेखों में दान की चर्चा	१२३-२४

गुहा एवं भूमि दान	१२४-१३०
क्षत्रप लेखों में दान का वर्णन	१२५
सातवाहन द्वारा दान की योजना	१२६-१७
लेखों में प्राप्त विवरण	१२८
गुप्त लेखों में दान का उल्लेख	१२९-३०
दानपत्रों में कार्य-निरूपण	१३०-३२
देवपाल द्वारा दान	१३२
नालंदा को दान	१३२-३३
चोल लेखों में दान-विवरण	१३३-३५
मुद्रा दान	१३५
दान के सूद का उल्लेख	१३५-३६
अध्याय ५	
विहार-निर्माण कार्य	१३८-५०
हीनयान युग के विहार	१३८
सह्याद्रि के विहार	१३९
ग्रामीण गृह का अनुकरण	१४०-४१
महायान विहार	१४१
विहार का क्रमिक विकास	१४२
महायान गुफाओं की विशेषता	१४७-४८
अध्याय ६	
गुहा के अलंकरण	१५१-६१
सौंदर्यमय चैत्य में भित्तिचित्र	१५१-५२
विहार के चित्र	१५२-५३
चित्र के विभिन्न विषय	१५२
ऐतिहासिक	१५२
बोधिसत्व	१५२-५५
राज दरबार	१५२
सामाजिक चित्रण	१५२
आलंकारिक विषय	१५२
अजंता की चित्रकला	१५३

भित्तिचित्र की प्रक्रिया	१५३-५४
रंगों का प्रयोग	१५४
अजंता के विहारों की चित्रकारी	१५४-५५
जातक प्रदर्शन	१५५-५६
मृगदाव की वार्ता	१५८
चैत्य मंडपों में चित्रकारी	१५९
अजंता चैत्य	१५९
श्रवणकुमार की कथा	१५९
बुद्ध प्रतिमा की अधिकता	१६०
कला के छह अंग	१६०
बाघ के चित्र	१६०-६१
बाघ की विशेषता	१६१
बाघ का नृत्यसमूह	१६१

अध्याय ७]

चैत्य का निर्माण	१६२-७०
चैत्य का आकार	१६२-६३
महायान तथा चैत्य मंडप	१६३
स्तूप की स्थिति	१६२
प्रतिमा का स्थान	१६३
चैत्य मंडप के तीन भाग	१६३
मध्यवीथी	१६३
पार्श्ववीथी	१६३
प्रदक्षिणापथ	१६३
स्तंभ	१६३
वेदसा तथा पितरखोरा	१६४
नासिक चैत्य	१६४
कार्ले चैत्य	१६५
अजंता के महायान चैत्य	१६६-६७
कनहेरी गुफाएँ	१६७-६८

चैत्य मठों का सर्वेक्षण	१६८-६९
विकास का क्रम	१६९
हीनयान एवं महायान चैत्यों की तुलना	१६९-७०
अध्याय ८	
विहार—एक शिक्षा केन्द्र	१७१-७७
विहार की प्रमुखता	१७१
प्रव्रज्या	१७१
विहार तथा भिक्षा वृत्ति	१७२
विदेशियों का भारतीयकरण	१७२
दान द्वारा भिक्षावृत्ति का अंत	१७२-७३
शिक्षण संस्थाओं की उत्पत्ति	१७३-७४
शिक्षा समिति तथा प्रबंध समिति	१७४-७५
नालंदा विश्वविद्यालय	१७४-७५
विक्रमशिला महाविहार	१७५
विहार में चिंतन	१७६
अध्याय ९	
प्राचीन जैन गुफाएँ	१७८-८२
उदयगिरि गुहा	१७८
हाथीगुफा	१७९
अनंत गुफा	१७९
गणेश गुहा	१८०
उड़ीसा जैन गुफाओं की विशेषता	१७९-८०
सोन भंडार	१८०
एलोरा की जैन गुफाएँ	१८०-८१
इन्द्र सभा	१८०-८१
जगन्नाथ सभा	१८०-८१
छोटा कैलाश	१८०-८१
गुफाओं की बनावट	१८१
अध्याय १०	
ब्राह्मणधर्म से संबद्ध गुफाएँ	१८३-९०

गुप्तकाल की ब्राह्मण गुफाएँ	१८३-८४
एलिफेंटा तथा एलोरा की ब्राह्मण गुफाएँ	१८४
कैलाश नाथ गुफा	१८५
रंमहल	१८६
उच्चकोटि का गूहा निर्माण	१८६-८७
डुमेर लेन	१८८
शिव लीला का प्रदर्शन	१८९

तृतीय खंड

अध्याय १ :

विषय प्रवेश	१९३-२०२
वैदिक देव पूजन	१९३-९९
भारतीय परंपरा के मंदिर	१९५
पौराणिक युग के मंदिर	१९६
विष्णु की लोकप्रियता	१९७
शैवमंदिर	१९८
मंदिरों की आध्यात्मिक भावनाएँ	१९८-९९
मंदिर का मानवदेही रूप	२००
मंदिर की उपयोगिता	२०१
दरवार हॉल	२०१
अधिवेशन स्थल	२०२
कथा का स्थान	२०२
शिक्षा का केंद्र	२०२

अध्याय २ :

चैत्य तथा मंदिर	२०३-२०६
चैत्य मंडप	२०३
मंदिर की प्रारंभिक अवस्था	२०५
महायान का प्रारंभिक कार्य	२०५
गुप्तमंदिर	२०५
संरचनात्मक मंदिर	२०६

सौंदर्य परक कार्य	२०६
-------------------	-----

अध्याय ३ :

गुप्तकालीन मंदिर	२०७-२१५
गुप्त मंदिर की दस विशेषताएँ	२०७
गुप्त मंदिरों का वर्गीकरण	२०८
शिखर का आरंभ	२०८
विहार पूर्व इमारत	२१०
महाबोधि या बोधगया मंदिर	२१०
ईंट द्वारा निर्मित भवन	२१०-२११

अध्याय ४ :

मंदिर-शिखर की विभिन्न शैलियाँ	२११-१८
तीन प्रकार के शिखर	२१४
नागर, द्राविड़ तथा वेसर	२१४
चालुक्य शैली	२१५
मंदिर निर्माण का नया युग	२१५
मंदिरों का सूखा निर्माण	२१७
स्तूपी या स्तूपिका	२१७
द्राविड़ पद्धति का स्वरूप	२१८

अध्याय ५ :

उत्तरी भारत या आर्यशिखरयुक्त मंदिर	२१९-२४६
उड़ीसा शैली	२१९-२०
खजुराहो	२२०
राजपुताना	२२०
पश्चिमी भारत	२२०
अन्य शैलियाँ	२२०
उड़ीसा मंदिरों की एग्यारह विशेषताएँ	२२२-२३
उड़ीसा मंदिरों का क्रमिक विकास	२२४-२५
तीनकाल विभाग	२२४
परशुरामेश्वर मंदिर	२२५

उड़ीसा के दो प्रमुख मंदिर	२२६
लिंगराज	२२७
चार उपविभाग	२२७
जगन्नाथ मंदिर	२२८
उड़ीसा मंदिरों की विकास शृंखला	२२९
कोणाकं सूर्यमंदिर	२३०-३१
उड़ीसा मंदिरों पर शृंगारिक प्रदर्शन	२३१
बाह्य दीवारों पर दो प्रकार की खुदाई	२३१
अश्लील प्रदर्शनों के तीन कारण	२३२
मिथुन भावना	२३२
गोपनीयता	२३२
मध्य भारतीय तथा खजुराहो शैली	२३२-२३९
खजुराहो का नामकरण	२३२-३३
मंदिरों में अनेक रूपता	२३३
पंचरथ की बनावट	२३३-३४
खजुराहो मंदिर की विशेषताएँ	२३४-३५
पंद्रह मौलिक लक्षण	२३४-३६
खजुराहो मंदिर के तीन भाग	२३४
छह शृंग की कल्पना	२३५-३७
कंदरिया महादेव मंदिर	२३७-३८
राजपुताना तथा मध्य भारत शैली	२३९-४७
गुप्त राजाओं द्वारा कला की वृद्धि	२४०
मध्ययुगी शासकों के कार्य	२४१
शासकों द्वारा आठवीं सदी में मंदिर निर्माण	२४२
पंचायतन मंदिर	२४२
मोसिया मंदिर की बनावट	२४३-४४
राजपुताना के जैन मंदिर	२४४
संगमरमर का प्रयोग	२४५
आबू पर्वत के मंदिरों की विशेषता	२४५-४६

अध्याय ६ :

पश्चिमी भारत—गुजरात तथा काठियावाड़	२४८-५४
जनता का सहयोग	२४८
सोलंकी मंदिर के लक्षण	२४९-५१
गोप मंदिरों की बनावट	२५१-५२
काठियावाड़ के मंदिर	२५२
पालिताना का जैन मंदिर	२५३
सोमनाथ मंदिर	२५३

अध्याय ७ :

उत्तरी भारत की अन्य शैलियाँ	२५४-६१
ग्वालियर के मंदिर	२५४
वृंदावन मंदिर की स्थापत्य कला	२५५
काश्मीर के मंदिर	२५५-५६
दो विभिन्न संस्कृतियाँ	२५६
मातंग मंदिर	२५६
मंदिरों के लक्षण	२५६-५७
पूर्वी भारत के मंदिर	२५७
पहाड़पुर के भग्नावशेष	२५७
सर्वतोभद्र की रूपरेखा	२५८
देशी शैली के मंदिर	२५८
दक्षिण नागरशैली के मंदिर	२५८
दक्षिण में स्थापत्य का आरंभ	२५८
नागर तथा द्राविड शैली का मिश्रण	२५८
ऐहोल का मंदिर	२५९
दक्षिण में नागर वास्तुकला	२६०
पिट्टादकल के मंदिर	२६१

अध्याय ८ :

द्राविड पद्धति	२६२-२९८
पल्लवशैली के मंदिर	२९२

द्राविड़शैली का विकास	२६२
महेन्द्र शैली की विशेषता	२६३
कुडु तथा सिंह स्तंभ	२६३
‘रथ’ की स्थापत्यकला	२६४-६५
रथों का नामकरण	२६५
सात पगोडा	२६५
चैत्य मंडप का अनुकरण	२६५
राजसिंह शैली	२६६
कांचीपुरम् का कैलाशनाथ मंदिर	२६६
गोपुरम् का श्रीगणेश	२६७
द्राविड़ शैली के चार लक्षण	२६७
दक्षिण भारत के चोल मंदिर	२६८-७५
चोलों द्वारा मंदिरों का निर्माण	२६९-७०
विमान की प्रमुखता	२७०
पल्लव तथा चोल मंदिरों की तुलनात्मक परीक्षा	२७०-७१
बृहदेश्वर मंदिर की विशेषता	२७१-७३
विमान के तीन विभाग	२७२
अवनति काल के मंदिर	२७४-७५
चालुभ्य अथवा होयसल शैली	२७६-८३
तीन होयसल मंदिर	२७७
चालुक्य मंदिर की बनावट	२७८
होयसल शैली की चार विशेषताएँ	२७९-८१
खुदाई अलंकरण की प्रमुखता	२८०
होयसलेश्वर मंदिर तथा उसका अलंकरण	२८२-८३
पांड्य मंदिर के गोपुरम्	२८४-८६
मंदिर निर्माण से उदासीनता	२८४
विशाल गोपुरम् का निर्माण	२८५
द्राविड़ शैली में दो मीनार	२८६
विजय नगर तथा मदुरै मंदिर	२८६

दक्षिण भारत का संकटमय जीवन	२८६-८७
मंदिरों में देवी की प्रधानता	२८८
विजय नगर के मंदिर	२८८-८९
विठ्ठलमंदिर की बनावट	२८९
कल्याण मंडप का आरंभ	२८९
हंपी के मंदिर	२९०-९१
मदुरै का मीनाक्षी मंदिर	२९१-९४
पाड्य शैली का अनुकरण	२९२
विमान तथा गोपुरम् की वृद्धि	२९२
नायकों के अन्य मंदिर	२९२
मीनाक्षी मंदिर की विशेषता	२९२-९३
एग्यारह गोपुरम्	२९३
नायकों की आदमकद मूर्ति	२९३
श्रीरंगम् का रंगनाथ मंदिर	२९४
सात परकोटे तथा २१ गोपुरम्	२९४-९५
विभिन्न काल में निर्माण	२९५
अश्व कक्ष	२९५
रामेश्वरम् मंदिर	२९६
विशाल गलियारा की प्रमुखता	२९६
चिदंबरम् का नटराज मंदिर	२९७
भित्तियों पर तांडवलक्षण	२९७
केरल तथा दक्षिण कन्नड़ के मंदिर	२९७
पद्मनाभ मंदिर	२९८



परिशिष्ट

परिशिष्ट १ :

स्तूप में शरिर-स्यापना-संबंधी अभिलेख	३०१-३०३
पीपरावा, सिनकोट, स्वातघाटी, मट्टप्रोलु, तक्षशिला	
कलवान, तक्षशिला चांदी-पत्र कुर्रम आदि	

परिशिष्ट २ :

वेष्टनी एवं तोरण-अंकित लेख	३०४-७
लेखों से ऐतिहासिक विषयों का ज्ञान	३०४

परिशिष्ट ३ :

प्रदक्षिणापथ	३०८-९
--------------	-------

परिशिष्ट ४ :

स्तूप तथा पूजा स्मारक स्तूप	३१०
-----------------------------	-----

परिशिष्ट ५ :

सामाजिक बातों का परिज्ञान	३११-१३
---------------------------	--------

परिशिष्ट ६ :

बृहत्तर भारत में स्तूप परंपरा	३१४
नेपाल के बौद्ध स्मारक	३१५-१७
तिब्बत	३१८
बर्मा के पगोड़ा	३१८-३२१
दक्षिण पूर्व एशिया में स्तूप-परंपरा	३२१
जावा का बोरोबुदूर	३२३-२५
लंका की इमारतें	३२५-२७
मध्यएशिया की बौद्ध गुफाएं	३२७-२८

परिशिष्ट ७ :

फाहियान तथा ह्वेनसांग वर्णित बौद्ध इमारतें	३२९-३४
--	--------

परिशिष्ट ८ :

संघ की आर्थिक दशा	३३५
चार प्रकार की आवश्यकताएं	३३६

उत्पादक तथा अनुत्पादक	३३७
बालपुत्र का नालंदा मठ	३३८
परिशिष्ट ९ :	
गोष्ठी तथा सत्र	३३९-४२
लेखों में गोष्ठिक का उल्लेख	३३९-४०
सत्र की स्थापना	३४१-४२
परिशिष्ट १० :	
मंदिरों की आर्थिक-व्यवस्था	३४३-४५
धार्मिक कृत्य	४३
कीर्तन एवं नृत्य	३४४
पूजन व्यय	२४५
परिशिष्ट ११ :	
मध्ययुगी लेखों में मंदिर-निर्माण की चर्चा	३४६-५१
क्रिया तथा चर्चा का प्रभाव	४६
लेखों में वर्णन	३४७-४९
देवालय का संस्कार	३५०
परिशिष्ट १२ :	
प्रधान भिक्षु तथा मठाधीश की परंपरा	३५२
मठों को दान	३५३
परिशिष्ट १३ :	
प्राचीन इमारतों की तालिका	३५५-३६२
परिशिष्ट १४ :	
हिंदी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली	३६३-३६७
चित्र-परिचय (संख्या १-८७)	३६९-४१७
शब्दानुक्रमणिका	४१८-४२७

चित्र-सूची

फलक १ : भस्म के लिए युद्ध	फलक २९ : कोनदने
फलक २ : वही	फलक ३० : अजंता विहार
फलक ३ : बुद्ध का भस्म-पात्र (URN)	फलक ३१ : डुमर लेन
फलक ४ : मुख्यस्तूप तथा पूजा-स्तूप	फलक ३२ : तीन ताल (एलोरा)
फलक ५ : सांची तोरण	फलक ३३ : बुद्ध तथा मानुषी बुद्ध
फलक ६ : बोधवृक्ष की पूजा	फलक ३४ : अजंता महाप्रदर्शन
फलक ७ : षडदत जातक प्रदर्शन	फलक ३५ : चित्रित हाथिया
फलक ८ : सांची तोरण की बडेरियाँ	फलक ३६ : छत का चित्रण
फलक ९ : माया का सपना	फलक ३७ : राजा महाजनक
फलक १० : सिद्धार्थ के जन्म संबंधी दृश्य	फलक ३८ : इन्द्र का अवतरण
फलक ११ : अमरावती-महाभिनिष्क्रमण	फलक ३९ : बुद्ध तथा आनंद
फलक १२ : धर्मचक्र पूजा	फलक ४० : अजंता भित्ति-चित्र
फलक १३ : जेतवन विहार का दृश्य	फलक ४१ : भाजा चैत्य
फलक १४ : बुद्ध का अवतरण	फलक ४२ : वेदसा चैत्यमंडप
फलक १५ : अमरावती वेसंतर जातक	फलक ४३ : वेदसा चैत्य
फलक १६ : महाकपि जातक प्रदर्शन	फलक ४४ : कोनदने गुहा माथा
फलक १७ : महाकपि तथा बोधिवृक्ष पूजा	फलक ४५ : चैत्य द्वार
फलक १८ : षडदत जातक (भरहुत)	फलक ४६ : पांडुलेन चैत्य मंडप
फलक १९ : वानरेंद्र का मधुदान	फलक ४७ : काले चैत्य
फलक २० : इलापट्टा नाग	फलक ४८ : काले (भीतरी दृश्य)
फलक २१ : भरहुत तोरण	फलक ४९ : काले चैत्य (बरामदा)
फलक २२ : सांची मुख्य स्तूप	फलक ५० : अजंता चैत्य वातायन
फलक २३ : अमरावती स्तूप	फलक ५१ : अजंता गुहा संख्या १९
फलक २४ : धमेक स्तूप	फलक ५२ : वही (समुख भाग)
फलक २५ : नालंदा मुख्य स्तूप	फलक ५३ : अजंता चैत्य (गुहा २६)
फलक २६ : लोमश ऋषि गुहा	फलक ५४ : एलोरा चैत्य (विश्वकर्मा)
फलक २७ : भाजा चैत्य	फलक ५५ : कनहेरी चैत्य
फलक २८ : नासिक गुहा	फलक ५६ : बुद्ध का महाप्रदर्शन (कनहेरी गुहा ९०)
	फलक ५७ : नालंदा महाविहार
	फलक ५८ : कैलाशनाथ मंदिर (भीतरी भाग)

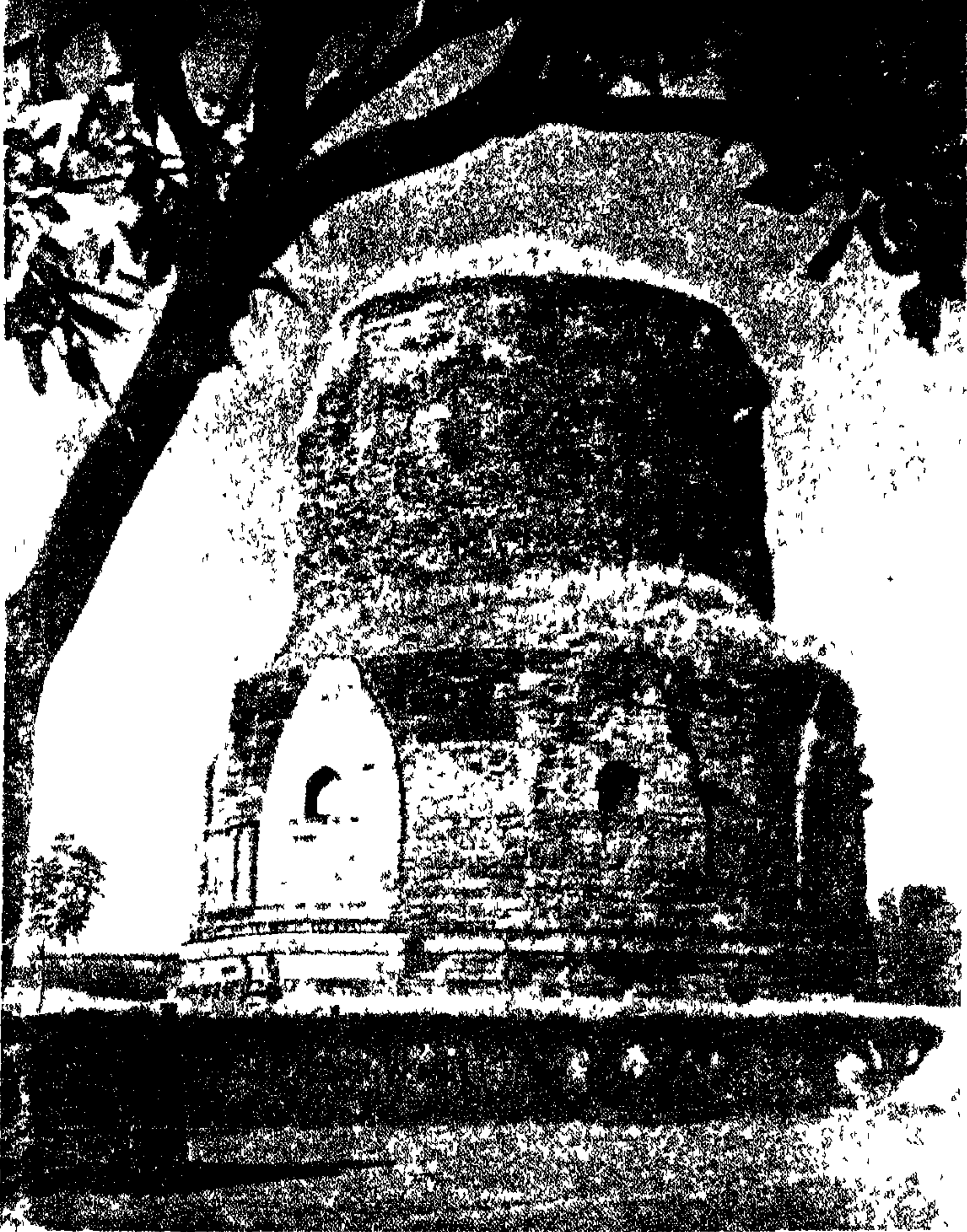
फलक ५९ : एलोरा-विष्णु और लक्ष्मी
 फलक ६० : नरसिंह-एलोरा
 फलक ६१ : रावण कैलाश (एलोरा)
 फलक ६२ : सप्तमातृका एलोरा
 फलक ६३ : साची गुप्त मंदिर
 फलक ६४ : झासी का देवगढ़ मंदिर
 फलक ६५ : बोधगया मंदिर
 फलक ६६ : परशुरामेश्वर मंदिर
 फलक ६७ : भुवनेश्वर मंदिर
 फलक ६८ : राजारानी मंदिर
 फलक ६९ : लिंगराज मंदिर
 (भुवनेश्वर)
 फलक ७० : सूर्य मंदिर-कोणार्क
 फलक ७१ : कंदरिया महादेव मंदिर
 फलक ७२ : खजुराहो मंदिर की खुदाई
 फलक ७३ : पालिताना जैन मंदिर
 फलक ७४ : मार्तण्ड मंदिर
 फलक ७५ : अर्जुनरथ एवं द्रौपदीरथ
 फलक ७६ : महाबलिपुरम्-समुद्रतट
 मंदिर
 फलक ७७ : कैलाश मंदिर, काची
 फलक ७८ : विरगाक्ष मंदिर, मैसूर

फलक ७९ : केशव मंदिर, मैसूर
 फलक ८० : होयसलेश्वर मंदिर
 फलक ८१ : कैलाशनाथ मंदिर
 (एलोरा)
 फलक ८२ : तंजौर का वृहदेश्वर मंदिर
 फलक ८३ : गोपुरम्-रगनाथ मंदिर
 फलक ८४ : रामेश्वरम् मंदिर
 फलक ८५ : स्वयं-भूनाथ (नेपाल)
 फलक ८६ : कबुज का अंकोरवट
 फलक ८७ : स्तूपों का क्रमिक विकास
 फलक ८८ : खजुराहो मंदिर शिखर
 फलक ८९ : लिंगराज मंदिर की
 योजना
 फलक ९० : खजुराहो मंदिर-योजना
 की रूपरेखा
 फलक ९१ : नालंदा महाविहार का
 विस्तार

मानचित्र :

- (१) भारत के प्राचीन नगर
- (२) भारत के स्तूप एवं गुहा केन्द्र
- (३) भारत के मंदिर स्थान

प्रथम खंड



स्तूप

भारत के प्राचीन नगर

तक्षशिला

मोहनजोदो

मथुरा

अहिघातर

कन्नौज

लौरीया

नन्दनगढ़

पहाड़पुर

वैसाली

पाटलीपुत्र

सारनाथ

कौसंबी

राजगीर

बोधगया

रवजुराहो

भरहुत

सांची

पीटलखोरा

मुवनेश्वर

उदयगिरि

खण्डगिरि

जोगदा

कोनाक

सालीहुनदम

अमरावती

नागार्जुन कुंड

ब्रह्मगिरि

महावलीपुरम

तंजौर

हंका

अरब सागर

बंगाल की खाड़ी

वंगाल
की
खाड़ी

हिन्द महासागर

प्रथम अध्याय

स्तूप का अर्थ एवं उद्गम

भारतीय धर्म की परिधि अतिशय विशाल रही है। धर्म के आदर्श विचार से समाज की वस्तुएँ भी सहमबद्ध रही। भारतीय कला के विकास में धार्मिक प्रवृत्तियाँ अधिक बलवती सिद्ध हुई हैं। पौराणिक युग में मानवता के सर्व-श्रेष्ठ गुणों को धर्म का आवश्यक अंग माना गया था। मनुष्य के जीवन-दर्शन की अंतिम मीठी मोक्ष की प्राप्ति है (धर्मं चार्थं च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ) अतएव, लक्ष्य की प्राप्ति (मोक्ष) के निमित्त मानव प्रयत्नशील रहता है। सभी धार्मिक कार्यों का उद्देश्य एक ही है, जिसका विवेचन भारत के दार्शनिकों ने किया है। कार्यों से आध्यात्मिक तथा सासारिक वैभव को प्रकट करते हैं। मनुष्य का धार्मिक दृष्टिकोण उसे ऐसे कार्य करने की प्रेरणा देता है, जिससे वह लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके। तीर्थयात्रा, पूजा-पाठ के अतिरिक्त दान को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मानव जीवन को प्रेरणा देने के निमित्त धार्मिक भवनो का निर्माण करता है, जो समाज में दृष्टांत उपस्थित कर सके। उनका विश्वास है कि ऐसे कार्यों से धार्मिक भावना की अभिवृद्धि होगी। यही कारण है कि भारतीय कला के नमूने धार्मिक विचार से ओत-प्रोत हैं। यदा कदा मनुष्य सासारिक वैभव के कारण भी ऐसा कार्य संपन्न करता है, जो मानसिक विचारधारा को प्रकट करता तथा उस व्यक्ति के वैभव का परिचायक हो जाता है। मानव ऐसे कार्यों द्वारा अपने आंतरिक मुख अथवा आत्मगौरव का अनुभव कर जीवन-दर्शन को साक्षात्कार करने की कल्पना भी कर बैठता है।

धर्म के अभाव में प्रकृति-चित्रण भी कलात्मक कार्यों की विशेषता प्रकट करता है। प्राकृतिक मृष्टि ही शिल्प का सर्वप्रथम रूप है। प्राकृतिक सुन्दरता का आकर्षण तथा छत्रा की भव्यता का प्रदर्शन मनुष्य को सामाजिक कार्यों के लिए बाध्य करता है, जो जनजीवन के लिए लाभप्रद होते हैं तथा समाज-कल्याण के कारण बन जाते हैं। भारतीय कला का इतिहास यह बतलाता है कि आध्यात्मिक या सासारिक वैभव को व्यक्त करने वाले उन कार्यों द्वारा मनुष्य के सद्गुणों तथा भावनाओं का अभिव्यजन होता है। मानव ऐसा प्राणी है, जिसने

प्रकृति द्वारा नियोजित सभी वास्तुशिल्पो को अपना लिया है और वह आगे बढ़ने की भी होड़ करता है।

संस्कृति के आदिकाल से ही मानव ने शिल्पों की रचना की है, प्रारंभिक दशा में निर्मित वस्तुएं भिट गईं। पुरातत्व की खुदाई तथा अन्वेषण से प्राचीन वास्तुकला के अवशेष प्रकाश में आए हैं, जिनमें अधिकांश बौद्धमत से संबंधित हैं, किंतु इनकी वैदिक परंपरा है। स्तूप के संबंध में भी यही दीख पड़ता है। यह कहना यथार्थ होगा कि वैदिक संस्कृति में इसका उद्गम प्रकटित होता है। यही कालांतर में बौद्धमत का प्रधान स्मारक (समाधि) बन गया। धार्मिक प्रवृत्तियों के सशक्त प्रवाह के कारण स्तूप का विविध स्वरूप सामने आने लगा। इससे सबद्ध जनजीवन के कार्यों को कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

भारतीय वास्तुकला के प्राचीन उदाहरणों में स्तूप प्राचीनतम माने गए हैं। स्तूप—संस्कृत—स्तूपः अथवा प्राकृत थूप 'स्तूप' स्तूप या चैत्य धातु से बना है, जिसका अर्थ है एकत्रित करना, ढेर लगाना आदि। अतएव, मिट्टी के ऊँचे टीले के लिए स्तूप शब्द का प्रयोग होने लगा। अमरकोश (३/५.१९) में 'राशिकृत मृत्तिकादि' उसी कथन को पुष्ट करता है। साधारणतया स्तूप का संबंध बौद्धमत से प्रकट होता है, इसीलिए बौद्ध साहित्य दीर्घनिकाय (२.१.४०) : अगुत्तर (१/१.७७) तथा मज्झिमनिकाय (२/२.४४) में थूप शब्द का अधिकतर प्रयोग किया गया है।

कसपस्य भगवतो द्वादस योजनिकान् कनक थूपिका (मज्झिम २।२.४४) जातको (३/१.५६, ५/३९, ६/१.१६;) में भी थूप या थूपिका किसी ऊँचे टीले या स्मारक के लिए प्रयुक्त मिलता है। तक्षशिना के एक अभिलेख में स्तूप स्थापना का विवरण है—

मंरिखेन सम्यकेन थूवो प्रतिस्तवितो (का० इ० इ० भा० २ सं० २)

विद्वान् स्तूप शब्द को यारोपीय (Indo-European) शब्द टुम्ब (अंग्रेजी टुम्ब = Tomb) से विकसित मानते हैं। इसमें विभेद यही है कि कब्र में शव जमीन में गाड़ दिया जाता है, किंतु स्तूप एक पुण्य स्थान है, जिसमें भस्म प्रतिष्ठापित किया जाता है। अंग्रेजी शब्द से स्तूप का विकास स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। कब्र के अंदर कब्र हो सकती है। मिट्टी के टीले में बौद्ध-स्तूप की भावना सर्वथा भिन्न है। स्तूप के स्थान में पवित्रता की भावना तथा अशुद्ध से रक्षा करने की इच्छा निहित है। भस्मपात्र के निचले भाग को

धातु (शरीर = राख) गर्भ कहते हैं। इस शब्द से (धातुगर्भ) सिहाली भाषा का डागवा शब्द (Dagoba) निकला। इसी गर्भ के ऊपर निर्मित भवन की परिपाटी लंका में भी पहुँच गई, जिस कारण शब्दों का निर्माण हुआ।

स्तूप के लिए 'चैत्य' शब्द का भी प्रयोग साहित्य में मिलता है। चैत्य शब्द 'चि' चयने धातु से निकला है, क्योंकि इसमें प्रस्तर या ईंट चिन कर (चुन कर) भवन निर्माण किया जाता है (चीयते पापार्णदिना इति चैत्यम्)। साथ ही यज्ञ के अंत में भस्मादि पवित्र पदार्थों को बटोरने की क्रिया चयन कहलाती है। अतएव, 'चैत्य' से उस प्रदेश का संकेत होता है जहाँ चयन — क्रिया सम्पन्न की जाती है। चैत्य शब्द 'चित्' तथा 'चिना' से भी संबद्ध है। चिता की राख को (अवशेष) एक पान में रख, स्मारक बनाया जाता है, जिसे स्तूप कहते हैं। रामायण में श्मशान को चैत्य में तुलना की गई है। श्मशान चैत्य प्रतिमा (५/२३/२१) जहाँ श्मशानभूमि पर दिवंगत महापुरुषों या नृपतियों की स्मृति में चैत्य नाम से स्मारक तैयार किए जाते थे। इसलिए स्तूप एवं चैत्य का तुलनात्मक विवेचन तथा उल्लेख यत्रतत्र मिलता है। अवशेष में सब्रवित भवन प्रत्यक्ष रूप से स्तूप कहलाया। उस भावना का स्वरूप चैत्य भी माना जा सकता है, किन्तु चैत्य में अवशेष की कल्पना है और स्तूप में वह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। इसी कारण अमरावती के लेखों में स्तूप को चेतिय या महा चेतिय कहा गया है—

भगवतो महाचेतिय पदमले अपनो ।

धम्मथान दिव खम्भो पतिथावितो ॥

[महाचेतिय यानी स्तूप के मूलभाग में दीप-स्तम्भ की स्थापना की गई है]

महाचेतिय चेति कियाना निकास परि नहे अपरधारे धमचकम् देधम्म यापित (धर्मचक्र की स्थापना भगवान् के चैत्य समीप दान के फलस्वरूप की गई है) साराग यह है कि अवशेष में चैत्य का सीधा संबंध है। अतएव स्तूप को चैत्य का पर्याववायी शब्द भी माना जा सकता है। दोनों में केवल अंतर यह था कि 'चैत्य' पर्वत गुफाओं में (तैयार किया) खोदा जाता, जिसमें स्तूप का आकार वर्तमान रहता था। उसमें अवशेष रखने का प्रश्न नहीं उठता। वह बौद्धमत का प्रतीक था, अतएव चैत्य शब्द का प्रयोग बौद्धों ने किया है। किन्तु स्तूप के भीतरी भाग में पात्र में अवशेष स्थापित कर भवन निर्मित किया जाता। इसकी स्थापना पर्वतों से पृथक् समतल भूमि में की गई थी और ईंट-प्रस्तर जोड़ कर स्तूप तैयार किए जाते। माधारण गुहा में स्तूपाकार की स्थिति के कारण ही उसको 'चैत्य' नाम से पुकारा जाता था।

बौद्धकाल से पूर्व युग में स्तूप अथवा चैत्य का वर्णन मिलता है। उसकी ऐतिहासिक परंपरा वैदिक युग तक चली जाती है। ऋग्वेद में अग्निदग्ध (अग्नि से जलाना) तथा अनग्निदग्ध (१०, १५, १४) शत्रु को गाड़ने का विवरण प्रस्तुत करता है। अन्यत्र अनग्निदग्धा (ऋ० १०/१८/८) स्मारक के लिए प्रयुक्त किया गया है, यहाँ अग्नि द्वारा जलाए जाने का भाव नहीं है। शव को पूर्ण रीति से वस्त्रसहित जमीन में गाड़ा जाता। संभवतः भूमिगृह (पृथ्वी में घर) शब्द (ऋ० ७/८९/१, अथर्व० ५/३/१४) शव को पृथ्वी में रखने का द्योतक है। मृत शरीर की उपलब्धि के लिए भूमिगृह में सभी वस्तुएँ रखी जाती थी। उसके हाथ में धनुष रखने का भी उल्लेख है। (वैदिक इडेक्स भा० १, पृ० ८)। वैदिक काल में मनुष्य के शव को गाड़ कर उसकी समाधि पर तूदाकार इमारत भी बनायी करते थे। यजुर्वेद (इम जीवेम्यः परिधि दधामि मैषानु गादपुरो अर्थमेतम्, मंत्र ३५/१५) में इस तरह की चर्चा आई है कि समाधि को परिधि द्वारा घेर लिया जाता, ताकि उस घेरे से शव की पवित्र भूमि को सनार के अपवित्र वातावरण से पृथक् रखा जा सके। कालांतर में परिधि को वेदिका नाम से पुकारने लगे। वाजसनेयी संहिता (१८/१/३) में शव के गाड़ने का मंत्र उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण (१३/८/३/११) में वर्णन आता है कि चारों वर्णों के लिए विभिन्न आकार का शव टीला (कब्र) बनाना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/१/१/७) में भी भूमिगृह का विवरण मिलता है। अतएव, वैदिक परंपरा में शव को गाड़ने तथा जलाने की क्रिया काम में लाई जाती रही। सूत्रकाल में जलाने के कार्य का विशेष रूप से उल्लेख है। आश्वलायन गृहसूत्र (४/५) में अस्थिकुम्भ (Urn) में शव की जली अस्थि या राख को रखकर पृथ्वी में गाड़ देने तथा ऊँचा टीला निर्माण करने का विवरण आया है। तात्पर्य यह है कि शव को जला कर अवशेष को पात्र में रख कर गाड़ने की प्रथा प्रचलित थी। क्रमशः अस्थिकुम्भ (अवशेष पात्र = Urn) पर स्तूप (टीला) का आकार तैयार करने की परिपाटी भी ज्ञात होती है। भारत की इस वैदिक परंपरा का अनुकरण विदेशों में भी होता रहा। बेविलान के निपुर स्थान में एक विशाल समाधिस्थान मिला, जिसमें अनेक भस्मघट गाड़े हुए पाए गए हैं। कुछ भस्मघट ईसा पूर्व ३००० वर्ष के बताए जाते हैं। यूनान में जलाने की प्रथा थी, जिसका वर्णन आदिकवि होमर ने अपने काव्यों में किया है। वह कहता है कि दूरस्थ देशों में मारे गए योद्धाओं का शव घर में लाना

संभव न था, अतएव उन्हें जला कर भस्म घरो में लाया जाय । इससे प्रकट होता है कि यूनान में शव को जलाने की प्रथा बाद में चालू हुई । योरप में ईसाई मत के प्रचार से दाह-संस्कार-प्रथा का अंत हो गया । दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में भारत से सदा संपर्क बना रहा । इस कारण वहाँ जलाने की प्रथा भी प्रचलित रही । जलाने से पूर्व कुछ दिनों तक शव को ममाले में सुरक्षित रखते हैं । थाइलैंड में राजाओं के शव छह मास तक सुरक्षित रखते थे और बाद में दाह होता था । गरीब लोग भी एक या दो दिन ऐसा करते थे । बर्मा में फु गी (बौद्ध भिक्षु) के शव को एक सप्ताह मधु में सुरक्षित कर दाह किया जाता है । भस्म घड़े में रख कर गाड़ी जाती और उस पर समाधि बनती है ।

प्राचीन भारत में यजुर्वेद में वर्णित शव टीला की परिपाटी चल पड़ी । रामायण (५/२२/२९) के वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महापुरुषों या नृपतियों की स्मृति में चैत्य (स्तूप) बनते थे । दीघनिकाय में तथागत का थूप (स्तूप), प्रत्येक बुद्ध तथा चक्रवर्ती नरेशों के स्तूपों का विवरण पाया जाता है । जातको में थूप का प्रयोग स्मारकों के लिए किया गया है । इस प्रथा के अनुसार भारत में चैत्यों तथा स्तूपों का निर्माण बौद्ध युग में हुआ । इसकी वाहुल्यता के कारण मध्ययुगीन टीकाकार चैत्य का अर्थ बौद्धा-यत्न ही करने लगे । मायण ने (१६ वीं सदी) श्मशान की परिधि पर व्याख्या करने हुए प्रस्तर की वेदिका का वर्णन किया है । मध्ययुग में वैदिक टीले की कल्पना संभव न थी, जिसका स्वरूप स्तूप ने ले लिया । स्तूप का इतिहास भी यही बतलाता है कि बौद्ध युग से पूर्व स्मारक-स्तूप निर्मित होते रहे ।

डॉ० काणे का मत है कि मृत शरीर का दाह-संस्कार चार चरणों में पूर्ण किया जाता था —

१. शव को जलाना,
२. राख का संग्रह,
३. भस्मकलश (Urn) में रखना और
४. स्मारक बनाना ।

इस प्रकार स्तूप (स्मारक) बनाने का कार्य उस वैदिक सिद्धांत का बौद्ध-कालीन स्वरूप था ।

(धर्मशास्त्र का इतिहास भा० ४, पृ० २५५)

भारत में वैदिक स्तूपों की परंपरा थी। यद्यपि उनके भग्नावशेष कम संख्या में उपलब्ध हुए हैं, तो भी उस परिपाटी के बौद्ध युग से पूर्व क्रम को नगण्य नहीं माना जा सकता। वैदिक स्मारक-स्तूप साहित्य में स्तूप के वर्णन के अनुरिक्त हिरण्य स्तूप का विवरण पाया जाता है। अग्नि-ज्वाला की दीप्ति का वह महान पुंज है, जिसमें विश्व की उत्पत्ति हुई। उसका प्रतीक सूर्य है। उसका संबंध सदा महापुरुषों में ही रहता है। लोरिया नदनगढ़ का स्तूप भी उसका एक उदाहरण है। यह स्मारक स्तूप समझा जाता है, जिसे वैदिक यज्ञ की यादगार में निर्मित किया गया था (Vedic Mound)। यह चौरासी फीट ऊँचा तथा काफी विस्तृत क्षेत्र में फैला है। खुदाई में मातृदेवी की आकृति माने के पत्तर पर खुदी मिली है। नीलकण्ठ शास्त्री ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्राचीन युग में चैत्य (वनचेतिय = पवित्र वृक्ष) के पश्चात् स्तूप की पूजा धार्मिक जगत् में आरम्भ हुई। महाभारत (आदि पर्व १५०/३३) में देववृक्ष में चैत्य का उल्लेख किया गया है; क्योंकि देवता पवित्र वृक्षों पर निवास करते थे। वैशाली में भी स्तूप (चैत्य) बने थे, जिनका मन्त्र महान् व्यक्तियों से था। सब के लोग उनका सम्मान करते थे।

महापरिनिर्वाण मूल में वर्णन आता है कि बुद्ध ने आनन्द को बतलाया था कि चक्रवर्ती राजाओं की समाधि पर स्तूप बनाए जाते हैं। उगी प्रकार का स्तूप उनकी (बुद्ध) समाधि पर निर्मित होना चाहिए, जो चौराहे पर स्थित हो—

चातु महापथे रज्जो चक्रवर्तिस्तथूप करोति ।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उत्तर वैदिक युग की प्रथा का बौद्ध लोगों ने अपनाया। बुद्ध के अवशेष पर अनेक स्तूप बनाए गए, जो उनकी मान्यता एवं लोकप्रियता को प्रकट करता है। अभिलेखों में इसे शरीर या धातुगर्भ कहा गया है। अवशेष पर हजारों स्तूप निर्मित हुए, जो पूजा का विषय बन गया।

भारतीय अभिलेख इस दिशा में अमूल्य सहायता करते हैं। उनके वर्णन से विदित होता है कि अमुक राजा ने बुद्ध के अवशेष धातुगर्भ और स्तूप (शरीर) पर स्मारक तैयार किया। इस प्रसंग में यह तर्क करना कठिन है कि उन नरेशों ने अवशेष कहाँ से प्राप्त किए। यहाँ विश्वास से ही काम लिया जा सकता है। उत्तर

प्रदेश के बस्ती जिले में पीपरावा नामक स्थान पर एक स्तूप स्थित है, जो ईसा पूर्व चौथी सदी का है। उसकी खुदाई से धातुपात्र (Relic Casket) प्रकाश में आया है, जिस पर प्राकृत भाषा में निम्न लेख खुदा है—

इवं शरीरं निधानं बुद्धस्य भगवतः शाक्यानाम् ।

पश्चिमोत्तर प्रदेश के समीप विजौर रियासत के शिनकोट स्थान से अवशेष सद्दुक (Casket) के ऊपरी तथा भीतरी भाग पर लेख अंकित है, जो यूनानी राजा मिलिंद के समय (ईसा पूर्व दूसरी सदी) का है। सद्दुक के ढक्कन के भीतरी भाग पर निम्न लेख है—

भगवतु शक मुणिस सम सबुधस शरीर ।

इस लेख में बुद्ध के अवशेष को प्राणमहित कहा गया है। इसका तात्पर्य यह था कि स्तूप (शरीरसहित) की पूजा करने पर आश्चर्यजनक फल मिलता है। लोगों को विश्वास था कि अवशेष की पूजा से चमत्कार प्रकट होता है। ईसा पूर्व पहली सदी में स्वात नदी की घाटी में स्थित एक ग्राम से अवशेष-पात्र मिला है, जिसके निचले भाग पर लेख खुदा है—

इमे शरीर शक मुणिस भगवतो बहुजण हितिए ।

वहाँ के एक यूनानी शासक ने भगवान् का अवशेष जनकल्याण के लिए स्थापित किया था। मथुरा के राजा रंजुबल (पहली सदी) के सिंह-स्तंभ पर इसी प्रकार का लेख खुदा है। वहाँ स्तूप में अवशेष स्थापित करने की चर्चा है—

श्वे निसिमें शरिरप्रतिठवितो मक्रवत्रो शक मुनिस बुधस ।

तक्षशिला के शासक पटिक के ताम्रपत्र लेख में अवशेष स्थापना की चर्चा है—

पतिको अप्रतिठवित भगवत शक मुनिस शरीर प्रतिथवेति ।

कलवान ताम्रपत्र में भी निम्न प्रकार का वर्णन आता है—

बुद्ध शिलए शरिर प्रइस्तवेति गह थूवमि ।

(स्तूप में शरीर अवशेष की स्थापना)

पेशावर के समीप कुर्रम से ताम्र पात्र मिला है, जिसके ऊपरी भाग पर अवशेष-स्थापना की बात उल्लिखित है—

यूवंमि भगवतस शक्य मुनिस शरिर प्रविठवेदि ।

स्तूप में भगवान् बुद्ध के अवशेष को स्थापित किया।

अफगानिस्तान से एक स्तूप के भग्नावशेष से कांस्यपात्र मिला है, जिसके निचले भाग पर लेख खुदा है। वग्नमरेग नामक बिहार के समीप स्तूप में भगवान् बुद्ध का अवशेष स्थापित किया गया—

वग्नमारेग बिहरम्नि थूस्तिमि भगवद शक्य मुणे शरिर परिठवेति ।

स्टेन कोनाक ने अनेऊ लेखों का उद्धरण दिया है, जिनमें धातु (शरिर = अवशेष) की स्थापना का (स्तूप में) वर्णन है—

शिरे भगवतो धातु प्रथविते बिहार स्वामिथ्र प्रतिथवितो टुबो (स्तूप)
नवबिहारेम्मि अचरपन सर्वास्थि वादिन परिग्रहं थूबम्मि (स्तूप) भगवतो
सक मुसित शरीर । (का० इ० इ० भा० २, पृ० ११५ । १२८)

इस प्रकार अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्ध के अवशेष को स्तूप में प्रतिस्थापित करने की परिपाटी सर्वत्र थी। स्तूप की स्थापना धर्म का कार्य था। उसकी पूजा में पुण्यलाभ होता, ऐसा जनसाधारण में विश्वास था।



द्वितीय अध्याय

स्तूप का प्रयोजन, आकार तथा दार्शनिक विश्लेषण

वैदिक काल से समाज में पितृमेध का प्रचार था। श्मशान से राख या अस्थिकण को एकत्रित कर भस्मपात्र (Urn) में रखते थे। उसी के ऊपर एक स्मारक तैयार किया जाता, जो साहित्य में स्तूप के नाम से उल्लिखित मिलता है। उसका तात्पर्य यह है कि महापुरुषों (श्रेष्ठजन) के स्मारक-निर्माण की परिपाटी अत्यंत प्राचीन है। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से भी विदित होता है कि बुद्ध को इस प्रथा का ज्ञान था। इसी कारण आनंद से उन्होंने महापुरुषों के शरीर-अवशेष पर स्तूप बनाने की चर्चा की थी, जिसका उल्लेख महापरिनिब्बान सूत्र में किया गया है। शव के अवशेष पर स्तूप-निर्माण की चर्चा महावंश में भी की गई है। भारतीय कला में स्तूप का जितना प्रदर्शन है, सर्वत्र उसकी पूजा का क्रम दिखलाया गया है। पूजा की परंपरा संभवतः अशोक के शासन से प्रारंभ हुई। उसका कारण यह था कि भगवान् बुद्ध के चार प्रधान प्रतीक थे, जिनसे उनके जीवन की घटनाओं को व्यक्त किया जाता था।

१. जन्म का प्रतीक हाथी (द्वारा प्रदर्शित),
२. ज्ञान का प्रतीक बोधिवृक्ष (द्वारा प्रदर्शित),
३. धर्मचक्र का प्रतीक चक्र (द्वारा प्रदर्शित) और
४. परिनिर्वाण का प्रतीक स्तूप (द्वारा प्रदर्शित)।

स्तूप का परिनिर्वाण (मृत्यु) से संबंध अत्यंत स्वाभाविक था। दाह-संस्कार के पश्चात् शव की राख को भस्मपात्र में रख कर स्तूप बनाए जाते थे। आरंभ में बौद्धमत की प्रथम शाखा हीनयान में प्रतीक का समादर ही सर्वश्रेष्ठ पूजा समझा गया, जिसका प्रदर्शन भारत की प्राचीन कला में दीख पड़ता है। अशोक के शासन में बौद्धमत राजकीय धर्म था, अतएव भगवान् बुद्ध के प्रतीकों को अशोक ने अपनाया। अशोक से पूर्व निर्मित स्तूपों की क्या वशा थी, यह वास्तविक रूप से कहना संभव नहीं है, किंतु कलात्मक उदाहरणों से यह कहना सही होगा कि बुद्ध के अवशेष पर स्तूप बने थे। अशोक ने उन निर्मित स्तूपों से राख का कुछ अंश निकाल कर नए स्तूपों का निर्माण किया। ह्वेनसांग ने ऐसा विवरण दिया है। महावंश (परि० ५/१७६)

में अशोक द्वारा निर्मित चौरासी हजार स्तूपों का उल्लेख पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि अशोक ने स्तूप-पूजा का प्रचार किया और साम्राज्य के विभिन्न स्थानों पर स्तूप-स्थापना की बातें उसे चरितार्थ करती हैं। चारों प्रतीकों में स्तूप का निर्माण सरल कार्य था, संभवतः इस को ध्यान में रख कर अशोक ने स्तूप बनवाए। चौरासी हजार स्तूपों की पूजा से धर्म का प्रसार होगा, यह भी भावना कार्य करती होगी। धर्म-प्रचार के विभिन्न उपकरणों में स्तूप-निर्माण का विशेष महत्व था। स्तूप-पूजा का प्रचार तथा प्रसार उत्तरोत्तर होता गया। यही कारण था कि उत्तर-भगोक युग में (Post-Asokan Period) संपूर्ण भारत के कलात्मक उदाहरणों में स्तूप-पूजा की प्रधानता है। भरहुत, बोधगया और अमरावती की वेदिकाओं पर उत्कीर्ण प्रदर्शनों में स्तूप-पूजा दृष्टिगोचर होती है। सांची के तोरणों पर पशु-पक्षी तथा मानव एवं देवतागण स्तूप की पूजा करने दीख पड़ते हैं। मार्वाभौम रूप में स्तूप की पूजा अपनी विशेषता रखती है। ऐसा कोई जीव नदी, जिसकी निष्ठा तथा श्रद्धा स्तूप पर आधारित न हो। गुहा में स्तूप की सरल खुदाई से वह स्थान (जिसे चैत्य कहा जाने लगा) पूजा-गृह हो गया। भाजा, पितलकोरा तथा नासिक में (महाराष्ट्र) ऐसे स्तूप गुहाओं में स्थित हैं। समीपस्थ विहार में निवास करने वाले भिक्षुगण चैत्य में स्तूप की पूजा करते थे। उपासकगण भी एक द्वार से चैत्य में प्रवेश कर तथा स्तूप की प्रदक्षिणा कर दूसरे द्वार से बाहर चले जाते थे। स्तूप के स्थान ने ही कालांतर में गर्भगृह का रूप धारण कर लिया, जिस स्थान पर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की जाती थी।

जैसा कहा गया है कि अशोक ने स्तूपों में अवशेष का अवशेष के विभाजन अंश लेकर ही चौरासी हजार स्तूप बनवाए थे।

की कथा

इस घटना की पूर्व पीठिका में भगवान् बुद्ध के अवशेष के विभाजन की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता

है। सांची-तोरण के दक्षिणी तथा पश्चिमी तोरण द्वार की बड़े रियो पर दृश्य खुदे हैं, जिसमें आठ हाथियों के मीरे पर भस्मपात्र (Casket) रखा है तथा पीछे महावन बैठा है। इस प्रदर्शन का इतिहास बौद्ध-साहित्य में निहित है। भगवान् बुद्ध को परिनिर्वाण मल्लों की राजधानी कुशीनगर (वर्तमान कसिया, देवरिया जिला, उत्तर प्रदेश) में हुआ। शव के दाह-संस्कार के अंतर मल्लों ने बुद्ध की धातु (राख) पर अधिकार कर लिया। अन्य राजाओं ने भी उस धातु का अंश लेना चाहा। इस प्रकार पारस्परिक युद्ध की आशंका उपस्थित हो गई। उन व्यक्तियों के नाम निम्न प्रकार हैं—

१. अजातशत्रु—राजगृह
२. शाक्य—कपिलवस्तु
३. बुली—अल्पकप्प
४. कोलिय—रामग्राम
५. मल्ल—पावा
६. निच्छवि—वैशाली
७. ब्राह्मण—वेठद्वीप
८. मल्ल—कुशीनगर

मल्ल लोगों ने तथागत के परिनिर्वाण की भूमि कुशीनगर में ही स्तूप-निर्माण को सर्वश्रेष्ठ बतलाया और अन्य व्यक्तियों की माँग को ठुकरा दिया। युद्ध के भय के कारण द्रोण नामक ब्राह्मण ने धातु को आठ भागों में विभक्त करने का प्रस्ताव रक्खा। अपना-अपना भाग लेकर आठों घर लौट गए तथा धातु के ऊपर स्तूप बनाया। इस प्रकार आठ धातुगर्भ स्तूप अस्तित्व में आए। यही कारण था कि तोरणों की बड़े-रियों पर युद्ध का प्रदर्शन है। पदवात् आठ हाथियों के सिरे पर धातु-पात्र उस कथानक को पुष्ट करता है कि भगवान् का अवशेष आठ हिस्सों में विभक्त कर दिया गया।

उस युद्ध का विवरण महापरिनिर्वाण सूत्र में कहीं नहीं पाया जाता, परन्तु साची के दक्षिण तोरण-द्वार पर वस्तुतः खुदा दीख पड़ता है पुरातत्व के अनुसंधान-प्रसंग में वैशाली के स्तूप का पता लगा है, जिसे अशोक ने खोल कर धातु का अंश निकाल लिया था। उसका पुनः निर्माण भी हुआ था। अवशेष के अंश भी प्रकाश में आए हैं। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि अशोक से पूर्व स्तूप निर्मित हो चुके थे। अधिक संख्या में स्तूप का निर्माण पूजा-निमित्त हुआ होगा, यह निर्विवाद है। ईसा पूर्व चौथी सदी में निर्मित पीपरावा स्तूप प्रकाश में आया, यद्यपि ईसापूर्व द्वितीय शती में साची-तोरण बने थे। किन्तु दक्षिण तोरण-द्वार पर प्रदर्शित युद्ध-दृश्य उस प्राचीन वार्ता को पुष्ट करता है, जिसके फलस्वरूप आठ स्तूप निर्मित किए गए थे। यदि अशोक को यह विषय ज्ञात न होता, तो धातु के अंश को निकालना असंभव था। इस विवरण का सारांश यह है कि स्तूप का प्रधान प्रयोजन पूजा प्रकार था, कला में जिसका प्रदर्शन है तथा साहित्य में उल्लेख। स्तूप का निम्न प्रकार से वर्गीकरण करते हैं, जिनका पृथक्-पृथक् प्रयोजन समझते थे—

(अ) शारीरिक—जिस स्तूप को बुद्ध के अवशेष (भस्मपात्र में) पर बनाया गया था ।

(ब) उद्देशिक—उद्देश्यसहित यानी किसी विशेष प्रयोजन को लेकर ।
साची स्थित सारिपुत्र का स्तूप इसका उदाहरण है ।

(स) पारिभोगिक—तथागत के दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं पर निर्मित स्तूप ।

(न) व्रतानुष्ठित—ऐसा स्तूप जो मन्नत का चढ़ावा हो । उसमें किसी प्रकार के धातु या वस्तु के रखने का प्रयोजन निहित नहीं है । किसी के मन्नत मान लेने पर या इच्छा की पूर्ति हाने पर उपासक बड़े स्तूप के चारों ओर मिट्टी के छोटे स्तूप बनाया करता था । तक्षशिला, सारनाथ या नालंदा के प्रधान स्तूप के चारों तरफ मन्नत वाले स्तूप (Votive Stupa) दीख पड़ते हैं ।

स्तूप अर्थ टीला के रूप में प्रयुक्त है, यानी ऊँचा टीला, जो मिट्टी से बनाया जाए । वैदिक युग में पितृमेघ में इसका गहरा संबंध था । इस कारण अर्द्ध-

गोलाकार टीले को स्तूप की संज्ञा दी गई है । ऊँचे

स्तूप का आकार चबूतरे पर स्तूप का आकार अर्द्धचंद्राकार दिखलायी

पड़ता है । बौद्ध युग में वैदिक परंपरा को निरुद्ध

समझ कर स्तूप को ईंट-प्रस्तर के सहारे तैयार करने लगे । उस अर्द्धगोलाकार स्तूप के सिरे पर चौकोर घेरा तैयार दीख पड़ता है, जिसे हरमिका का नाम देते हैं । उसी में धातुगर्भ स्थित किया जाता है । उसी हरमिका के केंद्र में छत्र-यष्टि स्थिर की जाती है और यष्टि के सिरे पर तीन छत्र (एक के बाद दूसरा एवं तीसरा) निर्मित रहने हैं ।

चबूतरे के ऊपरी भाग में स्तूप के चारों तरफ प्रदक्षिणा के लिए मार्ग सुरक्षित रहता है तथा किनारे पर वेदिका को स्थान दिया गया है । भिक्षुगण उस मार्ग से स्तूप की पूजा कर प्रदक्षिणा करते थे । उसे मेधी या मेघ कहते हैं । ग्रामीण जनता अन्न को भूसा में पृथक् करते समय बैलों को एक स्तम्भ (मेह) के चारों तरफ घुमाती है । वही कार्य मेधी से लिया जाता है । स्तूप का आकार सर्वत्र एक-सा नहीं मिलता । वैशाली का स्तूप छोटे आकार का है, जिसमें मेधी तथा हरमिका के लिए स्थान नहीं है । पीपरावा स्तूप भी उसी से मिलता-जुलता है । ये स्तूप प्रारंभिक दशा को व्यक्त करते हैं, जिस समय

कला विकसित न थी। हीनयान युग में भारतीय वास्तुकला में नई धारणाएँ आईं। स्तूप पूजा का पात्र बन गया। अशोक ने हजारों स्तूप निर्मित किए, किंतु उनके वास्तविक आकार का पता नहीं चलता। धर्मराजिका स्तूप के भग्नावशेष मिले हैं। संभवतः उनमें हरमिका तथा छत्र का अभाव था। भगवान् बुद्ध को महापुरुष मान कर कालांतर में आकार-प्रकार जोड़े गए। सांची स्तूप की आरंभिक अवस्था टीले के रूप में थी, जिसे पर शुंगकाल में प्रस्तर बिछाए गए। अर्द्धगोलाकार भाग को अंड का नाम देते हैं। यानी अंड पर प्रस्तर लगाया गया, ताकि वह चिरस्थायी हो सके। सांची में अशोक स्तंभ की प्राप्ति से स्तूप की तिथि निश्चित हो जाती है। ईसा पूर्व द्वितीय शती में हीनयान मतानुयायियों ने स्तूप का विस्तार किया होगा, जिसके फलस्वरूप सांची का मुख्य स्तूप आज भी खड़ा है। दक्षिण भारत के स्तूपों का आकार उत्तरी भारत के स्तूपों से कुछ भिन्न दीख पड़ता है। चवूतरे तथा अंड की बनावट में भिन्नता है, जिसका वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा। दक्षिण भारत में अमरावती के अंड पर नाना प्रकार की कारीगरी दीख पड़ती है। अंड संगमरमर के प्रस्तर से ढका है और प्रत्येक टुकड़े पर बौद्ध धर्म के प्रतीक या कथानकों का प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है। भारतीय स्तूपों में अमरावती के चित्रित (अलंकृत) अंड को छोड़ कर सर्वत्र स्तूप का अर्द्धगोलाकार भाग (अंड) अनलंकृत है। अमरावती की इस विशेषता का परिचय अन्यत्र दिया जाएगा।

मौर्य-युग में स्तूप की पवित्रता को बचाने के लिए स्तूप के चारों तरफ गोलार्ध में तीन या चार फीट की दूरी पर एक वेदिका बनायी गई थी, जो बाँस की बनी हुई थी। ग्रामीण जीवन में पशुओं के लिए बाँस से घिरा बेड़ा बनाया जाता है, ताकि बाहर से कोई आसानी से प्रवेश न कर सके या पशु बाहर निकल न जाएँ। इसी बाँस का बेड़ा (परिधि) का अनुकरण वेदिका में किया गया। उस वेदिका के भीतर सर्वसाधारण का प्रवेश वर्जित था। बाहरी अपवित्र संसार से स्तूप की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए वेदिका की कल्पना उपस्थित की गई। यजुर्वेद में भी ऐसा ही वर्णन आता है कि समाधि के चारों तरफ मिट्टी की घिराव (ऊँची भूमि) तैयार करते, जिससे समाधि की पवित्रता बनी रहे या सुरक्षा हो सके। इसी वैदिक प्रथा का पालन स्तूप की वेदिका से किया गया। अंड तथा वेदिका के मध्य प्रदक्षिणापथ रहता है, जिसका प्रयोग उपासक करते रहे।

पशु वेड़ा की कल्पना का सुंदर रूप बौद्धकला में दीख पड़ता है । अशोक ने लकड़ी की ही वेदिका तैयार की थी, जिसे शुंगकाल में प्रस्तर से बदल दिया गया । सांची या भरहुत की वेदिकाओं के प्रस्तरों पर अभिलेख खुदे हैं, जिससे प्रकट होता है कि शुंगकाल में तैयार हुई थी । विदिसा के श्रेष्ठियों के भी नाम खुदे हैं । वेदिका पर हाथी-दांत के कारीगरों के नाम अंकित हैं । उन सभी अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शती में प्रस्तर की वेदिका तैयार की गई ।

समाधि (स्तूप) को पवित्र रखने के अतिरिक्त वेदिका का उद्देश्य बहुत महत्वपूर्ण था । भरहुत, बोधगया एवं अमरावती की वेदिकाएँ अतीव सुंदर रीति में खुदी हैं । इस अलंकरण का मुख्य प्रयोजन आकर्षण था कि चित्रित एवं भव्य वेदिका को देखने के निमित्त जनता आवेगी । उसके अलंकरणों तथा कथानकों या ऐतिहासिक विषयों का प्रदर्शन देखकर बौद्धमत की ओर आकर्षित होगी । इस प्रकार वेदिका बौद्ध धर्म के प्रचार का माध्यम भी समझी जा सकती है । बौद्धमत के प्रतीकों तथा भगवान् के महान् चमत्कारों को देख कर जन-साधारण को प्रभावित करना भी वेदिका-निर्माण का उद्देश्य था । उन उद्देश्यों की पूर्ति वेदिकाओं द्वारा हुई भी । भरहुत की वेदिका पर साधारण व्यक्तियों की जानकारी के लिए लेख भी अंकित हैं । परंतु, क्रमशः इसे समाप्त कर दिया गया । बोधगया तथा अमरावती में अभिलेखों के लिए स्थान नहीं था । सांची की वेदिका अनलंकृत है । सुंदर विकने प्रस्तरों से बनी है । कारीगरों या दान-कर्त्ताओं के नाम खुदे हैं । वेदिका के एक भाग पर गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय का लेख भी खुदा है ।

वेदिका के चार भाग हैं -

- | | |
|-----------|--------------|
| (१) आलवन, | (२) स्तंभ, |
| (३) सूची, | (४) उष्णीस । |

आलवन का कार्य स्तंभ को सीधा रखना है, अतएव वह पृथ्वी के नीचे स्थित रहता, जिसे देख नहीं सकते थे । अन्य तीनों भाग पूर्ण रूप से अलंकृत हैं (सांची को छोड़ कर) ।

स्तूप से संबंधित वेदिका की चारों दिशाओं में तोरण (तोर=जाना) बने हैं, जिनमें दो स्तंभ ऊपरी भाग में बड़े रियों से बंधे हैं । भरहुत में तोरण का आरंभ अवश्य हो गया था, परंतु बौद्ध कला में सांची के तोरण सर्वप्रसिद्ध हैं, जो वेदिका के साथ-साथ निर्मित नहीं हुए थे । समय के पश्चात् इन्हें जोड़

दिया गया । तोरण में ऐसा कोई स्थल नहीं, जो अनलंकृत हो । उन पर हीनयान कला, बुद्ध के प्रतीक, जातक प्रदर्शन तथा चमत्कारों को दर्शाया गया है । सांची तोरण की कला सर्वोत्तम मानी जाती है ।

सांची-तोरणों के परीक्षण से पता चलता है कि तोरण विभिन्न काल में तैयार किए गए थे । एक साथ सब का निर्माण नहीं हुआ । वैदिक परंपरा को मान कर दक्षिण का तोरण सर्वप्रथम निर्मित हुआ, जिसकी बंडेरी पर सातवाहन नरेश सातकर्ण का नामोल्लेख है । ब्राह्मण ज्योतिष में उत्तरायन तथा दक्षिणायन से सूर्य की अवस्था बतलाई जाती है । दक्षिण राक्षसों तथा यमराज की दिशा है । अतएव, मकान का दक्षिण भाग पहले ऊँचा बनाया जाता है । सांची का दक्षिण तोरण सबसे पहले तैयार किया गया, जिससे अमुदंर तथा बुरी प्रवृत्तियाँ बाहर चली जाएँ । उसके पश्चात् उत्तरी तोरण बना । पूर्वो तथा पश्चिमी तोरण का क्रम उसके अनंतर आया । तोरणों पर खुदे कलात्मक दृष्टांतों का अनुशीलन अगले पृष्ठों में किया जाएगा, पर इतना तो कहना पर्याप्त होगा कि सांची-तोरण का सौष्ठव, श्रेष्ठता एवं भव्यता का मूल्यांकन करना कठिन है । संक्षेप में स्तूप के आकार-प्रकार में चक्रतरा, मेघी अड, हरमिका, छत्र की प्रधानता है । यो तो वेदिका का भी अपना स्थान तथा महत्त्व है । तोरण (विशेषतः सांची) स्तूप की सुंदरता की अभिवृद्धि में हाथ बँटाते हैं । अधिकतर स्तूपों के गुंबज पर हरमिका या छत्र भी नष्ट हो गए हैं । परंतु, स्तूप के आकार में सभी का महत्त्वपूर्ण स्थान है । चैत्यगृहों में पर्वतों को काट कर जो स्तूप बने हैं (कालें या अजंता गुहा), उनमें स्तूप के प्रत्येक अंग सुरक्षित है । किसी चैत्य में छत्रयष्टि तथा तेहरा मुकुट काष्ठ के बने हैं । इस प्रकार वास्तविक स्तूप के आकार में कालांतर में समयानुकूल परिवर्तन किए गए ।

समतल भूमि या पहाड़ी पर निर्मित स्तूपों का विवरण उपस्थित करते समय, पहाड़ों की गुफाओं में चट्टानों को काट कर चैत्य में स्तूप स्तूप के आकार की ओर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है । यह पहले कहा जा चुका है कि स्तूप तथा चैत्य पर्यायवाची शब्द हैं । इस कारण जिस गुहा में पहाड़ काट कर स्तूप बना है, उसे चैत्य का नाम दिया गया है । स्तूप की उपस्थिति से उसके नाम में विभेद हो गया । हीनयान युग में स्तूप-पूजा का प्रचार हो गया था । अशोक के पश्चात् भी यह पूजाक्रम चलता रहा । शुंगकाल में पहाड़ खोद कर भिक्षुगण के निवास प्रा०—२

के लिए स्थान (विहार) तथा समीप में पूजाहेतु स्थल यानी चैत्य उत्कीर्ण किए गए। उन चैत्यो को घोड़े के नालनुमा आकार में तैयार किया जाता था। नाल की बाहरी सीमा पर गुहा में तीन द्वार खोदे जाते थे और नाल के भीतरी भाग (गोलाई) के समीप स्तूप का आकार कलाकार प्रस्तर काट कर प्रस्तुत करते थे। चैत्य में दीवार की ओर दोनों तरफ गलियारे छोड़ते हुए स्तंभों की पकितियाँ हैं। इनके सिरे से लगी काठ को पट्टियाँ अडाकर छत को छादन करनी हैं। स्तूप के सामने का भाग पूजा-स्थान मानते हैं। चैत्य की दीवारों तथा स्तंभों के मध्य में रिक्त स्थान उपासको के लिए सुरक्षित था। एक द्वार से जाकर स्तूप के पीछे से होकर उपासक दूसरी ओर पहुँच जाता है तथा विपरीत द्वार से बाहर चला आता है। निचले भाग में द्वार तथा उसके ऊपर चंद्रमाला वानाथन बनाया गया है। ताकि स्तूप पर सूर्य का प्रकाश पड़ सके और पूजा में उसमें सहायता मिल सके। चूँकि चैत्य में स्तूप पर्वत को काट कर बनाए गए हैं, अतः उनमें मेघी (अड के समीपस्थ प्रदक्षिणा-स्थान) का अभाव है, किंतु चबूतरे पर स्तूप तथा संबद्ध वेदिकानुमा कटाव दीव्य पड़ता है। गुहा में चैत्य का निर्माण स्तूप उत्कीर्ण कर हुआ है, अतएव समतल भूमि की वेदिका का अभाव है, उपासक गलियारे से होकर प्रदक्षिणा कर लेने हैं। अड के ऊपरी भाग में हरमिका निर्मित है, जिसकी बनावट यज्ञवेदी के सदृश है। हरमिका में छत्रमय यष्टि स्थापित है यानी पर्वत खोद कर समतल भूमि पर निर्मित स्तूप सदृश संपूर्ण आकार दृष्टिगोचर होता है।

स्तूप के आकार के संबंध में जो कुछ भी बाह्य रूप से ज्ञात होता है उसकी पृष्ठभूमि में दार्शनिक विचारधारा काम करती रही। यह सर्वसम्मति से मान लिया गया है कि वैदिक परंपरा का बौद्ध मत में पालन किया गया था, किंतु समयानुकूल एवं परिस्थित के अनुसार बौद्ध कलाकारों ने प्राचीन वास्तुकला में परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन किया था। स्तूप के आकार का विश्लेषण यह प्रकट करता है कि प्रत्येक भाग का निर्माण किसी विशेष उद्देश्य से किया गया था। यहाँ उसी दार्शनिक पहलू पर विचार करना युक्तिसंगत होगा। ब्राह्मण मत में क्षितिज से मिलता हुआ आकाश तथा उसके ऊपर देवलोक की कल्पना करते हैं। यही भारतीय परंपराओं में आकाश स्वर्ग का परिचायक है, यही ब्रह्मांड है, जिसके विषय में ऋषियों ने विचार-विमर्श किया है। उसी सिद्धांत की अभिव्यंजना स्तूप में की जाती है। ऊँचे चबूतरे

(जिसे संसार मानते हैं) पर अर्द्धगोलाकर स्तूप है, जिसे अंड कहते हैं। अर्द्धवृत्त का आकार होने के कारण स्तूप को अंतरिक्ष के सदृश मानते हैं। उसी अंड के ऊपरी भाग में हरमिका को स्थान दिया गया है। वह देवलोक है। उस स्थान पर भस्मपात्र को रखते थे। यानी वह बुद्ध की राख के निमित्त निर्मित है या इसे बुद्ध (भस्म के रूप में धातु शरीर) का कल्पित निवासस्थान मानते हैं। उसी भाग से छत्रयष्टि निकलती दीख पड़ती है। प्राचीन काल में छत्र राजत्व का प्रतीक समझा जाता था। यही कारण है कि बुद्ध को राजसी प्रतिष्ठा देने के लिए छत्र का निर्माण किया गया। जिस स्थान पर स्तूप पर छत्र दीख पड़ता है, उसी भावना का द्योतक है। कई स्थानों पर उसका अभाव है, किंतु उसकी स्थिति को भुलाया नहीं जा सकता। चैत्यगृहों में भी छत्र वर्तमान है। जातक प्रदर्शनो में जिस रूप में बुद्ध का प्रकटीकरण किया गया है, उस स्थान पर छत्र दृष्टिगोचर होता है। सांची के तौरण पर हाथियों के मस्तक पर स्थित भस्मपात्र (Urn) के ऊपर छत्र दिखा-लाया गया है। पडदन जातक में छह दाँत वाला हाथी बुद्ध का प्रतीक है, उसी मिरे पर भी छत्र दीख पड़ता है। इस देवलोक (हरमिका) में निवास करने वाला महान् देव (बुद्ध) के मिरे पर छत्र रखना नितात सप्रुचित है। हरमिका के ऊपर सृष्टि के लोको की सख्या छत्र के द्वारा व्यक्त की जाती है।

तीन छत्र की तीन भुवन में समता करते हैं। किसी स्थान पर सात छत्र दीख पड़ते हैं, जो सप्तलोक के परिचायक हैं। बौद्ध स्तूप के छत्र की संख्या इससे अधिक नहीं मिलती, किंतु भाजा गुहा में चौदह स्तूपों का निर्माण एक साथ दिखलाई पड़ता है। विद्वानों का मत है कि इनसे चौदह भुवनों का बोध होता है। ब्राह्मणमत की परंपरा को बौद्धमत में साक्षात्कार किया गया। वायुपुराण में (५०, ७७) निम्न पक्तियाँ मिलती हैं—

उपर्युक्त परिलोकाना छत्रवत् परिमण्डलम् । लोकमंडल एक दूसरे के छत्र की तरह है। स्तूप के भीतर ज्योतिर्मय ब्रह्म के रूप में बुद्ध विराजमान है। वर्तमान समय में भी राजपुताने के रजवाड़ों की सवारी निकलने पर सिरोभाग में छत्र धारण किए परिचारक रहते हैं।

मेघी का वैदिक स्वरूप है, अतः स्तूप के समीपस्थ चबूतरे पर प्रदक्षिणा-मार्ग बना है। समतल भूमि पर भी वेदिका तथा स्तूप के मध्य चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ है, जो वैदिक प्रणाली की याद दिलाता है। यजुर्वेद में समाधि को पवित्र समझ कर संसार की अशुद्धियों से पृथक् करने के लिए मेड़ के निर्माण का वर्णन

आता है। उसी विचार को स्थायी रूप देने के निमित्त छोटे बाध को प्रस्तर की वेदिका के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। उपामक मेघी का प्रयोग न कर निचले प्रदक्षिणा-मार्ग पर परिभ्रमण करते थे। वेदिका अलंकरण करने का कार्य ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में आरंभ हुआ, जब काण्ट की वेदिका को प्रस्तर द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। साधारण जनता को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करने का यह भी साधन था। उसी प्रकार कालांतर में तोरण निर्मित हुए और उन्हें भी नाना प्रकार के प्रदर्शनों (खुदाई) से अलंकृत किया गया।



तृतीय अध्याय

स्तूप-निर्माण की परंपरा

भारतवर्ष में स्तूप-निर्माण के इतिहास का गंभीर अनुशीलन किया जाए और वैदिक परंपरा का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट विदित होता है कि वैदिक युग से मध्यकाल (१२ वीं सदी) तक स्तूप-निर्माण की परंपरा भारत में वर्तमान थी। पिछले पृष्ठों में इस बात पर बल दिया गया है कि स्तूप का उद्गम वेदों के समकालीन माना जा सकता है। जिस उद्देश्य को लेकर बौद्ध-काल में स्तूप निर्मित हुए, उनके मूल स्वरूप एवं विचार को वेदों में निहित पाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद (३५/१५) का निम्न मंत्र में यह आदेश दिया गया है कि समाधि के चारों तरफ मिट्टी का ऊँचा टीला बनाया जाए—

इषं जीवेभ्यः परिधि वधामि मेघां नु गादपुरो अथयमेतम् ।

महीधरभाष्य की टीका में भी इसी को स्पष्ट किया गया है—

स्व निवास ग्रामस्य श्मशानस्य च मध्ये मार्यादि'लोष्ट महत्तर मत्स्रण्ड-
मध्वयु'रेव निवधाति ।

इसका तात्पर्य यह है कि श्मशान की पवित्रता रखने के लिए ग्राम तथा समाधि के मध्य में टीला तैयार किया जाए। यानी समाधि (स्तूप) तैयार करने का कार्य वैदिक युग में प्रारंभ हो गया था। शतपथ ब्राह्मण (१३।८।१।५) में श्मशान को किसी आकार (गोला या चौकोर) में निर्मित करने का विवरण मिलता है—

तेऽदिष्काः परामव स्तस्माद्या देव्यः प्रज्ञाश्चतुः सक्तीनि ताः श्मशानानि कुर्वेत्तस्य । या आसुर्यः प्राच्यास्त्वत्त्येत्वारिमण्डुलानी ।

इस प्रकार के अत्येष्टि टीले का भग्नावशेष लौरिया नंदन (जिला चंपारन, बिहार) में मिला है। यह स्तूप ८२ फीट ऊँचा है और इसका निर्माण तीन पवित्रों में हुआ है। उस स्थान की खुदाई से सोने की पत्तर की बनी देवी आकृति सहित उपलब्ध हुई है। इसे मातृदेवी से तुलना करते हैं। तात्पर्य यह है कि लौरिया का टीला अत्यंत प्राचीन है। इस स्थान पर

यूप तथा स्तूप के दोनों आकार प्रकाश में आए हैं। वैदिक यूप का ही रूप बौद्धों ने स्तूप में भावात्मक अनुकरण किया। अतः, वैदिक परंपरा का स्वरूप लोरिया नंदन स्तूप में विद्यमान है।

ईसापूर्व छठी या सातवीं सदी के वैशाली में निर्मित स्तूप का विवरण दीर्घनिकाय में पाया जाता है। भगवान् बुद्ध ने लिच्छवियों के स्तूप का उल्लेख किया था। महापरिनिर्वाण सूत्र में वर्णन किया गया है कि वृज्जिसंध में भीतर तथा बाहर चैत्यो (स्तूप) का मान करते थे तथा उनकी पूजा भी होती थी—

वृज्जि चेत्यानि अव्यंतगानि च ।

भगवान् बुद्ध ने स्वयं वृज्जिसंध की प्रशंसा की थी। उनका कथन था, महापुरुषों की (चक्रवर्ती) राख (अवशेष) पर समाधि बनायी जाए। संभवतः वैशाली में ऐसे स्तूप (चक्रवर्ती की समाधि) का निर्माण हो चुका था। आनंद तथा बुद्ध के वार्तालाप से सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं (महापरिनिर्वाण सूत्र)

आनंद—कथं मय भन्ते तथागतस्म सरीरे परिपज्जामाणि ।

बुद्ध—अव्यावटा तुम्हे आनन्द होय तथागतस्म सरीर पूजाय

आनंद—कथं पण भन्ते तथागतस्म सरीरे परिपाज्जितव्व ?

बुद्ध—यथा खो आनन्द रज्जो चक्रवत्तिस्म सरीरे परिपज्जन्ति, एव तथागतस्म सरीरे पटिपज्जितव्वति

आनंद—कथं पण भन्ते रज्जो चक्रवत्तिस्म सरीरे पटिपज्जन्तीति ?

बुद्ध—चातुम्महापथे रज्जो चक्रवत्तिस्म थूपं करोन्ति । एव चातुम्महापथं तथागतस्म थूपो कातव्वो ।

इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि बुद्ध को चक्रवर्ती राजाओं की समाधि का परिज्ञान था। उसी को ध्यान में रखकर आनंद से चौराहे पर स्तूप बनाने का आदेश दिया था।

इस प्रकार स्तूप-निर्माण का कार्य चक्रवर्ती राजाओं की समाधि के रूप में होता रहा। बुद्धनिर्वाण के पश्चात् उनका अवशेष आठ भागों में विभक्त कर दिया गया, जिसका वर्णन पिछले पृष्ठ में किया गया है। आठ अवशेषों पर आठ स्तूप बनाए गए। वैशाली के लिच्छवि तथा अजातशत्रु द्वारा निर्मित चैत्यों (स्तूपों) की जानकारी है। महावंश (४ । १७६) में वर्णन मिलता है कि अशोक ने धर्म को चिरस्थायी करने के निमित्त राजगृह तथा अन्य स्तूपों से भगवान् के अवशेष (धातुओं) को निकाल कर उन पर चौरासी

हजार स्तूप बनवाए। स्तूप-निर्माण के संबंध में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी उल्लेख किया है। इस प्रसंग में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि मौर्य से पूर्व निर्मित स्तूपों में पिपरावा (बस्ती, उत्तर प्रदेश) को प्रधान मान सकते हैं। उसके भस्मपात्र पर लेख खुदा है, जिसमें शरीर-स्थापना का वर्णन है तथा उस लेख के अक्षरों से अशोक ब्राह्मी से पहले की लिपि प्रकट होती है। अतएव, वैदिक युग से अशोककाल तक स्तूप की परंपरा उत्तरोत्तर बलवती होती गई। अशोक के द्वारा निर्मित हजारों स्तूपों में तक्षशिला तथा सारनाथ का धर्मराजिका स्तूप विशेष उल्लेखनीय है, जिनके भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। धमेक स्तूप (सारनाथ) तथा नालंदा के ईंटे के स्तूप आज भी खड़े दिखाई पड़ते हैं। अन्य स्तूपों के बारे में विशेष रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। निग्लीव सागर स्तंभ लेख में अशोक द्वारा कनकमुनि (पाँचवें मानुषी बुद्ध) के स्तूप की द्वितीय बार मरम्मत कराने का वर्णन है—

देवानं पिपेन पिपवसिन लाजिन चौदह वसा [मिसी] तेन बुधस कोनाक-मनसथुवे (स्तूप) इत्तिय बढिते।

इतना ही नहीं, सांची-तोरण पर एक दृश्य खुदा है, जिसमें अशोक राम-ग्राम के स्तूप-पूजा निमित्त हाथी पर सवार प्रदर्शित किया गया है। इससे यह विदित होता है कि स्तूप-पूजा का प्रचार मौर्य-युग में ही गया था। साहित्य तथा पुरातत्त्व की सामग्रियों के आधार पर उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है तथा अशोक द्वारा स्तूप-निर्माण की बातें प्रमाणित हो जाती हैं।

अशोक के उत्तराधिकारी शुंग नरेशों ने भी स्तूप-निर्माण का प्रोत्साहित किया। यद्यपि वे बौद्ध मतानुयायी न थे, परंतु उत्तरी भारत में भरहुत तथा बोधगया में अनेक स्तूप शुंगकाल में तैयार किए गए। भरहुत की वेदिका पर एक लेख खुदा है, जिसमें वर्णन आता है कि शुंग राजा के शासनकाल में यह स्तूप तैयार किया गया। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि बोधगया तथा भरहुत की वेदिकाओं पर हीनयान सबंधी प्रतीक या कथानक खुदे हैं। ईसा पूर्व सदियों में हीनयान मत की प्रधानता थी, इस कारण तत्संबंधी जितने कलात्मक नमूने उपलब्ध हैं, सभी शुंगकालीन माने जाते हैं। मौर्य लोगों के दक्षिण भारत के उत्तराधिकारी सातवाहन नरेशों ने भी अमरावती तथा उसके समीपस्थ अन्य स्तूपों के निर्माण में सहायता की थी। अमरावती के अधिक कलात्मक नमूने हीनयान मत से संबंधित हैं, जिनको सातवाहन राजा शातकर्ण के शासनकाल में तैयार किया गया। सांची-तोरण के संबंध में भी

ऐसी बातें कही जा सकती हैं। दक्षिण द्वार के तोरण पर स्तूप के प्रतीक पर एक छोटा लेख खुदा है, जिसमें वर्णन आया है कि शातकर्णि के समय में वह तोरण निर्मित हुआ था। सांची के मुख्य स्तूप को प्रस्तर-खंडों से ढँकने का कार्य शुंग काल में ही हुआ था।

अतएव, यह कहना यथार्थ होगा कि अशोक द्वारा स्थापित स्तूप-पूजा की परंपरा तथा गोलाकार स्तूप का निर्माण शुंगकाल में निबिध्न रूप से चलता रहा।

शुंगकाल (ईसवी पूर्व दूसरी एवं पहली सदी) में स्तूप की वेदिकाओं को स्थायित्व दिया गया। इस काल से पूर्व लकड़ी की वेदिकाएँ थी, जो ग्राम के पशु-बेड़ा के अनुकरण पर तैयार की गई थी। बाँस या काष्ठ की वेदिकाओं को हटा कर प्रस्तर को स्थान दिया गया। इसका प्रमाण यह है कि भरहुत एवं सांची की वेदिकाओं के स्तंभ या उष्णीस पर उन दानकर्त्ताओं के नाम खुदे हैं, जिन्होंने उस अंश के तैयार करने का बोझा उठाया था अथवा उसे तैयार करने का पूरा धन दान दिया था। यही कारण है कि वेदिकाओं पर खुदे लघु लेख में अंतिम शब्द 'दान' अंकित है। यह कार्य सामूहिक रूप में जनजागृति का द्योतक है।

ईसवी सन् के आरंभ से कुषाण वंश का शासन प्रारंभ हुआ। उस वंश के प्रतापी नरेश कनिष्क के विषय में अधिक बानें जात हैं कि वह बौद्धमत का प्रबल समर्थक था।

उसने चौथी बौद्ध सङ्गीति बुलाई थी तथा उसी काल से महायान मत का शुभारंभ हुआ। गांधार के मृभाग में अनगिनत बौद्ध-प्रतिमाएँ तैयार की गईं। कनिष्क के शासनकाल में अनेक स्तूप उत्तर-पश्चिम भारत में निर्मित हुए थे। बीमरान के स्तूप के भस्मपात्र पर बुद्ध की प्रतिमा बनी है। कुरम का स्तूप अपनी प्रमुखता रखता है। गांधार से यह परंपरा अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया में पहुँच गई, जिसका श्रेय कनिष्क का है।

कुषाण-युग के पश्चात् स्तूप-निर्माण का कार्य क्षीण होता गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह परंपरा अवरुद्ध हो गई, पर उस कार्य को कालांतर में राजकीय प्रश्रय अथवा सहायता न मिल पायी। बौद्ध उपासक या उपागिका उस कार्य में संलग्न थे, पर विशाल स्तूप की योजना उनके संमुख न थी। गुप्तकाल तक पूजा के निमित्त मनौती स्तूप का आकार (Votive Stupa) मुख्य स्तूप की चारों दिशाओं में निर्मित होते रहे। उनके स्वरूप सारनाथ के

धर्मराजिका स्तूप तथा नालंदा स्तूप के चारों ओर आज भी देखे जा सकते हैं । उत्तर गुप्त-युग में हर्षवर्द्धन बौद्ध मतानुयायी माना जाता है । परंतु, प्रभाकर वर्धन की समाधि के अतिरिक्त अन्य किसी स्तूप-निर्माण का श्रेय उसे नहीं मिला ।

राजनैतिक कारणों से स्तूप-निर्माण का कार्य रुक-सा गया था, किंतु धार्मिक जनता में बड़े स्तूप के निर्माण की कल्पना न रही । संभवतः बुद्ध के अवशेष के अभाव में पूर्वकालीन स्तूपों का अनुकरण सामयिक न प्रतीत हुआ, अतः मनीषी स्तूप ही बनते रहे । पहली शती के पश्चात् भगवान् बुद्ध के धातु-शरीर संबंधी लेख अप्राप्य हैं । बौद्ध मतानुयायी अन्य धार्मिक कृत्यों से अपनी धार्मिक पिपामा सन्तुष्ट करते रहे । गुप्त युग (चौथी शती ई० स०) से ही विहार-निर्माण के कार्य को बल मिला और समतल भूमि पर ईंट-प्रस्तर के सहारे विहार (भिक्षु सभ के निवास निमित्त) बनने लगे । मध्य युग के प्रधान बौद्ध शासक पाल नरेश भी सहिष्णु थे । धर्मपाल ने विष्णु मंदिर (नर-नारायण) को दान दिया तथा नारायण पाल ने अनेक शैव मंदिर बनवाए । नालंदा के स्तूप की परम्परा तथा नए विहार का निर्माण पाल-युग में हुआ था । अंतिमक, भागलपुर (विक्रमशिला) की खुदाई से जो स्तूप निकला है, वह संभवतः पाल-युग में तैयार किया गया था ।

स्तूप की परंपरा को भुलाया नहीं जा सकता था, अतः जितनी प्रतिमाएँ (Statue) मगध में तैयार हुई थी, उनके पृष्ठ प्रस्तर पर दोनों तरफ स्तूप की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं । मुख्य प्रतिमा के सिरोभाग के पार्श्व में स्तूप का आकार उस प्राचीन परंपरा की याद दिलाना है कि स्तूप की पूजा समाज में प्रचलित थी । इतना ही नहीं, प्रस्तर तथा धातु के लघु स्तूप बना कर घरों में उपासक पूजा करते थे । उनमें चबूतरा, अंड, हरमिका तथा छत्र स्पष्टतया दिखलाए गए हैं । उनके अनेक नमूने मगध प्रदेश से प्राप्त हुए हैं । कहने का मारांश यह है कि वैदिक प्रणाली को बौद्ध लोगों ने अपना कर स्तूप को विशाल रूप दिया । वही क्रम कई सदियों तक चलता रहा ।

पूर्व मध्य युग से पौराणिक विचारधाराओं का प्रभाव समाज पर बढ़ता गया । नए धार्मिक आकार-प्रकार के निर्माण के अतिरिक्त पुराने क्षतिग्रस्त भवनों, मंदिरों तथा स्तूपों का संस्कार भी उतना ही पुण्य कार्य समझा गया । यही कारण है कि विभिन्न राजवंशों के अभिलेखों में “खंड स्फुट प्रति संस्कार” वाक्य का प्रयोग मिलता है । लेखों में दान का जिस रूप में वर्णन

है, उसमें संस्कार (मरम्मत) का भी उल्लेख है । पालवंशी नरेश बौद्ध होकर ब्राह्मण मंदिरों के तथा अबौद्ध शासक बिहार या स्तूप की मरम्मत के लिए दान देते रहे । नालंदा के मुख्य स्तूप का निरीक्षण किया जाए, तो स्पष्ट विदित होता है कि पालनरेशों ने भी उसका संस्कार किया था । इस प्रकार ध्वस्त स्तूप को चार या पाँच बार विशिष्ट स्तूप का आकार दिया गया । मध्य युग की विचारधाराओं का अनुशीलन यह बताता है कि नए स्तूप के निर्माण का प्रयोजन समाप्त हो गया था । नवनिर्माण की बातें गौण पड़ गई थी । ठोस प्रस्तर खड का मनीषी (Votive Stupa) स्तूप बना कर पूजा करने लगे । सारांश यह है कि तेरहवीं सदी तक भारतीय समाज में स्तूप की परंपरा को स्थान प्राप्त था ।



चतुर्थ अध्याय

स्तूप अलंकरण के आधार

भारतीय कला में स्तूप बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध स्मारक है। परन्तु, इसकी परंपरा वैदिक काल से चली आई है। ऋग्वेद में हिरण्यस्तूप का उल्लेख है, जिससे विश्व की उत्पत्ति मानी गई है। सम्यक् संबुद्ध की पूजा स्तूप के माध्यम से होती रही। इसके द्वारा बुद्ध को चक्रवर्ती के रूप में अभिव्यक्त करने हैं तथा धर्मोपदेश एवं वर्षावास के समय योगी के स्वरूप में देखते हैं। स्तूप के ऊपरी भाग में हरमिका में संबद्ध छत्र चक्रवर्ती बुद्ध की बाने उपस्थित करना है। स्तूप के अलंकरण में जहाँ भी बुद्ध का प्रतीक उत्कीर्ण है, उसके ऊपरी भाग में छत्र अवश्यमेव दीख पड़ता है। इस प्रकार स्तूप सम्यक् संबुद्ध के एक अंश (चक्रवर्ती रूप) को व्यक्त करता है। स्तूप की परंपरा तथा उसके दार्शनिक पहलू पर विचार किया गया है। अधुना अलंकरण के विभिन्न आधार के विषय में कुछ कहना युक्तियुक्त मालूम पड़ता है।

स्तूप एक ऐसा स्मारक है, जिसे भस्मकलश के ऊपर निर्मित किया जाना था। अशोक काल से जो स्तूप भारत में निर्मित हुए, उनकी बनावट में मूलतः समानता है। ऊँचे चबूतरे पर अर्द्धगोलाकार मिट्टी का टीला तैयार किया गया, जिसे कच्ची ईंट से ढँक देते, ताकि वह कुछ समय तक स्थिर रह सके। उस प्रकार के स्तूप के चारों ओर काष्ठ की वेष्टनी तैयार की गई। अशोक के शासनकाल से चुनार-प्रस्तर का प्रयोग आरंभ हो गया था। पाटलिपुत्र के अस्सी स्तंभ वाले विशाल भवन में चुनार-प्रस्तर के खंभे लगाए गए थे। अशोक के स्तंभ (सारनाथ, कौशाबी, सांची, चपारन आदि) भी उसी प्रस्तर से निर्मित किए गए थे। अतएव, स्तूप एवं वेदिका के लिए भी प्रस्तर का प्रयोग आरंभ हो गया। भरहुत के स्तूप के भग्नावशेष मिले हैं, जिससे विदित होता है कि स्तूप का ऊपरी भाग प्रस्तर का बना था। सांची-स्तूप के अंड को (अर्द्धगोलाकार स्मारक) देखने से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि प्रस्तर द्वारा आच्छादन-कार्य बाद का है। इस प्रकार अंड का ऊपरी अंश स्थायी हो गया। भरहुत तथा सांची-स्तूप के अंड सादे प्रस्तर के हैं। उन पर किसी प्रकार की

खुदाई नहीं है। किंतु, अमरावती के स्तूप आच्छादित भाग (अंड) तो बौद्ध प्रतीक या प्रतिमाओं सहित खुदे हैं। ऐसा उत्कीर्ण भाग अन्यत्र दीख नहीं पड़ता। अमरावती की इस विशेषता (अंड का अलंकरण) से बौद्धकला में सजीवता आ गई तथा कलाविदों की सौंदर्य-कल्पना तथा कलात्मक विचार का सर्वोत्कृष्ट नमूना उपस्थित हो गया। अमरावती के कलाकार समीप या दूरी के कलात्मक सापेक्ष महत्त्व को समझते थे। इस कारण रूपचित्रों के आकार-प्रकार में भेद उपस्थित किया था। अंड का अलंकरण अमरावती की निजी विशेषता है। स्तूप के इस ऊपरी भाग को छोड़ कर चबूतरे पर भी खुदाई की गई। चौकोर चबूतरे के एक अंश पर पाँच स्तंभ (आयक स्तंभ) खड़े किए गए हैं। अमरावती में ही केवल आयक स्तंभ की स्थिति दीख पड़ती है। इन पाँच आयक स्तंभों का क्या प्रयोजन था, यह कहना कठिन है। किंतु, उस परिस्थिति के कारण दर्शक की आँखें स्तूप को स्पष्ट देख नहीं सकती। इस प्रकार स्तूप के अधिक भाग पर अमरावती के अनिरिक्त भरहुत या साची में कोई अलंकरण नहीं मिलता। चबूतरे की निचली गतह के चारों तरफ छह फीट चौड़ा मार्ग है, जिसे प्रदक्षिणा-पथ कहते हैं। उपामक स्तूप के समीप आकर उस स्मारक की परिक्रमा कर लेता था।

स्तूप के समीप आने के लिए तोरण बने थे, जिन्हें देखने में विदित होता है कि तोरण को वेदिका से पृथक् तैयार किया गया था। साची के तोरण तो स्पष्टतया पृथक् स्थिति रखते हैं। तोरण में दो स्तंभ होने हैं, जिनको जोड़ने के लिए बंडेरी रहती है, जिसे संस्कृत में पादांग कहते हैं। बंडेरी एक प्रस्तर का लंबा टुकड़ा है, जो दो स्तंभों के ऊपर रखा जाता है। परंतु, स्तंभ के सिरे पर छोटा चौकोर प्रस्तर (False Capital) रख कर बंडेरी (Architrave) तैयार की जाती थी। इसे एक प्रकार दरवाजे का ऊपरी चौखट समझ सकते हैं। उसी क्रम को दोहराते हैं। इस प्रकार तीन बंडेरियाँ (Architra) एक के ऊपर दूसरी तथा तीसरी दीख पड़ती हैं। दो बंडेरियों में अंतर लाने के लिए प्रस्तर के चौकोर टुकड़ा यानी मिथ्या स्तंभ-शीर्ष (False Capital) रखना अन्यत आवश्यक हो जाता है। भरहुत तथा साची के तोरण तीन बंडेरियों सहित निर्मित हैं। अलंकरण के निमित्त तोरण का कोई भी भाग

(१) स्तंभ

(२) अंतराल स्थित चौकोर-प्रस्तर (मिथ्या स्तंभ-शीर्ष) तथा

(३) बंडेरियाँ

अछूता नहीं रहा है। स्तंभ के लंबे भाग को कलाकारों ने कई चौकोर भाग में विभक्त कर खुदाई का कार्य संपन्न किया है। इस चार भुजा वाले भाग में हीनमान के बौद्ध प्रतीकों (यक्ष स्तूप या चक्र) की पूजा का दृश्य दिखलाया गया है। सांची के तोरण-स्तंभ पर अधिकतर लोकप्रिय पूजा का दृश्य है। बुद्ध प्रतीक के रूप में सभी जीव-जंतुओं, मनुष्यों या देवताओं द्वारा पूजित हो रहे हैं। भरहुत में स्तंभ पर यक्ष-यक्षिणी के रूपचित्र बने हैं। यक्ष विशाल-काय वस्त्राभूषण से सुमज्जित स्तंभ के सहारे खड़े दीख पड़ते हैं। सांची-तोरण पर यक्ष की आकृति कम संख्या में मिलती है। इसके अतिरिक्त जातक कथाओं का प्रदर्शन मिलता है। भरहुत के तोरणों पर जो प्रदर्शन हैं, उनका नामोल्लेख ब्राह्मी में किया गया है। स्तंभ पर जो खुदाई है, वह दो प्रकार की है —

(अ) उभरा हुआ (High relief)

(ब) सतह से नीचे कटी हुई गहराई (Low relief)

यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ उभरी हुई हैं तथा सांची-तोरण पर चौकोर खुदाई गहराई में दीख पड़ती है। छोटे आकार के कारण मिथ्या स्तंभ-शीर्ष पर बड़े रूपचित्रों का अभाव है। बुद्ध के प्रतीक या जन्मकथा-मंजुषी पुष्प (कमल) या गजलक्ष्मी की आकृतियाँ खोदी गई हैं। सांची-तोरण में स्तंभ-शीर्ष अधिक सुंदरता के साथ उत्कीर्ण है।

तोरण की बंडेरियों (पादांग) पर विस्तृत रूप से जातक का प्रदर्शन है तथा ऐतिहासिक घटनाएँ भी खोदी गई हैं। सांची के कलाकार कला के सापेक्ष महत्त्व (परिप्रेक्ष्य) को समझते थे और उन्होंने प्रदर्शनों को गतिशील बनाया था। इस कारण विस्तारपूर्वक जातक को उत्कीर्ण किया गया है। जातक के मुख्य अभिनेता की आकृतियाँ कुछ दूरी पर बार-बार प्रदर्शित कर कथानक के प्रवाह को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। खुदाई में पात्र को कई बार उपस्थित करना, उसकी गति को दर्शाया जाना, जिससे दर्शक पूरे कथानक को जान सकें। उसकी विभिन्न पहलू या स्थिति से अवगत हो सकें। सांची-कला की यही विशेषता है। परिदृश्य का ज्ञान, प्रदर्शनों की गतिशीलता तथा कथानक की सजीवता सांची के कलाविदों की दक्षता एवं कुशलता का परिचायक है। उदाहरण के लिए पड्दंत जातक। हाथी का पानी से निकलना बाहर चलना तथा थोड़ी दूर पेड़ के नीचे जाकर खड़ा हो जाना, हाथी के गति (संचलन) का द्योतक है। इसी प्रकार बेसंतर कथानक में राजा परिवार सहित रथ पर सवार महल के फाटक से निकल रहा है। रथ जाकर जंगल के किनारे ठहरता

है। बेसंतर जंगल में चला जाता है। रथ नगर को लौटते दीख पड़ता है। जंगल का दृश्य, राजा से रानी तथा बच्चों का पृथक् होना, तत्पश्चात् देवताओं के संमुख राजा आदि प्रदर्शनों का मुख्य उद्देश्य यही था कि बेसंतर जातक का विस्तृत प्रदर्शन हो। इसे बंडेरी के दोनों ओर उत्कीर्ण किया गया है। इसके देखने से राजा की सारी यात्रा का आभास हो जाता है। यद्यपि इस खुदाई में वास्तविक संचलन का अभाव है, किंतु कला की यही विशेषता है कि उसमें भ्रांति होते हुए भी दर्शकों को सजीवता का मिथ्या ज्ञान हो जाता है। उस संकेत से उपासक आकर्षित हो जाते हैं। यदि बुद्ध के भस्म (राख-धातु) निमित्त युद्ध-प्रदर्शन भी प्रसंग बस उल्लिखित किया जाए, तो कथानक में गतिशीलता का परिज्ञान सरल हो जाता है। युद्ध की सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं। सेना के चारों ओर (रथ, हस्ति, घुड़सवार तथा पैदल सैनिक) कार्यरत होकर युद्ध में तल्लीन है। ये प्रदर्शन सर्वांगीण रूप में उस घटना की याद दिलाते हैं, जो ईसा पूर्व छठी शती विभिन्न राजवंशों में युद्ध की तैयारियों से संबंधित है।

भरहुत तथा साची-तोरण की ऊपरी बंडेरी पर वृक्ष तथा स्तूप वैकल्पिक ढंग से उत्कीर्ण हैं। भरहुत में वेदिका या तोरण-स्तंभों पर उत्कीर्ण सात वृक्षों को सात मानुषी बुद्ध का प्रतीक माना गया है और उनका नामोल्लेख भी ब्राह्मी में किया गया है। उसी आधार पर साची की बंडेरी पर वृक्ष एवं स्तूप (जिनकी संख्या सात है) को मानुषी बुद्ध का प्रतीक माना जाता है (नामोल्लेख का अभाव)। बंडेरियों के निचे पर त्रिरत्न का प्रदर्शन प्रतीकात्मक रूप में दीख पड़ता है।

स्तूप की पूजा करने के लिए उपासक तोरण होकर प्रदक्षिणा-पथ पर आ जाते, तभी स्तूप को स्पर्श कर सकते थे। स्तूप का यह भाग (अड) अत्यंत पवित्र स्मारक था, जिसे सर्वदा या सब के द्वारा संपर्क स्थापित करना उस स्मारक को दूषित करना था। अतएव, वैदिक परंपरा को ध्यान में रखकर उस स्मारक को अपवित्र होने से बचाना उचित समझा गया। यही कारण था कि स्तूप से छह फीट की दूरी पर प्रदक्षिणा-पथ से बाहर बेष्टनी तैयार की गई। उस कार्य का अनुकरण ग्राम में स्थित पशु के बेड़ा से दीख पड़ता है, जिसके घेरे में पशु रखते हैं तथा बाहरी ससर्ग से बचे रहते हैं। चूंकि कलाकार के संमुख दूसरा प्रतिमान न था, अतएव पशु-बेड़ा का प्रतिरूप तैयार किया गया। अतएव, प्रारंभिक अवस्था में बेष्टनी बाँस या काष्ठ की बनी, जिसे कालांतर में स्थायी रूप देने के लिए प्रस्तर का प्रयोग किया गया। बेड़े का अक्षरक्षः

अनुकरण दीख पड़ता है। वेष्टनी चार प्रकार के अंशों को मिला कर बनती रही। सभी आकार-प्रकार के समिलित स्वरूप को वेष्टनी या वेदिका कहते हैं —

१. आलंबन—वेष्टनी का पृथ्वी के नीचे का भाग, जो दीख नहीं पड़ता, किंतु उसी पर अन्य आकार (स्तंभ) स्थिर किए जाते थे।

२. वेदिकास्तंभ आलंबन के छेद में कुछ दूरी पर खड़े किए जाते थे, जो एक समान चबूतरे के चारों तरफ स्थिर किए जाते। ऊँचाई भी बराबर होती तथा चौकोर होते थे।

३. सूची—स्तंभों को परस्पर जोड़ने के लिए प्रस्तर का ऐसा भाग तैयार किया जाना, जो दोनों तरफ स्तंभ के गहरे कटान से जुड़े होते थे। इसी जोड़ने वाले प्रस्तर-खंड को सूची कहते हैं। सूची को देखने से ज्ञात होता है कि उसे चिकना कर अडाकार बनाया जाता और स्तंभ के बने घर में उसे ठीक बैठा दिया जाता था। दो स्तंभों के मध्य तीन-चार सूचियाँ सबको ग्रंथि रूप में बाँधे रहती थी।

४. उष्णीस — खड़े स्तंभों को एक रूप में बाधने के लिए सभी के सिरे पर एक लंबे प्रस्तर को रख दिया जाता, ताकि वेदिका के गिरने का भय न रह जाय। इस लंबे स्तर को उष्णीस (पगड़ी) कहते हैं। इस प्रकार वेष्टनी के चारों भाग एक साथ संबद्ध हो जाते और स्थायी वेदिका (बेड़ा का नया रूप) के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

वेदिका की उपयोगिता निःसंदेह पवित्रता की रक्षा करनी थी। अड के समीप आना सबके लिए कठिन न था, पर अपवित्र समार से धातुगर्भ को पृथक् रखना भी बौद्धों के लिए आवश्यक प्रश्न था। अतएव, पशु-बेड़ा के अक्षरशः अनुकरण पर वेष्टनी तैयार की गई। दूसरी उपयोगिता के संबंध में विस्तृत बातें कही जाएँगी। वेष्टनी अलंकरण के प्रमुख आधार के रूप में काम करती रही। भरहुत, बोधगया एवं अमरावती की वेदिकाएँ लावण्यमय, सौंदर्यपूर्ण एवं बलात्मक ढंग से खुदी हैं। सांची की वेदिका सादी यानी अलंकाररहित है। अन्य वेदिकाओं के सदृश इसे अनलंकृत क्यों रखा गया? यह रहस्यपूर्ण प्रश्न है। उसके प्रस्तरों पर दानकर्त्ता का नामोल्लेख है। वह किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है, तथापि सांची-तोरण के सदृश उसे क्यों उत्कीर्ण नहीं किया गया? संभव है, एकरूपता लाने के लिए विभिन्न दानकर्त्ताओं ने वेदिका को सादा तथा चिकना बना कर नामोल्लेख से संतोष कर ली। अन्यथा तोरण के सदृश सांची-वेदिका को कलापूर्ण रीति से खोद सकते थे। अस्तु भरहुत, बोध-

गया तथा अमरावती की वेष्टनियों पर ऐसा कोई स्थल नहीं, जो उत्कीर्ण न हो। भरहुत की वेष्टनी पर जातक प्रदर्शन तथा प्रतीक (वृक्ष, चक्र, स्तूप) पूजा का चित्रण है। जिन लोगों ने उसे दान किया है, उनके नाम ब्राह्मी में अंकित हैं। जैसे—(१) मोरगिरिहं पुषाया दानं यम्बो (मोर गिरि के पुष्या ने स्तंभ का दान किया)

(२) वेदिसा अय माया दानं—विदिसा की आर्या (श्रेष्ठ) माया का दान,

(३) धम रलितय दानं सूची (धर्मरक्षित द्वारा सूचीदान),

(४) सिंहस सूची दान या विजितकस सूची दानं (सिंह द्वारा सूची का दान या विजित द्वारा)

(५) बुद्ध रलितस रूपकारकस दान (बुद्धरक्षित कलाकार द्वारा दान)।

इस प्रकार भरहुत में ऐसा कोई स्थान नहीं, जो अनलकृत हो तथा उसका उल्लेख ब्राह्मी में न किया गया हो। बोधगया में प्रदर्शन का या दानकर्ता का नाम उल्लिखित नहीं है, पर वेदिका पर प्रदर्शनों का समीकरण हो सका है। भरहुत की वेदिका के स्तंभ के महारे यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ खड़ी दीख पड़ती हैं। उस पर अन्य चित्र भी खुदे हैं। प्रमेनजीत तथा गजातशत्रु के नाम से स्तंभ विख्यात हैं, जिन पर इन राजाओं द्वारा पूजा का प्रदर्शन है। प्रमेनजीत स्तंभ पर अप्सराओं का नृत्य भी हो रहा है। अमरावती के वेदिका-स्तंभ पर भी यक्षिणियों का वासनापूर्ण प्रदर्शन है। उन पर दो प्रकार की खुदाई है। स्तंभ के मध्य में गोलाकार फलक (Medallion) उत्कीर्ण है, जिन्हें देखने से ज्ञात होता है कि कमलपुष्प से लोगों को बड़ा प्रेम था। फलक की खुदाई कमलपुष्प के सदृश है। स्तंभ के ऊपरी तथा निचले भाग में वही फलक अर्द्ध-गोलाकार (Half Medallion) है। उनमें आधा कमलपुष्प खिले हुआ दिखलाया गया है। ऐसे फलक भरहुत-वेदिका पर भी हैं। सूची के बीच में भी वैसा ही गोलाकार फलक बना है, जिसमें अनेक जातक-कथा प्रदर्शित हैं—जैसे—जैतवन विहार अनाथपीडिक कितने फलक में श्रेष्ठी का सिरोभाग खुदा हुआ है। साची स्तूप नं० २ के फलकों में विभिन्न जानवरों की आकृतियाँ हैं। स्तूप नं० १ वेदिका ही अनलकृत है। बोधगया के गोलाकार स्तंभ फलक (Medallion) में ब्राह्मण धर्म की बारह राशियों के रूपचित्र उत्कीर्ण हैं।

वेदिकाओं के उष्णीस भी खुदाई के प्रसंग में कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इस पर अधिकतर लता-पुष्प या फल की वल्लरी के रूपचित्र इस ढंग से खोदे गए हैं कि पूरे उष्णीस को ढँक लेती हैं। लताओं में चढ़ाव-उतार है। उस रीति

से जो ऊपर या नीचे रिक्त स्थान बन जाते थे, उनको भी कलाकारों ने खाली नहीं छोड़ा । यक्षिणी, यक्ष लंबोदर वामन जगल के पशु, या कुटिया का दृश्य खोद कर अंतराल को भी विभूषित किया गया है । लता का प्रवाह देखते बनता है । उष्णीस का लावण्यमय प्रदर्शन अमरावती में दीख पड़ता है । तात्पर्य यह है कि शु गकाल में वेदिका को स्थायी रूप देकर प्रस्तर का सदुपयोग किया । सूची की सादी अनलंकृत वेदिका की उतनी उपयोगिता नहीं है, जितनी अन्य स्थानों की । वेदिकाएँ अलंकरण के प्रधान आधार थी । उन पर खुदाई कर कलाकारों ने वेदिका-स्तंभ, सूची तथा उष्णीस को सौंदर्य ही नहीं दिया, अपितु उन्हें आकर्षक बनाया । भगवान् बुद्ध के पूर्व जीवन के कथानकों का प्रदर्शन अथवा ऐतिहासिक घटनाओं का उत्कीर्ण उपासको एवं दर्शको के मानसपटल पर स्थायी प्रभाव डालना है । वेदिका की खुदाई एक प्रकार के मूक धर्म-प्रचारक का कार्य करती रही ।



पचम अध्याय

स्तूप के अलंकरण

स्तूप से संबंधित अलंकरण के विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि मिट्टी के मूल स्तूप पर किसी प्रकार का अलंकरण संभव न था। प्रारंभिक अवस्था में ऊँचे चबूतरे पर मिट्टी का टीला (स्तूप) बनाया जाता था तथा काठ की वेदिका स्थिर की जाती। ऐसी परिस्थिति में उस आधार पर खुदाई की बात सोची न जा सकी। शु गकाल के आरंभ होते (ई० पू० द्वितीय सदी) बौद्धकाल में जागृति आ गई। यद्यपि बौद्ध मत को राजा-श्रेय न मिल सका, पर भिक्षुओं का प्रभाव सर्वत्र था। समस्त भारत में स्तूप-अलंकरण का विचार उत्पन्न हुआ। उसका कारण काल्पनिक न था। जन-माधारण को 'स्तूप-पूजा' की ओर आकृष्ट करने के लिए कोई योजना तैयार करना भी नितांत आवश्यक था। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सफल प्रयत्न किया गया। सर्वप्रथम स्तूप के अर्द्धगोलाकार (अंड) भाग को प्रस्तर में ढँक दिया गया तथा लकड़ी की वेष्टनी को स्थायी रूप दिया गया यानी प्रस्तर की वेदिका तैयार की गई। वेदिका पर खुदे लेख में प्रकट होता है कि वेष्टनी के निर्माण में अनेक लोगों का हाथ था। साची की वेदिका पर विदिसा की श्रेणी या कलाकार के नाम अंकित मिले हैं, जिन्होंने उसे तैयार करने में हाथ बँटाया था। तात्पर्य यह है कि अंड के प्रस्तर तथा वेदिका के विभिन्न भागों को खुदाई का स्थान (आधार) चुना गया। प्रस्तर के आकार के अनुसार खुदाई का कार्य संपन्न किया जाता था। उत्तरी भारत में भरहुत एवं बोधगया की वेदिकाओं को सर्वोत्कृष्ट ढंग से अलंकृत किया गया है। साची की वेदिका अलंकृत है, किंतु उसके तोरण शु गकाल की सर्वोत्तम दशा को व्यक्त करते हैं। इनके अलंकरण भारतीय कला का सर्वोत्तम उदाहरण माने गए हैं। प्रस्तर कला के तीनों अवयव—लंबाई, चौड़ाई तथा गहराई का ऐसा उदाहरण दूसरा नहीं मिलता। दक्षिण भारत के अमरावती स्तूप की निजी विशेषता है। स्यात्

ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ सुंदर खुदाई न दीख पड़े। स्तूप के अंड, वेदिका तथा तोरण सभी भाग अलंकृत हैं। यह सही है कि सभी कार्य एक साथ संपन्न नहीं हुए, तथापि उनके परीक्षण से एकरूपता प्रकट होती है।

स्तूपों पर अलंकरण के विचार से भरहुत, बोधगया तत्पश्चात् साची-तोरण की कला क्रमशः विकसित प्रतीत होती है। अमरावती की खुदाई भी सर्वोत्तम समझी गई है। इस क्रम के स्थिर करने का कारण अलंकरण का यह है कि भरहुत में थोड़ी सीमा में घटनाओं का जमघट (अध्य-क्रमिक विकास वस्था) उत्पन्न कर प्रस्तर खुदें हैं। उदाहरण के लिए जेतवन विहार में अनाथपीडिक द्वारा पृथ्वी खरीद कर विहार-निर्माण एवं दान का दिग्दर्शन कराया गया है। सीमित क्षेत्र में बैलगाड़ियों से कार्पापण उतार कर बिछाया जा रहा है। उसी के एक भाग में विहार देख पड़ता है तथा संलग्न भू-भाग पर विहार को दान करने का दृश्य प्रदर्शित है। छोटे चौकोर स्थान में इतने कार्यों का प्रदर्शन कला की दृष्टि में अव्यवस्थित प्रतीत होता है। भरहुत को प्रारंभिक प्रदर्शन मानने का दूसरा प्रमुख कारण यह है कि उसके उदाहरणों में जीवन-शक्ति का अभाव दृष्टिगोचर होता है। कोई प्रतिमा संचालित न होकर अग-प्रत्यग गतिविहीन प्रकट होते हैं। शरीर की संधियाँ सीमेट से जुड़ी मालूम पड़ती हैं। मानव-शरीर की गाँठ में बल का संचार आवश्यक है। बगहीन जोड़े हुए संधि-भाग भरहुत प्रदर्शन की हीनता के द्योतक हैं। यक्ष, यक्षिणी के अंगों में अनुपात का भी अभाव है। अनुपात की अनुपस्थिति में कलाकार की अक्षमता का परिज्ञान हो जाता है। भरहुत की कला की हीनभावना प्रस्तर पर खुदे लेखों से भी प्रकट होती है। जितने भी प्रदर्शन भरहुत वेदिका या तोरण पर दीख पड़ते हैं, सभी लेखांकित हैं। उसके सहारे प्रदर्शन को समझने में सहायता मिलती है। इतिहासज्ञ इस कार्य में तत्कालीन कलाकार तथा जनता की बुद्धि को मापदंड से घट कर समझते हैं। संभवतः दर्शकों को प्रदर्शित दृश्य के परिज्ञान के निमित्त लेख अंकित किए गए थे। इन सभी कारणों से भरहुत वेदिका शुंगकालीन कला का प्रारंभिक स्वरूप उपस्थित करती है। बोधगया में उससे परिष्कृत कलात्मक नमूने हैं। उनमें जीवन-शक्ति का संचार, प्रमुख घटना का प्रदर्शन, जमघट की कमी आदि विषयों के अनुशीलन से बोधगया को भरहुत से अधिक उन्नत स्थान दिया गया है। बोधगया के कलाकारों ने उदार हृदय के साथ ब्राह्मण मत-संबंधी प्रदर्शनों को भी स्थान दिया था। उदाहरण के लिए—इंद्र, सूर्य एवं राशियों का काल्पनिक स्वरूप बिखाया गया है।

अलंकरण के विचार से साची-तोरण की कला सर्वोत्तम मानी जाती है। यद्यपि प्रदर्शनो का मूल कथानक सर्वत्र समान ही है यानी एक ही कथा को प्रस्तर खड पर प्रदर्शित किया गया है, तथापि उनके सौष्ठव तथा उनकी कारीगरी में विभिन्नता है। साची तोरण के कलाकार अत्यंत दक्ष एवं कुशल कारीगर थे। कला के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने से उनके गुण तथा उनकी क्षमता का परिज्ञान हो जाता है। साची-तोरण की कला में जीवनशक्ति तथा रक्त-संचार दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक कथानक में प्रवाह है तथा कलाकार ने मुख्यपात्र को स्थान-स्थान पर प्रदर्शित कर उसमें प्रवाह की सूचना दी है। षड्दंत जातक, बेसंतर-जातक एवं भस्म (धातु) के लिए युद्ध का प्रदर्शन कलात्मक प्रवाह के ज्वलंत उदाहरण हैं। कला के मानदंड को ध्यान में रखकर आदर्श तथा वस्तुस्थिति का परि-ज्ञान करना कला के विशेष गुण माने जाते हैं। साची-तोरण पर लंबाई, चौड़ाई तथा गहराई को प्रस्तर पर सफल रूप में दर्शाया गया है। इसीलिए साची कला को शुंगकाल की सर्वोत्कृष्ट कला समझने है।

दक्षिण भारत में नागर्जुनी तथा अमरावती के स्तूप का अलंकरण शुंग-काल में ही प्रारंभ हुआ था। अमरावती कला पर मध्य भारतीय कला की झांकी मिलती है। इसके अलंकरण के विस्तृत क्षेत्र में अनेक विषयों का समावेश किया गया है। ईसापूर्व २०० में ईसवी सन् २०० वर्षों तक इसका विस्तार रहा। चुनार प्रस्तर के स्थान पर मगमरमर का प्रयोग किया गया तथा दक्षिण के कलाकारों ने स्तूप या वेदिका का कोई भी भाग अछूता न रखा। प्रत्येक भाग की स्थिति तथा उपयोगिता पर ध्यान रख कर खुदाई की गई है। उपासकों से स्थान की दूरी को ध्यान में रखकर कलात्मक प्रदर्शन का रूप छोटा या बड़ा कर दिया गया, ताकि दर्शक पूर्णरूपेण उनका अवलोकन कर सकें। भारतीय वास्तुकला में अमरावती के स्तूप की अपनी विशेषता है। दक्षिण के सातवाहन शासकों ने प्रोत्साहित कर अमरावती को श्रेष्ठ बनाया। भारतीय स्तूपों की श्रेणी में इसे उत्कृष्ट स्थान दिया गया। इसके उत्तम उदाहरणों तथा नमूनों का अनुशीलन अगले पृष्ठों में किया जाएगा।

शुंगकालीन स्तूपों के नाना प्रकार के अलंकरणों का अनुशीलन एवं अशोक-कालीन कला से तुलनात्मक अध्ययन इस परिणाम तक पहुँचाता है कि बोध-गया, भरहुत, सांची तथा अमरावती के आलंकारिक प्रदर्शनो में मौर्यकालीन विचारों का अभावात्मक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। शुंगकालीन प्रदर्शनों में अशोक की कला का निषेधात्मक रूप है। अशोक के सुसंस्कृत विचारों को शुंग-

काल में समादर न मिल सका । अशोक के धर्मलेखों में घोषणा की गई है कि आमोद-प्रमोद निमित्त 'समाज' आयोजित न किया जाए, किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् सांसारिक विषयों को लेकर वेदिकाओं पर प्रदर्शन किया गया । नृत्य का दृश्य, वाद्य का प्रदर्शन तथा युद्ध की प्रक्रिया को तोरण की बंडेरियों पर दिखलाया गया, जिसका अशोक ने विरोध किया था । अतएव, संक्षेप में यह कहना यथार्थ है कि स्तूप की वेदिकाओं तथा तोरण पर मौर्ययुगी भावना का प्रतिकूल प्रदर्शन है । अमरावती की यक्षिणी विषयवासनाओं का भावात्मक प्रदर्शन मात्र है । शुंग कला का मुख्य उद्देश्य मध्यदेशीय लोगों के सामूहिक विचारों तथा सामाजिक भावनाओं को व्यक्त करना था । यह कला लोगों के मानसिक संकल्प से घनिष्ठ संबंध रखती है तथा जनसमुदाय की परंपरा की अभिव्यक्ति करती है । इसीलिए यह कहना युक्तिसंगत होगा कि स्तूप तथा वेदिकाओं का अलंकरण कलाकार की निपुणता एवं दक्षता का उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

इस विषय की चर्चा हो चुकी है कि मौर्ययुग में चबूतरे पर मिट्टी के अर्द्ध-गोलाकार स्तूप बनाए गए, जिनको कालांतर में स्थायी रूप दिया गया । यानी मिट्टी के भाग को ईंट तथा प्रस्तर से आच्छादित किया गया । काष्ठ की

वेदिका को प्रस्तर के माध्यम से वैमा ही रूप दिया
हीनयान-संबंधी आलंका- गया । बौद्ध भिक्षुओं के समुख इस आकार-प्रकार को
रिक प्रदर्शन सुंदर बनाने का प्रश्न था, इस कारण खुदाई का

कार्य आरंभ किया गया । वेदिका स्तूप की बाह्य
सीमा में स्थित थी; अतएव उन पर ऐसी खुदाई नितात आवश्यक थी, जो
आकर्षक हो तथा उपासकों या दर्शकों को स्तूप-पूजा (बौद्धमत) की ओर
आकृष्ट कर सके । मनोहारी एवं सुंदर खुदाई के निमित्त बौद्ध धर्म-संबंधी
विषयों का चुनना भी सर्वोपरि समस्या थी । यह सर्वविदित है कि इसी पूर्व
सदियों में हीनयान मत का प्रचार तथा प्रसार था, जिसे अशोक के धर्मदूतों ने
विदेशों में फैलाया था । हीनयान मत में बुद्ध महापुरुष चक्रवर्ती के रूप में
समादर पाते रहे । तात्पर्य यह है कि उनमें देवत्व के अभाव होने से प्रतीक-
पूजा की प्रधानता थी । शुंगकालीन कला प्रतीकात्मक है । भगवान बुद्ध के
जीवन से संबद्ध प्रतीक (Symbols) पूजित होने लगे । बुद्ध के प्रमुख चार
प्रतीक जीवन-घटना के चोक्के थे—

(१) हस्ति-जन्म का

- (२) वृक्ष-ज्ञान का
- (३) चक्र धर्मपरिवर्तन (उपदेश), का और
- (४) स्तूप महापरिनिर्वाण का

अशोक ने स्तूप का निर्माण कर पूजा-प्रक्रिया आरम्भ की। इसके दार्शनिक विश्लेषण की जानकारी हो जाने पर स्तूप-निर्माण की वास्तविकता समझ में आ जाती है। अशोक को धर्मलेख खुदवाने के साथ समतल भूमि पर स्तूप निर्माण सरल ज्ञात हुआ। उस समय तक स्तम्भ के अतिरिक्त अन्य वास्तुकला में प्रस्तर का समावेश न हो सका था, जिसे शुंगकाल में संपन्न किया गया। वैदिक परंपरा तथा भगवान् बुद्ध के आदेशानुसार (आनन्द को आदेश दिया था) स्तूप का निर्माण हुआ और वेदिका को स्थायी रूप दिया। उन्हें आकर्षक बनाने के लिए ही खुदाई शुरू की गई। तत्कालीन धार्मिक विचारधारा (हीनयान) से संबंधित चित्र खोदे गए। इसी विचार ने सभी कलाकारों (भिक्षु कलाकार) को प्रभावित किया। यदि भरहुत, बोधगया तथा अमरावती की वेदिकाओं एवं माची-तोरण पर खुदे उदाहरणों का विश्लेषण किया जाए, तो पता चलता है कि हीनयान-संबंधी प्रदर्शनों की बहुलता है। इसी पूर्व दूसरी सदी तक जातक ग्रंथों का संकलन हो चुका था, जिनमें भगवान् बुद्ध के ५५० पूर्वजन्म की कथाओं का वर्णन किया गया है। कलाकारों का धार्मिक साहित्य भी मार्ग प्रदर्शन करते हैं या उन्हें प्रेरणा देते हैं। यही कारण था कि भिक्षु कलाविशेष ने वेष्टनी तथा तोरण पर जातक प्रदर्शन (पूर्वजन्म की कथाओं का) भी किया था। सभी वेष्टनियों पर कुछ समान रूप से प्रदर्शन है या एक ही जातक सर्वत्र प्रदर्शित है। किंतु, कलात्मक श्रेणी तथा मानदंड में भिन्नता है, जो स्वाभाविक भी है। स्थान तथा व्यक्ति की कुशलता का प्रभाव पड़ना अस्वाभाविक नहीं है। अतएव, शुंगकालीन वेदिकाओं पर खुदे तथा तोरण पर प्रदर्शित दृश्यों का परीक्षण निम्न परिणाम पर पहुँचाता है—

- (अ) हीनयान-संबंधी बुद्ध के प्रतीक,
- (ब) जीवन-संबंधी अन्य घटनाएँ,
- (स) जातक प्रदर्शन,
- (द) ऐतिहासिक दृश्य,
- (य) वेदिकाओं का अधार्मिक अलंकरण,
- (र) सामाजिक विषयों का प्रदर्शन,

(ल) यक्ष, नाग आदि को स्थान तथा

(व) ब्राह्मण धर्म से संबंधित चित्र ।

भगवान् बुद्ध के मूर्ति-निर्माण से पूर्व हीनयान के कलाकारों ने जीवन की चार प्रमुख घटनाओं को नाना प्रकार से प्रदर्शित किया है । जन्म का प्रमुख प्रतीक हाथी माना गया है, जिसका संबंध एक कथानक से जोड़ा जाता

है । एक कथानक है कि बोधिसत्व के रूप में भगवान् बुद्ध के चार प्रधान तुषित स्वर्ग में बैठे मनोविनोद कर रहे थे । उन्नीसवीं प्रतीक समय उनमें प्रार्थना की गई कि संसार में अतीव कष्ट है, दुःख है । उनसे बचने का कोई मार्ग निकालिए ।

मनुष्यों की बात सुनकर तुषित स्वर्ग में देव ने भविष्यवाणी की कि वह संसार को विमुक्त करने वाले हाथी के रूप में कपिलवस्तु की रानी माया देवी के गर्भ में प्रवेश कर विश्व में अवतरित होगा । यह वाणी राम एव कृष्ण के जन्म की याद दिलाती है । भविष्यवाणी हुई थी कि भगवान् दशरथ की महारानी कौशल्या के गर्भ में आवेंगे । उसी के अनुसार राम का अवतार हुआ—

भय प्रकट कृपाला दीन दयाला

कौशल्या हितकारी ।

(तुलसी)

कृष्ण के सबंध में भी ऐसी ही भविष्यवाणी देवी ने की थी । जेल में कृष्ण का अवतार हुआ । वसुदेव-देवकी बधन से मुक्त हो गए । जेल के सारे फाटक स्वयं खुल गए । गतरी सो गए । कृष्ण को लेकर वसुदेव वृंदावन चले गए । संभव है, इसी ब्राह्मण मत के प्राचीन विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध लोगो ने बुद्ध के सबंध में उन्नीसवीं तरह की बातें उल्लिखित कीं । अस्तु ! महान् पुरुषों का जन्म जीव-विज्ञान-संबंधी कार्यों (Biological birth) से पृथक् माना गया है । उनका संसार में विशेष कार्य के लिए अवतरण होता है ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्,

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,

धर्मं सस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।

(गीता ४।७-८)

उसी परंपरा में गौतम का जन्म भी माना गया है । बोधिसत्व के कथानक-नुसार सफेद हस्ति के स्वरूप में गौतम ने अवतार लिया । इस घटना का प्रदर्शन वेदिकाओं तथा तोरण (सौची) पर भी दीख पड़ता है । भरहुत तथा

बोधगया की वेदिका पर मायादेवी सोयी हुई प्रदर्शित है तथा एक हाथी का आकार शय्या के ऊपरी भाग में खुदा है। अमरावती में इसको एक ही प्रस्तर की तीन विभिन्न सीमा में खोदा गया है। पहले दृश्य में बोधिसत्व तुषित स्वर्ग में बैठा है। नृत्य-गान हो रहा है। दूसरे दृश्य में एक रथ पर हाथी बैठा है। यानी वह स्वर्ग से ससार की ओर जा रहा है। तीसरे दृश्य में माया देवी सोयी हैं। इस प्रकार अमरावती की वेष्टनी पर पूरे कथानक का प्रदर्शन है। अन्य स्थानों पर केवल 'माया देवी का सपना' कहने पर उस घटना (जन्म) का परिज्ञान करते हैं।

माची-तोरण पर बुद्ध-जन्म का प्रदर्शन कुछ विशेष प्रतीक द्वारा भी किया गया है (Nativity Scenes) तोरण के कल्पित शीर्ष (False Capital) पर कमल पर आसीन देवी की आकृति खुदी है। इस देवी को मायादेवी कहते हैं। दूसरा दृश्य इसी प्रकार स्थानक दशा में कमल पर खड़ी देवी का है। तीसरे दृश्य में जन्म का प्रदर्शन 'गजलक्ष्मी' में करते हैं, जिसमें दो हथिनियाँ कमल पर खड़ी देवी पर घड़ों से पानी डाल रही हैं। माया देवी के सपना सहित इन तीनों प्रदर्शनों को जन्म से संबंधित करते हैं।

दूसरी प्रधान घटना गौतम की बुद्धत्व-प्राप्ति से है। इसके पूर्व के दो कथानक इसमें सबद्ध किए जा सकते हैं। गौतम ने तपस्या के लिए कपिलवस्तु के बाहर जाना सोचा। उस घटना को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं। 'ललितविस्तर' में वर्णन आया है कि घोड़े (कनथक नामक) की पीठ पर सवार होकर गौतम ने नगर से बाहर जाकर अपने परिचायक छदक को घाड़ा वापस ले जाने की आज्ञा दी। इसलिए कपिलवस्तु छोड़ने (महाभिनिष्क्रमण) की घटना केवल घोड़े से व्यक्त की जाती है। हीनयान मत में घोड़े की आकृति उस घटना का द्योतक है। माची के पश्चिमी तोरण की मध्य बडेरी पर महाभिनिष्क्रमण कलात्मक ढंग से दिखलाया गया है। नगर (कपिलवस्तु) के दरवाजे से घोड़ा बाहर जा रहा है। बीच के भाग में वृक्ष की आकृति खुदी है, जो बुद्ध का द्योतक है। यानी गौतम तपस्या में लग गए। उस दृश्य के ऊपरी भाग में दो घोड़ों का चित्र है। सिरे पर छत्र है, जिसमें पता चलता है कि घोड़ा जंगल से कपिलवस्तु को वापस जा रहा है। अमरावती में भी घोड़े के सिर पर छत्र है, जिसे एक व्यक्ति पकड़े है। महायान में घोड़े की पीठ पर गौतम बुद्ध को प्रदर्शित किया गया है। महाभिनिष्क्रमण के प्रदर्शन में भरहुत के कलाकार ने देवत्व की भावना से घोड़े के पैर को पृथ्वी पर स्थित न दिखाकर मनुष्यों की हथेली पर दिख-

लाया है । । गौतम की तपस्या के क्रम में बुद्धत्व से पूर्व ही सांची के तोरण पर 'मार-विजय' का दृश्य खुदा है । ऐसा मार्मिक तथा जीवंत दृश्य अन्यत्र कहीं नहीं प्रदर्शित है । तोरण की बड़ोरी पर वृक्ष को बुद्धत्व का प्रतीक मान कर मार (विषय-वासना) की राक्षसी सेना प्रस्तर तथा वृक्ष की शाखाएँ फेंक कर (बुद्ध

की) तपस्या में बिघ्न उपस्थित कर रहे हैं । नर्तकी नाच रही है, ताकि गौतम की तपस्या भग्न हो जाए । वे ससार की ओर प्रवृत्त हो जाएँ, निवृत्ति-मार्ग से भ्रष्ट हो जाएँ । मार की सेना एक दिशा से आक्रमण कर रही है और विपरीत दिशा में वही सैनिक भागते दीख पड़ रहे हैं । कितने मार सैनिक हाथों या घोड़ों के पैर-तले कुचल गए हैं । इसमें यह विदित होता है कि बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली । तपस्या सफलीभूत हो गई । ज्ञान मिलने के कारण विषय-वासनाओं की (मार) समाप्ति हो गई । मार-सेनानी तपस्वी के संमुख ठहर न सके । गौतम परम ज्ञान की प्रभा के कारण प्रज्ज्वलित हो उठा । अज्ञान का विनाश बुद्धत्व का द्योतक है । इसी के साथ सुजाता का दृश्य भी सांची-तोरण पर खुदा है । निरजना के किनारे गौतम वृक्ष के नीचे बैठे थे । सुजाता ने उन्हें वृक्षदेवता समझ, सोने के पात्र में खीर लाकर सामने रखा । गौतम ने उसे ग्रहण किया । तत्पश्चात् नदी पार आकर पीपल-वृक्ष के नीचे बैठा गौतम सिद्धार्थ तपस्या करने लगे । वहीं बुद्धत्व प्राप्त किया, मार का विनाश किया । ज्ञान-प्राप्ति के कारण सिद्धार्थ गौतम का नाम बुद्ध पड़ा । उस वृक्ष को बोधिवृक्ष के नाम से पुकारते हैं । भरहुत की वेदिका पर कई वृक्षों की आकृतियाँ खुदी हैं, परन्तु पीपल-वृक्ष (बोधि वृक्ष) के नीचे 'भगवतो शक मुनिनो बोधो' लेख खुदा है । यानी शक मुनि (बुद्ध) को ज्ञान मिला । महायान मत में भी (जहाँ प्रतीक के लिए स्थान न रहा) बुद्ध को तपस्या करते समय बोधिवृक्ष की शाखाएँ सिरे पर दीख पड़ती हैं तथा भगवान् भूमिस्पर्श मुद्रा में बैठे हैं । अमरावती में भी वृक्ष-पूजा का अतीव सुंदर प्रदर्शन दीख पड़ता है । ससार के सभी जीव जंतु उसकी पूजा करते हैं । भरहुत में नागराज तथा नागरानी वृक्ष के नीचे बैठे प्रणाम करते दिखलाए गए हैं । इस कारण वृक्ष ज्ञान का प्रतीक माना गया है । वेदिकाओं तथा तोरण पर सर्वत्र वृक्ष की पूजा दिखलायी गई है । विद्व के पशु, पक्षी, मनुष्य एवं देवता वृक्ष की पूजा करते प्रदर्शित हैं ।

तीसरा दृश्य प्रथम उपदेश का है, जिसे 'धर्मचक्र' कहते हैं । धर्मचक्र की पूजा संपूर्ण भारत के स्तूप की वेष्टनियों तथा तोरणों पर एक-सी दिखलायी गई है । इसी धर्मचक्र को अशोक ने सारनाथ स्तम्भ के शीर्ष स्थान पर

स्थित करवाया था। यानी धर्म प्रमुख है, जिसके अंतर्गत सभी धार्मिक बातें समाहित हो जाती हैं। सारनाथ स्तंभ की चौकी पर भी चक्र की आकृतियाँ खुदी हैं। बौद्ध धर्मानुयायियों ने इस प्रतीक को सदा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। धर्मचक्र सारनाथ के प्रथम उपदेश (धर्मचक्र-परिवर्तन) का द्योतक है। हीनयान के अतिरिक्त महायान मत में इसे त्याग नहीं दिया गया, किन्तु बुद्ध-प्रतिमा के साथ चक्र का संयोग दिखाया गया है। सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्ध-प्रतिमा (जिसमें भगवान् धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा में हैं) के निचले भाग में चक्र को स्थान दिया गया है तथा दोनों ओर दो मृगों (जो मृगदाव के द्योतक हैं) की आकृतियाँ खुदी हैं। कालांतर में मगध शैली की बुद्ध-प्रतिमा में भी चक्र को स्थान मिला। धर्मपाल के खानीमपुर ताम्रपत्र के ऊपरी भाग में धर्मचक्र अंकित है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मचक्र की प्रमुखता अशोककाल से बारहवीं सदी तक बनी रही। बुद्धमूर्ति की धर्मचक्र-मुद्रा में कलाकार सदा चक्र दिखलाने रहे। महायान मत में बुद्ध के जन्म के प्रतीक हाथी को सदा के लिए त्याग दिया गया, परन्तु वृक्ष (ज्ञान) तथा चक्र (प्रथम उपदेश) को सदा कला में स्थान मिल पाया। हीनयान के चार प्रधान प्रतीकों (हस्ति, वृक्ष, चक्र एवं स्तूप) में स्तूप को अंतिम स्थान दिया जाता है, जो बुद्ध के महापरिनिर्वाण का द्योतक है। यों तो स्तूप-पूजा का आरम्भ अशोक ने किया था, जो समतल भूमि पर बने थे। किन्तु, गुप्तकाल में गुहा में पर्वत काट कर अथवा वेष्टनियों तथा बडेरियों पर स्तूप को स्थान दिया गया। यद्यपि प्रधान स्तूप के चारों तरफ वेदिका या तोरण स्थित हैं, तथापि हीनयान के कलाकार इस प्रतीक स्तूप को छोटे आकार में यत्रतत्र खोदते रहे। सर्वत्र स्तूप की पूजा विद्वव्यापिनी रूप में प्रदर्शित है। पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि स्तूप की पूजा करने दृष्टिगोचर होते हैं। भरहुत, बोधगया की वेदिकाओं तथा साची के तोरण पर स्थान-स्थान पर स्तूप-पूजा का प्रदर्शन है। अमरावती-वेदिका के उष्णीस पर लता के उतार-चढ़ाव के मोड़ पर रिक्त स्थानों पर स्तूप के आकार बने हैं। वे अलंकरण का भी काम करते हैं।

हीनयान युग में जिन चार प्रतीकों को प्रमुखता दी गई थी, वे चार तीर्थस्थानों (तुंबिनी जन्म), बोधगया (ज्ञान), चार गौड चमत्कारों सारनाथ (प्रथम उपदेश) तथा कसिया (महापरिनिर्वाण) में सबद्ध किए जाते हैं। भगवान् के चार अन्य चमत्कारों का प्रदर्शन दूसरे चार स्थानों पर हुआ था, जिन्हें गौड रूप देते हैं—

- (१) राजगृह में नालाहस्तिदमन,
- (२) श्रावस्ती में जेतवन विहार,
- (३) वैशाली में महाप्रदर्शन और
- (४) सकिसा में तुषित स्वर्ग में अवतरण ।

इन सब का प्रदर्शन सर्वत्र नहीं पाया जाता । राजगृह में देवदत्त ने संघ की महंथी लेने की इच्छा प्रकट की, परन्तु बुद्ध ने इन्कार कर दिया । इस कारण द्वेष के कारण एक दिन बुद्ध के ऊपर भारी चट्टान फँकी । तत्पश्चात् उन्हें मारने के लिए एक मनवाले हाथी (नालागिरि) को सामने छुड़ा दिया । नालागिरि चिग्घाड़ करता हुआ बुद्ध के सामने दौड़ा, किंतु भगवान् के संमुख स्थिरचित्त हो चुपचाप खड़ा हो गया । बुद्ध ने उसके सूँठ को स्पर्श किया । हाथी ने उनके चरण-रज को सूँठ में उठा लिया । इसका प्रदर्शन बोधगया की वेष्टनी पर किया गया है । इसे अमरावती में अत्यंत सुंदर रीति में दिखाया है । दूसरा प्रदर्शन 'जेतवन विहार' का है, जिसे बोधगया तथा भरहुत-वेदिकाओं पर प्रदर्शित किया गया है । श्रावस्ती (जिला गोडा, उत्तर प्रदेश) का सेठ श्रेष्ठी अनाथपीडिक ने राजगृह में आकर संघ को निमात्रित किया कि भगवान् का वर्षावास श्रावस्ती में हो । वह स्थान ब्राह्मण मत का दुर्ग समझा जाता था । अतः, धर्म के प्रचार निमित्त बुद्ध ने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया और आदेशानुसार आराम (कुटिया) बनाने की तैयारी होने लगी । उस दृश्य में बैलगाड़ी से कार्पायण जमीन पर बिछाए दीख पड़ते हैं । जेत नामक राजकुमार ने श्रेष्ठी से उतना द्रव्य मूल्य में माँगा, जितना उस भू-भाग पर फैलाया जा सके । सिक्का फैलाकर कुटिया बनायी गई तथा उसे श्रेष्ठी ने दान कर दिया । यही दृश्य 'जेतवन विहार' के नाम से प्रसिद्ध है । भगवान् ने वहाँ कई वर्षावास व्यतीत किए तथा बुद्ध धर्म का प्रचार किया । उस ब्राह्मण धर्म के गढ़ को नष्ट करना एवं धर्म का प्रसार चमत्कार समझा गया है । श्रावस्ती की खुदाई से स्तूप तथा विहार (आराम) प्रकाश में आए हैं । कुटिया को ही बुद्ध का प्रतीक समझते हैं । तीसरा चमत्कार 'महाप्रदर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है । एक ही क्षण सहस्रों बुद्ध का प्रकटीकरण विनक्षण कार्य था । वैशाली में वृज्जि लोगों के आग्रह पर भगवान् ने यह चमत्कार दिखाया । बोधगया की वेदिका पर महाप्रदर्शन प्रदर्शित है । महायान मत में इसको दीवाल पर हजारों बुद्ध-प्रतिमा (छोटे आकार के) द्वारा दिखलाया गया है । सारनाथ, इलीरा में प्रतिमा द्वारा तथा अजंता में

चित्रों द्वारा इस चमत्कार को दर्शाया गया है। चौथा अद्भुत कार्य अवतरण से व्यक्त किया गया है। उत्तरप्रदेश के फरुखाबाद जिले में संकिसा नामक स्थान से यह घटना संबधित है। कहा जाता है कि भगवान् अपनी माता माया देवी (बुद्धजन्म के समय जिनकी मृत्यु हो गई थी) को तुषित नामक स्वर्ग में धर्म की शिक्षा देने गए थे। वहाँ में वे संकिसा में अवतरित हुए। इस चमत्कार को भरहुत-वेदिका तथा सांची-तोरण पर खोदा गया है। भरहुत-वेदिका पर सीढ़ी बनायी गई है, जिसके ऊपरी भाग तथा सबसे निचले भाग पर पदचिन्ह (बुद्धपाद) खुदा है। ऊपरी पदचिन्ह उनके स्वर्ग में रहने की घटना का द्योतक है तथा निचला बुद्ध के स्वर्ग से अवतरण को व्यक्त करता है। सांची तोरण पर इसे दूसरे रूप में दिखलाया गया है। वृक्ष ज्ञान का प्रतीक था। अतएव, शिक्षा उपदेश के समय वृक्ष का आकार कला में प्रदर्शित किया गया है। इस कारण सांची-तोरण पर सीढ़ी के ऊपर तथा नीचे वृक्ष खुदा है। ऊपर देवतागण तथा नीचे मनुष्य की आकृतियाँ बनी हैं। यानी ऊपरी वृक्ष स्वर्ग में उपदेश (माया देवी को) का द्योतक है तथा निचला अवतरण को बतलाता है। इस प्रकार चार गौड चमत्कार प्रदर्शित हैं।

इनके अतिरिक्त भगवान् के (१) वज्रासन, (२) बुद्ध पद-चिन्ह, (३) चक्रम पथ और (४) चूड़ा की पूजा का प्रदर्शन भी वेदिकाओं पर दीख पड़ता है। बोधगया में पीपल-वृक्ष के नीचे गौतम को ज्ञान हुआ अन्य प्रतीक था। वह जिस प्रस्तर के आसन पर बैठ कर तपस्या करते रहे, उसे 'वज्रासन' का नाम दिया गया है। आज भी बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे वज्रासन का स्थान पूजित होता है। वेदिकाओं या तोरण पर एक फीट लंबी, दो इंच चौड़ा प्रस्तर (बिना खुदाई के) दीख पड़ता है। उसे ही वज्रासन कहते हैं। बुद्ध के पद-चिन्ह भरहुत-वेदिका पर प्रदर्शित हैं, जिनमें संकिला में अवतरण का दृश्य प्रदर्शित है। अमरावती के गोलाकार फलक पर सुंदर पद-चिन्ह खुदे हैं। मध्य भाग में चक्र तथा त्रिरत्न की आकृतियाँ खुदी हैं। पद-चिन्ह में चक्र महापुरुष का लक्षण माना गया है। अतएव, वह बुद्ध का प्रतीक है। दोनों ओर देवतागण प्रणाम करते दीख पड़ते हैं।

तीसरा प्रतीक 'चक्रम पथ' कहा जाता है। सांची-तोरण पर जल के मध्य दो फीट लंबा अनलंकृत प्रस्तर दृष्टिगोचर होता है। उसे चक्रमपथ कहते हैं। इसका संबंध बोधगया से है। बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् बुद्ध यह सोचने

सगे कि उपदेश किसे दिया जाए । इस विचार में कई दिन व्यतीत हो गए । वह जिस स्थान पर टहला करते और विचार में मग्न रहते, उसे (चक्रम पथ) बोधिवृक्ष के समीप ही स्थिर किया गया है ।

अमरावती में बुद्ध के चूड़ा की पूजा का अतीव सुंदर प्रदर्शन मिलता है । वेदिका के गोलाकार फलक (Medallion) पर यह दृश्य खुदा है । देवतागण बुद्ध के चूड़े को पात्र में रख कर ला रहे हैं । भरहुत की वेदिका पर भी चूड़ा- (पात्र में स्थित) पूजा का प्रदर्शन है । वर्णन आता है कि सिद्धार्थ गौतम ने तपस्या आरंभ करते समय बाल को काट दिया । वही छोटे बाल उष्णीस कहलाते हैं । हीनयान मत में उसी चूड़े को प्रतीक मान कर स्वर्ग में पूजित करते देवतागण प्रदर्शित हैं ।

भरहुत में इसे बड़े ही विस्तृत ढंग से दिखलाया गया है । बुद्ध के चूड़े को देवताओं ने उठा लिया, पृथ्वी पर गिरने नहीं दिया । स्वर्ग में ले जाकर उसे सुंदर भवन में रखा, जिसे 'चैत चूडामाणि' कहा गया है । महल में चूड़ा-पात्र रखा है । देवतागण खड़े हैं । नीचे लेख अंकित है—“सुदामा देव सभा भावतो चूड़ा महो” । ऐसा प्रदर्शन अन्यत्र नहीं है ।

बौद्ध साहित्य में जातक नामक कथा-साहित्य की भी प्रमुखता है । इसमें बुद्ध के पूर्व जन्म के पाँच सौ पचास कथाओं का संग्रह है । यह शब्द जात (जन्म लेना) तथा कथा से अपनी सार्थकता व्यवत जातक-प्रदर्शन करता है । हीनयान में भगवान् बुद्ध के जीवन-संबंधी विषयों का प्रदर्शन प्रतीकात्मक रूप में मिलता है, जिनका विवरण दिया जा चुका है । उसके अतिरिक्त वेष्टनियों तथा तोरणों पर जातक (जन्मकथा) का भी प्रदर्शन है । शुगकालीन स्तूप की वेदिकाओं (साची को छोड़ कर) पर इनका प्रदर्शन उपासकों को पूजा-निमित्त आकर्षित करता है । उस महान् व्यक्ति के चमत्कार तथा लीलाओं (जन्मकथा) को प्रस्तरों पर खुदा देख उपासकों एवं दर्शकों के दिल में अपने-आप समादर की भावना आ जाती है । उनके ऊँचे चरित्र की घटनाओं को देखने से आकर्षित होना भी स्वाभाविक है । जनता को श्रद्धा एवं सम्मान की भावना से ओतप्रोत करना इन प्रदर्शनों का लक्ष्य था । हीनयानी कलाकार अपने कार्य में सफलीभूत भी हुए । उनकी कृतियाँ आज भी सभी को आनंदविभोर कर देती हैं । यही वेदिकाओं तथा तोरणों के प्रदर्शनों का उद्देश्य था ।

कथा-साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया गया है—

(१) दूरे निदान—बुद्ध की दूरवर्ती घटनाओं (कथाओं) का प्रदर्शन—
उदाहरण के लिए सुमेध तपस्वी, दीपकर, वेसंतर तथा स्वर्ग से अवतरण आदि ।

(२) अबदूरे निदान—वे कथाएँ, जो भगवान् की बुद्धत्वप्राप्ति तक की बातों से संबंधित हैं ।

(३) संतीके निदान — वे कथाएँ, जो मार विजय के पश्चात् कही गईं ।
जातक से उन घटनाओं का संबंध है, जो कल्पित (Legendry) ढंग से कही गई हैं । अतएव, निदान तथा जातक प्रदर्शन मिला कर बुद्ध की सारी घटनाओं को उपासकों के समुख उपस्थित करते हैं ।

बोधण्या में अधिक कथानकों का प्रदर्शन नहीं मिलता, जितना भरहुत-वेदिका पर दृष्टिगत होता है । साची-तोरण के बंडेरियो पर भी कुछ जातक प्रदर्शित हैं । जातकों में निम्नलिखित समान रूप से भरहुत तथा साची-तोरण पर दीख पड़ते हैं ।

(अ) वेसंतर जातक—वेसंतर नामक जातक भरहुत-वेदिका पर सूक्ष्म रूप में प्रदर्शित है । विश्वतर नामक राजकुमार हाथी का दान कर रहा है । साची-तोरण पर यह अत्यंत विस्तृत रूप में दिखलाया गया है । यह कथानक दानी हरिश्चंद्र की जीवन-घटनाओं से मिलता-जुलता है । विश्वतर दान के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया । उसे जंगलों में जाना पड़ा । पुत्रों तथा पत्नी को भी दान कर दिया । अंत में इंद्र आकर उसे आशीर्वाद देते हैं, दान की प्रशंसा करते हैं तथा उस राज्य वापस मिल जाता है । पुनः वह शासन का अधिकारी बन जाता है । मत्स्य हरिश्चंद्र की कहानी से इसमें (विश्वतर जातक) अधिक समानता है ।

कलाकार ने वेसंतर जातक के कथानक को सजीव बनाये का अथक परिश्रम किया है । कथा की प्रगति को राजकुमार विश्वतर की आकृतियों में आँका जा सकता है, जिसे स्थान-स्थान पर दिखलाया गया है । इसमें कथानक को चलायमान प्रदर्शित कर घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है । एक स्थान पर राजा को न दिखा कर विभिन्न स्थानों पर खुदी आकृतियाँ यह प्रभावित करती हैं कि कथानक की प्रगति के साथ राजा भी गतिमान है । यह सर्जीवता का द्योतक है । साची के कला की यही विशेषता है कि कोई भी कथानक अचल या स्थिर नहीं है । सभी में स्पष्ट है तथा प्रधान पात्र चलाय-

मान दीख पड़ता है। पश्चिमी तोरण की बंडेरियों पर यह कथानक प्रदर्शित है। इसमें राज कुमार रथ पर महल के फाटक से निकलता दिखलाया गया है। कुछ दूरी तक रथ जाता है, किंतु जंगल के समीप से लौट आता है। दृश्य के ऊपरी भाग में रथ के छोड़े पहले से विपरीत दिशा में (यानी महल की ओर) चल रहे हैं। बंडेरी की दूसरी ओर जंगल का दृश्य है। राजा से बालक तथा पत्नी पृथक् हो गए हैं। पुनः राजा के समीप देवता खड़े हैं।

(२) महाकपि जातक का प्रदर्शन भरहुत के गोलाकार फलक तथा साची के पश्चिमी तोरण पर किया गया है। जातको में काशी के राजा ब्रह्मादत्त के नाम से अनेक कथानक मिलते हैं। महाकपि जातक भी ब्रह्मादत्त से ही संबद्ध है। काशीनरेश के समुख एक मल्लाह ने अत्यंत सुंदर फल भेंटस्वरूप उपस्थित किया। रानी उस मीठे फल को चखकर स्तब्ध हो गई और सोचा कि ऐसे फल खाने वाले जीव का मांसल हृदय कितना मीठा होगा। अतएव, ब्रह्मादत्त से कह उसने ऐसे फल खाने वाले, जीव का हृदय लाने की आज्ञा दी। सैनिक नदी के सहारे उस स्थान पर पहुंचे, जहाँ वैसे फलों को बंदर खा रहे थे। उन बदरों को पकड़ने की योजना का आभास बोधिसत्व को मिल गया। अतएव, बदरों को नदी पार जाने के लिए तथा सैनिकों के चगुल से रक्षा निमित्त बोधिसत्व ने विशाल शरीर धारण किया। हाथ नदी के किनारे पेड़ पर तथा पैर दूसरे किनारे के वृक्ष पर स्थित कर नदी पर पुल-सा शरीर फैला दिया। अतः, बदरों को मारना असंभव हो गया। इसी कथानक को दोनों स्थानों पर दिखाया गया है। भरहुत का प्रदर्शन सूक्ष्म है। कपि (महाकपि) के शरीर का पुल बन चुका है। बदर उस पार जा रहे हैं। नीचे दो आदमी चादर फैलाए हैं, ताकि गिरने फल को एकत्रित कर सकें। फलक के निचले भाग में बोधिसत्व सैनिक सरदार को अहिंसा की शिक्षा दे रहे हैं। कनिष्क इस प्रदर्शन का सही समीकरण न कर सके। साची-तोरण पर इस 'महाकपि' को सुंदर रूप में दर्शाया गया है। इस जातक का प्रदर्शन उसी स्थान से आरंभ होता है, जहाँ बदर फल खा रहे हैं। पूर्वपीठिका के साथ महाकपि जातक को व्यक्त किया जाता है। साची में फल को एकत्रित करने के लिए चादर फैलाया दीख नहीं पड़ता। कलाकार ने उसको प्रमुखता न दी। कपि के पुल रूपी शरीर को साची में अधिक महत्व दिया गया है और अनेक बदर दोनों किनारों पर गनिगील हैं। बनावट की मार्मिकता उसकी खुदाई से व्यक्त हो जाती है। प्रायः जातक कथाओं का अंत अहिंसा की शिक्षा से ही किया गया है। यों तो समाज की बातों का भी दिग्दर्शन है, किंतु ऐसी परिस्थिति में महाकपि

(बोधिसत्व) ने अहिंसा की शिक्षा देकर कार्य को संपन्न किया, ऐसी धारणा कथानक के अध्ययन से हो जाती है।

(३) सांची के तोरणों पर गतिशील प्रदर्शनों में षड्दंत जातक को भी गणना होती है। षड्दंत कथानक का उल्लेख चीनी तथा सिहाली साहित्य में मिलता है। उन कथानकों में कुछ अंतर अवश्य है, किंतु मूलरूप में भेद नहीं है। भरहुत की वेदिका पर इसे अत्यंत सूक्ष्म रूप से दिखलाया है, किंतु सांची-तोरण पर पूरी बडेरी पर सविस्तार प्रदर्शित है। संक्षेप में कथानक यह है कि बोधिसत्व की दो रानियाँ थी—चुल्लसुभद्रा तथा महामुभद्रा। दूसरी रानी बोधिसत्व की प्रियपात्र होने के कारण चुल्लसुभद्रा से द्वेष करती थी। उसने सोचा कि दूसरे जन्म में इसका प्रतिकार करूँगी। मृत्यु के पश्चात् चुल्लसुभद्रा काशी के राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी के रूप में ससार में आई। उसे ज्ञान हुआ कि बोधिसत्व षड्दंत (छह दाँतों वाला) हाथी के रूप में मानसरोवर में रहता है। उसे मार कर दाँत निकाल लाने के लिए व्याधा भेजा गया। सांची-तोरण की बडेरी पर मानसरोवर से अनेक हाथी पानी में बाहर आते दिखाए गए हैं। षड्दंत के सिरे पर छत्र है अतएव वही बोधिसत्व है, इसे पहचानने में विलंब नहीं हो सकता। षड्दंत पानी से बाहर आकर एक दृक्ष के नीचे खड़ा हो जाता है, जिसकी आड़ में व्याधा धनुषबाण लिए खड़ा है। यही कलाकार ने कथानक का अंत कर दिया है। हाथी का पानी से निकलना तथा घूमकर पेड़-तने खड़ा होना, कथानक के प्रवाह तथा सजीवता को व्यक्त करता है। विभिन्न दिशाओं में षड्दंत का प्रदर्शन कथानक को संप्राण बना देता है। भरहुत में हाथी के सामने व्याधा दाँत लिए खड़ा है। उस स्थान पर ब्राह्मी में 'छदतीय जातक' लेख अंकित है। संभवतः यह दिखलाया गया है कि बोधिसत्व को चुल्लसुभद्रा के कपट तथा रहस्यमय कार्य की जानकारी हो जाती है और वह छह दाँत निकाल कर व्याधा को दे देता है। कथानक में यह भी उल्लेख है कि रानी के समुख छह दाँत के रखने पर वह बेहोश होकर मर जाती है। पर, वेदिका या तोरण पर यह प्रदर्शित नहीं है। अजंता के भित्तिचित्र में यह दिखाया गया है कि टोकरी में दाँत रक्खे हैं। राजा-रानी सामने बैठे हैं तथा रानी अचेत-सा दीख पड़ती है। सांची का प्रदर्शन सर्वोत्कृष्ट है।

इन जातक कथानकों के अतिरिक्त अनेक जातक प्रदर्शित हैं, जिनके प्रदर्शन की चर्चा विभिन्न स्तूपों के अलंकरण के साथ की जाएगी। इनके सिवाय कुछ ऐतिहासिक विषयों का भी प्रदर्शन मिलता है। भरहुत-वेदिका के दो स्तंभों को प्रसेनजीत तथा अजातशत्रु स्तंभ का नाम दिया गया है। उस पश्चिमी तोरण

के स्तंभ पर यह दृश्य है। सामनफल सूत में यह वर्णित है कि पिता (बिम्बिसार) के मृत्यु पश्चात् अजातशत्रु बुद्ध के दर्शन हेतु गृद्धकूट पर्वत पर गया। थोड़ी ही सीमा में तीन दृश्य प्रदर्शित हैं।

ऐतिहासिक प्रदर्शन अजात की यात्रा, हाथी से नीचे उतरना तथा बुद्ध के आसन की पूजा। उसके साथ में जीवक भी है।

बिचले भाग में बुद्ध पदचिह्न (प्रतीक) द्वारा प्रकट हो रहे हैं। लेख है— 'अजातशत्रु भगवतो वदते'। कोशल के राजा प्रसेनजीत द्वारा पूजा का प्रदर्शन दक्षिणी तोरण पर किया गया है—'राजा प्रसेनजीत कोसलो'। उसका कारण यह है कि एक स्थान पर हाथी पर बैठा अजातशत्रु बुद्ध का दर्शन (प्रतीक के रूप में) करने जा रहा है। दूसरे में प्रसेनजीत रथ पर सवार पूजा निमित्त महल से बाहर निकल रहा है। दोनों ऐतिहासिक घटनाओं को विश्वमनीय मानने में आपत्ति नहीं है। साची की बंडेरी पर अशोक का दृश्य खुदा है। अशोक तिष्य-रक्षिता के साथ हाथी से पृथ्वी पर उतर रहा है। वह रामग्राम के स्तूप दर्शनार्थ वहाँ आया था। यह अशोक के निगानी सागर स्तंभ लेख से भी विदित होता है कि सम्राट् ने कनकमुनि बुद्ध के स्तूप का संस्कार किया था।

देवानं पियेन पियदसिने चाजिने चोदसवसाभिसितेन बुंधसे कोनाकमनसे थपे (स्तूप) दुतिय बढिते।

इस स्थान एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है, जिसका प्रदर्शन केवल साची के दक्षिण एवं पश्चिमी तोरण की बंडेरियों पर किया गया है। बुद्ध के जीवन का अंत उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के अंतर्गत कुशीनगर (कमिया) नामक स्थान में हुआ था। उनके महापरिनिर्वाण की खबर पाकर कपिलवस्तु के शाक्य आ गए। कमिया के मल्ल लोग वहाँ मौजूद थे। कई राजवंशों में भगवान् के शरीर अवशेष (धातु = भस्म) के लिए विवाद खड़ा हो गया कि भगवान् मेरे हैं। अतः, अब क्षेत्र (मल्ल या शाक्य) दोनों में एक को मिलना चाहिए। अभी इस विवाद का अंत न हो सका था कि आठ व्यक्तियों में राख के लिए झगड़ा खड़ा हो गया। सधिस्वरूप राख को आठ बराबर भागों में विभक्त कर दिया गया और सभी अपना भाग लेकर चल पड़े। दोनों तोरणों के बंडेरियों पर यही चित्र खुदा है। मध्य में महल बना है। उसी के चारों तरफ चतुरंगी सेना (रथ, हाथी, घुड़मवार एवं पैदल) आयुधसहित युद्ध करती दीख रही है। धनुष से वाण छोड़े जा रहे हैं। उसी प्रसंग में ऊपरी भाग में आठ हाथियों के सिरे पर भस्मपात्र (कलश) प्रदर्शित है, जिस पर छत्र दीख पड़ता है यानी वह भस्म भगवान् बुद्ध का है।

प्रा० भा० स्तू० गु० मं०—४

तात्पर्य यह है कि युद्ध के पंथिस्वरूप भस्म के आठ भाग पृथक्-पृथक् कलश में रख कर हाथियों द्वारा निर्दिष्ट स्थान को पहुँचाया जा रहा है। शुंग-कालीन प्रतीकात्मक कला में साची-तोरण पर यह दृश्य विशेषता रखता है। ऐतिहासिक प्रदर्शन के अनिरिक्त कला की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक सैनिक के चेहरे पर उत्सुकता है, चैतन्यता है तथा मशकत रूप में कार्य में जुटे हैं। धनुषबाण चलाना शरीर में रक्तसंचार का छोटक है। जीवनशक्ति से सैनिक युद्ध में रत है। दक्षिण तथा पश्चिमी तोरण पर प्रदर्शनों को तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता कि संपूर्ण दृश्य एक कलाकार द्वारा खोदे नहीं गए थे। सैनिकों के चेहरे का विश्लेषण दो विभिन्न विचारों को संमुख रखता है। कुछ पुरुषत्व भाव से भरे हैं तो कुछ के चेहरे स्त्रियोचित प्रकट होते हैं। इसी कारण कई कलाकारों की कृतियाँ मानने में आपत्ति नहीं की जा सकती।

यह कहना पुनरावृत्ति मात्र होगा कि अशोक के मृत्यु उपरान्त सामाजिक विचारधारा में आमूल परिवर्तन हो गया। जिन धार्मिक भावना को लेकर मौर्यकला पुष्पित हुई थी, वह कालांतर में उस रूप में वेदिका पर, अधार्मिक फलवती न हो सकी। स्तूप की वेदिकाओं तथा तोरणों पर जो अलंकरण देखे पड़ते हैं उनका मुख्य उद्देश्य था, उपासकों को आकर्षित करना। दर्शक गण स्तूप की पूजा अपना ले। इस लक्ष्य की पूर्ति कई अंशों तक हुई भी, किंतु शुंगकला सामाजिक भाव महित सामने आई। लोगों ने सामाजिक उत्सव तथा समारोह को अपनाया, जिसे अशोक ने निषेध किया था और कलाकर उसे वेदिका या तोरण के स्तंभों पर प्रदर्शित करने लगे। इस प्रसंग में भरहुत-वेदिका का नाम प्रथम लिया जाता है। उसके प्रदर्शनों के नीचे लेख अंकित है। अतएव उनका एकीकरण या प्रत्यक्ष ज्ञान गलत हो गया है। स्तंभों पर नृत्य का दृश्य है। जो अप्सराएँ वर्तमान हैं, उनका निचली दो पंक्तियों में (खुदा) नामोल्लेख भी है। मुमूद्रा, मुदर्शना, मिश्रकंठी, अलंबुशा आदि नाम अंकित हैं। यह कहना व्यर्थ होगा कि बौद्धधर्म से इनका कोई संबंध न था। नृत्य का संभावित बौद्धमत में कदापि नहीं हो सकता। अतः, अप्सराओं का नृत्य बौद्धधर्म के अधार्मिक विषय का प्रतिपादन करता है। इसका मुख्य कारण यह था कि अशोक के पश्चान् ब्राह्मण मत का पुनरुत्थान हुआ जिसका अनुयायी पुण्यमित्र शुंग था। उसने अश्वमेध के द्वारा वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। अयोध्या लेख में उसे 'द्विरश्वमेध याजिनः' कहा गया है तथा दूसरी सदी के

महाभाष्यकार पतंजलि ने भी 'इह पुण्यमित्रः याजयामः' लिखकर वैदिक धर्म के प्रचार की प्रष्टि की। शुंगकालीन कला में वैदिक विषयों का समावेश समीचीन था। ऋग्वेद में तथा वाजसनेयी संहिता में मंनका तथा उर्वशी नामक अप्सराओं के नाम मिलते हैं। अतएव, भरहुत का प्रदर्शन वैदिक परंपरा का द्योतक है। स्तूप की वैदिका एव तोरण स्तंभों पर यक्ष तथा यक्षिणी की आकृतियाँ खुदी हैं। समस्त भारत में इनकी आकृति सुंदर रीति से प्रदर्शित की गई है। यक्ष अर्द्ध देवी-देवता माने गए हैं जो ग्रामीण समाज में पूजित होते थे। संभव है, भय के कारण उनकी पूजा प्रचलित हो गई। यह स्पष्ट है कि यक्ष दिशाओं के रक्षक थे। इसी कारण तोरण के स्तंभों पर उन्हें स्थान दिया गया था। बौद्ध साहित्य में यक्ष के राजा कुवेर का उल्लेख मिलता है। बौद्ध-कला में भी कुवेर को स्थान दिया गया। ब्राह्मण ग्रंथों में भी (विष्णु पुराण) कुवेर यक्षों का राजा कहा गया है। इस प्रकार सांची के तोरण तथा अमरावती के वैदिका पर स्थान स्थान पर यक्ष की आकृतियाँ खुदी हैं।

बुद्धधर्म में सबद्ध अलंकरण के विषय में चर्चा की जा चुकी है। हीनयान कलाकार दर्शकों को आकर्षित करते रहे। समय-समय तत्कालीन विषयों का प्रदर्शन भी समीचीन माना जाता है। शुंगकालीन बौद्धकला मौर्य-युग के विचार धारा के अभावात्मक रूप को प्रदर्शित करती है। इसमें सामाजिक विषयों की खुदाई भी समाविष्ट की गई। शहर में महलों का दृश्य, जंगल के

वातावरण का प्रदर्शन तथा मनुष्य की भावभंगिमा सामाजिक विषयों का एव वस्त्राभूषण को भी कलाकारों ने कुशलतापूर्वक प्रदर्शन अंकित (चित्रित) किया है। राजा तथा साधारण

लोगों का वस्त्र सदा एक-सा था। धोती, चादर एव पगड़ी सर्वत्र दीख पड़ती है। परंतु, राजकीय वस्त्रों में सोना या कीमती रत्नों का उपयोग किया गया था। उसे जरी का काम कह सकते हैं। भरहुत, सांची या अमरावती के प्रदर्शनों में राजा या सेण्टी के सिरे पर मूल्यवान पगड़ी दीख पड़ती है। भरहुत में एक स्थान पर ऐसा ही वस्त्र धारण किए एक पुरुष की आकृति है, जिसे 'कुपिरा यक्वो' (कुवेर, राजा का नाम) आकृति के नीचे अंकित है। मायादेवी के सपना नामक प्रदर्शन में स्त्रियाँ भी धोती-चादर पहने दीख पड़ती हैं। अप्सराओं के सिरे पर पतला चादर भी दृष्टिगोचर होती है। आभूषणों में ललाटिका (मांगटीका), कुंडल, झुमक, हार, कंठभूषण महामाला (गले का आभूषण) पंचलरी, भुजदंड, करधनी (मेखला), पायल तथा अंगूठियाँ आदि सभी नर्तकी या नारियों के शरीर पर दिखाया गया है।

इसके अतिरिक्त भरहुत के गोलाकार फलको पर हास्यास्पद विषयो का प्रदर्शन है। बंदर डाक्टर के रूप में रोगी का दाँत चिमटे द्वारा निकाल रहा है। दूसरे दृश्य में कई बदर हाथी का नचा रहे हैं। यह सब सारहीन तथा रहित प्रदर्शन समझे जा सकते हैं परंतु कलाकार दर्शकों के मनोरंजन के लिए ऐसे हास्यास्पद दृश्य प्रस्तर पर खोदते रहे। साची-तोरण पर भी एक स्थान पर ओखली में कूटने हुए स्त्री की आकृति बनायी गई है। इस प्रकार धार्मिक वातावरण में ऐसे प्रदर्शनों की आवश्यकता पर आपत्ति की जा सकती है।

भारतीय कला में नाग (सर्प) का समावेश एक गूढ़ प्रश्न है, जिसका समुचित उत्तर कठिन है। नाग-पूजा ब्रह्म जातियों (Tribes) में सर्वप्रथम समझा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आर्य लोगो ने अपनाया, जिसकी अभिव्यक्ति वर्तमान नाग-पूजा (नागचामी के अवसर पर) से हो जाती है। नाग की भयकरता को जानकर ही कृष्ण ने नाग का हनन किया था (नाग नथैया), परंतु जैन तथा बुद्धधर्म में नाग की सौम्य अवस्था को अपनाया गया जो भक्षक न होकर रक्षक बन गया। जैनियों ने पार्श्वनाथ के सिरे पर नाग की आकृति खोदकर (स्थित कर) सर्प के महत्त्व को बढ़ा दिया। नाग-लक्ष्मण पार्श्वनाथ प्रतिमा का आवश्यक अंग माना जाता है। बुद्धकाल में नाग को अत्यधिक प्रमुखता दी गई। नाग का तीन स्वरूप (प्रतिभिन्न प्रकार का) बौद्ध कलाकारों ने उपस्थित किया।

- (१) जंतु के रूप में (Theriomorphic),
- (२) मिश्रित रूप (Hybrid form) और
- (३) मानव का रूप (Anthropomorphic)

बोधगया वेदिका पर मुर्चानंद नामक नाग बुद्ध की (प्रतीक) रक्षा करते प्रदर्शित है। आमान को फन में ढोते हैं। भरहुत वेदिका पर नाग के तीनों स्वरूप देखे जा सकते हैं। जल में डूबा हुआ नाग को सर्प के रूप में दिखलाया गया है जिसे भगवान् ने दीक्षा दी। उस जल के भाग में थोड़ी दूर पर मिश्रित रूप है। निचला भाग सर्प का तथा ऊपरी भाग को मनुष्य को अर्द्धशरीर का रूप दिया गया है। तत्पश्चात् वही इलाष्ट्रा राजा-रानी (नागराज, नाग रानी) का रूप धारण कर वृक्ष (बुद्ध) की पूजा कर रहे हैं। उस फलक के नीचे अंकित लेख में नाग का नामोल्लेख किया गया है—“इरापटो नाग राजा भगवतो बद्धते” इतना ही नहीं, नाग राजा को चक्रवर्ती नरेश के समान स्थान दिया गया।

और भरहुत के दक्षिणी तोरण स्तंभ पर नागराज दिग्पाल के रूप में खड़ा है। लेख है—“चक्रवाक नागराजा”। नागराजा चक्रवाक यानी इलाष्ट्रा के सिवाय चक्रवाक नामक नागराजा भी भरहुत कलाविदों को ज्ञान था।

अमरावती के गोलाकार फलक पर नागराजा तथा नागरानी स्तूप की पूजा करते दिखलाए गए हैं। खुदाई के मध्य में पूजास्तूप (Votive Stupa) है। नागराजा तथा रानी के साथ अनेक व्यक्ति पूजा में सम्मिलित हैं। सांची तोरण पर भी ऐसा ही दृश्य खुदा है। वहाँ इस वृत्तांत का प्रदर्शन है कि सभी जीव-जंतु (जलचर, नभचर), पशु मनुष्य एवं देवता गण भगवान की पूजा कर रहे हैं।

नाग-प्रदर्शन के अतिरिक्त यक्ष की आकृतियाँ सभी वेदिका-स्तंभों तथा तोरण-स्तंभों पर खुदी हैं। शुंगकाल में बौद्ध कलाकारों ने प्राचीन परंपरा (वैदिककालीन) को स्थायी रखा। ऋग्वेद (७।६।१।२) में यक्ष आश्चर्य-जनक या रहस्यमय जीव कहा गया है। यक्ष-पूजा के लिए निशिष्ट स्थान (यक्ष मंदिर—ऋग्वेद ४।३।१३।) निश्चित था। यक्ष सुंदर वेषधारी कहा गया है। साहित्य में यक्ष-यक्षिणी मोदयों के लिए उल्लिखित हैं। यक्ष की ब्रह्म में तुलना की गई और यक्ष मंदिर ब्रह्मपुर के नाम से चर्चित है। (अथर्व० १०।८।२९, शांति पर्व १०।१।५२।) संभवतः सुंदरता के लिए प्रसिद्ध यक्ष यक्षिणी को बौद्ध कला-विदों ने भरहुत, सांची, अमरावती या मथुरा के वेदिका-स्तंभों एवं तोरण-स्तंभों पर स्थान दिया था। भारतीय कला में मौर्य-युग से पूर्व यक्ष-यक्षिणी की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। बड़ोदा, पटना, विदिशा से यक्ष प्रतिमाएँ प्रकाश में आई हैं। उनकी बनावट अनुपात रहित है। सौंदर्य के नमूने नहीं माने जा सकते। वैदिक साहित्य में कथित (सुंदर) यक्ष तथा पूर्वमौर्य युगी यक्ष-प्रतिमा में असमानता है। मध्य भारत से प्राप्त यक्ष प्रतिमा देशज है उसी को ध्यान में रख कर अंगों ने अपनी कला को गिष्ट (Court. Art) बनाया। देशज कला का प्रभाव मध्यभारत के स्तूपों पर भी पड़ा, इस कारण भरहुत स्तंभ तथा सांची-तोरण स्तंभ पर यक्ष यक्षिणी की प्रतिमाएँ खोदी गईं। विशाल शरीर, मांसल देह तथा अनुपात में असमानता इनकी विशेषता है। इस पर कलाकार सुधार करते गए और बुद्ध या महावीर की मूर्तियाँ भी यक्ष के अनुकरण पर तैयार की गईं। मध्य भारत की देशज कला का प्रभाव अमरावती कला पर भी पड़ा। इसीलिए अमरावती यक्षिणी वेदिका-स्तंभ पर अथवा उष्णीस की लता के मोड़ यानी अंतराल में यक्ष की आकृतियाँ खुदी हैं।

देशज कला का मूल प्रभाव सिंहलद्वीप में भी पहुँचा और अनुराधपुर में बुद्ध की विशालकाय मूर्तियाँ बनने लगी ।

यक्ष एक ग्रामीण देवता समझे गए हैं जो आपत्तिकाल में मनुष्य की रक्षा करते थे । भरहुत वेदिका स्तम्भ पर उन यक्ष या यक्षिणी के नाम भी अंकित हैं जिनका दूसरा उदाहरण नहीं है । उन लेखों द्वारा खुदी आकृति वाले यक्ष के नाम का परिज्ञान हो जाता है ।

स्तम्भो पर मुपावसो यखो (यक्ष मुपरवसु)

विरुदको यखो (यक्ष विरुदक)

गगितो यखो (यक्ष गगीत)

मुचिलोमा यखो (यक्ष मुचीलोमा)

कुपिरो यखो (यक्ष कुबेर)

अजकालक यखो (यक्ष अजकालक)

चड यखि (यक्षिणी चंद्रा)

यखिनि मुदमन (यक्षिणी सुदर्शना)

आदि उल्लिखित नामों से यह विदित होता है कि ईसवी पूर्व सदियों में (शुंग काल) यक्ष यक्षिणी के विभिन्न नामों से लोग परिचित थे । उनका इस प्रकार नामकरण क्यों हुआ, यह कहना कठिन है ।

जब आकृति में सदृश्यता थी तो विभिन्न नाम करण क्यों कर हुआ ? अस्तु ! सारांश यह है कि वैदिक परंपरा का अनुसरण ईसा पूर्व सदियों तक होता रहा । महायान की उत्पत्ति के साथ देशज प्रतिमाओं के लिए कोई स्थान न रहा । भक्ति भावना से पूर्ण जनमाधारण देव प्रतिमा का पूजन करने लगा, जिस कारण ग्रामीण (देशज) अर्द्ध देवी मूर्तियाँ कराल काल के मुख में विलीन हो गई । स्तूप के स्तंभों की विस्तृत क्षेत्र पर बड़े आकार की यक्ष या यक्षिणी का रूपचित्र सर्वोचित स्थान ले चुका था ।

बौद्ध कला में ब्राह्मण धर्म संबंधी आकृतियाँ या रूपचित्रों को क्यों उत्कीर्ण किया गया, यह एक गंभीर प्रश्न है । इस समस्या का उत्तर यह हो सकता है

कि पुष्पमित्र शुंग ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने वाला शासक था । अतः, पाटलिपुत्र के समीपस्थ प्रदेश बोधगया में ब्राह्मण मत का प्रभाव पड़ा । इस कारण अनेक रूपचित्रों को वेदिका पर खोदा गया है । ब्राह्मण देवताओं में सबसे प्रधान वैदिक देवता सूर्य की रूपाकृति बोधगया-वेदिका पर दीख पड़ती है । सूर्य रथ पर सवार हैं । उनका पैर दीख नहीं पड़ता पर कमर

। एक प्रकार की मेखला वर्तमान है जो सर्प की केचुली के सदृश है । सभवतः सर्प तथा सूर्य काल के बोधक है । नाग के काटने से मृत्यु हो जाती है तथा सूर्य के उदय-अस्त में काल का बोध होता है । दैनिक समय या किसी अवधि काल में विशेष अंतर नहीं हो सकता । इसी आशय को ध्यान में रखकर बोधगया की वेदिका पर उत्कीर्ण सूर्य-प्रतिमा को स्थान दिया गया । दूसरे देवता इन्द्र है, जो भगवान के समक्ष खड़े दीख पड़ते हैं । भरहुत में एक गुहा के नीचे लेख है— इन्द्र शाल गुहा (इन्द्र के गुहा स्थित भवन) तात्पर्य यह है कि इन्द्र बुद्ध के दर्शनार्थ वहाँ आए थे । बोधगया वेदिका की सब से विचित्र खुदाई बारह राशि चिन्हों का है, जिमें प्रमुख स्थान दिया गया । (मेष, वृष मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक धनु तथा मकर) इन बारह राशियों की आकृतियाँ ज्योतिष के आधार पर तैयार की गई थी ; ताकि देखकर उस राशि का भाव प्रकट हो जाए । यद्यपि इन राशि-आकृतियों के नीचे लेख अंकित नहीं है परन्तु रूपचित्रों को देखकर उनकी पहचान हो जाती है । जैसे मिथुन (स्त्री-पुरुष की आकृति में) सिंह (जानवर) तुला (तराजू) आदि का नाम ही सार्थक है ।



षष्ठ अध्याय

शुंगकालीन प्रधान स्तूप

यद्यपि अशोक ने चौरागी हजार स्तूपों का निर्माण किया था, परन्तु उनके अधिकतर भग्नावशेष ही प्राप्त हुए हैं। मौर्य-युग के पश्चात् स्तूप-निर्माण की वह प्रगति न रही। जो स्तूप वर्तमान थे, उनको स्थायी रूप देने तथा आकर्षक बनाने की ओर शासकों या उपासकों का ध्यान गया। यही कारण था कि शुंगकाल में निम्न स्तूपों पर प्रस्तर का आच्छादन लगाया गया तथा काष्ठ की वेष्टनी को प्रस्तर से प्रतिस्थापित किया गया। शुंगकालीन प्रधान स्तूपों में निम्नलिखित की गणना होती है—

(१) भरहुत, (२) बोधगया, (३) माची और (४) जमरावती।

इनका क्रमिक विकास के कारण ऊपरलिखित मख्या दी गई है। भरहुत नामक ग्राम प्रयाग से १२० मील दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित था। इलाहाबाद-बंबई रेलवे के मतना नामक स्टेशन से नीचे मील दक्षिण की ओर

कनिष्ठ ने सन् १८७३ ई० की अपनी यात्रा में भरहुत का निरीक्षण किया था। उस भूभाग में स्तूप के अवशेष ही मिल सके। स्तूप का संपूर्ण आकार सम्पन्न हो गया था। उनके अनुसार वेदिका का व्यास ८८ फीट ४ इंच था और प्रयत्न करने पर स्तूप के चतुर्गोला का व्यास भी माप लिया, जो ६७ फीट ८ इंच के बराबर था। उनका कथन है कि स्तूप की ईंटें १२ × १२ × ३½ ईंच क्षेत्रफल में थीं। ऐसी ईंट में ही वर्तमान भरहुत के भवन बनाए गए हैं। भरहुत-स्तूप की चारों दिशाओं में चार तोरण थे तथा अरुन्धी वेदिका स्तंभों से घिरा था। इसके प्रस्तर पालरग के हैं जिसे विन्ध्या पर्वत के कैमूर श्रेणी से प्राप्त किया गया था। उत्तरी भारत की अन्य वेदिकाएँ चूना प्रस्तर की सफेद रंग की हैं। भरहुत वेदिका गोलाकार है। कुछ भाग प्रवेश द्वार को ढके हैं। भरहुत स्तूप के तोरण चौकोर प्रस्तर के बने हैं (अशोक स्तंभ पालिगदार तथा एक प्रस्तर का गोलाकार होता है), जिनके ऊपरी शीर्ष में घटी नुमा बनावट तथा चौकी भी दीख पड़ती है। उस चौकी पर दो पक्षयुक्त सिंह अथवा वृषभ की आकृतियाँ बनी हैं। तोरण की बडे़रियों के छोर पर

पूँछ सहित मुख खोले मकर की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। बंडेरी के मध्य भाग में धर्म चक्र बना है। कनिधम द्वारा संग्रहीत स्तूप के भाग कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित है। भरहुत प्राचीन नगर था जहाँ स्तूप बनाया गया था। समीप के भूभाग में स्तूप के ईंटें सर्वत्र पायी जाती हैं, जिससे प्रकट होता है कि प्राचीन स्तूप का ईंटों को उठा कर स्थानीय जनता ने अपना भवन तैयार किया। वेदिका के खुदे प्रस्तर भी उस भूमि पर यत्र तत्र अभी पाए जाते हैं। इस स्थान के भौगोलिक महत्व के विषय में अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता, किंतु इस स्थान की प्रमुखता के कारण ही स्तूप भरहुत ग्राम में निर्मित किया गया हो।

इस ग्राम (भरहुत) की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है। मेहर नदी की घाटी के उत्तरी किनारे पर यह स्थित था, जहाँ पर उज्जैन-विदिशा से मार्ग पाटलिपुत्र की ओर मुड़ता था और कौशावी तथा श्रावस्ती की दिशा में भी राजमार्ग जाता था। संभवतः इसकी स्थानीय स्थिति के महत्व को समझ कर स्तूप का निर्माण हुआ, जिससे यात्रीगण का ध्यान आकृष्ट हो सके। स्तूप की उपयोगिता ही पूजा के निमित्त रही, अतएव भरहुत स्तूप की स्थिति महत्वपूर्ण थी।

कनिधम ने भरहुत-वेदिका संबंधी अंकित लेखों की वर्णमाला का आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वेदिका का निर्माण भारतीय कलाकारों ने किया था। किंतु, वर्णमाला का आधार सर्वथा प्राभाणिक नहीं माना जा सकता कि भरहुत-तोरण की खुदाई विदेशी कलाकारों ने की। भरहुत-तोरण की ऊँचाई करीब दस फीट के परावर है और शीर्षस्थ भाग को लेकर १२ फीट आठ ईंच हो जाती है। भरहुत-वेदिका-स्तंभ एक ही प्रस्तर में निर्मित है। प्रायः सभी पर स्तंभ दान का लेख प्राकृत में खुदा है—

थमो दानम् । स्तंभ का दान ।

इन स्तंभों में गोलाकार फलक (Medallion) बने हैं जिनमें पुष्प, जानवर की आकृतियाँ या कथानक प्रदर्शित हैं। सब प्रदर्शन के नीचे लेख खुदा है जिससे उनका एकीकरण हो जाता है। इन स्तंभों पर यक्ष यक्षिणी की भी आकृतियाँ (रूपचित्र) उत्कीर्ण हैं। साधारणतया यक्ष या देवता तोरण के समीपस्थ स्तंभ पर चित्रित हैं। संभवतः प्रवेश द्वार की रक्षा निमित्त उन्हें विशिष्ट स्थान दिया गया था। यक्ष-यक्षिणी की मनुष्याकार की आकृति प्रमुख स्थान पर स्थित है। पर, इनको सीमा में बाँधा नहीं गया है। वृक्षका तथा

श्रीमा देवता का रूपचित्र गोलाई में तैयार दीख पड़ता है। अतः, इन्हें रेखाकार (linear) अवस्था के द्योतक मानते हैं। पश्चिमी तोरण पर प्रदर्शित रूपचित्रों को निश्चित योजना से तैयार किया गया है। इनकी बनावट में ढाँचा का अभाव है। भरहुत के मनुष्य आकार के रूपचित्रों को देखने से प्रकट होता है कि कलाकर मानव-आकृति का अच्छा (वास्तविक) ज्ञान रखता था। उदाहरण के लिए उत्तरी प्रवेश मार्ग पर कुबेर वृक्ष (कुपिरो वृक्षों प्राकृत में) तथा दक्षिण मार्ग पर चुनकोका देवता की रूपाकृति दीख पड़ती है। अन्य स्तंभों पर अनेक जानक प्रदर्शित हैं। मार्ग पर इनकी स्थिति दर्शकों या उपासकों के लिए उत्साहवर्द्धक है। उस मार्ग पर अज्ञातशत्रु की यात्रा खुदी है। राजा हाथी पर बुद्ध की पूजा के निमित्त जा रहा है—अज्ञातशत्रु भगवतो वंदते। इसी प्रकार नागराज इलाष्ट्रा का भी दृश्य उत्कीर्ण है—इरापतो नागराज भगवतो वंदते। बुद्ध के प्रधान पत्नीको में धर्मचक्र तथा वृक्ष अनेक प्रकार से प्रदर्शित हैं। 'भगवतो धर्म चक्र' लिख कर उस चक्र की महानता दिखलायी गई है। भरहुत वेदिका पर वृक्ष का प्रदर्शन अपनी निजी विशेषता रखना है तथा अन्यत्र किसी बौद्ध कलात्मक नमूनों में दीख नहीं पड़ता। यह तो सत्य है कि पूजा के विभिन्न प्रतीकों में वृक्ष का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था। पूजा संबंधी तीन प्रकार के विषय निर्धारित किए गए हैं—

(१) शारीरिक—बुद्ध की अस्थि, चूड़ा या नख।

(२) उद्देशिक—प्रतिमा-या स्तूप, चक्र विरत्न।

(३) परिभोगिक—भिक्षापात्र वस्त्र, आसन आदि तीसरी श्रेणी में वृक्ष को स्थान दिया गया है। क्योंकि उसी के नीचे बैठ कर ज्ञान प्राप्त हुआ था। अन्य परिभोगिक विषयों में वृक्ष की ही प्रधानता दीख पड़ती है। इसका कारण यह था कि बुद्ध के सात मानुषी स्वरूप माने गए हैं। बोधगया का पीपल-वृक्ष बोधि वृक्ष कहलाया, जिसका संबंध मानवे बुद्ध (गौतम बुद्ध) से जोड़ा गया है। भरहुत-स्तंभों पर वृक्षों की प्रतिकृति उत्कीर्ण कर नीचे लेख भी अंकित है, जिससे मानुषी बुद्ध का एकीकरण किया गया है—

(१) विपस्त्री—पाटलि वृक्ष

(२) मिक्ति—पु डरिका (सफेद कमल)

(३) विश्वभू - शाल वृक्ष

(४) ऋक्षुद्ध—गिरिस वृक्ष

(५) कनकमुनि—उदु वर वृक्ष

(६) काश्यप—न्यग्रोध या वट (Ficus Indica)

(७) शाक्यमुनि - पीपल (*Ficus Religiosa*) ।

वृक्षो (प्रतीक) के नीचे लेख खुदे हैं ।

(१) भगवतो विपसिनो बोधि

(२) भगवतो सिकिन बोधि

(३) भगवतो वेशभुवोबोधि सालो

(४) भगवतो ककुमघस बोधि

(५) भगवतो कोनिगमेनस बोधि

(६) भगवतो कसपस बोधि

(७) भगवतो शकमुनिनो बोधि ।

यद्यपि सभी नाम किसी-न-किसी वृक्ष के नीचे अंकित हैं, पर सभी बोधि (पीपल) वृक्ष नहीं माने जा सकते । तीसरे स्थान पर शाल-वृक्ष का नाम है । पर अन्य वृक्षों के अवलोकन से विदित होता है कि कोई बट, आम्र, पाटभे, बांस का पौधा आदि के आकार माने जा सकते हैं । जो कुछ भी वृक्षों का वर्गीकरण हुआ, यह मतौप की बात है कि भरहुत के कलाकारों ने सभी कृतियों की जानकारी के लिए लेख अंकित किया ।

भरहुत की दूसरी विशेषता जातक-प्रदर्शन तथा नामाकन की है । यहाँ सबसे अधिक जातक को प्रदर्शित किया गया । उनमें मिग (मृग) नाग, यवमज्ञकीय हंस, किन्नर, दशरथ, विधुर आदि-आदि प्रदर्शित हैं । लेख के कारण एकीकरण में सरलता हो जाती है । कुछ प्रमुख जातकों का उल्लेख किया जा चुका है । यवमज्ञकीय जातक की कथा कथासरित्सागर से ली गई है । दशरथ जातक में काशी के राजा ब्रह्मदत्त को दशरथ माना गया है; क्योंकि उसकी कन्या का नाम सीता था । कथानक में राम, लक्ष्मण, भरत आदि का उल्लेख है । प्रायः सभी जातक प्रदर्शन का मूक उपदेश था—सात्त्विक जीवन तथा अहिंसा । ऐतिहासिक घटनाओं में माया देवी का सपना एवं जेतवन विहार का उल्लेख सभी-चौन होगा । इन प्रदर्शनों के नीचे भी स्पष्टतया उल्लेख है—

भगवतो रुकदत्त तथा जेतवन अनाधपिडिको देतु कोटि संथतेन केटा ।

जेटवन विहार के दान मिलने पर बुद्ध वर्षावास के लिए शीघ्र श्रावस्ती चले गए । इस प्रकार का प्रदर्शन भरहुत की निजी विशेषता है । प्रत्येक उत्कीर्ण दृश्य को नामाकन की क्या आवश्यकता थी, यह रहस्यपूर्ण प्रश्न है ।

यदि इनका निदान ढूँढा जाए तो यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन जनता में इन विषयों की जानकारी न थी अथवा उनमें अज्ञान था । अतएव, भरहुत के कलाकारों ने उपासकों को प्रकाश में लाने के लिए या आकर्षित करने के

निमित्त उत्कीर्ण दृश्य के नीचे लेख अंकित करवाया था। भारत के स्तूपों में भरहुत कला को हीनावस्था में पाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि भरहुत के रूप-चित्रों के अंगों में गति का अभाव है। या सभी सीमेट से जुड़े प्रकट होते हैं। यदि मनुष्य का अंग सर्वदा सीधा दीख पड़े या उसमें मोड़ न हो, तो स्थिरता के कारण प्राकृतिक अंग नहीं समझे जा सकते। यक्षिणी के कटि तथा नितंब में अनुपात का अभाव है। तात्पर्य यह है कि भरहुत कलाकार सापेक्ष महत्त्व की जानकारी न रखते थे। शरीर के पारस्परिक अनुपात में विभेद दीख पड़ता है। यह कला की हीनता का द्योतक है। भरहुत-स्तूप पर चौकोर सीमा में उत्कीर्ण दृश्यों में गहराई का अनुभव नहीं हो पाता। यक्षिणी की प्रतिकृति सीमित क्षेत्र में न बनकर स्वतंत्र रूप में वामन की पीठ पर तैयार की गई है। सभी लंबाई के अनुपात में उत्कीर्ण है। इनमें गहरा खोदकर भी चौड़ाई को ध्यान में रखा गया है, जिसमें आकृति का बाहरी रेखाचित्र प्रकट होता है।

भरहुत-वेदिका का अनेक गोलाकार फलकों द्वारा अलंकृत करने की योजना है। उन फलकों में पुष्प (कमल) पशु, सेण्डी का मिर या अन्य सामाजिक विषयों का प्रदर्शन है। कुद्रफालकों को देखते ही गोलाकार फलक बनता है। इनमें हाम्यास्पद बातें खूबी हैं। एक में बदर डाक्टर के रूप में दीख पड़ता है। वह चिमटे में मनुष्य का दांत बाहर निकालते उत्कीर्ण है। उस चिमटे को रस्सी में बांध कर हाथी के गले में फसा दिया गया ताकि वह बत पूर्वक उस दांत को बाहर खींच सके। दूसरे फलक में बदर हाथी को नचा रहे है। हाथी का पैर मोटे रस्से से बंधा है। उसकी पीठ पर अनेक बदर बैठे हैं तथा अंकुश से खोद रहे हैं। पार्श्व में बदरों का झुंड प्राज्ञ वजाना चला जा रहा है। भरहुत के कई प्रधान विषयों को—मायादेवी का गणना, ज्ञानवन-विहार, यवमञ्जकीय जातक आदि दृश्य गोलाकार फलकों पर प्रदर्शित हैं तथा उनके नीचे लेख अंकित है। उष्णीस की खुदाई तथा लम्बोत्री का तात्विक प्रवाद भरहुत की विशेषता प्रकट करता है। इस प्रकार भरहुत के कलाकारों ने वेदिका या तोरण को अलंकृत करने की योजना तैयार की थी जिसे सफलता पूर्वक गणन किया। इनमें अशोककालीन कला सिद्धांत का अभावात्मक प्रदर्शन है। (Negation of Mauryan Art) इसमें मध्य भारत की वन जातियों की संस्कृति (Tribal Culture) का तत्त्व प्रकट होता है।

पाटलिपुत्र से दूर प्राचीन निरंजना नदी के किनारे पीपल-वृक्ष के नीचे गौतम ने तपस्या की। कलांतर में वही उनको बुद्धत्व (ज्ञान) मिला।

अतः वह स्थान बोधगया के नाम से प्रसिद्ध हुआ और वृक्ष को बोधिवृक्ष (Bo tree) पुकारने लगे । उसी वृक्ष के समीप बुद्ध

बोधगया का वज्रासन दीप्त पड़ता है जहाँ बैठकर तपस्या प्रारम्भ की थी । भरहुत के मन्दिर उत्तर मौर्यकाल (गुप्त युग)

में बोधगया में जो वेदिका निर्मित हुई, वह वज्रासन एवं बोधिवृक्ष के चारों ओर थी, किंतु पूर्णवर्मा नामक मगध नरेश ने वेदिका का विस्तार किया । ह्वेनसांग ने ऐसा ही विवरण दिया है । वर्तमान समय में बोधगया की वेदिका वृक्ष, वज्रासन तथा चक्रम पथ को घेरे हुए है । अनेक छोटे स्तूप इसकी परिधि के बाहर हैं । पूर्वी दिशा में तोरण भी देख पड़ता है । किंतु वेष्टनी का भाग उत्तर पश्चिम में शेष रह गया है । बोधगया की वेदिका अन्य वेदिकाओं से कुछ भिन्न है । इसे भी हीनयान-युग में तैयार किया गया था, अनेक प्रतीकों तथा कथानकों का प्रदर्शन देख पड़ता है । ईसा पूर्व मदी में निर्मित वेदिकाओं की यही विशेषता है कि उनकी कला प्रतीकान्मक है । भरहुत से बोधगया की कला उच्चतर समझी जाती है । इसमें भी तत्कालीन सामाजिक यानों का प्रदर्शन है, परन्तु बोधगया के कलाकार खूदाई करते समय आवश्यक तथा अनावश्यक तत्वों में विभेद करते रहे । इस कारण आवश्यक तत्वों के समूह में प्रदर्शन अपरिपूर्ण होता था । भरहुत की तरह उनकी कला बोझिल न थी । थोड़ी सीमा में आकृति को गुंदा बना कर सक्षिप्तीकरण पर ध्यान देते थे । बोधगया के प्रदर्शन भार रहित तथा गोलाकार होकर सजीवतापूर्ण हैं । यही कारण है कि बोधगया को दूसरी सीढ़ी पर रखते हैं । यहाँ की आकृतियों की ग्रथियों में गति का संचार देखते हैं । रूपचित्रों में गतिविधि की कल्पना तथा चित्र को आकर्षित करने वाले गुण विद्यमान हैं । उनके अवलोकन से चित्त को प्रसन्नता होती है और किसी-न-किसी प्रकार का उपदेश मिलता है । लंबाई, चौड़ाई में तो चौकार स्थल खुदे हैं, उनमें गहराई का कार्य भी प्रारम्भिक दशा में देख पड़ता है । सबसे प्रमुख बात यह है कि ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से बोधगया की वेदिका अछूती न रह सकी । इसके मूल पर सूर्य के रथ की आकृति है । इन्द्र बुद्ध के दर्शनार्थ उपस्थित है । ज्योतिषशास्त्र की बारह राशियों की कलात्मक आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं । इससे धार्मिक भावना के समन्वय का परिज्ञान हो जाता है । ऐतिहासिक घटनाओं में जेतवन विहार का प्रदर्शन मुंदर रीति से संपन्न है । वेदिका के गोलाकार फलको पर ही राशियों के चित्र तथा पुष्प या श्रेष्ठी का सिर प्रदर्शित है । इन सभी बातों में बोधगया की वेष्टनी का शेषांश समानता रखता है । बोधगया की वेष्टनी का आलवन-

प्रस्तर चारों तरफ दीख पड़ता है। वर्तमान मंदिर भी वेष्टनी के भीतर खड़ा है। यह किस समय निर्मित हुआ यह वास्तविक रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु बारहवीं सदी में बर्मा की सरकार द्वारा इसका जीर्णोद्धार हुआ था।

बोधिवृक्ष की दक्षिण दिशा में स्तूप के अवशेष हैं जिसे अशोक ने बनाया था। ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि पूर्वी दिशा से मार की सेना ने बुद्ध पर आक्रमण किया था। सुजाता द्वारा तपस्वी गौतम को खोर देना निरंजना नदी पार कर वृक्ष के नीचे बैठना तथा मार की कन्या एवं सैनिकों द्वारा आक्रमण, सभी बोधि वृक्ष के समीप की घटनाएँ हैं। किंतु, बोधगया का वेष्टनी पर इनका प्रदर्शन नहीं मिलता। साची-तोरण की बंहेरियों पर यह चित्र उत्कीर्ण हैं। स्तूप के बाहर वेष्टनी की स्थिति बोधिवृक्ष के महत्त्व को बतलाती है। मार पर विजय कर ज्ञान-प्राप्त करना बोधगया की प्रमुख घटना थी, जिसका प्रदर्शन अज्ञात कारणवश छूट गया है।

बोध गया के मंदिर के समीप चारों तरफ छोटे-छोटे पूजा स्तूप बने हैं। कुछ चुनार तथा काले प्रस्तर में खूबे हैं। एक तरफ ऊँचे टीले पर “अनिमिस-लोचन स्तूप” निर्मित है। कहा जाता है कि वही से बुद्ध ने बोधिवृक्ष को देखा था। बोधगया में स्तूप की प्रधानता नहीं है।

साची नामक स्थान विदिमा से ६ मील पर स्थित है, जहाँ पर्वत के ऊपर कई स्तूप निर्मित हैं। इस कारण इसे महावश में चेतिय (स्तूप का दूसरा नाम) गिरि भी कहा गया है। चार्थी सदी के गुप्त लेख में काकनाड महाविहार के नाम

से उल्लेख पाया जाता है। इस स्थान पर स्तूप क्यों

साची स्तूप

बनाया गया ? इस स्थान का भगवान् बुद्ध के जीवन से कोई संबंध न था। बौद्ध साहित्य से विदित होता

है कि अशोक उज्जयिनी में (पश्चिमी मालवा की राजधानी) राज्यपाल का कार्य करता रहा। उसके बाद भी वह विदिमा गया तथा वहाँ के मोठी की पुत्री से विवाह कर लिया। संभवतः इस कारण उस स्थान का महत्त्व हो गया और अशोक ने स्तूप तथा स्तम्भ का निर्माण किया था। अशोक के स्तम्भ पर लेख खुदा है और चार सिंह का शीर्ष (Capital) है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि भगवान् बुद्ध के इच्छानुसार (स्तूप चार रास्ते के चौराहे पर) साची स्थान को उपयुक्त समझा गया। पाटलिपुत्र से कोशाबी होकर तथा उज्जैन साची (यानी विदिमा) होकर राजमार्ग भारतीय समुद्र के पश्चिमी बंदरगाह भरौच जाया करता था। मथुरा से भी उज्जैन के लिए विदिमा होकर जाना पड़ता है। इस तरह साची का भूभाग चौराहा था जिसके महत्त्व का ध्यान में

रखकर अशोक ने स्तूप निर्मित किया होगा। सांची की खुदाई से मुख्य स्तूप से भस्मकलश की प्राप्ति न हो सकी है। यानी भस्म (धातु) से सांची के मुख्यस्तूप का कोई संबंध न था। अशोक ने इसे पूजा निमित्त तैयार किया और लेख भी खुदवाए। यह स्थान सदियों तक महत्वपूर्ण बना रहा। पुण्य-मित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र की राजधानी विदिसा थी। यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने विदिसा में ही गण्डस्तम्भ की स्थापना की। गुप्त सम्राट् द्वितीय चद्रगुप्त ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया और पश्चिम भारत विजय के लिए विदिसा में उसकी सेना पड़ाव डाल चुकी थी। चद्रगुप्त के दो लेख (उदयगिरि गुहा में तथा सांची वेदिका पर) यही खुदे हैं। उदयगिरि गुहा को खुदवा कर गुप्त सम्राट् ने सभी का ध्यान आकर्षित किया। गुहा में वराह-विष्णु की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस प्रकार सांची का भूभाग सदा से महत्वपूर्ण स्थान रहा। इसी का ध्यान में रखकर स्तूप का निर्माण हुआ होगा।

सांची में तीन स्तूप हैं। स्तूप नं० १ प्रधान स्तूप है। स्तूप नं० ३ से सारिपुत्त तथा मौद्गल्यायन के भस्मपात्र (लेख सहित) उपलब्ध हुए हैं। स्तूप नं० २ की निजी विशेषता नहीं है। इसमें अशोक के धर्म दूतों के अवशेष मिले हैं। भस्मपात्र पर लेख अंकित हैं। तोरण का अभाव है। स्तूप नं० १ के समीप अशोक के स्तम्भ पर लेख खुदा है, जिसमें विहार में विभेद पैदा करने वाले भिक्षु-भिक्षुणी को दंड का विधान है। पुरातत्व के विद्वान् स्तम्भ तथा नं० १ के आधार को समतल में देखा है। अतएव दोनों समकालीन हैं। ईसा पूर्व ३०० वर्ष में निर्मित हुए। प्रारम्भ में मूखी कच्ची ईंट-का अड बनाया गया था। शुंग काल में इस अर्द्धवृत्ताकार स्मारक को प्रस्तर में अच्छादित किया गया। ७० फीट व्यास में तथा ३५ फीट ऊँचा स्तूप है। इसके अधोभाग तल से ६ फीट की दूरी पर काण्ड की वेष्टनी बनाई गई थी जिसे कालांतर में चतार प्रस्तर में प्रतिस्थापित किया गया।

सांची की वेदिका के प्रत्येक भाग में लेख खुदे हैं। ये दानकर्त्ताओं के नाम हैं। जिसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि धार्मिक जनता के दान में वेष्टनी क्रमशः बनी। एक व्यक्ति विशेष ने इसमें हाथ न बटाया। सांची की वेदिका चिकने एवं सादे (अनलकृत) प्रस्तर में बने हैं, जिनके चार भाग हैं। जैसा भरहुत में पाया जाता है। एक सांची-वेदिका ही अनलकृत है अन्यथा भारत में सर्वत्र स्तूप की वेदिकाएँ भजीभाँति कलात्मक रूप में खुदी हैं। जैसा कहा गया है उनका एकमात्र उपयोग था, उपासकों तथा दर्शकों को अलंकारिक साधनों से आकर्षित करना। सांची-वेदिका की सादगी के कारण कलाकारों

ने स्तूप के वायुमंडल को तोरणों द्वारा अधिक आकर्षक बनाया। चुनार सफेद प्रस्तर के तोरण-वेदिका के बंद जोड़े गए। इनकी स्थिति तथा बनावट देखने से सभी बातें साफ हो जाती हैं।

साची के चारों तोरण क्रम से तैयार हुए थे। दक्षिण, उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम तोरण क्रमशः निर्मित हुए। तोरण के कारण साची की बनावट अत्यंत सौंदर्यमय हो जाती है। तोरण में चौकोर स्तंभ है। उनके सिरे पर (शीर्षस्थ भाग) जानवरों की आकृतियाँ खुदी हैं उन पर प्रस्तर की एक शहतीर (जिसे बंडेरी कहा गया है) रखी है। प्रत्येक शहतीर के अंतिम छोर के समीप स्तंभ की सीध में प्रस्तर के चौकोर मिथ्या शीर्ष बने हैं, जिनमें दो बंडेरियों में अंतर हो जाता है। इस तरह तीन बंडेरियों का तोरण है। तोरण के स्तंभ को कई चौकोर भागों में बाँटा गया है, जिसमें वृक्ष, चक्र या स्तूप-पूजा का दृश्य दीख पड़ता है। भगवान् के प्रतीक विश्ववृक्ष है। वे सभी जलचर, नभचर, मनुष्य, देवतागण आदि द्वारा पूजित प्रदर्शित हैं। इन्हें चरण-चित्र का नाम दिया गया है। कागज को गोल करते समय तथा उसे खोलने समय चित्र सामने आते हैं। उसी रूप में स्तंभ के प्रस्तर को भी चीरकर समझ कर चरणचित्र कहना यथार्थ होगा। मिथ्या स्तंभ शीर्ष पर भगवान् के जन्म के अनेक प्रतीक (हाथी, कमल, कमलामना दूरी, या गजलक्ष्मी) प्रदर्शित किए गए हैं। बंडेरियों पर जातक के कथानक या जीवन-घटनाएँ अथवा ऐतिहासिक विषयों का प्रदर्शन है जिसके कारण बंडेरियों पर अन्य प्रधान प्रतीक कम उत्कीर्ण हैं। षडदंत जातक, विश्वतर, मार-विजय, धातु (भस्म) के निमित्त विभिन्न राजवंशों के मध्य युद्ध आदि विषयों को गहराई तथा गंभीरतापूर्वक एवं समस्त कलात्मक तत्वों को ध्यान में रखकर कलाकारों ने उत्कीर्ण किया। दक्षिणी तोरण के तीसरी बंडेरी पर स्तूप तथा वृक्ष प्रत्यवर्ती रूप में रखे हैं, जिनकी संख्या सात है। अतएव, उस संख्या के कारण सभी सात मानुषी बुद्ध के प्रतीक समझे जाते हैं जैसा भरहुत में बृक्षों के नामकरण द्वारा बनलाया गया है। साची में प्रदर्शनों का नामांकन नहीं मिलता। सर्वोपरि बंडेरी पर धर्मचक्र तथा त्रिरत्न के रूपचित्र खुदे हैं। उत्तरी तोरण के तीन शहतीरों पर (अ) विश्वन्तर जातक (ब) मार विजय (स) षडदंत जातक उत्कीर्ण हैं। शहतीरों के दोनों छोर चक्रनुमा बने हैं तथा उनके ऊपरी भाग में पखयुक्त सिंह की मूर्ति बनी है। प्रत्येक शहतीर को उचित स्थान पर रखने के लिए मालमजिका की पूरी आकृतियाँ बंडेरियों के छोर पर देख पड़ती हैं।

यदि तोरण के प्रदर्शनो को देखा जाए, तो पता चलता है कि—

- (१) स्तंभ पर चरणचित्रों में जातक
- (२) अथथार्थ शोष में जन्म के दृश्य
- (३) बंडेरियों पर ऐसे कथानक खुदे हैं, जिनमें प्रवाह है, गतिमान होने के कारण जीवित मालूम पड़ते हैं।

(४) रियत स्थानों में जानवर, हाथी, सवार, सालभंजिका तथा वृक्ष देवता के रूपचित्र योजनापूर्वक उत्कीर्ण हैं।

यद्यपि मनुष्य (हाथी या घोड़े पर सवार) की प्रतिमा का शुभारंभ साची के कलाकारों ने किया था, पर यह महायान का प्रभाव नहीं कहा जा सकता।

साची-तोरण पर जितना भी प्रदर्शन है, सभी का संबंध हीनयान मत से है। यद्यपि भगवान् बुद्ध विश्व वद्य थे, सभी प्रतीकों का पूजन होता था। परंतु, कलाकार सौंदर्य भावना से परे न थे। इसलिए सुंदरता के साथ प्रस्तर की खुदाई की गई थी। बुद्ध की प्रतिमा का अभाव है।

जीवन-घटनाओं में

(१) जन्म, माया का सना, महाभिनिष्क्रमण का प्रदर्शन अतीव सौंदर्यपूर्ण है। कपिलवस्तु नगरी से घोड़े का निकलना (जिसके पैर यक्ष देवगण के हाथ में हैं) महाभिनिष्क्रमण का द्योतक है।

(२) निरंजना नदी के किनारे सुजाता द्वारा भोजन का अर्पण तथा नदी पार कर पीपल वृक्ष के नीचे तपस्या।

(३) मार विजय का विस्तृत दृश्य

(४) वज्रासन और

(५) चूडा का पूजन आदि विषयों का प्रदर्शन है। इनके साथ सभी आठों रहस्यपूर्ण घटनाओं को यथास्थान उत्कीर्ण किया गया है।

(१) जन्म, (२) ज्ञान (३) उपदेश (४) परिनिर्वाण (५) नालहस्तिदमन (६) जेतवन (७) महाप्रदर्शन और (८) स्वर्ग से अवतरण।

प्रधान जातकों का चित्रण गत पृष्ठों में दिया गया है।

साची-तोरण की कलात्मक विशेषता का गंभीर अध्ययन विशेषतया निम्न बातों पर प्रकाश डालता है—

(अ) परिदृश्य अथवा सापेक्ष महत्व (Perspective)

(ब) अनुपात तथा परिमाण (लंबाई चौड़ाई एवं गहराई का ज्ञान)
(Ratio and Dimensions)।

(स) मनुष्य-कृति का शुभारंभ (Human Figure)

(द) वनस्पतीय परिकल्पना की पराकाष्ठा यानी चरम सीमा

(य) मालवा शैली का प्रभाव (Malwa School) ।

(अ) सापेक्ष महत्त्व की जानकारी सांची के कलाकारों को पूर्व से ही थी, यह कहना कठिन है । शुगकाल में भरहुत तथा बोधगया में काल तथा देश का परिज्ञान था । यह परिदृश्य सांची में आंशिक रूप में विद्यमान है । प्रस्तर को यथार्थ रूप से खोद कर देश तथा काल को संकेत नहीं करते या उन लक्षणों को व्यक्त नहीं करते थे, किंतु कलाकार दर्शकों को भ्रांति में डाल देते और परिप्रेक्ष्य को भ्रमपूर्ण स्थिति में व्यक्त करते थे । गहराई या दूरी व्यक्त करने के लिए प्रस्तर को गहरा काटने की प्रक्रिया नहीं अपनाई गई, किंतु एक ही धरातल में विभिन्न पंक्तियाँ दिखला कर साक्षेप महत्त्व दिखलाया गया है । वृक्ष की पूजा करते समय अनेक देवतागण बैठे दीख पड़ते हैं, परंतु दो व्यक्तियों के सिरों के मध्य रिक्त भाग में एक छोटे आकार में मनुष्य का सिर उत्कीर्ण किया है । इसी प्रकार रिक्त स्थानों में क्रमशः छोटे आकार के सिर की योजना से कलाकार बोधिवृक्ष के चारों तरफ बैठे व्यक्तियों को पवित्रों में विभक्त कर देता था । यद्यपि सभी बातें भ्रमात्मक थीं । कलाकार समझबूझ कर दर्शकों को भ्रम में रखना चाहता था । इससे प्रथम पंक्ति से दूसरे पंक्ति में बैठे मनुष्यों की दूरी व्यक्त हो जाती ।

समीप का बड़ा चेहरा—प्रथम पंक्ति

उसमें छोटा—द्वितीय पंक्ति

उसमें भी छोटा—तृतीय पंक्ति

प्रथम पंक्ति दर्शक के समीप, दूसरी कुछ दूर तथा तीसरी पंक्ति पर्याप्त दूर हो जाती । समीप की पंक्ति वाले व्यक्ति की पीठ दर्शकों के सामने रहती तथा उमी धरातल में प्रदर्शित ऊपरी भाग में व्यक्ति का चेहरा दर्शकों को दिखलाई पड़ता है । इस प्रकार एक धरातल में कई पंक्तिवद्ध मनुष्यों का प्रदर्शन सांची की निजी विशेषता है । दर्शक में दूरी तथा समय (पंक्ति बनाने में) का ज्ञान बोधिवृक्ष के पूजन से हो जाता है । मनुष्य आकार के छोटा या बड़ा होने में दूरी का परिज्ञान होता है । यद्यपि कलाकार भ्रमवश दूरी का बोध कराता है, किंतु सापेक्ष महत्त्व के सभी गुण विद्यमान नहीं हैं । सांची के तोरण पर बुद्ध के स्वर्ग में अवतरण का प्रदर्शन दीख पड़ता है । इसमें स्वर्ग स्थित देवतागण की आकृतियाँ बड़ी हैं तथा सीढ़ी के नीचे संसार में स्थित मानव छोटे आकार के दिखलाए गए हैं । मानव तथा दैवी शक्तियों में आकार

द्वारा विभेद किया है। समीप में स्थित मनुष्य का बड़ा आकार होना चाहिए, परंतु पूजन के प्रदर्शन से अवतरण का प्रदर्शन सर्वथा विपरीत है। (समीप में छोटा, दूर बड़ा)। सांची के प्रदर्शनों में इस संबंध में कलाविद् की सीमित जानकारी प्रकट होती है। वैज्ञानिक ढंग से उस विषय का अध्ययन नहीं दीख पड़ता। इस कारण साक्ष्य महत्त्व का वास्तविक ज्ञान अविदित था।

देश के अतिरिक्त काल के प्रदर्शन में सांची के कलाकार कुछ श्रेणी तक दक्षता रखते थे। उस दिशा में कथानक का प्रदर्शन एवं उसकी प्रगति या गतिशीलता समुचित रूप से दिखलायी गई है। मुख्य पात्र को स्थान-स्थान पर दिखा कर कथानक के प्रभाव का परिज्ञान कराया गया है। विस्वत्तर जातक, षड्दंत जातक, महाभिनिष्क्रमण में क्रमशः राजा की विभिन्न आकृतियाँ, हाथी का अनेक रूपचित्र तथा घोड़े को एक दिशा में दिखा कर विपरीत दिशा में दिखाना (लौटना) कथानक के वर्तमानता (Continuation) को प्रकट करता है। इस कार्य में पात्र की भावभंगिमा, शरीर का मोड़ तथा रूपचित्र में कोण का प्रदर्शन उसके (पात्र के) शरीर समीप गहरा खोद कर कलाकारों ने सफलता पाई है।

(ब) अनुपात तथा परिमाण

सांची-तोरणकला की विशेषता यह है कि उत्कीर्ण प्रदर्शनों में अनुपात का समावेश किया गया है। दक्षिणी तोरण के प्रदर्शनों का परीक्षण यह प्रकट करना है कि प्रत्येक आकार को ध्यान में रख कर सजीव बनाने में सफल प्रयत्न किया गया है। अनुपात के कारण पत्र, पुष्प, हाथियों का आकार भा यथेष्ट ढंग से उत्कीर्ण है। दक्षिण तोरण की बड़ेरियों पर भस्म (= धातु) के लिए युद्ध का प्रदर्शन सप्राण प्रतीत होता है। यही सांची के कलाकार के रचनात्मक प्रतिभा को व्यक्त करता है। अलकरण, तालबद्ध बनावट तथा विभिन्न दिशाओं में पशुओं की गति का प्रदर्शन देखते बनता है। इन्हीं कारणों से सांची की कला सर्वोत्तम मानी गई है।

परिमाण के संबंध में भी कलाकारों ने अपनी कुशलता दिखाई है। सांची में परिमाण (Three Dimensions) की चरम सीमा मिलती है। गहराई की वास्तविकता की ओर पूरा ध्यान न देकर कलाकारों ने एक ही घरातल पर सब कुछ दिखलाया है। यदि प्रस्तर काट कर आकृतियों को गहराई में दिखाया जाए, तो एक के पीछे दूसरी आकृति छिप जाएगी। किंतु, सांची-तोरण पर इसे प्रदर्शित करने के लिए एक आकृति के ऊपर (उसी घरातल पर) दूसरा आकार उत्कीर्ण है तथा आशिक रूप में ठँका है। उससे गहराई का मिथ्या

ज्ञान हो जाता है। गहराई का ऐसा प्रदर्शन अन्यत्र नहीं है। किसी पदार्थ का आकार दूरी के कारण छोटा या बड़ा नहीं दीख पड़ता किंतु वृत्तिमूलक महत्त्व को ध्यान में रखा गया है। दृष्टिगत पदार्थ के रूप से कलाकार का मार्ग-दर्शन नहीं होता, अपितु उनकी जानकारी ही वास्तविक स्वरूप के प्रदर्शन हेतु बाध्य करता था। कथानक के अनुसार भी कला में वस्तुओं को सजाया है। कार्य-पद्धति में उसे सुसंगत होना अनिवार्य था, यद्यपि दर्शकों की दृष्टि में अमुक प्रदर्शन अयथार्थ हो।

(म) मनुष्याकृति का शुभारंभ

सांची-तोरण की खुदाई एक व्यक्ति की कृति नहीं है। कलाकारों द्वारा यह कार्य संपन्न हुआ था। व्यक्तिगत आकार बड़ी ही कुशलतापूर्वक परिष्कृत ढंग से उत्कीर्ण है। कलाकारों ने काल्पनिक रूपचित्र को नहीं प्रदर्शित किया, परंतु मानव शरीर की जानकारी एवं अंगों को संप्राण मान कर उत्कीर्ण किया। यक्ष-यक्षिणी वनजातियों के देवता थे, जिनको ब्राह्मण एवं बौद्ध कला में बड़े सुंदर तथा सजीव रूप में दिखाया है। स्तूप-अलंकरण के साथ प्रस्तर की खुदाई सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति करती है। भरहुत-वेदिका पर यक्ष तथा यक्षिणी का जिस रूप में प्रदर्शन है, सांची-तोरण पर उन्हें परिष्कृत ढंग से दिखाया गया है। पूर्व काल में तोरण पर यक्ष हनोत्साह या शक्तिहीन प्रदर्शित है। किंतु, सांची-तोरण पर मृदू होकर खड़े दीख पड़ने हैं। यक्षिणी तथा गालमजिका प्रदर्शन में शरीर की सौंदर्य तथा परिरेखा द्वारा सुंदर नारी के रूप में प्रकट हो रही है। यह सत्य है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण में सभी का मुख विभिन्नता लेकर उत्कीर्ण नहीं है, सभी का चेहरा एक समान है (दो चेहरे समान नहीं होते) किंतु, अन्य मनुष्याकार प्रदर्शन में भावात्मक पृथक्ता है। नग्न दीख पड़ती है, परंतु पारदर्शक वस्त्रसहित प्रदर्शित है। सांची-तोरण के शहतीर के मध्य रिक्त भाग में घुडसवार की आकृतियाँ बनाई गई हैं। खाली जगह को भरने के लिए ही घुडसवार खड़े किए गए हैं, लेकिन इसका गूढ़ अर्थ यह भी समझा जाता है कि सांची के कलाकार ने मनुष्य की आकृति का शुभारंभ किया है। भरहुत या बोधगया की प्रतीकात्मक नमूनों में (यक्ष यक्षिणी के अतिरिक्त) किसी रूप में भी मनुष्य की मूर्ति का प्रदर्शन नहीं है। सांची में इसे आरंभ कर भारतीय कला में इसे जारी रखा गया और कालांतर में महायान मतानुयायियों ने इससे प्रेरणा लेकर बुद्ध की प्रतिमा तैयार करायी।

(द) वनस्पति परिकल्पना की चरमसीमा

यह कहा गया है कि सांची कला में वास्तविकता तथा सही प्रदर्शनों का मेल हो गया था। परिरेखा के दिखाने में कलाकार दक्ष थे। वास्तविक आकार से विज्ञ थे। अतएव लता, पत्र, पुष्प आदि का प्रदर्शनों में अनुपात वर्तमान है। पूर्वप्रचलित शैलियों से अत्यंत सौंदर्यमय तथा अतिश्रेष्ठ समझे जाते हैं। शुंगकालीन वेदिका के उष्णीस पर लताएँ प्रदर्शित हैं। उनकी विशिष्टता यह है कि उन प्रदर्शनों में प्रवाह है, लताओं के मोड़ या घुमाव से पशु पक्षी भी सबद्ध हैं। कोई भी उन्हें असबद्ध नहीं कह सकता। उन गतिमान पत्रपुष्पों की तालमय स्थिति है। पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी सभी प्रवाहित धारा के सहायक हैं, उसके अंग समझे जा सकते हैं।

(य) मालवा शैली का प्रभाव

मध्य भारत में अशोक से पूर्व देशज कला के नमूने पाए गए हैं, जिन्हें यक्ष का नाम दिया गया है। यद्यपि यक्ष-यक्षिणी की भावना नवीन नहीं थी, तथापि उनका साकार प्रदर्शन पूर्व मौर्य युग में पाया जाता है। विदिसा, बरौदा (मथुरा के समीप) एवं गटना से यक्ष-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें देशज गुण विद्यमान हैं। अनुपात का अभाव है। शारीरिक अंगों की रचना में एकता नहीं है। इस प्रकार के यक्ष-यक्षिणी का समावेश भरहुत वेदिका-स्तंभों पर पाया जाता है। सांची में भी विदिसा के यक्ष सदृश आकार देख पड़ते हैं। इस कारण यह कहना उचित है कि पूर्व मौर्ययुगी मालवी शैली का प्रभाव शुंगकालीन कलाकृतियों में प्रकट होता है। यक्ष यक्षिणी मालभजिका उनके दृष्टांत हैं जो यह गीति समाप्त न हो पाई। मथुरा की बौद्ध कला में मालवा प्रभाव स्पष्ट है। मथुरा से अमरावती भी पहुँचा। भारत के बाहर सिंहल के अनुराधपुर की विशाल बुद्ध-प्रतिमा में मालवा की देशज शैली का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

सांची के स्तूप सं० २ में साधारण रीति से वेदिका का प्रदर्शन मिलता है। वेदिका स्तंभ तथा सूची पर गोलाकार फलक
सांची-स्तूप सं० २ में नाना जानवर पक्षी, पुष्प (कमल) तथा शोष्ठी के सिर की आकृतियाँ देख पड़ती हैं। इसमें मुख्य स्तूप की वेदिका से कई अंश में भिन्नता है। मुख्य स्तूप की वेदिका सादे अनलंकृत प्रस्तर के है जहाँ कि उसी स्थान पर स्तूप सं० २ की वेदिका फलक द्वारा अलंकृत है।

इन सभी उत्कीर्ण विषयों के परीक्षण से प्रकट होता है कि सांची की खुदाई में एक व्यक्ति का हाथ न था। प्राचीनता तथा नवीनता का संमिश्रण पाया जाता है। सांची की कला प्राकृतिक रूप में तैयार हुई। कलाकारों ने दक्षता के अनुसार चित्रों की सहज तथा स्वच्छंद बनाया है। कलाकारों ने सत्तार के सभी विषयों को मंग्रह किया है। सांची में मध्य भारतीय जीवन का वास्तविक एवं सुंदर प्रदर्शन है और भरहुत तथा बोधगया से अनवरत् विकास की ओर चलता गया।

शुंगकालीन भरहुत तथा सांची के समकालीन दक्षिण भारत में अनेक स्तूप निर्मित हुए थे। सभी कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित है।

तामिलनाडु प्रदेश के गंटूर जिले के अंतर्गत दक्षिण के अमरावती स्तूप शासक सातवाहन नरेशों के प्रोत्साहन से इन्हे बनाया गया था। कलकत्ता-मद्रास रेलवे के बेजवाडा स्टेशन

से मचेरा होकर वास्तविक स्थान पर पहुँच जाते हैं। वर्तमान समय में सरकार ने पूरे स्थान की खुदाई समाप्त कर ली और स्तूप के विभिन्न भाग पृथक्-पृथक् संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। आंध्रप्रदेश में इसकी पूर्व सदियों में स्तूपों का निर्माण होता रहा। उनमें से अमरावती भट्टिप्रोलू, जगय्यापेट, घटाशाला तथा नागार्जुनी कोडा से संबद्ध हैं, जो बीम मील के क्षेत्र में फैले हैं। इनमें कोई भी सुरक्षित नहीं है। उनके भग्नावशेष उपलब्ध हैं। स्तूप के अंड पर खुद प्रस्तरों पर स्तूप का आकार उत्कीर्ण है, जिससे मूल (स्तूप की) रूपरेखा का ज्ञान हो जाता है। दक्षिण भारत की स्तूप-निर्माण-शैली उत्तरी भारत से भिन्न है। स्तूप का चबूतरा ईंट से बना है। इसमें बाहरी दीवाल तथा नाभि में दूसरी दीवाल निर्मित है। दोनों गोलाकार दीवारों को ईंट की पंक्तियों से कई भागों में विभक्त कर रिक्त स्थानों को मिट्टी से भर दिया गया है। उसके विपरीत मध्यभारत के स्तूप के चबूतरे प्लॉम मिट्टी के बने हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत के स्तूप के आधार की योजना पृथक् रीति पर तैयार की गई थी। चबूतरा तैयार कर अर्द्धगोलाकार भाग निर्मित हुआ। तत्पश्चात् उसे (अंड) सगमरमर के प्रस्तर से आच्छादित कर उत्कीर्ण किया गया। सबसे ऊपरी भाग सफेद सॉचि में ढले प्रस्तर से निर्मित हैं और जो सीमेंट कटान के सदृश रीति से (Stucco) अलंकृत हुए हैं। चबूतरा भी सर्वत्र अच्छी प्रकार खुदा है, जिसमें कोई भी अश अनलंकृत नहीं है। उपामकों के लिए ऐसा सुंदर उत्कीर्ण दृश्य अन्यत्र नहीं मिलेगा। अंड के चारों तरफ एक गोलाकार सीढ़ी थी, जिसके देखने से स्तूप की ऊँचाई का

अनुमान किया जा सकता है। उसी से संबद्ध चारों दिशाओं में चौकोर प्रक्षेपण (Projection) तैयार किया गया है। उस प्रक्षेपण की दोनों भुजाओं में ऊपरी प्रदक्षिणापथ के लिए मार्ग भी है। उस निकले हुए भाग के चबूतरे-नुमा अंश पर पाँच पतले स्तंभ खड़े दीख पड़ते हैं, जिन्हें 'आयक-स्तंभ' (श्रद्धास्पद स्तंभ) कहा गया है। इस तरह के आयक-स्तंभ की स्थिति अन्य किसी भारतीय स्तूप में दीख नहीं पड़ती। अमरावती की दूसरी विशेषता यह है कि स्तूप का प्रत्येक भाग संपूर्ण वेष्टनी, तोरण तथा अंड भली-भाँति अलंकृत है। भारतीय स्तूप के हर एक भाग की ऊँचाई की ओर कलाकारों का ध्यान केंद्रित था, अतएव स्तूप की ऊँचाई दिनोदिन बढ़ती गई। चीनी यात्रियों ने इन्हें टावर (गुंबज) कह कर उल्लेख किया है। बृहत्तर भारत में तो अत्यधिक ऊँचाई दीख पड़ती है। अतएव, नेपाल तथा वर्मा आदि देशों में क्रमशः स्वयंभूनाथ एवं मिगलाजेदी पगोदा इतने ऊँचे हैं, मानो आकाश छू रहे हों। अर्द्धगोलाकार ने भी मीनारनुमा आकार ग्रहण कर लिया है और वास्तविकता का महत्त्व नष्ट होता गया।

दक्षिण भारत के स्तूप ईसा पूर्व द्वितीय सदी में आरंभ हुए थे। उस स्थान के लेख से अमरावती स्तूप की प्राचीनता का ज्ञान हो जाता है। संभवतः अठारहवीं सदी तक स्तूप-पूजा का क्रम चलता रहा। जनता आदरपूर्वक श्रद्धा अर्पित करती थी। दक्षिण में योरोप के निवासियों ने इसे नष्ट कर दिया, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। स्तूपों की जटिलता के कारण इन्हें महास्तूप या महाचैत्य कहा गया है।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में अमरावती क्षेत्र में स्तूप का निर्माण आरंभ हुआ। अतः, शुंगकालीन हीनयान प्रतीकों का सुंदर प्रदर्शन मिलता है।

भगवान् बुद्ध के जन्म-प्रतीक हाथी को जिस रूप में हीनयान एवं महायान यहाँ उत्कीर्ण किया गया है, वैसा अन्यत्र अज्ञात है।

प्रदर्शन उस प्रदर्शन में एक प्रस्तर को तीन विभागों में बाँटा गया है। एक भाग में बोधिसत्त्व से प्रार्थना की जा रही है कि वे अवतरित हो। मध्यभाग में रथ पर हाथी को बाजे सहित ले जा रहे हैं। तीसरे में माया देवी का सपना। हाथी की आकृति सिरे पर। इसके अतिरिक्त वृक्ष की पूजा दिखलाई गई है। अतीव सुंदर कला-कौशलपूर्ण स्तंभ पर चक्र को स्थान दिया गया है। उसी प्रकार वेदिका-स्तंभ पर स्तूप का रूपचित्र दीख पड़ता है। अमरावती में संपूर्ण स्तूप को अनेक स्थानों पर प्रस्तर में खोदकर मूल स्तूप का आकार सामने उपस्थित किया गया

है। इन चार प्रधान प्रतीकों (हाथी, वृक्ष, चक्र तथा स्तूप) के अतिरिक्त भगवान् के पदचिह्न को सुंदर रीति से उत्कीर्ण किया गया है। कई स्थानों पर विस्तृत रूप से भगवान् के भिक्षापात्र को जुलूस के साथ प्रदर्शित देखते हैं। मध्य में भिक्षा पात्र को टोकरी में रख कर एक मनुष्य जुलूस में समूह के साथ जा रहा है। ऐसे पारिभोगिक स्तूप का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

अमरावती स्तूप का अलंकरण कई सदियों तक चलता रहा। इसी सन् के पश्चात् वेदिका उत्कीर्ण की गई। उत्तर से दक्षिण भारत का संबंध बना रहा, इस कारण मध्य भारत एवं मथुरा की कला अमरावती को प्रभावित कर सकी। कनिष्क के शासन (इसवी सन्) में महायान का शुभारंभ हो गया था, इस कारण बुद्ध की प्रतिमाएँ बनने लगीं। अतएव प्रतीक को छोड़कर उसी स्थान पर बुद्धमूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हुईं। प्रस्तर पर अनेक घटनाएँ प्रतिमा सहित प्रदर्शित हैं। माया देवी वृक्ष के सहारे खड़ी है और गौतम शिशु के रूप में देवी की दाहिनी ओर से फिसलते दीख पड़ता है। दाम-दासियाँ तथा देवतागण उस अवसर पर विद्यमान हैं। शिशु के भविष्य के विषय में शुद्धोधन दरबार में विचार कर रहे हैं जो प्रदर्शित है। सिद्धार्थ गौतम कपिलवस्तु छोड़कर वन में चले जाते हैं। इसे महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है। इस घटना में सिद्धार्थ को घोड़े पर सवार दिखाया है और चक्रवर्ती होने के नाते उसके मित्र पर छत्र विराजमान है।

एक ही प्रस्तर पर लबवन् चार घटनाएँ खुदी हैं। जन्म, महाभिनिष्क्रमण ज्ञानउपदेश करते बुद्ध प्रदर्शित है तथा उस प्रस्तर के सिरे पर स्तूप की आकृति है। इस प्रकार हीनयान के प्रतीक तथा महायान की बुद्ध-प्रतिमा का सामंजस्य प्रकट होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दक्षिण भारत के स्तूपों के अलंकरण में प्रतीकों की बहुलता नहीं है। जातकों के प्रदर्शन का अभाव-सा है। जीवन-घटनाएँ प्रतीक तथा प्रतिमा द्वारा दिखलाई गई हैं। स्तूप के चबूतरे पर बड़ी बुद्ध-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

दक्षिण भारत में स्तूप-निर्माण के अनेक युगों में कला की प्रधानता है। सभी एक युग अथवा एक साथ निर्मित नहीं हुए। ईसा पूर्व सदियों में स्तूप को ईंट से तैयार किया गया था, परंतु क्रमशः संगमरमर के प्रस्तर से अंड को आच्छादित किया गया। यही कारण है कि अंड का संपूर्ण भाग अलंकृत हो

सका। ईंट पर खुदाई का कार्य संभव न था, किंतु संगमरमर के आधार मरमर के कारण उन प्रस्तर-खंडों को सुंदर रीति से उत्कीर्ण करने में कलाकारों ने अपनी कुशलता दिखलाई।

स्तूप के पश्चात् वेष्टनी की गणना होती है। अमरावती के चबूतरे के बाहर निकले चौकोर भाग (प्रक्षेपण) पर चारो दिशाओ में आयक-स्तंभ खड़े हैं। आयक-स्तंभ कालांतर में जोड़े गए थे। मूल स्तूप के भाग नहीं प्रकट होते। दक्षिण भारत के भट्टप्रोलु के स्तूप में आयक-स्तंभ का अभाव है। आयक-स्तंभ नीचे चौकोर हैं, मध्य में अष्टकोण सहित तथा सिरे पर गोलाकार हैं। पचास फीट ऊँची अंड को ढँकने के लिए इनका निर्माण हुआ था। आयक चबूतरे को भी भली-भाँति अलंकृत किया गया है। साची-वेदिका की तरह दक्षिण में भी स्तूप की वेष्टनियाँ काष्ठ की बनी थी। उनके स्थान पर स्थायी रूप में प्रस्तर की वेदिका तैयार की गई। वेदिका के तीनों अंशों—स्तंभ, सूची तथा उष्णीस को कलाकारों ने अत्यंत कलापूर्ण एवं सुंदर ढंग से सजाया है, जो देखते बनता है। स्तंभों पर प्रतीकों का प्रदर्शन है, विभिन्न आकार की बुद्ध-प्रतिमाएँ तथा उपासकों का झुंड प्रदर्शित है। सूचियों पर गोलाकार फलक कमल पुष्प के रूपचित्र से भरे हैं। उष्णीस-लता-पत्र-पुष्प के प्रवाहित लहरो तालवद्ध हिलो से मुशोभित हो रहे हैं। दक्षिण के कलाकार मध्य भारत या मथुरा की शैली में प्रभावित हुए थे। अतएव, अमरावती के भूभाग में उत्पन्न कला एकांगी या एकाकी नहीं है, अपितु संबंधित है तथा पृथक् भावना का अभाव है।

अमरावती के भूभाग में जो कलात्मक उन्नति दीख पड़ती है, उसका अमरावती का विकास कई सदियों में हुआ। उसके चार काल-विभाग क्रमिक विकास किए जाते हैं—

(१) ईसवी पूर्व २००-१००

इस युग की कला में मध्य भारत का प्रभाव स्पष्ट है। भरहुत की योजना को लेकर दक्षिण में स्तूप निर्मित हुए। इस युग में जितने यक्ष-यक्षिणी का प्रदर्शन है, सभी के चेहरे स्फुटिरहित हैं। ओठ मोटे हैं। शरीर चिपटे ढंग का है, रुपड़े जाध तक शरीर को ढके हैं। यक्षिणी श्रीमा देवता (नामोल्लेख नहीं है) वामन के पीठ पर खड़ी है।

(२) पहली सदी

इस काल में महायान मत का उदय हो गया था। अतएव, दूसरी सीढ़ी पर बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण पाते हैं। इसमें मथुरा के मासल शरीर तथा विशालकाय बुद्ध मूर्ति की समानता प्रकट होती है।

(३) ई० स० १५० तक

अमरावती-वेदिका पर सातवहन नरेश पुलमावि (१५० ई०) यज्ञ श्री सातकर्णि (१०० ई०) तथा शिवमक सातकर्णि के नाम लेखों में उत्कीर्ण हैं।

अतएव, वह कलात्मक कृति दूसरी शताब्दी की मानी गई है। इस समय वेदिका सुसंगठित हुई। सुंदर रीति से उत्कीर्ण की गई। सातवाहन युग की कला चरम सीमा को प्राप्त कर ली। वेदिका पर गहराई (Low Relief) में खोद कर मनुष्य का आकार तैयार किया गया। इसमें मानव की मानसिक भावनाओं का परिज्ञान हो जाता है। दूसरी सदी की कलाकृति सर्वोत्कृष्ट समझी गई है।

(४) २००-२५० ई० तक

इस काल में मनुष्य की आकृति पतला तथा कद लंबा दीख पड़ता है। अंड के आच्छादित प्रस्तरों पर खुदाई इसी युग में हुई। मानव-आकृति में वस्त्राभूषण की सजावट अद्वितीय है। मोती के आभूषण तथा मोतियों के यज्ञोपवीत आना सानी नहीं रखता। अमरावती के निर्माण तथा अलंकरण ईसा पूर्व २०० से आरंभ होकर दूसरी शती (ई० स० २००) में चरम सीमा को पहुँच जाते हैं। नागार्जुनी तथा अमरावती समकालीन हैं। इक्ष्वाकु नरेश के समय-स्तूप का संस्कार कर आयक-स्तंभ को जोड़ दिया गया। नागार्जुनी की कला पर अमरावती ने पर्याप्त उत्पत्ति की। सातवाहन युग के सर्वोत्कृष्ट कला का नमूना अमरावती-वेदिका पर दीख पड़ता है। अमरावती में गहरे कटान द्वारा सान्ची की समानता प्रकट होती है। जगदय्यपेट की खुदाई (ई० पू० २००) भी दर्शकों को आकृष्ट करती है। इस प्रकार कृष्णा नदी के किनारे जितनी कलाकृतियों के आधार उपलब्ध हुए हैं, उनमें अमरावती के अंड तथा वेदिका पर उत्कीर्ण नमूने सर्वांगीण सुंदर तथा सर्वोत्तम हैं।

यह कहा जा चुका है कि अमरावती तथा उसके समकालीन स्तूपों का निर्माण तथा तत्संबंधी अलंकरण हीनयान एवं महायान युग की देन है।

अतएव, भगवान् के प्रतीक एवं भगवान्-प्रतिमा (बुद्धमूर्ति) स्थान-स्थान पर उत्कीर्ण दीख पड़ती है। वेदिका-स्तंभों पर यक्ष-यक्षिणी के रूपचित्र खुदे हैं तथा अलंकृत आधार पर स्तूप, वृक्ष एवं चक्र उत्कीर्ण हुए थे।



सप्तम् अध्याय

भारत में स्तूप-निर्माण एवं इतिहास

यह पुनरावृत्ति मात्र होगी कि भारतीय इतिहास में जिन स्तूपों का वर्णन है या अद्यावधि वर्तमान है, उनका संबंध बौद्ध धर्म से है। यह कहना सर्वथा सत्य है कि वास्तुकला में स्तूप बौद्धों की देन है। पुरातत्व की खुदाई से जितने भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, सभी बुद्ध-युग के पूर्व के नहीं हैं। गत पृष्ठों में इस विषय की चर्चा की गई है कि बौद्ध-युग में वैदिक परंपरा का अनुकरण किया गया था। ब्राह्मण ग्रंथों (शतपथ ब्रा० १८/८/१) में कब्र का विवरण उपलब्ध है। कात्यायन श्रौत सूत्र (२१/४/१३) में चक्रवर्ती लोगों के स्मारक का विवरण आया है। अपरांक में भी ब्रह्मपुराण के आधार पर भस्म को एकत्रित कर भस्मकलश (Urn) में रखने की चर्चा है। कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिककालीन परंपरा ही बौद्ध स्तूपों में परिलक्षित है। भगवान् बुद्ध को चक्रवर्ती तथा महान् योगी के रूप में सर्वत्र दिखलाया गया है। अतएव, चक्रवर्ती के स्वरूप को सामने लाकर भस्म-पात्र के ऊपर स्तूप तैयार किए गए। उसमें अधिक हरमिका के मध्य से जो छत्रयष्टि निकलती है, उसके सिरे पर चार, आठ, नौ या ग्यारह, तेरह छत्र दीख पड़ते हैं। यह भावना साची तोरण के शहतीरो पर प्रदर्शित जातक प्रदर्शन में भी दीख पड़ती है। महाभिनिष्क्रमण के घोड़े के सिरे पर छत्र, षड्दंत हाथी के सिरे पर छत्र, भस्म-पात्र के ऊपर छत्र आदि प्रदर्शनों में बुद्ध को चक्रवर्ती समझा गया है। महायोगी के रूप में भी भगवान् बुद्ध को कई स्थानों पर दिखाया गया है। तपस्या करते बुद्ध के शरीर का अस्थिपंजर सहित प्रतिमा गांधार में बनाई गई थी। अजंता चित्रों में महायोगी बुद्ध उपदेश करते चित्रित हैं। कलाकारों ने चक्रवर्ती के स्वरूप को अधिक प्रदर्शित किया। स्तूप की परंपरा को वर्तमान काल में भी भग्नावशेष तथा कई खड़े स्तूप या पूजानिमित्त स्तूप के रूप में देखते हैं।

वैदिककालीन स्मारक के रूप में लौरिया नंदन के स्तूप का नामोल्लेख किया जा सकता है। साहित्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने अपने केस को तपुस तथा भलिक नामक व्यापारियों को दे दिया था, जिसके ऊपर उन्होंने उड़ीसा में स्मारक बनवाया था। बुद्ध के भस्म (शरीर) से

संबंधित स्मारक बनाने के लिए महापरिनिर्वाण के पश्चात् राजवंशों में युद्ध भी हुआ और अंत में आठ वंशों में उस राख का बँटवारा किया गया। उसी का प्रदर्शन साची तोरण के शहतीर-पर किया गया है। बुद्ध की तैयारी तथा संघि के फलस्वरूप आठ हाथियों के मस्तक पर भस्मकलश है। प्रत्येक भस्मपात्र के ऊपर छत्र दीख पड़ता है। अतएव, उसे चक्रवर्ती बुद्ध का शरीर ही माना जा सकता है। उन राजाओं ने आठ स्तूपों का निर्माण किया होगा, इसमें सदेह नहीं। किंतु, पुरातत्व की खुदाई से वैशाली का स्तूप ही प्रकाश में आया है।

पारिभोगिक धातु के सबंध में दो शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा। बौद्ध चीनी यात्रियों ने उनकी चर्चा की है। फाहियान ने बुद्ध के भिक्षापात्र का वर्णन किया है। ह्वेनसांग ने भगवान् के चूड़ा का वर्णन किया है। अमरावती स्तूप के अलंकरण में भिक्षापात्र तथा चूड़ा-पूजा के दृश्य दीख पड़ते हैं। पारिभोगिक स्तूप का ऐसा उदाहरण कम मिलता है। सिंहल के दीप-वंश में पारिभोगिक स्मृतिचिह्न (Relic) का वर्णन आया है। सभी स्तूपों में स्मृतिचिह्न नहीं पाए जाते। कुछ भगवान् की यात्रा की यादगार में निर्मित है। बुद्ध ने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र) सारनाथ में दिया था, जहाँ पाँच सौ प्रत्येक बुद्ध को निर्वाण मिला था। उसी स्थान पर दो स्तूप और तैयार किए थे, जिनके अवशेष नहीं मिले हैं।

ईसा पूर्व पाँचवीं सदी में पिपरावा (बस्ती, उत्तर प्रदेश) नामक स्थान पर स्तूप तैयार किया गया था, जो ईंट का बना है। उससे संबंधित कलश (भस्मकलश) पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

सुकृति भवित सभगिनिक

सपुतबलनं इयं सलिल निधने

बुधस भगवते सकियानं ।

सुकृति एवं भवित नामक व्यक्तियों ने स्त्री-पुत्रों के साथ भगवान् बुद्ध के शारीरिक स्मृतिचिह्न के पात्र को (दान दिया)। लेखन शैली के अनुसार विदित होता है कि इस स्तूप का निर्माण अशोकपूर्व काल में हुआ होगा। ह्वेनसांग के कथनानुसार अशोक ने पूर्व स्तूपों से धातु को निकाल कर चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण किया तथा पूजा का प्रचलन किया। इस कारण स्तूप का निर्माण बौद्ध धर्म में संबंधित है, इसमें सदेह नहीं। अशोक ने दो स्थानों पर स्तूप निर्मित किए।

१. बुद्ध के जीवन-संबंधी स्थान और

२. बुद्ध धर्म से संबंधित स्थान (जहाँ बुद्ध ने स्वयं यात्रा नहीं की) ।

भगवान् बुद्ध ने स्वयं आनंद से कहा था कि स्तूप का निर्माण चौराहे (चातुमहापथे) पर होता चाहिए। इसी कारण अशोक के समय में दोनो प्रकार के स्थानों को चुना गया और स्तूप निर्मित हुए। अशोक के शासनकाल में स्तूप-निर्माण का कार्य अत्यधिक स्थानों या सड़िया में संपन्न हुआ था। सारनाथ, नालंदा, सकिशा, राजगृह, श्रावस्ती, बोधगया एवं वैशाली आदि स्थानों में भगवान् ने वर्षावास किया तथा उपदेश देते रहे। अतः, इन स्थानों पर स्तूप का निर्माण उचित ही था। तक्षशिला, भरहुत, सांची, अमरावती आदि ऐसे स्थान हैं, जहाँ बुद्ध स्वयं न जा सके और न उन स्थानों का सीधा वार्षिक महत्त्व था। परंतु चौराहे, पर स्थित होने के कारण एवं राजमार्ग की प्रधानता के कारण अशोक ने वहाँ स्तूप बनवाया। भारत में सम्भवतः पारिभोगिक स्तूपों का महत्त्व न रहा होगा। अतएव, स्मृतिचिह्न (धातु) पर ही स्मारक बनाए गए।

मौर्यकाल से पूर्व जिन प्राठ नरेशों ने भस्म का बँटवारा किया था, उनके स्तूपों का वास्तविक रूप में ज्ञान नहीं है। राजगृह के स्तूप को अजातशत्रु ने तैयार किया। मनियार मठ का स्तूप कालांतर में निर्मित हुआ था। मनियार नाम स्तूप के बाहरी भाग पर सीमेंट (Stucco) के सहारे छोटी मूर्तियाँ बनाई गई थी, जिनके स्थान का अंदाजा लगाया जाता है। प्लास्टर या सीमेंट की बनी प्रतिमाएँ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कपिलवस्तु या कुशीनगर के प्राचीनतम स्तूपों के भग्नावशेष प्रकाश में नहीं आए हैं। जो स्तूप के आकार के हैं, उनका ईसा पूर्व छठी सदी में निर्मित मानना संदेहात्मक है। इस तरह पिण्डिका को छोड़ कर अशोक से पूर्व निर्मित स्तूप की स्थिति में संदेह होता है।

अशोक ने स्तूप-पूजा के निमित्त हजारों स्तूपों को तैयार कराया, जिनके संबंध में पूरी जानकारी नहीं है। तक्षशिला तथा सारनाथ में बड़े विनाल स्तूप बनवाए गए जिन्हें धर्मराजिका कहते हैं। उनके भग्नावशेष के देखने से विस्तृत आकार का ज्ञान हो जाता है। सारनाथ स्तूप-धर्मराजिका के चारों तरफ छोटे-छोटे पूजा निमित्त (Votive Stupa) स्तूप बनाए गए थे, जो अधिकतर भग्नावस्था में हैं। उसी के समीप अशोक का स्तंभ-लेख खड़ा है, जिसके अधोभाग पर उत्कीर्ण धर्मशासन आज विद्यमान है। मूलगंध कुटी

विहार के समीप धमेक स्तूप खड़ा है, जो ईंट का बना है। चालीस फीट तक धमेक का बाहरी आकार प्रस्तर से आच्छादित किया गया है। उस भाग के प्रस्तर विभिन्न आकार के ज्यामिति के कटान से सुशोभित है। उसके ऊपर एक सौदश फीट तक सादी ईंट दीख पड़ती है। धर्मराजिका के विषय में यह कहा गया है कि काशीनरेश राजा चेतसिंह ने उसके ईंटों या प्रस्तरों को हटा दिया, जिससे स्तूप नष्ट हो गया। धर्मराजिका स्तूप एक दूसरे के ऊपर क्रमशः छह बार आच्छादित किया गया था। तक्षशिला तो चौराहे पर स्थित होने के कारण यात्रियों को आकृष्ट कर सका। सारनाथ में भगवान् ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था, अतएव मूलगघ्र कुटी के समीप, धर्मराजिका स्तूप का निर्माण यथोचित था। भरहुत तथा साची के स्थानों के महत्त्व को समझ कर एवं राजमार्ग में स्थित होने के कारण अशोक ने स्तूप तैयार करवाया, जिनके पूर्वरूप का अनुमान मात्र कर सकते हैं। ईंट के स्तूप को शुंगकाल में प्रस्तर से आच्छादित किया गया, जिनका वर्णन किया जा चुका है। साची के तीनों स्तूपों को अशोक ने तैयार किया या नहीं, यह अंतिम रूप से नहीं कहा जा सकता, किंतु मुख्य स्तूप तथा समीप में स्तम्भ के संबंध में संदेह नहीं किया जा सकता। साची का महत्त्व तो गुप्तकाल तक बना रहा, परंतु भरहुत का अंत शुंगकाल के पश्चात् अवश्य हो गया। सकिमा तथा श्रावस्ती के स्तूपों को किसने तैयार कराया, यह अज्ञात है। बुद्ध के जीवन से इन स्थानों का संबंध था। सकिमा में भगवान् स्वर्ग में मायादेवी को बुद्धधर्म का उपदेश देकर अवतरित हुए थे। श्रावस्ती जाने के लिए अनाथपीठिक को बुद्ध का आदेश हो गया। वहाँ कई वर्षावास व्यतीत किए। जेतवन विहार में निवास किया तथा धर्म का उपदेश देते रहे। नालंदा के मूल स्तूप का निर्माण अशोक ने अवश्य किया था। वहाँ भगवान् निवास करते रहे। किंतु, वह स्तूप कई बार नष्ट हुआ तथा उसका जीर्णोद्धार किया गया। अंतिम स्वरूप पालयुगी समझा जाता है।

दक्षिण भारत में तामिलनाडु प्रदेश के गन्टूर जिले में सभी स्तूप ईसवी पूर्व पहली शती से तीसरी शती ई० तक निर्मित हुए थे। उन पर प्रदर्शित हीनयान मत के कतिपय प्रतीक इस कथन को प्रमाणित करते हैं। महायान-संबंधी प्रतिमाएँ भी दीख पड़ती हैं। आंध्र प्रदेश में कृष्णा नदी के किनारे इन स्तूपों की स्थिति से अनुमान लगाया जा सकता है कि सातवाहन नरेशों ने स्तूप-निर्माण को प्रोत्साहित किया था। स्तूपों पर आच्छादन, आयक-स्तम्भों का निर्माण तथा अन्य अलंकरण साधन ईसवी सन् के पश्चात् तैयार

हुए। इस प्रकार कई सदियों तक आंध्र प्रदेश में यह कार्य चलता रहा। अमरावती, जग्गयपेठ, घंटशाला, भट्टप्रोलू स्तूपों का बुद्ध धर्म की प्रगति का द्योतक है। जग्गयपेठ तथा अमरावती की कला में समानता है और यह भी सुझाव रखा गया है कि वह अमरावती से पूर्व निर्मित हुआ। दोनों में तीस मील का अंतर है। इनकी वेदिकाएँ तथा अंड पर सगमरमर को हटा कर स्मारक को नष्ट कर दिया गया। उनके अवशेष मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित हैं। मछलीपट्टम से बीस मील दूर घंटशाला स्तूप बना था। इसके टीले का सर्वेक्षण यह बतनाता है कि छप्पन फीट गोलाकार दीवाल जो अंतर-रेखा से संबंधित थी, उसका चबूतरे की ही दीवाल है।

दूसरी शती ईसवी पूर्व में स्तूपों को स्थायी रखने की योजना कार्या-वित की गई। यद्यपि शुंगनरेश बौद्धमतानुयायी न थे, किंतु उन्होंने किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न की। भरहुत तथा सांची के स्तूपों पर प्रस्तर का अच्छादन दिया गया। काष्ठ की बेष्टनी प्रस्तर की बनाई गई और उसे सुंदर रीति से अलंकृत किया गया। पहली सदी से स्तूप-निर्माण का अभ्युदय दिखलाई पड़ता है। कुषाण राजा कनिष्क ने बौद्ध होने के कारण कई स्तूप बनवाए। ह्वेनसांग ने उल्लेख किया है कि पेशावर में कनिष्क द्वारा ४०० फीट ऊँचा स्तूप बनाया गया, जिसकी वेदि १५० फीट ऊँची थी। आज उस स्तूप का पता नहीं है। उसके समीप अन्य स्तूप थे। संभवतः राजाश्रय पाकर गंगा की घाटी से हटकर उत्तर-पश्चिम भारत तथा अफगानिस्तान में स्तूप बनाए गए। वे सभी भाग कनिष्क के राज्य में संमिलित थे। मानिबयाला के भूभाग में अनेक स्तूप बने थे। कनिष्क के विस्तृत साम्राज्य में बल्ख एवं खोतान (मध्य एशिया) तक स्तूपों का जाल बिछा था। चीनी यात्रियों ने सैकड़ों विहारों का उल्लेख किया है जो उत्तर-पश्चिम एवं काबुल तक फैले थे। योरोप के विद्वानों ने गांधार तथा जलालाबाद के क्षेत्र में सर्वेक्षण कर सैकड़ों स्तूपों का पता लगाया है। इन स्तूपों का रूप उत्तरी भारत के स्तूपों से अधिक मिलता है। प्रायः सब वर्गाकार चबूतरे पर बने हैं। वही से स्मारक का ऊपरी आकार प्रारंभ होता है। स्तूप के अंड का भाग संपूर्ण रूप में नहीं मिलता। भग्नावशेष से प्रकट होता है कि उनका अंड अर्द्धगोलाकार या नुकीला था। किसी में गुंबज के मध्य में ऊँचा स्थान बना था। खैबर के भूभाग में भी छोटी पहाड़ी के ऊपर बौद्ध-स्मारकों की ढेर है, किंतु उनके आधार के अतिरिक्त अन्य भागों का पता नहीं है। उन स्तूपों के चबूतरे पर सीमेट (Stucco) के रूपचित्र बने हैं। चबू-

तरा ताख से भरा पड़ा है और उसी में धार्मिक मूर्तियाँ रखी हैं, जो प्लास्टर की बनी हैं।

गांधार का सर्वप्रसिद्ध स्तूप मानिक्याला के नाम से प्रसिद्ध है, जो रावल-पिंडी से बीस मील दूर है। इस स्थान पर एक लेख उपलब्ध हुआ है, जो कनिष्क के १८ वें (वर्ष) तिथि का है। अभिलेख निम्न प्रकार है—

सं० १० + ४ + ४ कर्तियस मसम दिवसे २० एत पुर्वए महरजस कणे-
ष्कस्य गुषण वश मवर्धक लल दंडणयगो वेश्पणिस क्षत्रपस होरमुर्तो सनस
अपनगे बिहरे होरमुर्तो एत्रणण भगव बुद्ध झुव (थुव = स्तूप) प्रतिस्तवयति।
महाराज कनिष्क के १८ वे वर्ष में कार्तिक मास शुक्ल पंचमी (२० वें दिन)
पूर्वा तिथि के अवसर कुषाण वंश की सवृद्धि के निमित्त ललनायक दडनायक
(पदाधिकारी), वेश्य क्षत्रप (गवर्नर) होरमुर्ति (दानपति) ने अपने विहार के
समीप भगवान् बुद्ध के स्तूपों को स्थापित किया।

इस स्तूप के खोदने पर एक भस्मकलश (भस्मचिह्न) मिला, जिसके मध्य में कई सिक्के तथा मोतियाँ एक सोने के पात्र में रखे थे। वह स्वर्णपात्र चाँदी तथा चाँदी का पात्र ताँबे के बरतन में रखा था। वह ढक्कन से बंद पाया गया था तथा जमीन की सतह से दस फीट ऊँचे पर प्राप्त हुआ था।

मानिक्याला स्तूप का चबूतरा गोल है तथा उस पर अर्द्धगोलाकार गुंबज (अंड) है। वह १२७ फीट व्यास तथा ४०० फीट क्षेत्रफल में विस्तृत है। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम में भारत में अनगिनत स्तूप बनाए गए, जिनका एक मात्र उद्देश्य पूजा ही रहा होगा। उत्तर भारत के स्तूपों में इनमें अधिक अंतर रहा। उनमें अलंकरण का नाम ही था। आधार पर प्लास्टर की बनी मूर्तियाँ कहीं-कहीं मिलती हैं अन्यथा और सभी स्थानों पर अलंकरण का अभाव है। वेष्टनी बनाने की परिपाटी अज्ञात थी। स्तूपों के साथ महा-विहार का होना इस प्रदेश की विशेषता है। सभी स्तूप प्रस्तर के बने हैं; क्योंकि वह सामग्री सुलभ थी। संक्षेप में यह कहना आवश्यक है कि बौद्धनरेश कनिष्क का प्रश्रय पाकर उत्तर-पश्चिम भारत में स्तूप बने, जिनमें गांधार शैली विशेषकर प्लास्टर प्रतिमा (Stucco Figures) स्पष्ट है। तक्षशिला का धर्मराजिका मानिक्याला के अतिरिक्त सभी स्तूप ढोल आकार के हैं। पाँचवी-छठी शती तक सिंध प्रदेश में भी अनेक स्तूप निर्मित हुए। ईंट का अधिकतर प्रयोग किया गया है। मीरपुर खास का स्तूप गुप्त कला से प्रभावित है।

भारत में चौथी सदी से गुप्तवंश का उत्थान हुआ, किंतु गुप्तनरेश परम वैष्णव थे । उनके राज्यकाल में सारनाथ, श्रावस्ती तथा कसिया में स्तूप बनाए गए । इनमें प्राचीन परिपाटी का निर्वाह नहीं दीख पड़ता । इनमें क्रमशः ऊपर-ऊपर कई चबूतरे की स्थिति है तथा अंड ढोल आकार के हैं । उत्तर गुप्तकाल में स्तूप-पूजा पर बौद्धनरेशों की आस्था कम हो गई । महायान मत में हजारों बुद्ध-प्रतिमाएँ बनीं, जिनका एक लक्ष्य था—पूजा । अतः, प्रतिमा-स्थापना को अधिक महत्त्व दिया गया । पूर्वी भारत के पालनरेश परम सौगत होते हुए भी स्तूप-निर्माण की ओर आकर्षित न हुए । उनके शासन में स्तूप का जीर्णोद्धार अवश्य हुआ । नालंदा के मूल स्तूप का कई बार संस्कार किया गया था । पालयुग में भी उसकी वृद्धि हुई । वर्तमान खुदाई से पाँच बार तक उसकी मरम्मत एवं वृद्धि का अनुमान लगाया जाता है । उसके चारों-तरफ पूजा-स्तूप (Votive Stupa) निर्मित हैं । मूल स्तूप अशोक ने बनवाया था । अंतिम संस्कार पालयुग में हुआ । अंतिम स्तूप की दीवाल पर प्लास्टर में तैयार प्रतिमाएँ ताख पर स्थित हैं । भागलपुर जिले में अतिचक स्थान से एक विशाल स्तूप का आकार प्रकाश में आया है । उस स्थान को विक्रमशिला से एकीकरण करते हैं । इसे पालराजा धर्मपाल ने तैयार किया । स्तूप की बाहरी दीवाल पर से मिट्टी के ठीकड़े (Plaques) संबद्ध हैं । उन पर नाना प्रकार के रूपचित्र मिले हैं । इसकी पहाड़ पुर (उत्तरी बंगाल, राजशाही) के स्तूप से समता कर सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तर गुप्तकाल से स्तूप-निर्माण का कार्य समाप्त प्रायः हो गए । स्थान-स्थान पर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की गई । विहार में ही पूजागृह बन गए । भिक्षु या उपासक पूजा के लिए बाहर कहीं नहीं जाते । इस प्रकार पाँचवी सदी से स्तूप-निर्माण-कार्य का ह्रास होने लगा ।



अष्टम् अध्याय

कतिपय स्तूपों के भग्नावशेष

वाराणसी के समीप सारनाथ नामक प्राचीन स्थान है, जहाँ भगवान् बुद्ध ने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र परिवर्तन) किया था। प्राचीनतम सारनाथ नाम मृगदाव था, जहाँ काशीनरेश ब्रह्मदत्त शिकार खेलने जाया करता था। जातक में वर्णन है कि एक समय बुद्ध बोधिसत्व का जन्म ग्रहण कर सारंगनाथ स्वरूप में मृगदाव में विचरण कर रहे थे। उन्होंने काशीराज को अहिंसा की शिक्षा दी। इसी कारण सारंगनाथ के स्थान को वर्तमान काल में सारनाथ के नाम से पुकारते हैं। बोधगया में बुद्धत्व-प्राप्ति के पश्चात् भगवान् बुद्ध सोच रहे थे कि प्रथम धर्मचक्र कहाँ आरम्भ किया जाय। तपस्या करते समय उरुबेला में बोधगया के समीप गौतम को पाँच भिक्षुओं से भेंट हुई थी। सभी घोर तपस्या में लीन थे। कुछ समय पश्चात् जब सिद्धार्थ गौतम को ज्ञान न हुआ, तो उन्होंने तपस्या को निरर्थक घोषित किया। उनके सहयोगी पाँच साधु गौतम को संस्काररहित मान कर उरुबेला से हट कर मृगदाव (सारनाथ) चले आए थे। बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् बुद्ध को अतर्जान हुआ कि पूर्व परिचित साधुगण मृगदाव में तपस्या में लीन हैं। इसी कारण यह सोचा कि सर्वप्रथम उपदेश उन्हीं पाँचों को दिया जाए। इसी उद्देश्य से बुद्ध बोधगया में मृगदाव (१३० मील दूर) आए और साधुओं को उपदेश दिया। यह ऐतिहासिक घटना सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमा में दर्शाया गया है। बुद्ध ध्यान में मग्न धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा में वज्रामन मारे बैठे हैं। प्रतिमा की चौकी पर केन्द्र में चक्र की आकृति है तथा दोनों तरफ दो मृग आकृतियाँ खुदी हैं। यह मृगदाव का प्रतीक है तथा प्रथम उपदेश करती हुई प्रतिमा तैयार की गई है। उसी चौकी पर पाँच साधुओं की भी आकृतियाँ हैं, जो उस घटना को पुष्ट करती हैं कि उरुबेला के निवासी पाँच साधुगण को बुद्ध मृगदाव में उपदेश दे रहे हैं।

सारनाथ की प्राचीनता को ध्यान में रख कर अशोक ने वहाँ स्तूप-निर्माण किया था। ईसा पूर्व तीसरी सदी से बारहवीं सदी तक सारनाथ महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। अतएव, स्थान के महत्त्व के कारण प्राचीन भारत के शासकों ने

कुछ-न-कुछ भवन का निर्माण कर इसे ऐतिहासिक प्रमुखता दी । अशोक द्वारा निर्मित तीन स्तूप वर्तमान हैं—

- (१) चौखंडी
- (२) धमेक स्तूप तथा
- (३) धर्मराजिका ।

सारनाथ जाते समय मार्ग में ही चौखंडी नामक स्तूप का भग्नावशेष दीख पड़ता है । ऊँचे टीले पर आठ कोण की ईंट की (स्तूप) इमारत है । इसकी विशालता को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि यह विशाल स्तूप का खंडहर है । संभवतः धमेक स्तूप की तरह इसका आकार था । यह जमीन से ८४ फीट ऊँचा है । इस स्तूप के केन्द्र में कनिष्क ने अवशेष ढूँढ़ने के निमित्त खुदाई की थी, किंतु कुछ उपलब्ध न हो सका । कहा जाता है, उस पर अकबर ने (१६ वीं सदी में) गुंबज बनवाया था । परंतु, इसकी बनावट से स्तूप की तिथि का वास्तविक अंदाजा नहीं लगाया जा सकता । इसी स्थान पर बुद्ध ने पाँच साधुओं को उपदेश दिया था । बौद्ध साहित्य में इसका विवरण मिलता है । सर्वप्रथम बुद्ध को देख कर सभी ने उनका निरादर करना निश्चय किया, परंतु ममीप आते ही पाँचों ने भगवान का स्वागत ही नहीं किया, बल्कि चारों दिशाओं में धर्मप्रचार का संकल्प भी किया ।

धमेक स्तूप उससे कुछ दूरी पर स्थित है, जिसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है । धमेक शब्द ही धर्म का असांस्कृतिक रूप है । किस मतव्य से इसे बनाया गया था, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता । संभवतः इस स्थान से बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि मैत्रेय बुद्ध का जन्म वही होगा । यह १०४ फीट ऊँचा है । सतह में प्रस्तर लगे हैं । स्तूप का निचला भाग मुंदर खुदे प्रस्तरों से आच्छादित है तथा ऊपरी भाग ईंट का है । इस स्थान से प्राप्त अभिलेख से प्रकट होता है कि चौथी सदी में सर्वास्थिवादिन लोगों के हाथों सारनाथ की प्रमुखता रही ।

धर्मराजिका स्तूप के भग्नावशेष अशोक-स्तंभ के समीप ही में दीख पड़ता है । धमेक स्तूप से छोटा इसका आधार न होगा । सौ वर्ष पूर्व यह स्तूप अपने वास्तविक स्थिति में था, किंतु काशीराज के मंत्री जगत सिंह ने अपने स्थान के निर्माण हेतु स्तूप को भग्न कर सारा ईंट-प्रस्तर उठा लिया । इस स्तूप को नष्ट करते समय उन्हें प्रस्तर की बड़ी डिबिया (बाक्स) मिली, जिसमें हरे संगमरमर के पात्र में राख रखी थी । संभवतः वह बुद्ध का अवशेष था । उस भस्मपात्र को गंगा नदी में फेंक दिया गया ।

इस प्रकार मूल्यवान् भस्म का लोप हो गया । इसी प्रकार अनेक स्तूपों की दशा हुई । इससे संबद्ध स्थिरपाल तथा वसन्तपाल के लेख मिले हैं । इस धर्मराजिका स्तूप के चारों तरफ अनेक पूजा-स्तूपों (Votive Stupa) के चतुर्तरे दिखलाई पड़ते हैं जिनसे प्रकट होता है कि मुख्य स्तूप के पार्श्व में मनौती स्तूप बनाए गए थे । चीनी यात्री ह्वेनसांग ने सारनाथ के स्तूपों का वर्णन किया है ।

बौद्ध धर्म के चार तीर्थस्थानों में सारनाथ के पश्चात् कुशीनगर की गिनती होती है । यही भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था । यह स्थान देवरिया जिला (उत्तर प्रदेश) में स्थित है, जो कसिया से एक मील की दूरी पर है । प्राचीन नाम कुशीनगर है जिसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है । बौद्ध मंदिर के पार्श्व में स्तूप है, जिसे 'महापरिनिर्वाण स्तूप' कहते हैं । आनंद ने भगवान् के आग्रह पर निर्वाण के लिए इसे चुना था । इस स्तूप के निर्माता का नाम अज्ञात है । इसका सम्कार विभिन्न समय में होता रहा । पाँचवीं सदी में भी इसकी मरम्मत हुई थी । उसकी खुदाई से एक लेख प्रकाश में आया है, जिसमें यह उल्लिखित है कि हरिबल स्वामी ने इसे दान दिया था । यह ताम्रपत्र परिनिर्वाण स्तूप के भीतर रखा था । संभवतः हरिबल स्वामी ने इसका सम्कार किया । चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस स्तूप को देखा था । यह १६७ फीट ऊँचा है ।

दूसरा स्तूप 'अगार चैत्य' के नाम से प्रसिद्ध है जो परिनिर्वाण स्तूप से तीन मील की दूरी पर है । कहा जाता है कि इसी स्थान पर तथागत (बुद्ध) का शरीर जलाया गया था । इसकी खुदाई में कोई वस्तु प्रकाश में नहीं आई है । दीर्घनिकाय के महापरिनिर्वाण सूत्र में इस सब से विवरण मिलता है कि बुद्ध ने आनंद से मल्ल की नगरी कुशीनगर में चलने के लिए आग्रह किया था । यही आकर बुद्ध को निर्वाण हुआ । उस सूत्र में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है कि भक्त लोगोंने मृत शरीर को कण्डे में लपेट कर चिता पर जलाया ।

उस स्थान पर वर्णन किया गया है कि मगध के राजा अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छिवी, कपिलवस्तु के शाक्य, अलकपूर के बुलि, रामग्राम के कालिय, वेठदीप के ब्राह्मिन, पावा के भक्त लोगोंने भी कुशीनारा के मल्ल राजा से शरीरभस्म का अवशेष माँगा । इस प्रकार कुशीनारा में तथागत के निर्वाण

के पश्चात् राख के बँटवारे से शांति हुई । साची के तोरण पर इसी घटना को प्रदर्शित किया गया है ।

उत्तर प्रदेश के गोडा जिले में वर्तमान सहेत-महेत का पुराना नाम श्रावस्ती था, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मप्रचार के लिए २४ वर्षावास व्यतीत किया । अनाथपीडिक प्रसिद्ध श्रेष्ठी था, जिमने बुद्ध को निमन्त्रण देकर वहाँ बुलाया । यह घटना बोधगया तथा भरहुन की वेदिकाओं पर खुदी है । वहाँ भी स्तूपों के भग्नावशेष मिले हैं । कहा जाता है कि अशोक ने स्तूप बनवाया तथा धातुशरिर भी उसमें रखा था । अनाथपीडिक आराम के पार्श्व में भग्नावशेष स्थित है ।

इस नगर का नाम रामायण तथा महाभारत में भी उल्लिखित है । प्राचीन समय में यह बौद्धों का भी प्रधान केंद्र हो गया था । कौशाबी प्रयाग से ३८ मील पर स्थित यह नगर (कोसम) यमुना के किनारे स्थित है । भगवान् बुद्ध ने प्रचारार्थ कौशाबी में कई वर्षावास व्यतीत किया, जिसका प्रमाण 'धोषिताराम' के भग्नावशेष से मिलता है । कहा जाता है कि बुद्ध ने 'कोसबीय सूत्त' का उपदेश यही किया था । इस स्थान के महत्त्व के कारण ही अशोक ने वहाँ स्तंभ स्थापित कर लेख खुदवाया । पाटलिपुत्र से उज्जैन जाते समय राजमार्ग कौशाबी होकर जाता था । इस स्थान की प्रमुखता के कारण अशोक ने स्तूप का भी निर्माण किया । आज भी मधाराम के दक्षिण-पूर्व स्तूप के अवशेष देखे जा सकते हैं । यह २०० फीट ऊँचा स्तूप था, जो बुद्ध के मुख एवं केश के ऊपर निर्मित हुआ था । इसे 'पारिभोगिक स्तूप' कहेंगे । फाहियान तथा ह्वेनसांग ने इसका वर्णन किया है ।

मगध की प्राचीनतम राजधानी का नाम राजगृह था, जिसे पाटलिपुत्र की स्थापना के पश्चात् त्याग दिया गया । भगवान् बुद्ध ने ज्ञानप्राप्ति से पहले ही वहाँ निवास किया था और बुद्धत्व के बाद बारबार वहाँ वर्षावास व्यतीत करते रहे । मगधनरेश बिंबिसार ने गृधकूट पर बुद्ध का आराम बनवाया, जहाँ भगवान् निवास करते रहे । यद्यपि राजगृह में एक भी स्तूप दृष्टिगत नहीं होते, किंतु चीनी यात्री ह्वेनसांग ने कई स्तूपों का वर्णन किया है । उसका कथन है कि राजमहल के उत्तरी द्वार के समीप एक स्तूप था, जहाँ देवदत्त तथा अजातशत्रु की मित्रता हुई थी । वही उन्होंने बुद्ध को मारने के लिए नालगिरि हाथी को छोड़ा था, पर उनकी आशा फलवती न हुई । यात्री लिखता है कि

इससे उत्तर-पूर्व में एक छोटा स्तूप बना था, जहाँ सारिपुत्र ने अश्वजित भिक्षु की बातें सुनी और भिक्षु बन गया। उत्तर दिशा में एक अन्य स्तूप था, जहाँ श्रीगुप्त बुद्ध को आग से जला देना चाहता था। अंत में उसे ज्ञान हुआ और भगवन् का समादर करने लगा। श्रीगुप्त के स्थान से कुछ दूरी पर जीवक का स्तूप था। उसे वैद्यरत्न जीवक ने बुद्ध के लिए निमित्त किया था। यद्यपि आराम में निवास का विवरण मिलता है, पर ह्येनसांग ने उसे स्तूप का नाम दिया है। इन स्तूपों का निर्माण अवशेष के लिए नहीं माना जा सकता। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् स्तूपों में शरीर-अवशेष की कल्पना की जा सकती है। तथागत के गृध्रकूट के मार्ग में भी दो छोटे स्तूप बने थे। स्यात् चीनी यात्री ने विहार को स्तूप (आराम) कहा है। उन स्तूपों के भग्नावशेष प्रकाश में नहीं आ सके हैं।

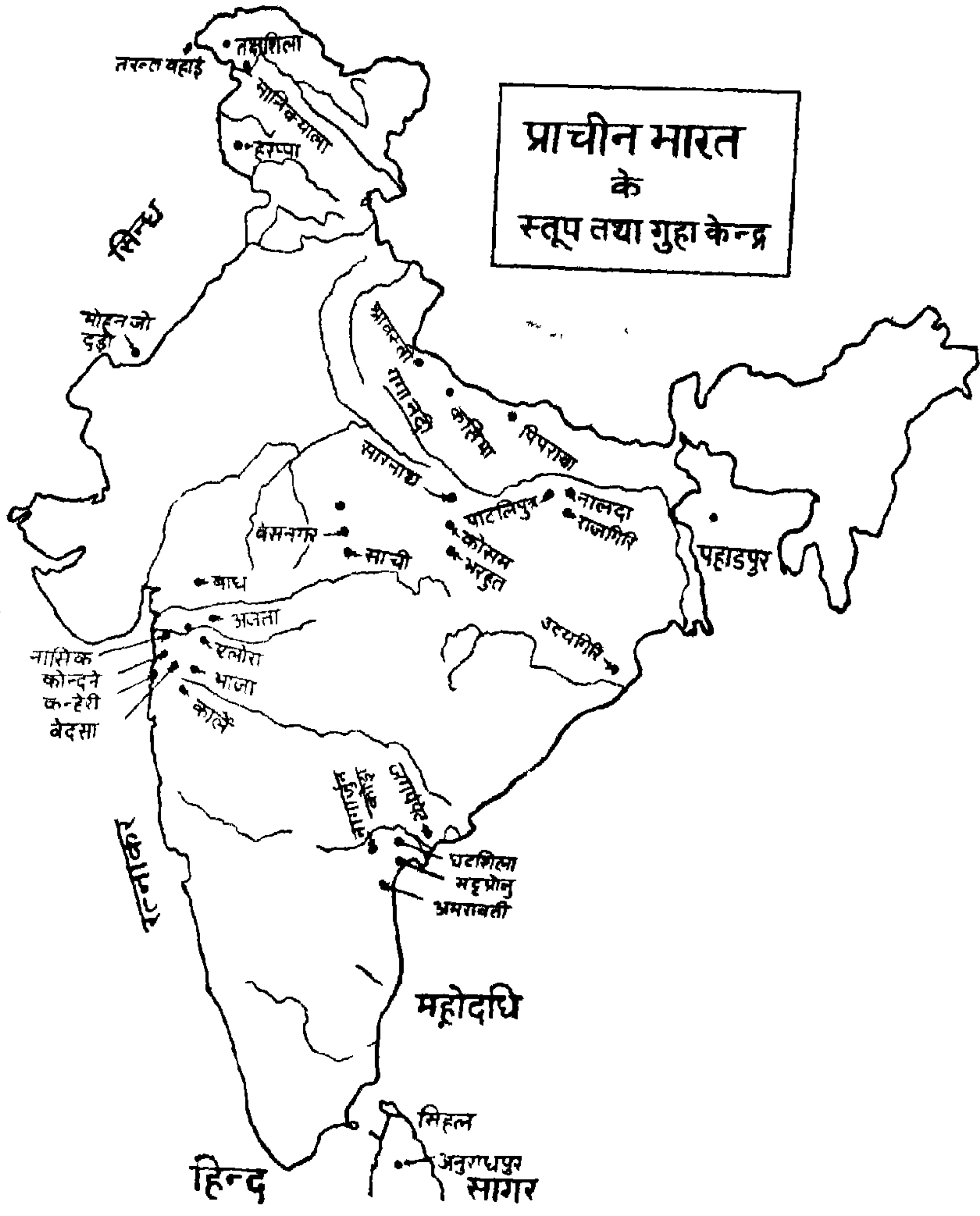
मगध की प्राचीनगम राजधानी राजगृह से ५ मील दूर पर नालंदा नामक बौद्ध स्थान है, जो पटना से पचपन मील की दूरी पर स्थित है। नालंदा बौद्धों का प्रमुख तीर्थ में नहीं गिना जाता, पर बौद्ध साहित्य में इसका नाम बारबार आता है। सारिपुत्र इसी के समीप पैदा हुआ था। चौथी सदी में नालंदा महाविहार के कारण इसकी ख्याति हो गई, जहाँ के प्राध्यापकों ने बृहत्तर भारत में जाकर बौद्ध धर्म तथा साहित्य का प्रचार एवं प्रसार किया। बुद्ध भी वहाँ गए थे। इस कारण अशोक ने वहाँ स्तूप का निर्माण किया था। उसके भग्नावशेष महा-विहार के पश्चिम दिशा में विस्तृत हैं। नालंदा के भव्य भवनों की योजना दर्शनीय है। एक ओर चैत्य (स्तूप) की पवित्रियाँ तथा दूसरी ओर संघाराम, विहार तथा विश्वविद्यालय के भवन स्थित हैं।

नालंदा का प्रधान स्तूप अपनी विशेषता रखता है। इतनी ऊँची इमारत दूसरी नहीं है। इसके भग्नावशेष के परीक्षण से प्रकट होता है कि मध्य भाग में मूल स्तूप स्थित था। कालांतर में उसमें और आकार जोड़े गए। चारों तरफ पूजा स्तूप (Votive Stupa) दिखलाई पड़ते हैं। देखने से पता लगता है कि एक के नष्ट होने पर दूसरा स्तूपाकार बना। उसके बाद तीसरा, चौथा बनता रहा। इसकी परीक्षा यह बतलाती है कि मूलस्तूप की वृद्धि न कर उसके अवशेष पर नया स्तूप बनाया गया। इस तरह सात सतहें निश्चित हो जाती हैं यानी मूल स्तूप के ऊपर छह बार अन्य आकार बनते रहे। पहले तीन आकार मलवे में छिपे हैं। वे दृष्टिगत नहीं होते। बारह वर्ग फीट के स्थान में

सीमित हैं। चौथी बनावट विस्तृत ढंग से की गई थी। उस आवरण को स्थानीय रूप में देखा जा सकता है। पाँचवा, छठा तथा सातवा आवरण पृथक्-पृथक् सीढ़ियों की स्थिति से प्रकट हो जाता है। स्तूप का पाँचवा आवरण आकर्षणयुक्त है, सुरक्षित है तथा प्रत्येक कोने में गुंबज बने हैं। इसकी दीवाल सीमेंट के द्वारा बनी आकृतियों (Stucco) से सुसज्जित हैं। सीढ़ी के एक ओर बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाएँ दीख पड़ती हैं। उस स्थान पर पूजा-स्तूप भी बने हैं, जिनके लेख छठी सदी के अक्षरों में लिखे हैं। सीमेंट द्वारा बनी मूर्तियाँ (Stucco figures) भी गुप्तकाल की हैं। अतएव, पाँचवा आवरण पाँचवी सदी के पश्चात् हुआ होगा। पिछले आवरण को तैयार करते समय पहले स्तूप के अवशेष के चारों तरफ चतुर्भुजाकार दीवाल बनायी जाती जो पूर्व स्थित आकार को संभाल लें। इस प्रकार दीवार खड़ी हो जाने पर पूर्व आकार तथा दीवार के मध्य भाग में मिट्टी-ईंट से भर दिया जाता था। इस बीच के स्थान में कई पूजा-स्तूप प्रकाश में आए हैं, जो पूर्व समय में निर्मित हुए थे। इस कारण कुछ भाग सामने हैं तथा कुछ अंश छिपे हैं। बीच के भाग की खुदाई से सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। कई आवरण के कारण ही स्तूप का विस्तृत आकार हो गया। अनेक पूजा-स्तूप सामने आए हैं।

इस प्रधान स्तूप की उत्तर दिशा में कई स्तूपों के भग्नावशेष दीख पड़ते हैं। उनके चबूतरे अलंकृत हैं तथा सीमेंट द्वारा मूर्तियाँ बनी हैं।





प्राचीन भारत
के
स्तूप तथा गुहा केन्द्र

ताक्षशिला
मोहनजोदड़ो
हरप्पा

सिन्धु

मोहनजोदड़ो

आवली
राणावली

कलिंग

सिपरावा

सारनाथ

वैसनगर

साची

पाटलिपुत्र

नालदा

राजगिरि

पहाडपुर

बाध

अजंठा

एलोरा

भाजा

कावेर

नासिक
कोन्दनेर
कन्हरी
वेदसा

उदयगिरि

रत्नाकर

नाराजुं

जगदल

घटशिला

महोदधि

अमरावती

महोदधि

मिहल

अनुगधपुर

हिन्द

सागर

द्वितीय खंड



गुहा

प्रथम अध्याय

गुहा का प्रयोजन एवं योजना

बुद्धधर्म के अभ्युदय के साथ बौद्ध संप्रदाय के संमुख विभिन्न समस्याएँ उपस्थित होती गईं, जिनका समाधान बुद्ध ने स्वयं किया था। उनका विवरण बौद्ध ग्रंथों में भी मिलता है। प्रश्न पूछे जाने पर भगवान् ने उन उलझनों का हल भी निकाला। बुद्धमत की अनेक समस्याओं में यह एक जटिल प्रश्न था कि भिक्षुगण का निवास कहाँ स्थिर किया जाए? धर्मकाय के विकास के साथ भिक्षुओं की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। वर्षावास के पश्चात् भगवान् के साथ सैकड़ों भिक्षु साथ में भ्रमण किया करते थे। भगवान् बुद्ध को वैदिक परंपरा की बातें ज्ञात थी। प्राचीन काल में यति सदा भ्रमण किया करते थे। वैदिक साहित्य एवं उपनिषदों में संसार से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण जंगल में तपस्या करने का विवरण पाया जाता है। संसार से विरक्त के साथ यति के लिए जंगलों में निवास की कल्पना थी। वह परिव्राजक (संन्यासी) के रूप में भ्रमण करता एवं वेदांत के सिद्धांतों का प्रचार करता था। गौतम बुद्ध उसी भारतीय परंपरा में पले थे। बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् स्वयं भ्रमण कर धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने लगे। अतएव, प्राचीन परंपरा के अनुसार अपने अनुयायियों (भिक्षुओं) के एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास के विरोधी थे। उनका भी विचार था कि भिक्षु सदा भ्रमण किया करें। उनका कथन था—चरन भिक्षुवे बहुजन हिताय बहुजन सुखाय। बुद्ध के विचार में वैदिक परिपाटी सर्वोत्तम थी। इतना ही नहीं, भगवान् के समकालीन निम्नलिखित परिव्राजक भ्रमण किया करते थे—

१. पुराण कस्सप,
२. मक्खलि गोमाल,
३. अजित केसकमवलिन,
४. निगंठनाट पुत्त,
५. पकुध कच्चायन और
६. संजय बेलट्ठिपुत्त।

अतः, बुद्ध ने आदेश दिया कि दो भिक्षु भी एक साथ भ्रमण न करें। भिक्षान्न को ही भोजन समझें। उसी से संतुष्ट हो तथा जनता द्वारा त्याज्य वस्तु (चीवर) को ही धारण करें। वृक्ष के नीचे निवास करें तथा मूत्र को

औषधि के रूप में प्रयोग करें। महावग्ग (१/२/६) के उपरियुक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध की यही इच्छा थी कि वैदिक धर्मावलंबी परिव्राजक के सदृश बौद्ध भिक्षुगण को अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।

प्रत्येक वर्षावास में भगवान् के उपदेश से भिक्षुओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। नगर के निवासी उपासकों को छोड़ कर सभी वय के लोग भिक्षु बनने लगे। वैदिक प्रणाली में वर्णाश्रम-प्रणाली का प्रचलन था। ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ का उल्लेख वैदिक साहित्य में पाया जाता है। जन जीवन के प्रमुख आश्रम गृहस्थ धर्म को मानते थे, जिस पर सारा समाज आश्रित रहता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा मन्यास (परिव्राजक) आश्रमों का पालन होता रहा। किंतु, इनमें आयु के अनुसार क्रमशः आश्रमों की स्थिति निश्चित थी। बौद्ध मत में इन किसी प्रकार के वर्ण या आश्रम-प्रणाली का नियमन न रहा। बुद्ध वर्णाश्रम के विरोधी थे। अतः, किसी अवस्था में व्यक्ति भिक्षु बन सकता था। वय का विचार उस कार्य में बाधा उपस्थित न कर सका। बालक, युवा तथा वृद्ध बौद्ध भिक्षु बनने लगे। गृहत्याग कर पीला वस्त्र धारण कर सभी प्रव्रज्या ग्रहण करने लगे। इस प्रकार बढ़ती संख्या को देख कर भिक्षुओं के निवास का प्रश्न प्रधान हो गया। नगर के कोलाहल में दूर ही उनके लिए समुचित निवास हो सकता था। अतएव, इस जटिल प्रश्न पर सभी विचार करने लगे। चुल्लवग्ग में वर्णन आता है कि राजगृह के नगरस्थेष्टी ने भगवान् से प्रार्थना की कि भिक्षुओं के लिए निवास (जिसका नाम विहार था) यानी निर्मित स्थान में रहने की अनुमति मिलनी चाहिए। भिक्षु प्रातः भगवान् की शिक्षा लेते, उपदेश सुनते तथा दिन में भिक्षा माँगते नगर में चले जाते। रात्रि के समय को बन में, वृक्ष के नीचे, पर्वतों के पार्श्व में, समझान में अथवा मैदान की घास की राशि पर व्यतीत किया करते। भगवान् वृद्ध के साथ शिष्य-मंडली भी भ्रमण किया करती थी। शिष्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। इस कारण सभी को साथ लेकर बुद्ध धूम नहीं सकते, यह कठिनाई सामने आई। अततोगत्वा परिव्राजक की गतिशीलता का ध्यान रख कर भी बुद्ध ने शिष्यों (भिक्षुओं) को निर्मित स्थान में रहने की अनुमति दे दी। धनीमानी सेठ बौद्ध भिक्षुओं के निवास बना कर दान देने लगे। विभिन्न प्रकार के निवास में पर्वतों के गुफाओं की भी गणना की जाती है तथा उनको प्रमुख स्थान दिया गया है। गुहा तो नगर के कोलाहल में दूर थे। भिक्षु प्रत्येक ऋतु में शांति-पूर्वक जीवन-यापन करता तथा समाधिस्थ हो चिंतन-मनन भी संपन्न करता रहा। यही कारण था कि बुद्धमत की प्रगति के साथ गुहा का विकास होता

गया । महावग्ग (५, ६ खंडक) में आराम या विहार (विश्राम के स्थान) का अनगिनत उल्लेख किया गया है । नगर में रहने वाले उपासको (स्त्री, पुरुष) की चिंता न थी । परंतु, निवृत्ति मार्ग अगाने वाले भिक्षु या भिक्षुणी के लिए निवास के प्रश्न का समाधान निकाला गया । वर्षाकाल (बुद्धमत में वर्षावास कहा गया है) में रहने की समस्या का हल ढूँढना था । नगर के कोलाहल से दूर, शांत वातावरण तथा तपस्या के योग्य पर्वत से संबंधित गुहा ही सब कठिनाइयों का अंतिम हल माना गया । नगर से दम मील में समीप ही पर्वत खोद कर गुहा-निर्माण का कार्य बल पकड़ने लगा । पूर्वी भारत के प्रस्तर कम-जोर तथा मिट्टीदार होते हैं । इस कारण हिमालय की शृंखला में गुहा का स्थायी रूप नहीं हो सकना । ठोम पर्वत के ढूँढ में अशोक को गया के समीप बराबर की पहाड़ियाँ उचित मान्य पड़ी । अतएव, उसने गुहा खुदना कर आजिवको को दान दिया । स्यात् उस समय तक बौद्ध भिक्षुओं के निवास का प्रश्न समुख न रहा हो । संघ बन जाने पर भी सभी भ्रमण करते ही रहे हों । यह कहना कठिन है कि भगवान् के उपदेश की जानकारी रख कर भी अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं को गुहादान क्यों नहीं दिया । शु गकाल में पश्चिमी भारत की महयाद्रि पर्वत-शृंखला में अनेक गुफाएँ खोदी गईं, जो आज भी उस कहानी को सुना रही हैं ।

यह कहा जा चुका है कि बुद्ध दो भिक्षुओं को भी एक साथ भ्रमण के विरोधी थे । कालांतर में स्थिति बदलती गई । भिक्षुओं की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई । अतएव, एक साथ समूह संघ का शुभारंभ (संघ) में रहना नितांत आवश्यक हो गया । महावग्ग तथा अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संघ का पूर्णतः संगठन हो गया था । मृगदाव में पंचवर्गीय साधुओं को अपने मत में दीक्षित करने पर भी बुद्ध को संघ-स्थापना की योजना न थी । तपुस तथा भल्लिक नामक उपासकों ने बुद्ध एवं धर्म में ही आस्था प्रकट की (शरण में गए) । राहुल जी ने विनयपिटक के अनुवाद में महावग्ग (१/१/१२) के आधार पर बुद्ध तथा धर्म का ही उल्लेख किया है (भगवत् शरणं गच्छामि धम्मच) । सेठी गहपति सर्वप्रथम उपासक था जिसके द्वारा बुद्ध, धर्म एवं संघ में शरण लेने की वार्ता उल्लिखित है (महावग्ग १/१/४-९) ।

सो वलो के पठयं उपासको अहोसि
ते वाचिको मगवत् शरणं गच्छामि
धम्मञ्च भिक्षु संघञ्च ।

तात्पर्य यह है कि प्रव्रज्या के पश्चात् भिक्षु को बुद्ध तथा धर्म में शरण लेने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। लेकिन, संघ की स्थापना हो जाने पर यानी समूह में भिक्षुओं के निवास करने पर उस संस्था (संघ) के नियमों-उपनियमों के पालन की प्रतिज्ञा (शरणं गच्छामि) करना सभी के लिए आवश्यक हो गया। इसी का विनयपिटक में विस्तृत वर्णन किया गया है। इन तीनों (बुद्ध धर्म, संघ) को त्रिरल का नाम दिया गया और उनमें आस्था तथा विश्वास रखने की प्रतिज्ञा का समावेश किया गया—

बुद्धं शरणं गच्छामि ।

धम्मं शरणं गच्छामि ।

संघं शरणं गच्छामि ।

भिक्षुसंघ को त्रिरल में तीसरा स्थान दिया गया। बौद्ध भिक्षुओं के लिए संघ के रूप में निवास करना, उसकी कार्य-प्रणाली को मानना, बुद्धमत के प्रचार तथा स्थायित्व के लिए परमावश्यक हो गया। भगवान् बुद्ध ने स्वयं राजगृह में बेणीवन का दान स्वीकार किया तथा विदिसार के आग्रह पर आराम (निवासस्थान) में रहने लगे। अबपाली द्वारा निर्मित वैशाली के आम्रवन की बार्ता सर्वविदित है। अनाथपीडिक की प्रार्थना स्वीकार कर जेतवन में बुद्ध ने (श्रावस्ती, उत्तर प्रदेश) निवास किया। कहने का अर्थ यह है कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपना विचार परिवर्तित कर दिया और स्वयं आराम में रहने लगे। बदलती परिस्थितियों में भिक्षुओं का सामूहिक निवास (संघ के रूप में) एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस कारण भिक्षु होते समय बुद्ध एवं धम्म के साथ-साथ संघ में विश्वास (शरण जाना) व्यक्त करना आवश्यक समझा गया। त्रिरल की यही कल्पना है। विद्वानों का विचार है कि बुद्ध ने लिच्छवि संघ को ध्यान में रख कर अपने संघ की स्थापना की। यद्यपि बौद्ध संघ की कार्य-शैली राजनीतिक संघ से भिन्न थी, किंतु संघ का मूल विचार लिच्छवियों से ही लिया गया।

यदि प्राचीन भारतीय साहित्य तथा अभिलेखों का अध्ययन किया जाए, तो ज्ञात होता है कि तीन वेदों का अध्यापन हुआ त्रिरल की वैदिक कल्पना करता था। जैमिनि सूत्र (२/१/३६) में ऋग, साम तथा यजुर्वेद के ही नाम मिलते हैं। उत्तरी भारत के मध्यकालीन अभिलेखों में (ए० इ० भा०

११ पृ० १९२ : भा० १२ पृ० ३१) ऋक् यजुः तथा साम के नाम उल्लिखित हैं। अलबेहनी ने भी तीनों वेदों (अथर्व का नाम नहीं) के पठन-पाठन का

उल्लेख किया (साचूभा० १, पृ० १३०) । कहने का तात्पर्य यही है कि ब्राह्मण धर्म में तीन वेद की ही कल्पना प्राचीनतम है । उसी के समान तीन देवताओं ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की कल्पना समाज में आई । ब्राह्मण धर्म की इसी कल्पना का अनुकरण का बौद्ध मत में त्रिपिटक (सूतपिटक, विनयपिटक, अभिधम्मपिटक) का विचार उपस्थित किया गया । इतना ही नहीं, बुद्ध धर्म में त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म तथा संघ) की कल्पना का आधार ब्राह्मण मत ही था । यदि गंभीरता से विचार किया जाए तो इस्लाम में मुहम्मद, दीन तथा मुसलमान समाज का सिद्धांत उसी ब्राह्मण धर्म के तीन वेद का बुद्ध मत के त्रिरत्न का अनुकरण है । मसजिदों के निर्माण में तीन गुंबज उसी भावना को व्यक्त करते हैं । ईसाई मत इससे अलग न रह सका । ईश्वर के तीन रूप फादर सन तथा घोस्ट (God the Father, God the Son, God the holy Ghost) का सिद्धांत उसी प्राचीन आधार (तीन वेद व त्रिरत्न) पर स्थिर किया गया । बौद्ध मत में त्रिरत्न को आर्य कल्पना मानने में हिचक न होनी चाहिए । इसके पीछे दार्शनिक स्वरूप पर भी एक दृष्टि डाली जा सकती है । बुद्ध को ज्ञान या अध्यात्म का प्रतीक मान सकते हैं । संघ से समाज या न्याय का भाव व्यक्त किया जा सकता है तथा धम्म से आध्यात्मिक धर्म की भावना ग्रहण की जा सकती है । इस प्रकार बौद्ध मत के त्रिरत्न के पीछे एक रहस्य था । इसमें प्राचीन ब्राह्मण धर्म के सिद्धांतों का अनुकरण देख पड़ता है ।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्य संस्कृति में मुनि, यति, परिव्राजक या संन्यासी को समादर का स्थान संघ की स्थापना दिया गया है । ऋग्वेद (मंडल १०, १३६) में मुनि नग्न या मलिन वस्त्र धारण करते हुए उल्लिखित हैं (मुनयो वातरशभा पिशङ्गा वसते मला) वृहदारण्यक तथा छादोग्य उपनिषदों में सैकड़ों वैखानस तथा संन्यासियों का विवरण मिलता है (बृ० उ० ४/२/२२) उसी प्रसंग में वैखानस-शास्त्र का उल्लेख बोधायन ने किया है (काने, धर्मशास्त्र का इतिहास भा० २, पृ० ९१७), जिसके अनुसार वान-प्रस्थ में लोगो को जीवन व्यतीत करना पड़ता था । पाणिनि ने भी परिव्राजक (मस्करिन) नाम से विचरण करते साधुओं का वर्णन किया है । (अष्टाध्यायी ४/१/१५२) ब्राह्मणशास्त्रों में उल्लिखित यति या संन्यासी तथा बौद्ध ग्रंथों (दीघ तथा अंगुत्तर निकाय) में तापसिन, परिव्राजक शब्दों का प्रयोग आर्य एवं बौद्ध संस्कृति में समानता दिखलाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध मत में संघ की कल्पना आर्य संस्कृति की देन है । बुद्ध ने किसी

नवीन विचारधारा का समावेश नहीं किया था। वैदिक परिपाटी को नए रूप में रख कर सघ का नामकरण हुआ, जिसे त्रिरत्न में तीसरा स्थान दिया गया। यह कहा जा चुका है कि बुद्ध भिक्षु को वैदिक सन्यासी (यति) की तरह सदा विचरते देखना चाहते थे, किंतु परिस्थिति के कारण विचार बदल गया। वे स्वयं आराम में रहने लगे। अनगिनत भिक्षुओं के स्थायी निवास के लिए स्थायी स्थान का निर्णय लेना आवश्यक हो गया। इस समस्या का समाधान गुहा खुदवा कर सघ के रूप में निवास करने में मिल गया। सघ की स्थापना बुद्ध ने की, यह कहना कठिन है, परंतु भरहुत-वेदिका पर प्रदर्शित कश्यपबंधुओं तथा उनके सहस्र अनुयायियों का बुद्ध मत में प्रवेश, इसका आरम्भ माना जा सकता है। अशोक के सांची, कौशाबी तथा सारनाथ-स्तंभ लेखों का अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी में सघ की कल्पना पूर्ण हो गई थी। सघ के नियमों का पालन करना भिक्षु तथा भिक्षुणी के लिए परमावश्यक था।

अशोक ने कलिंग युद्ध के पश्चात् बौद्ध मत को स्वीकार कर लिया और बुद्ध धर्म के प्रचार के लिए उसने धर्मलेख भी खुदवाया। भाग (जयपुर, राजस्थान) के लेख में निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं—

प्रियदसि राजा मागधे सघं अभिवादेतु

तथा

हया बुधसि धमसि सघसिति गालबे ।

वह मगध के सघ की अभिवादन करता है तथा त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, सघ) में अपना विश्वास प्रकट करता है। उसी के समय में बौद्ध मतानुयायी चार वर्गों में विभक्त हो गए थे, जिसे परिषद् से नाम से वर्णित किया गया है। (१) भिक्षु (२) भिक्षुणी सघ (३) उपामक तथा (४) उपामिका। धर्मशासन में उसका आदेश था कि सभी बौद्ध धर्मग्रंथों का अध्ययन करें। अशोक ने सघ संस्था को सुसंगठित तथा बलवान बनाने के लिए पृथक् धर्मलेख तीन स्थानों के (सांची, कौशाबी तथा सारनाथ) स्तंभों पर खुदवाया था। उसका आदेश था कि जो कोई (भिक्षु अथवा भिक्षुणी) सघ में विभेद पैदा करेगा या करेगी यानी विघटित करने का प्रयत्न करेगी, उसे श्वेत वस्त्र पहना कर (यानी भिक्षु से गृहस्थ बना) संघ से बहिष्कृत कर दिया जाएगा।

देवान पिये आनयति, ये केनपि सघे भेतवे

ए च्छु लो भिक्खु वां भिक्खुनि वा

ये सघं मासति मिल्हु वा मिल्हुनि वा
ओदातानि दुसानि समंघायितु
अनावाससि वासा पेतविये । इहा
हिये किति संघे समगे चिलायतीके
सियाति । [साची स्तंभ लेख]

इस लेख का अभिप्राय यह था कि संघ चिरस्थायी रहे तथा उसमें भेद-भावना का प्रवेश न हो सके । सारांश यह है कि अशोक के लेखों के आधार पर ईसा पूर्व तीसरी सदी से संघ की स्थिति ज्ञात हो जाती है ।

बौद्ध साहित्य में भिक्षुगण के निवासस्थान के लिए दो विभिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है—(१) आराम या (२) विहार ।
विहार या संघाराम सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के निवासनिमित्त जो कुटी या मकान बनाए गए उन्हें 'आराम' की संज्ञा दी गई, (वह स्थान जहाँ बुद्ध निवास करें) राजगृह के व्रेणुवन तथा वैशाली में बुद्ध के निवास को 'आराम' कहा गया है । श्रावस्ती में अनाथपीठिक द्वारा निर्मित गृह को 'विहार' कहने लगे । जेतवन विहार के कथ, विहार निर्माण तथा उसके दान का प्रदर्शन भरहुत तथा बोधगया की वेष्टनियों पर मिलता है । उस चित्र में केवल एक कमरा दीख पड़ता है, जिसे सेठी ने बुद्ध को दान दिया तथा भगवान् ने वहाँ वर्षावास व्यतीत किया । अतः, आराम तथा विहार शब्दों से बुद्ध के ही रहने योग्य निवास स्थान का बोध होता है । कालांतर में इन शब्दों का प्रयोग समूह के रूप में होने लगा । भिक्षुसमूह के निवास निमित्त स्थान भी 'संघाराम' या 'विहार' कहलाए ।

कौशाबी के लेख में घोषिताराम समूहवाचक माना जा सकता है, जिसमें भिक्षुगण निवास करते थे । राजगृह में तपोदाराम (मल्लियनिकाय ३,४,३,) नामक विहार में भगवान् बुद्ध रहते थे । भगवान् बुद्ध १२५० भिक्षुओं के साथ जीवकाराम (राजगृह) में ठहरे थे । उसी स्थान पर अजानशत्रु को उपदेश दिया था (दीघनिकाय १,२) । इसी तरह का (आराम) उल्लेख अन्य लेखों में भी मिलता है । साची स्तूप सख्या १ की वेदिका पर अंकित लेख में हरिस्वामिनी द्वाशा काकनाडवोट (साची) संघाराम के भिक्षुओं को दान देने का वर्णन है । गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के साची के लेख में (का० ड० ३०, भा० ३) काकनाड महाविहार का वर्णन आया है । तात्पर्य यह है कि आराम तथा विहार एक ही प्रकार के भवन के लिए प्रयुक्त हैं । कुम्हरार की खुदाई प्रा०—७

सैं गुप्तकालीन भवन से एक मिट्टी का पात्र उपलब्ध हुआ है, जिस पर 'आरोग्य विहारे भिक्षु संघस्य' वाक्य उल्लिखित है। इससे प्रमाणित होता है कि कालांतर में संघाराम या विहार समूहवाचक शब्द हो गए (ए० इ० भा० ३४, पृ० १६ : भाग २८, पृ० १७५) महावग्ग (१/४/१७) में राजगृह के सेठी ने साठ विहार बनवाए थे, ऐसा वर्णन उपलब्ध है। संक्षेप में यह कहना आवश्यक है कि संघ-स्थापना के पश्चात् 'विहार' का निर्माण होने लगा। भिक्षु तथा भिक्षुणी के लिए सर्वदा भ्रमण करना वर्जित हो गया। उनका स्थिर जीवन विहार में व्यतीत करने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध की गईं। चुल्लवग्ग (६।१।२) में वर्णन आता है कि बुद्ध ने पाँच प्रकार के लेण (संस्कृत लयन— या विश्राम स्थान) में भिक्षुओं के निवास करने की आज्ञा दी। उसमें 'विहार' तथा 'गुहा' का नाम उल्लिखित है। संभवतः विहार शब्द एक स्थान पर निर्मित सभी भवनो के लिए प्रयुक्त होने लगा। जैसे—नालंदा महाविहार। पालि साहित्य में भी विहार शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त है, जहाँ इमारतें हो तथा भिक्षुओं का निवास हो। बहा वर्णन आता है कि विहार-निर्माण के लिए कुशल कलाकार भिक्षु (नवकमिक) को नियुक्त किया जाता, जो संघ की आवश्यकता के अनुकूल विहार-निर्माण में लग जाता। पश्चिम भारत के कतिपय स्थानों के पर्वतो में विहार का कार्य अधूरा दीख पड़ता है। स्यात् उस नवकमिक की मृत्यु हो गई अथवा उस स्थान का महत्त्व जाता रहा। प्राकृत अभिलेखों (उत्तर-पश्चिम भारत) में विहार शब्द भवनो के लिए प्रयुक्त है। प्रायः सभी विहार समतल भूमि पर बनाए गए थे। तप्तशिला, मथुरा, सारनाथ, नालंदा तथा विक्रमशिला के अनेक विहारों के भग्नावशेष समतल भूमि पर निर्मित प्रथा को प्रमाणित करते हैं। मथुरा से प्राप्त लेखों में (ए० इ० भा० १९ पृ० ६६) तेरह विहारों के नाम उल्लिखित हैं—उनकी तिथि कुषाण-युग की मानी गई है। विहारों के नामकरण व्यक्ति, स्थान या कलाकारों से संबंधित मालूम पड़ते हैं।

(१) महाराज देवपुत्र विहार—हुविष्क द्वारा निर्मित विहार (लुडर संख्या ५२, ६२)

अमोहसि द्वारा निर्मित विहार (वही, संख्या १२५)

पुष्पदत्त का विहार (ए० इ० ३४, पृ० ४४)

(२) शिरि विहार (स्थान के नाम पर)

बोधिसत्त्वो सहामातापितिहि सहा
उपज्ञायेन धर्मकेन सहा
अंतेवासिकेहि सहा
आतेवासिनीहि शिरि-विहारे
आचरियान समितियान परिग्रहे
सर्व बुध पुजाये (ए० इ० भा० १९, पृ० ६७)

(३) सुवर्णकार विहार (वही, पृ० ६८)
प्रावारिक विहार (वही) ।

इस तरह उत्तर-पश्चिमी भारत के अभिलेखों में अनेक 'संघाराम या विहार' भिक्षुओं के निर्मित भवनों के लिए प्रयुक्त है, जिनके विषय में अधिक कहना उपयुक्त न होगा । सांची की खुदाई से अनेक विहार के भग्नावशेष निकले हैं । गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के सांची लेख में (का० इ० इ० भा० ३, पृ० ३१) उस स्थान के लिए 'श्री महाविहार' का उल्लेख मिलता है । अतएव, पुरातत्व की खुदाई तथा लेखों के वर्णन में समानता है । कनहेरि लेख में संघाराम या विहार इसी अर्थ में प्रयुक्त है । (लुडर संख्या ९८८-९९८) अतएव, 'विहार' शब्द को समतल मैदान में भिक्षुओं के लिए निर्मित भवन के अर्थ में मानना नितांत युक्तियुक्त है ।

हुविष्क के वारडक (कान्बुल के समीप) लेख में 'एष विहरं (विहारं) अर्चयेण महासंघिगण परिग्रह' वाक्य से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिम भाग में विहार आचार्यों के निमित्त बनवाया गया था । (ए० इ० भा० ११, पृ० २०२)

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को गुहा में भी निवास करने की आज्ञा दी थी ।

गुहा के लिए संस्कृत शब्द लयनम् (प्राकृत लेण) विश्रामगृह या गुहा या लेण आराम के लिए प्रयुक्त होता रहा (ली + ल्युट् = विश्राम, आराम, घर) । पुरातत्व प्रमाणों के आधार पर यह प्रकट होता है कि लयनम् (लेण) पर्वत खोद कर तैयार किए जाते, जिनमें भिक्षु रहा करते थे । भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी भाग के पर्वतों में जो गुफाएँ खोदी गई हैं, उन्हें लेण कहा गया है तथा नगर से सभी पाँच से दस मील की दूरी पर स्थित हैं । संभवतः मौर्यसम्राट् अशोक के शासनकाल में भिक्षुओं के निवासस्थान पर बल नहीं दिया गया था और उन्हें भ्रमण करते रहने का आदेश रहा होगा । यही कारण है कि बौद्ध-सम्राट् अशोक ने किसी प्रकार की बौद्ध गुफा का निर्माण नहीं

किया। उसने आजीविको के निमित्त बराबर पर्वत (गया के समीप, बिहार प्रदेश) को खुदवा कर सुंदर गुफा तैयार करायी, किंतु बौद्ध भिक्षुओं के लिए ध्यान तक नहीं दिया। निम्न पक्तियाँ उसके ज्वलंत उदाहरण उपस्थित करती हैं :—

लाजिना पियदसिना दुबाडसवसा भिसितेन, इयंनिगोह

कुमा (= गुहा) दिना आजीविकेहि (बराबर गुहा लेख)

उसी स्थान के दूसरे लेख में अशोक पुनः कहता है कि खलतिक पर्वत में खुदी गुहा आजीविकों को दी गई, ताकि वर्षा से वे अपने को सुरक्षित रख सकें—

लाजिना पियदसिना दुबाडस

वसाभिसितेना इयं

कुमा खलतिक पवतसि

दिना आजीविकेहि

राजा पियदसी एकनवी

सति वसाभिसिते जलद्यो

सागम यात में इयं कुमा

सुपिये खलतिक पवतसि दिना

(इ० ए० मा० २०, पृ० १०८)

उसी विषय का पालन उसके पौत्र दशरथ ने भी किया तथा आजीविक साधुओं के लिए बराबर के समीप नागार्जुनी पर्वत में (गया, बिहार प्रदेश) गुहा खुदवा कर दान किया था। आश्चर्य तो यह है कि अशोक ने भाब्रू लेख (जयपुर, राजस्थान) में बौद्ध समाज के भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक तथा उपासिका नामक चार वर्गों का उल्लेख किया है तथा बौद्ध धर्म ग्रंथों के अध्ययन का आदेश दिया है। परन्तु, किसी स्थान पर उनके निवासस्थान का वर्णन नहीं किया अथवा वर्षावाम में उनके सुरक्षा का प्रयास भी नहीं दीख पड़ता। उसी लेख (भाब्रू) में त्रिरल का (बुधसि धम्ममि सधसी) उल्लेख है, जिससे संघ की स्थिति प्रमाणित हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में मौर्य-युग में बौद्ध भिक्षुओं के निमित्त गुहा का अभाव अवर्णनीय तथा अनिर्वचनीय है।

शुंगकाल में बौद्ध कला की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा विकास होता गया। भारतवर्ष के पूर्वी भाग (उड़ीसा) तथा पश्चिमी भाग (सह्याद्रि पर्वत) में अनेक गुफाएँ खोदी गईं जिन्हें लेण शब्द से उल्लेख किया गया है। गुहा तथा लेण पर्यायवाची हैं और पर्वत में खुदे (साधुओं के लिए) लेण निवासस्थान के लिए प्रयुक्त हैं। उड़ीसा के उदयगिरि तथा पश्चिम के पर्वत में जितने गुहा-लेख उत्कीर्ण हैं, उनमें लेण के खोदने तथा दान का वर्णन है—

अरहत पसादाय कलिगान समनानं

लेनं कारितं

(मचपुरी गुहा-लेख ए० इ० मा० १३)

अरहत के अनुग्रह-लाभ के लिए कलिग देश के जैन भिक्षुओं के लिए वास के निमित्त लयनं (गुहा) खोदा गया । इसी प्रकार पश्चिमी भारत के सह्याद्रि पर्वत में जितने गुहा-लेख उत्कीर्ण मिले हैं, उनमें गुहादान तथा खोदने का विवरण मिलता है—

एतो मय लेने वसतानं चातुदीसस

भिखुसंघस मुखाहारो भविसती

संघस चातुदिसस ये इमात्ति लोणे (लेण)

वसांतानं भविसंति

(नासिक गुहा-लेख)

चारो दिशाओ में आने वाले भिक्षुसंघ के लिए यह लेण निवासस्थान का कार्य करेगा ।

हमारे लेख में सातवाहननरेश कृष्ण द्वारा गुहा खोदने का वर्णन है—

सातवाहन कुले कन्हे राजनि । नासिककेन समणेन महामातेण लेण कारित ।

(नासिक गुहा-लेख)

गौतमी पुत्र शातकर्णि ने भी पर्वत खोद कर लेण दान किया था—अम्ह धनदाने लेणे पतिवसतान पवजितानभिखून (वही) ।

महारथिना वासिठी पुतेन सोमदेवेन गामोदत्तो

वलुरक संघस वलुरक लेनस (कार्ले गुहा लेख)

महारथि वासिष्ठीपुत्र सोमदेव ने वलुरक भिक्षुसंघ के निमित्त वलुरक गुहा । (लेण) दान में दिया ।



दूसरा अध्याय

गुहा की धार्मिक परंपरा

बौद्धमत के अभ्युदय के साथ-साथ भिक्षुओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई और उनके निवास का प्रश्न प्रमुख हो गया। भगवान् के वर्षावास के लिए विहार का निर्माण तथा भिक्षुसंघ के निमित्त विशाल पैमाने पर पर्वतों में गुहा का निर्माण-कार्य आरंभ हो गया। सर्वप्रथम भिक्षुओं के रहने का स्थान निश्चित हो जाने पर पूजा निमित्त स्थान की आवश्यकता अनुभव की गई। अतएव, पर्वतों को खोद कर निवासस्थान तथा पूजा-प्रकार की योजना कार्यान्वित हुई। इसका तात्पर्य यह था कि एक ही क्षेत्र में दो प्रकार की गुहाएँ निर्मित हुईं—

१. निवास स्थान यानी विहार तथा

२. पूजा स्थान यानी चैत्य।

पर्वत खोद कर गुहा तैयार करने का कार्य सबसे प्राचीन है तथा अशोक ने भी बराबर पर्वत को खोद कर गुहा तैयार कराया। उसके पश्चात् यह कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया और शुंगकाल में अनगिनत गुहाएँ खोदी गईं। बौद्धमत में भिक्षु समूह तथा सामूहिक प्रार्थना को ध्यान में रख कर गुहा-निर्माण किया जाता था। इस कारण गुहा के मूल में धार्मिक भावना निहित थी। उन दिनों गुहाओं का दान एक धार्मिक कृत्य माना गया। भिक्षु कलाकार विहार के समीप चैत्य तैयार करने लगे, अतः एक ही सीमा में निवास एवं पूजा-कार्य सम्पन्न हो सके। बौद्धधर्म में सामूहिक प्रार्थना की परिपाटी काम करती थी। उसी के अनुकरण पर इस्लाम में जुमा का नमाज तथा ईसाई मत में रविवार चर्च (Sunday Church) के कार्य प्रचलित किए गए। विहार ही एक ऐसा क्षेत्र था, जहाँ भिक्षुगण एकत्रित होकर उपदेश श्रवण करते रहे। इस कार्य के निमित्त निवास के समीप चैत्य नामक गुहा का निर्माण धार्मिकता की भावना को व्यक्त करना है। धर्म का संबंध गुहा-निर्माण से इतना घनिष्ठ था कि ईसवी सन् की तीन सदियों तक अनेक राजाओं ने इसे दान देकर प्रोत्साहित किया। इस कार्य में राजा, धनीमानी व्यक्ति तथा स्वयं बौद्ध कलाकर लग

जाते थे । कहने का सारांश यह है कि धर्म तथा गुहा-निर्माण के कार्य अन्योन्याश्रित थे । चौथी सदी के बाद स्थिति बदल गई ।

गुप्त राज्य के शुभारंभ से ब्राह्मण मतानुयायी भी बौद्ध गुफाओं के अनुकरण कर धार्मिक गुफाएँ तैयार करायीं, जिनमें देवी-देवता स्थापित किए गए । गुप्त-नरेश वैष्णव धर्मावलंबी थे अतएव, उन्होंने उदयगिरि (विदिशा के समीप) गुहा में भगवान् विष्णु (वेषशायी) की प्रतिमा उत्कीर्ण करायी थी । बौद्ध मत का सूर्य प्रकाशहीन होता जा रहा था । किंतु, गुप्त राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के कारण भिक्षु गण के निवास का स्थान मैदान में भवन-निर्माण कर अपित किया गया । पश्चिमी भारत के सह्याद्री शृंखला में गुफा का निर्माण स्थगित कर दिया गया । संभवतः उस भू-भाग में बौद्ध मत को राजाश्रय न मिल पाया । अतएव, प्रोत्साहन तथा दान के अभाव में पाँचवी सदी के पश्चात् पर्वतों को खोद कर बौद्ध-विहार-निर्माण कार्य प्रायः समाप्त हो गया । अजंता गुहा के सिवाय ऐसा कार्य देखने को नहीं मिलता । मध्ययुग में भी ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध गुफाओं का निर्माण एलोरा के समीप दीख पड़ता है । गुहा की धार्मिक परंपरा को धक्का न लग सका । बौद्ध गुहा के स्थान पर या उनके अनुकरण पर उसी क्षेत्र में ब्राह्मण या जैनियों ने कार्य आरंभ किया । एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर तथा जैन गुफाएँ, बिनका वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा, उसके ज्वलंत उदाहरण हैं । कहने का तात्पर्य यही है कि गुहा-निर्माण के मूल में धर्म की अटूट, गहन तथा सशक्त भावना काम कर रही थी । किसी धर्मविशेष से गुहा-निर्माण का गहनतम संबंध न था । धार्मिक विचार से प्रेरित होकर राजा-या प्रजा सामयिक कार्य करने लगे । वास्तुकला किसी की धरोहर न थी । बौद्ध समुदाय ने गुहा-निर्माण का कार्य सर्वप्रथम आरंभ किया था । अपितु अन्य मतावलंबी उसका अनुसरण कर अपनी धार्मिक पिपासा को शांत करते रहे ।

ब्राह्मण मत के अधिक प्रचार के कारण बौद्ध-विहारों का निर्माण नगर से दूर पर्वतों का संवद्ध अनुपयोगी हो गया । भिक्षु नगर के समीप समतल भूमि पर निर्मित भवनों में रहने लगे । उनके कार्य कलाप में भी विशिष्ट परिवर्तन हो गया । उनका जीवन बौद्ध धर्म-ग्रंथों की शिक्षा तथा धार्मिक वाद-विवाद में व्यतीत होने लगा । पुरानी रीति से बौद्ध मत का प्रसार संभव न था । समाज में अन्य शक्तियाँ काम कर रही थीं तथा दूसरे धर्म प्रचारकों अथवा विचारकों से भिक्षुगण को सामना करना पड़ा । संक्षेप में यह कहा

जा सकता है कि पाँचवी सदी के पश्चात् अधिकतर बौद्ध-विहार मैदानों में बनने लगे। ईंट-चूना तथा प्लास्टर का प्रयोग किया गया। चैत्य का पृथक् स्थान न रहा। मध्य युग से विहार (निवासस्थान) तथा चैत्य (पूजा-स्थान) को एक ही भवन में स्थिर कर प्राचीन चैत्य की पृथक्ता को समाप्त कर दिया गया। बौद्ध मत में अंतिम काल तक (छठी सदी से तेरहवी सदी तक) दोनों कार्य एक ही भवन में संपन्न किए गए।

यद्यपि 'गुहा' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है, किंतु 'विहार' तथा 'चैत्य' कहने से विभिन्न उद्देश्य का परिज्ञान हो जाता है एवं गुहा-निर्माता का लक्ष्य भी व्यक्त हो जाता है। यद्यपि पर्वतो को काट कर दोनों प्रकार की गुफाएँ तैयार की जाती, पर दोनों में मूलतः भेद था। विहार यानी रहने की गुफा ग्राम के मकान के मूलाकार का अनुकरण मात्र था। पर्वत की तलहटी में सर्व-प्रथम बरामदा तैयार किया जाता। उसमें एक प्रवेश-मार्ग होता, जिससे होकर आंगन में पहुँचते हैं। आंगन के चारों तरफ बरामदा तथा कमरे रहते हैं। गाँव की इमारतें तथा घरों के समान ही पहाड़ काट कर रहने का स्थान 'विहार' बन जाता था। किंतु, पर्वत के घर में आंगन आकाश की ओर खुला न रहता था। भीतर प्रवेश करते सपूर्ण पहाड़ ही ऊपरी छत के समान दीख पड़ता है। विहार के बद आंगन की लंबाई-चौड़ाई पूरे निवास-योग्य भाग पर निर्भर करती थी। बद आंगन के चारों ओर जो कमरे होते, उन्हें सीमित क्षेत्रफल में काट कर बनाया जाता। एक ही प्रवेश-द्वार होना। कमरों में खिड़की नाम की कोई चीज न होती थी। तात्पर्य यह है कि सभी आंगन, बरामदा तथा कमरे पहाड़ के अंदर बनाए जाते। बाहर से दर्शक को केवल बाहरी स्तंभ-युक्त बरामदा दीख पड़ता है। बरामदे के ऊपर पर्वत की प्राकृतिक छटा दृष्टिगत होती है। अतः, इस प्रकार (ग्रामीण घर के आकार-प्रकार) की पर्वतो पर खोदी गई गुफाएँ 'विहार' कहलायीं।

उसी स्थान पर विभिन्न प्रकार से गुफा पृथक् खोदी जाती थी, जिसे 'चैत्य' कहते थे। उसे घोड़े के नालनुमा (घुडनाल Horse Shoe Shape) खोदा जाता। एक छोर पर स्तूप (चैतिय) की स्थिति से उस गुहा को 'चैत्य' कहा गया है।

चैत्य शब्द (चित्य + अण) पूजास्थान का बोधक है। बौद्धकला से चैत्य का गहरा संबंध तो है ही, किंतु वैदिक साहित्य तथा संस्कृत-ग्रंथों में चैत्य शब्द प्रायः देवायतन के साथ-साथ प्रयुक्त हुआ है। रामायण में वर्णन आता है

कि भरी जिस समय अयोध्या लौटे, उस समय उन्हें चैत्यो तथा देवायतनो में बने घोंसलों में पक्षीगण दिखलायी पड़े थे ।

ध्यानसंविग्न हृदया नष्ट व्यापार यंत्रिताः ।

देवायतन चैत्येषु दीनाः पक्षि मृगास्तथा ॥ २/७१/४२

हनुमान को लका में हजार खभो वाला एक चैत्य प्रासाद दिखलाई पड़ा था, जो गोलाकार तथा बहुत ऊँचा था ।

स ददर्शविद्वरस्थ चैत्य प्रासाद मूर्जितय ।

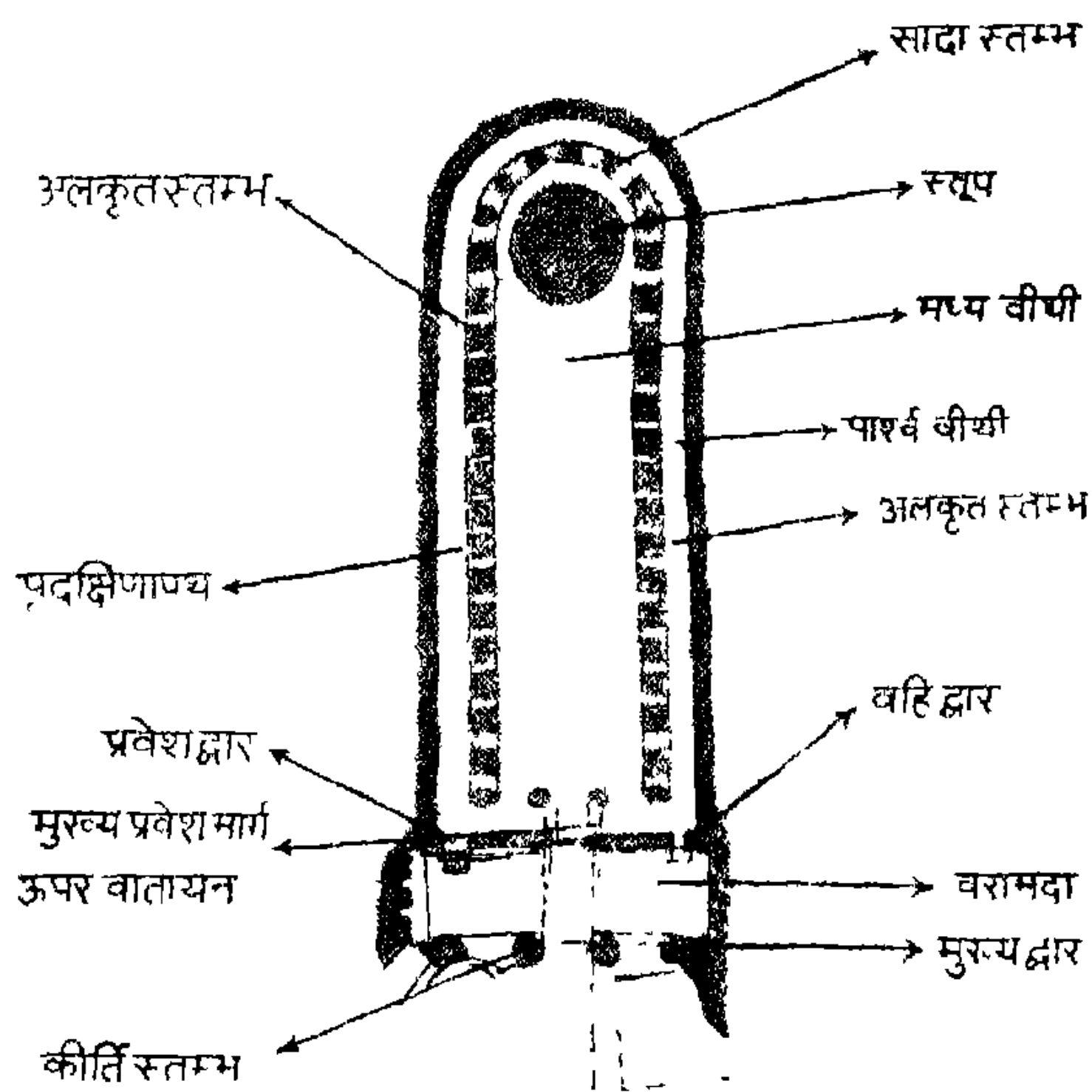
चैत्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है जिसमें ग्राम देवतास्थान, देवमंदिर या बौद्ध यतनानि का अर्थ स्पष्ट है । अमरकोश में चैत्य को (चि चयने ध तु प्रस्तर तथा ईंट द्वारा निर्मित भवन कहा गया है—

चीयते पाषाणादिना इति चैत्यम्

दिवगत महापुरुषों या नृपतियों की स्मृति में चैत्य नाम के स्मारक खड़े किए जाने थे । उन्हीं प्राचीन वैदिक परंपरा के अनुसार बौद्ध लोगो ने स्तूप (चैत्य) का निर्माण किया था, जिसका विवरण मिछले खड में दिया गया है ।

हीनयान युग में जितने समतल मैदान में स्तूप का निर्माण हुआ—भरहुत, बोधगया, साची, अमरावती अथवा पर्वतों की ऊँचाई पर तैयार हुए थे, उनका आकार सर्वविधित है । उन्हीं युग (श्रु गकाल) से पूर्व संघ की स्थापना हो चुकी थी । भिक्षुगण के निवास का प्रश्न प्रमुख होता जा रहा था । अतएव, पश्चिमी पर्वतशृंखला में अनेक विहार खोदे गए । इसके पश्चात् चैत्य उत्कीर्ण हुए, जो खुदाई के कार्य में द्वितीय स्थान रखता है । पर्वत को काट कर घोड़नाल के आकार में चैत्य तैयार किया जाता । ऊपरी पर्वत को अर्द्ध-गोलाकार खोदा जाता और घुड़नाल की गोलाई के चाप पर स्तूप तैयार किया जाता था । इसी कारण गुहा 'चैत्य' मंडप नाम से पुकारी जाने लगी । सर्वप्रथम चार स्तंभों के सहित बरामदा खोद दिया जाता और ग्रामीण झोपड़ी के मूलाकार को ध्यान में रख कर ऊपरी भाग अर्द्धगोलाकार बनाया जाता, जैसे झोपड़ी का ढाँचा बनाते समय बाँस को पतला कर चौड़ाई तथा लंबाई में फैला कर जाली तैयार करते हैं । जिस पर फूस रखकर रस्सी से बाँध देते हैं । उठा कर ऊपरी भाग को मेहराब बना कर बाँस के खभों में झोपड़ी के किनारों को भी रस्सी से बाँधते हैं । तभी वह वास्तविक रूप में झोपड़ी बनती है, जिसके नीचे ग्रामीणजन बैठते हैं । चैत्य का भी आकार डाटदार होता है । ऊपरी भाग गोल है । बाँस के ढाँचे के स्थान पर पहाड़ की कटान में

लकड़ी की शहतीर गोलाई में स्थिर की गई है। पर्वत के खोदने पर लकड़ी के शहतीर का कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु एक मात्र उद्देश्य यह था कि इससे पुराने समय की झोपड़ी की कल्पना की जा सके। फूस के स्थान पर पर्वतीय भाग है। झोपड़ी को स्थायी रखने के लिए बाँस के खंभों में उस ढाँचे को बाँधते हैं। चैत्य में, पर्वत को खोद कर खंभे बनाए गए हैं जिनके, ऊपरी भाग में लकड़ी गोल शहतीर की तरह आकर मिल गई है।



कार्ले चैत्य-घोड़नाल नुमा

चैत्य तैयार करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि यह पूजा-स्थान है, इसलिए उपासकों को स्तूप (चैत्य) तक जाने का मार्ग आवश्यक था। इस योजना की पूर्ति के लिए कलाकार पर्वत को खोद कर खंभा तथा दीवाल के बीच गलियारा तैयार करता था, जिसे उपासक प्रयोग कर सके। गुफा खोदते समय वरामदा का होना जरूरी था। चैत्य के वरामदा में

तीन द्वार होने थे । किनारे के दरवाजे से उपासक पार्श्व बीथी यानी गलियारा (स्तंभ तथा दीवाल के मध्य भाग) में घुसता था । वह उसी मार्ग से स्तूप के समीप पहुँच जाता । तत्पश्चात् परिक्रमा कर वह विपरीत दिशा के गलियारे से बाहर चला आता था । स्तंभों के बीच का भाग, (मध्य बीथी) पुजारी के लिए सुरक्षित था । वरामदा के मध्य दरवाजे से उस मध्य भाग में प्रवेश कर भिक्षु पूजा संपन्न करता था । हीनयान मत में प्रतीकों का पूजन मात्र निहित था । उन प्रतीकों (हाथी, वृक्ष, चक्र तथा स्तूप) में स्तूप को उत्कीर्ण करना कलाकारों के लिए सरल कार्य था, इसी कारण गुहा में स्तूप का आकार खोदा गया और गुहा 'चैत्य' के नाम से प्रसिद्ध हुई । इस विषय पर बल देना उचित होगा कि कलाकार मूल आकार को ध्यान में रखकर प्रायः पर्वत के अधोभाग से ही खुदाई आरंभ करते थे । प्रथम वरामदा तैयार करते । गुफा में प्रवेश-मार्ग बनाते तथा शनैः-शनैः सपूर्ण आकार को खोद कर निर्मित करते । गुहा-निर्माण की यही विशेषता थी । कलाकारों के लिए सतर्क होकर मूलाकार को चिंतन कर आँगन, कमरा एवं भीतरी वरामदा क्रमशः बनाते । चैत्य-निर्माण में घोंडनाल तथा ग्रामीण झोपड़ी की ऊपरी गोलाई को ध्यान में रख कर पहाड़ खोदते थे ।

शुंगकाल में प्रतीक पूजा का प्रचार था । अतएव, चैत्य यह प्रमाणित करते हैं कि यह हीनयान युग की कृति है । तात्पर्य यह है कि ईसवी पूर्व निर्मित चैत्यों में केवल स्तूप दीख पड़ता है । भाजा, नासिक, कनहेरी, पितलखोरा, अजंता (गुहा सं०, ९ व १०) के चैत्य हीनयान कला की देन है । कालांतर में महायान कलाकारों ने उस स्तूप पर बुद्ध की प्रतिमा जोड़ दी यानी दर्शको के संमुख स्तूप के भाग पर बुद्धप्रतिमा-उत्कीर्ण की । महायान मत में बुद्ध प्रतिमा पूजित होने लगी । प्रतीक का स्थान मूर्ति ने ले लिया । यही कारण था कि नए चैत्यों में स्तूप के साथ बुद्ध-प्रतिमा जुड़ी है । यह कालें तथा अजंता (गुहा सं० १९ तथा २६) तथा-एलोरा की विश्वकर्मा नामक गुहा में स्पष्ट दीख पड़ता है । चैत्य में प्रवेश करते ही सुंदर बुद्ध-प्रतिमा ध्यान आकर्षित करती है । कालांतर में पाँचवीं सदी के पश्चात् चैत्य तथा बिहार का संमिश्रण हो गया । बिहार के एक केंद्रीय कमरे में बुद्ध-प्रतिमा स्थापित होने लगी और चैत्य सदा के लिए समाप्त हो गए । बिहार में प्रवेश करते संमुख बुद्ध-प्रतिमा दीख पड़ती है तथा तीन दिशाओं में भिक्षुगण के निवास के लिए कमरे बने हैं । पूजाविधान की ऐसी प्रधानता हो गई कि ६००-१२०० ई० तक चैत्य की ओर ध्यान तक न दिया गया । एलोरा की गुफाएँ इसके

ज्वलंत के उदाहरण है। बुद्धमत की तीसरी शाखा वज्रयान पर ब्राह्मण मत का अधिक प्रभाव पड़ा अतः, वज्रयानी प्रतिमा पूजन के द्वारा ही धार्मिक कृत्य संपन्न करने लगे। यदाकदा वज्रयान प्रतिमा के सिरे प्रस्तर पर दो स्तूप का निरर्थक आकार दीख पड़ता है।

इस प्रकार ईसवी पूर्व सदियों से दसवीं शताब्दी तक गुहा-निर्माण होता रहा। पहले हीनयान तत्पश्चात् महायान गुहा। किन्तु उत्तर गुप्तकाल से दोनों विहार एवं चैत्य का समिश्रण हो गया।



तीसरा अध्याय

गुहा का इतिहास

प्राचीन काल में भारत में गुहा-निर्माण के क्रमिक विकास का इतिहास जानने के लिए उनके वास्तुकला पर ध्यान देना आवश्यक है। उनके पीछे एक धार्मिक परंपरा काम करती रही। उसके इतिहास को जानने में गुहा के दीवारों पर अंकित लेखों से भी अधिक सहायता मिलती है। यह तो बतलाया जा चुका है कि बौद्ध साधुओं के निवास तथा पूजास्थान के निमित्त गुहाएँ खोदी गईं। पहले बौद्ध मत में परिव्राजक भ्रमण कर भिक्षा मांगते रहे, इसी कारण उन्हें भिक्षु की सजा दी गई। किंतु, सघ की स्थिति में एकत्रित निवास आवश्यक हो गया और परिश्रम के साथ पर्वतों को खोद कर गुफाएँ तैयार की गईं। यह एक असाधारण कार्य था, परंतु बौद्ध कलाकारों की हस्तकुशलता के कारण यह संभव हो सका। उसी के फलस्वरूप समस्त भारत में गुफाएँ वर्तमान हैं। गुहा का इतिहास बौद्धमत के धार्मिक सिद्धांतों से घनिष्ठतम संबंध रखता है। इसी पूर्व की तीसरी शताब्दी में मौर्यसम्राट् अशोक के बौद्ध सघ में प्रवेश करने पर भारतीय कला में हीनयान द्वारा पूजित प्रतीकों को स्थान दिया गया। अशोक ने बौद्धमत के प्रचार के लिए विदेशों में धर्मदूत भेजा। उसने चार प्रकार के इमारतों (आकार) का निर्माण किया (स्तंभ, स्तूप, पाटलिपुत्र कुम्हार का राजप्रासाद तथा गुहा), जिनमें गुहा-निर्माण की घटना अद्वितीय थी। बिहार प्रदेश के गया जिले में बेना रेलवे स्टेशन के समीप बराबर तथा नागार्जुनी नामक पहाड़ियाँ हैं। उनके चट्टानों को खोदवा कर अशोक ने बराबर की तीन गुफाओं को आजीविक भिक्षुओं के लिए दान दिया था। नागार्जुनी पर्वत की तीन अन्य गुफाओं को दशरथ ने भी आजीविक संघ को ही दान किया था।

लाजिना पियवसिना दूवाडस वसाभिसितेन इयं कुमा खलतिक पवतसि विना आजीविकेहि।

अतः, गुहा-लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य-काल में गुहा-निर्माण प्रारंभ हो गया था। अशोक के दो गुहा लेखों में दुवाडस वसाभिसितेन

(अभिषेक के १२वें वर्ष) वाक्य का उल्लेख मिलता है, किंतु सुप्रिय गुहा की तिथि १९वें (एकुनवीसति वसाभिसितेन) अंकित है। इस प्रकार दो गुहाएँ इसी सन् पूर्व २५८ वर्ष (२७०-१२) तथा सुप्रिय ई० पूर्व २५१ वर्ष खोदी गई थी। तत्पश्चात् दशरथ ने करीब ई० पू० २२० में नाग-जुनी पर्वत में गुफा खुदवा कर आजीविक साधुओं को दान दिया। यह आश्चर्य है कि अशोक तथा दशरथ ने आजीविक संघ को ही गुहा-दान किया था। उस समय अशोक स्वयं बौद्ध होकर धर्मप्रसार में लग गया था, किंतु बौद्धसंघ के लिए निवासस्थान (बिहार) या पूजा स्थान (चैत्य) का आयोजन नहीं किया। यद्यपि सांची, सारनाथ, कौशाबी अभिलेखों में बौद्ध संघ को सुदृढ़ रखने एवं बिभेद न पैदा होने की आज्ञा प्रसारित की थी। ऐसे सम्राट् द्वारा बौद्ध-बिहार के निर्माण का अभाव स्वकता है। आजीविक संघ को दान उसकी सहिष्णुता का परिचय देता है। जो कुछ भी उसका कारण हो, परंतु यह तो विदित है कि गुहा के इतिहास में बराबर की गुहाएँ सर्वप्रथम स्थान रखती हैं। उनकी निर्माण-शैली का विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा।

मौर्य-शासन के अंत में वास्तुकला की परंपरा (शुंगकाल में) परिवर्तित हो गई। यों तो पुष्यमित्र ने ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान किया, परंतु बौद्धकला की दिनोदिन उन्नति होती गई। पूर्वी भारत (उड़ीसा) तथा पश्चिमी पर्वत शृंखला सह्याद्रि में गुहा-निर्माण का कार्य अग्रसर होता रहा। भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि पर्वत को खोद कर कई गुहाएँ तैयार हुई थी, जो जैनधर्म से संबंध रखती हैं। खारवेल का लेख हाथी गुफा (= गुहा) में खुदा है। उसी के समीप उसकी रानी महिषि द्वारा तैयार गुफा दीख पड़ती है—

कलिगानं सम नान लेनं कारितं

सिरि खारवेलस अगमहिंसि करितं ।

[कलिङ्ग के श्रमणों (जैन साधुओं) के लिए खारवेल की महिषि ने लेन (गुहा) खुदवाया]

यद्यपि इन लेखों में तिथि का अभाव है, परंतु पुष्यमित्र तथा खारवेल की समसामयिकता के आधार पर उदयगिरि की उन गुफाओं की निर्माण-तिथि ई० पू० पहली शती मानी जाती है। उसी शताब्दी में दक्षिण के सातवाहन-नरेश कृष्ण ने नासिक तथा सातवाहन-वंश के तीसरे शासक सातकर्णी की पत्नी नायनिका ने नानाघाट (पूना, महाराष्ट्र) नामक स्थान पर गुफाओं का निर्माण कराया था।

ई० स० पूर्व में सह्याद्रि पर्वत में अनेक गुहाएँ निर्मित हुईं, जिनके निर्माणकर्त्ता का उल्लेख नहीं मिलता। विशेष कर चैत्य मंडप की गुहाएँ खोदी गई थी। यह सर्वविदित है कि मौर्य-युग से लेकर शुंगकाल तक बौद्धकला हीनयान मत से प्रभावित थी, जिस कारण भिक्षुगण प्रतीकों की पूजा किया करते थे। सुविधा को ध्यान में रखकर कलाविदों ने चैत्यों में स्तूप को ही स्थान दिया था। उनके घुड़नाल के चाप ओर स्तूप का आकार आज भी विद्यमान है। अतएव, जिन चैत्यों में स्तूप का आकार वर्तमान है, उन्हें हीनयान युग की गुहाएँ कहना सर्वथा उचित होगा। तिथि के क्रम में ई० स० पूर्व द्वितीय शती मानना युक्तिसंगत होगा। इस श्रेणी में आठ चैत्यों के नाम लिए जा सकते हैं। भाजा, कोनदने, पितलखोरा, अजंता गुहा सं० १०, अजंता गुहा (चैत्य) सं० ९ पांडुलेण नासिक, वेदसा तथा कार्ले की गणना हीनयान चैत्य के रूप में होती है। सारी गुहाएँ (यानी चैत्य) पश्चिमी घाट की पर्वतमाला में खुदी हैं। अधिक गुहाएँ पूना के आसपास हैं। पांडुलेण नासिक जिला (महाराष्ट्र) तथा अजंता औरगावाद एव जलगाँव स्थानों के मध्य में स्थित है। यह आश्चर्य की बात है कि उत्तरी भारत में बौद्धमत का प्रचार होने पर भी चैत्य पश्चिमी घाट के पर्वतों में खोदे गए। इसका एक मात्र कारण यह था कि सह्याद्रि की शृंखला काले पत्थर तथा कड़ी चट्टानों से बनी है, जिसमें सभी आकार की गुहाएँ खोदी जा सकती थी। उत्तरी भारत के हिमालय की चट्टानें बालुदार मुलायम होती हैं। उनमें किसी प्रकार के भवन तैयार नहीं हो सकते तथा बनावट स्थायी नहीं रह सकती। अतएव, कमजोर चट्टानों में अस्थायी विहार तैयार करना शक्ति का अपव्यय ही होता। उपरिलिखित क्रम में चैत्यों का उल्लेख वास्तुकला को ध्यान में रख कर किया गया है। भाजा के चैत्य में अलंकरणहीन स्तंभ वर्तमान हैं, जो आगे चलकर कार्ले में सुंदर तथा अलंकृत स्तंभ बनाए गए। कनहेरी चैत्य हीनयान-युग की अवनति का द्योतक है। यद्यपि ऊँची शैली को संमुख रख कर कार्य किया गया, किंतु हीनयान के अंत होने से समुन्नत न हो सका। इनका वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा। यहाँ इतना कहना यथार्थ होगा कि एक ही पर्वत-चट्टान को लेकर चैत्य भी निर्मित हुए थे, किंतु क्रमशः अलंकारयुक्त तथा शोभनीय होते गए। कलाकारों के हृदयों को दिव्य कलात्मक भावनाएँ प्रभावित करती गईं, जिसकी अभिव्यक्ति हमें चैत्यों में मिलता है।

चैत्य के समीप शनैः-शनैः विहार तैयार किए गए, जिनकी संख्या भिक्षुओं की वृद्धि के कारण बढ़ती ही गई। जिन स्थानों पर चैत्य का वर्णन किया

गया है, वहाँ अनेक विहार विद्यमान है। उनकी तिथि के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। दक्षिण भारत के सातवाहननरेश तथा पश्चिमी भारत के क्षत्रप शासको द्वारा जितने विहार बनाए गए, उन पर अभिलेख अंकित है। इसलिए उनकी तिथियाँ ज्ञात हैं। अन्य अनेक विहार हैं, जहाँ से कोई लेख प्राप्त नहीं हुआ है। उन सभी विहारों की बनावट (शैली) के परीक्षण से सामान्य रूप में निर्माण की तिथियाँ निर्धारित की जाती हैं। आंध्र तथा तामिलनाडू में अनेक विहार पर्वतों से संलग्न (कोडा शब्द का प्रयोग, पर्वत के लिए मिलता है) विशाखापट्टनम् जिले में मिली हैं, जो सातवाहनयुग में निर्मित हुई थी। संक्रम तथा रामतीर्थम् के अतिरिक्त सिंहलविहार अत्यंत प्रसिद्ध है, जो लंका (सिंहलद्वीप) के भिक्षुओं के निवास के निमित्त बना था। नागार्जुनी कोडा में कई विहार वर्तमान थे। तीसरा आधार उन विहारों की खुदाई से प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री भी है। सभी उपलब्ध सामग्रियों का अनुशीलन हमें उन विहारों के निर्माण पर प्रकाश डालता है।

सर्वप्रथम विहार छोटे आकार के बनाए गए, जिनमें गुहा-निर्माण की देखरेख करने वाले प्रमुख भिक्षु तथा कारीगर निवास करने लगे। क्रमशः उनका आकार बढ़ता गया और भारतीय ग्राम के गृह के स्वरूप को आदर्श मान कर विहार का आकार-प्रकार निश्चित किया गया। भेद केवल इतना था कि विहार चट्टान को खोदकर निर्मित हुए थे। सह्याद्री पर्वतश्रेणी में चैत्य-मंडप के साथ सर्वत्र विहार मिलते हैं। उनको लेण्वो में 'लेण' शब्द से व्यक्त किया गया है। लेण के निर्माता राजाओं के नाम तथा तिथियों का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। ई० स० की दूसरी शती में नासिक, काले, भाजा और जूनार आदि स्थानों पर सातवाहन तथा क्षत्रप नरेशों द्वारा निर्मित अनेक विहार विद्यमान हैं, जहाँ उन शासकों के अभिलेख भी अंकित हैं। उसके सहारे तिथि का अनुमान लगाया जाता है। नासिक की कई गुहाओं (सं० १० आदि) की दीवारों पर प्राकृत भाषा में लेख अंकित हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि क्षत्रप राजा नहपान के जामाता ऋषभदत्त ने गुहा-निर्माण कर कई ग्रामों को भिक्षुओं के व्ययनिमित्त दान दिया था। लेख निम्न प्रकार है—

सिध । वसे ४० + २ (४२) वेसाख मासे राजो क्षह्रातस क्षत्रपस नहपानस जामातरा दीनीक पुत्रेन उषवदातेन संघस चातुदिसस इय लेण नियातितं दत्त चानेन अक्षय-निवि कहापण सहस्रानि त्रीणी ३००० संघस चातुदिसस ये इमास्मि लोणे वसांतान ।

सारांश यह है कि वर्ष ४२ में क्षत्रप (= राजा) अहिरातवंशी नहपान का जामाता ऋषभदत्त ने चारों दिशाओं से आने वाले सघ (भिक्षुसंघ) को यह गुहा (लेण) दिया था। इस संघाराम में निवास करने वाले भिक्षुओं के व्यय के लिए तीन हजार मुद्रा (कार्षापण) दान किया था। उसी स्थान के दूसरे अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि ऋषभदत्त ने चार सहस्र मुद्रा (कार्षापण) द्वारा ग्राम को खरीद कर उस लेण में निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजन निमित्त (अन्न के लिए) उसे दान में दिया।

दत्त-दानेन क्षेत्रं ब्राह्मणस्य वाराहिपुत्रस्य अश्विभूतिस्य हथे कीणिता मूलेन काहाण सहस्रेहि चतुहि ४००० यो स पितु-सतकं नगरं सीमायं उत्तरायरायं दीसाय एतो मम लेने असतानं चातुदीसस भिक्षु मघस मुखाहारो भविसति।

[नासिक लेख]

पूना के समीप कार्ले नामक स्थान पर चैत्य-मंडप के समीप में ही एक अभिलेख अंकित है, जिसमें वर्णन मिलता है कि वलूरक संघ के भिक्षुओं के वर्षावास के निर्वाह के लिए (जीवन-यात्रा निर्वाह) करजिक नामक ग्राम को दान में दिया गया था। दानकर्ता नहपान का जामाता ऋषभदत्त ही था।

वलूरकेसु लेण—वासितानं पवत्रितानं चातुदिसस संघस पापणाय गामो करजिको दत्तो।

[कार्ले गुहा-लेख]

इन सब उद्धरणों से प्रकट होता है कि क्षत्रपनरेश नहपान का जामाता ऋषभदत्त बड़ा दानी था। उसने गुहा (लेख) खुदवा कर लेण की तिथियाँ उसमें निवास करने वाले भिक्षुओं के जीवन-निर्वाह के लिए ग्राम भी दान किया था। नासिक के लेख की तिथि ४२ तथा जूनार की ४६ उल्लिखित है, अतएव इस आधार पर उनकी तिथियाँ निश्चित की जा सकती हैं। यह सर्वविदित है कि उत्तर-पश्चिम में शासन करने वाले कुषाण राजाओं ने दक्षिण-पश्चिम भारत पर शासन के लिए अपने प्रातपति (गवर्नर) भेजे थे। उनकी पदवी क्षत्रप थी। इन्हें शक-क्षत्रप भी कहते थे। कुषाणनरेश कनिष्क ने ई० स० ७८ में एक संवत् चलाया, जिसे शक-संवत् कहा जाता है। (दक्षिण भारत में उसे सालिवाहन-शक भी कहते हैं तथा वही संवत् आज भारत का राष्ट्रीय-संवत् हो गया है) उसी से संबंधित तिथियों का उल्लेख (अंकन) कुषाण तथा क्षत्रप लेखों में एवं सिक्कों पर मिलता है। अतः, नहपान के नासिक की तिथि ४२ के आधार पर गुहा-निर्माण काल ई० स० दूसरी शती (४२ + ७८ = १२० ई०) माना जाता है।

कालें तथा जूनार की गुफाएँ भी उसी के समीप (४६ + ७८ = १२४ ई०) खोदी गई होंगी ।

दक्षिण के सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि, वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि तथा यज्ञ-श्री शातकर्णि के कई अभिलेख नासिक गुहा म० ३ की दीवारों पर अंकित मिले हैं, जिसमें त्रिरश्मि पर्वत पर गुहा (लेण) निवासी भिक्षुओं (प्रव्रजितो) के व्ययनिमित्त ग्राम या क्षेत्र-दान का विवरण मिलता है । सात-वाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रबल तथा प्रभावशाली नरेश था । उसने सात-वाहन-वश के शत्रु क्षत्रप राजा नहपान को युद्ध में हराया था, जिसका वर्णन पुलमावि के नासिक गुहा-लेख में मिलता है । स्ववरात-वस-निरवमेम करम = क्षह्रात वश (नहपान का कुल) को नष्ट किया । नासिक के समीप जोगल-थंवी में प्राप्त कई मह्य रजनमुद्राएँ भी उसे प्रमाणित करती हैं । उनमें नहपान के सिक्के पर गौतमीपुत्र शातकर्णि का छप्पा लगा है । सारांश यह है कि शातकर्णि ने विजय के उपरांत नासिक के समीप लेणनिवासी भिक्षुओं के लिए नहपान द्वारा प्रदत्त क्षेत्र अथवा ग्राम को पुनः दान कर दिया । यही उसकी स्त्री तथा पुत्र पुलमावि ने भी किया था ।

(अ) उमभदानेन भूतं निवतन सतानि वे २०० एत अम्ह खेत निवतरण सतानि वे २०० इमेम पवजितान तेकिरमिण वितराम ।

(ब) एय अहेम्हि पर्वत निरण्हुम्हि अह-धमदाने लेणे पति वसतान पवजितान भिखून गामे करवडीसु पुव खेत दत्त । त स खेत न कसते सो च गामो न वसति ।—ततो एतेम पवजितान भिखून तेरण्हुकानं ददम ।

(ग) निरुहुपवत सिखरे विमानवर निविसेम महिठीक लेण । एत च लेण महादेवी महाराज माता महाराज पितामहि ददाति—भिखु सघम ।

नासिक गुहालेख के इन उपरिलिखित उद्धरणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि त्रिरश्मि पर्वत पर गुहा निवासी भिक्षुओं के लिए दान दिया गया था । गौतमीपुत्र शातकर्णि नहपान का समकालीन था । अतएव, इन लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है ई० स० की दूसरी शती में इन गुफाओं का निर्माण हुआ होगा । नहपान ने प्रायः ई० स० १२४ तक राज्य किया, जिसके पश्चात् वह पराजित हुआ । अतएव, गौतमीपुत्र शातकर्णि की तिथि ई० स० १३० करीब स्थिर की जा सकती है । उसका पुत्र पुलमावि के नासिक लेख की तिथि राज्यवर्ष १९ अंकित है । इससे जान होता है कि पुलमावि ई० स० १४९ (१३० + १९) में शासन करता रहा, जब गुहा के निमित्त दान दिया गया ।

नासिक गुहा सं० ३ की दीवार पुलमावि का दूसरा दानलेख भी खुदा है । इसी राजा ने नहपान द्वारा प्रदत्त बलुरक लेन के निवासी भिक्षुओं को ग्रामदान किया था । (काले गुहालेख तिथि १३७ ई०) । सातवाहन नरेश यज्ञ-श्री शातकर्णि (ई० स० १८०) के शासनकाल में उसके सेनापति की पत्नी ने वास्वा गुहा (लेन) को भिक्षुसंघ के निवास के लिए तैयार किया था । इस विवरण से सातवाहन-नरेशों की नीति का अनुमान लगाया जाता है । ब्राह्मण (एक ब्राह्मण) होते हुए भी उसने भिक्षुसंघ के लिए आवास (विहार) तैयार कराकर क्षेत्र अथवा ग्राम दान किया, जिससे बौद्ध भिक्षुओं को भोजन मिल सके । यह कार्य उसकी धार्मिक नीति को श्रेयस्कर बतलाता है । भिक्षुसंघ को दान तथा बौद्धकला को प्रोत्साहन से सातवाहन-युग में विहार चैत्य तथा स्तूप का निर्माण अक्षुण्ण रूप से होता रहा ।

इगवी सन् की चौथी सदी में गुप्त शासन का प्रारंभ हुआ, जो वैष्णव मतानुयायी थे । विहार-निर्माण के कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं दीख पड़ती, किन्तु मंदिरों के साथ स्थान-स्थान पर सधाराम तैयार होते रहे । गुप्त-कालीन ऐतिहासिक सामग्रियों का अध्ययन यह सकेत करता है कि सारनाथ, कसिया तथा श्रावस्ती में बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ था । गुप्तकालीन भवनों के निर्माण में सुंदर अलंकृत स्तंभ काम में लाए गए, जिनके नीचे का आकार चार कोण था जो क्रमशः ऊपर आठ १६ या ३२ कोण के होते गए । ऊपरी भाग में पूर्ण घट के आकार की बनावट दीख पड़ती है । अतएव, निष्कर्ष यह निकलता है कि ऐसे सुंदर अलंकृत पूर्ण घट में युक्त स्तंभ की स्थिति से उन भवनों को गुप्तकालीन कह सकते हैं । इसके अतिरिक्त गुप्त-युग की प्रतिमाएँ तथा मृण्मयी मूर्तियों से भी बौद्धविहारों की समकालीनता स्थिर कर सकते हैं । प्रायः गुप्तकाल में बौद्ध विहार समतल भूमि पर ईंट-प्रस्तर को जोड़ कर तैयार होने लगे थे । चट्टानों के खोदने का कार्य प्रायः समाप्त हो गया । इसका कारण था बौद्धमत के केंद्र का स्थानांतर होना । स्यात् पश्चिमी भारत की सह्याद्रि पर्वतमाला को खोदने का कलाकारों को प्रोत्साहन न मिल पाया और पर्वतशृंखला के विहारों की उपादेयता न रही । जिन लक्ष्य को लेकर चैत्य के समीप विहार बने थे, वह लक्ष्य पूरा हो गया । राजाश्रय मिलने पर नए स्थान की खोज हुई । जिन स्थानों का भगवान बुद्ध से सीधा संबंध रहा, वहाँ ही भिक्षुसंघ खड़े हुए तथा विहार बनाए गए ।

पश्चिमी भारत में जितने स्थानों पर चैत्य-मंडप तथा विहार थे, उनका बौद्धमत से सीधा संबंध नहीं था और न वे किसी अर्हंत से संबंधित थे ।

संभवतः वे स्थान धर्मप्रचार के केंद्र रहे हों। संघाराम से भिक्षु धर्मप्रसार के लिए निकलता तथा पुनः वापस चला जाता। किंतु, चौथी सदी से संघाराम में नया जीवन आया।

गुप्तकाल में बहुत कम गुफाएँ तैयार हुई थीं। विदिसा (= भिलसा मध्यप्रदेश) के समीप उदयगिरि पर्वत की चट्टान को खोद कर चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में एक गुफा तैयार की गई, जिसमें चंद्रगुप्त द्वितीय के द्वारा ८२ वें वर्ष (= ८२ + ३१९) यानी ई० स० ४०१ में एक लेख खोदा गया। उस अभिलेख में शक क्षत्रप की पराजय का प्रायः वर्णन किया गया है। अन्य गुफाओं में बराह की प्रतिमा तथा शेषनाथी विष्णु की मूर्ति दीख पड़ती है। पाँचवीं सदी में अजंता की गुहा स० १६ तथा १७ का निर्माण हुआ था। वाकाटक वंश के राजा हरिषेण (ई० स० ४७५-५००) ने बौद्ध संघ को गुहा स० १६ दान दिया था। उसी के अधीन मंडलेशकुमार ने गुहा १७ को भेंट किया था। (अजंता गुहालेख इंडियन कलचर भा ७, पृ० ३७२)। अजंता की गुहा संख्या ८, १२, १३ और १५ 'चैत्य-मंडप' से असंबंधित होने के कारण कुछ काल पूर्व बनी होगी। गुप्त-युग में (पाँचवीं सदी से) गुहा का आधार तथा स्थान परिवर्तित हो गया। इस काल में महायान मत की बहुत अभिवृद्धि हुई। उसके साहित्य का इतिहास यह बतलाना है कि बौद्ध विद्वानों का दृष्टिकोण बदल गया। बौद्ध विहार केवल धर्म प्रचार के केंद्र न रहे, अपितु शिक्षा केंद्र के रूप में परिवर्तित हो गए। अतएव, पश्चिमी भाग से हट कर पूर्वी भारत में बौद्धों का कार्य बढ़ने लगा। महायान के प्रचार से चैत्य-मंडप से बुद्ध प्रतिमा स्थापित की गई और कालांतर में चैत्य का निर्माण समाप्त कर दिया गया। विहार के ही एक प्रमुख कमरे में बुद्धमूर्ति स्थापित की गई और समस्त भिक्षु उसकी पूजा करते थे। यानी 'चैत्य' तथा 'विहार' का संमिश्रण हो गया।

इसकी पुष्टि में केवल एक अभिलेख का उद्धरण ही पर्याप्त होगा। मथुरा से ई० स० १२९ ई० (श० स० ५१ = ५१ + ७८ = १२९) का एक बौद्ध प्रतिमा-लेख प्रकाश में आया है, जिसमें वर्णन किया गया है कि मथुरा में हुविष्क ने एक विहार का निर्माण किया और उसी में शक्य मुनि बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की। इस वर्णन से चैत्य एवं विहार का संमिश्रण स्पष्ट हो जाता है।

महाराजस्य देव पुत्रस्य हुविष्कस्य ५० + १ हेमंत मासे भगवतः शक्य मुनेः प्रतिमा प्रतिष्ठापित सर्व-बुद्ध-पूजार्थम्। सर्व दुःखोपसमनाय सर्व सत्त्व-हित सुखार्थं महाराज देवपुत्र विहारे।

इस प्रकार के भवन अधिकतर उत्तर गुप्तकालीन माने जा सकते हैं। पश्चिम भारत में इस परंपरा का पालन एलोरा तथा कहेरी की गुफाओं में दृष्टिगोचर होता है।

इस विषय का उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है कि पश्चिम भारत में ब्राह्मण गुफाओं का कार्य बौद्ध चैत्य या विहार के अनुकरण पर किया गया था। एलोरा में बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन गुफाएँ वर्तमान हैं। कैलासनाथ मंदिर आठवीं सदी में बना, जिसके पश्चात् अनेक गुफाएँ—एलिफेंटा तथा जागेश्वरी (बंबई के समीप टागुओ में) निर्मित हुईं। दशावतार गुहा (एलोरा) को इस कार्यक्रम में प्रथम माना जा सकता है। एलिफेंटा द्वितीय तथा कैलासनाथ (एलोरा) तीसरी सीढ़ी पर रखे जाते हैं। जागेश्वरी (सालसेट टापू) भी उसी प्रकार की ब्राह्मण गुफा है।

गुप्तकालीन बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से प्रकट होता है कि महायान मत में अनेक विद्वान हुए, जिनका प्रमुख कार्य बौद्ध साहित्य का सृजन था। साहित्यिक कार्य के साथ-साथ धर्म का प्रसार अवश्यंभावी था। किंतु, सह-याद्वि पर्वतो में निर्मित विहार के निवासी भिक्षु शिक्षा कार्य में रत नहीं थे। सभी विहार नगर से पाँच या दस मील की दूरी पर थे। भिक्षु नगरों से भिक्षा माँग कर विहार में लौट जाता और चैत्य-मंडप में पूजा किया करता था। गुप्तकाल से महायान भिक्षुओं का ध्यान शिक्षा की ओर बढ़ गया। ब्राह्मण धर्म के पंडितों से शास्त्रार्थ करना तथा बौद्ध मत (महायान) की पुष्टि करना उनका एक प्रमुख कार्य हो गया। पाँचवीं सदी के पश्चात् धार्मिक प्रचार के साथ साहित्य की भी अभिवृद्धि हुई। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुवंधु तथा असग का आविर्भाव गुप्तकाल में ही हुआ। दोनों ने बौद्ध दर्शन के भंडार को खूब भरा, विज्ञानवाद का नया सिद्धांत निकाला तथा बौद्ध दर्शन में क्रांति मचा दी। दिङ्नाग बौद्ध न्याय के प्रवीण पंडित थे तथा 'प्रमाण-समुच्चय' की रचना की। महायान संप्रदाय पर भागवत धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। महायान भक्ति रस से परिपूर्ण हो गया। आश्चर्य तो यह है कि वैष्णवधर्मानुयायी गुप्त-सम्राटों के शासनकाल में पर्याप्त संख्या में बौद्ध प्रतिमाएँ बनने लगीं। सारनाथ के केंद्र में बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों की प्रचुरता है। फाहियान ने लिखा है कि ब्राह्मण धर्म के साथ बौद्धमत का भी अधिक प्रचार होता गया। ब्राह्मण धर्म की प्रतिमा-निर्माण-शैली का प्रभाव पड़ा। बुद्ध प्रतिमा में सूक्ष्म भावना, चिंतन, मनन तथा कोमलता का विशेष रूप से समावेश हुआ। सारनाथ

की बुद्ध-प्रतिमा-कला में चरमोन्नति दीख पड़ती है। केवल सारनाथ बौद्धकला केंद्र से सहस्रों बौद्ध-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मैदान के कला केंद्र—मथुरा तथा सारनाथ ने बौद्ध कलाकारों का ध्यान आकर्षित किया। अतएव, महायान के प्रचार से चैत्य मंडपों में स्तूप में सलग्न बुद्ध-प्रतिमा का उतना प्रचार न हुआ, जितना मैदान के बौद्धकला-केंद्र में। इस कारण चैत्य-मंडपों की प्रमुखता न रही। उनकी उपादेयता घट गई। इसका फल यह हुआ कि समतल भूमि पर विहार बनने लगे।

साची के (उसका प्राचीन नाम काकनादवोट था) विहार को चंद्रगुप्त द्वितीय के हेमपति अम्रकादंशु द्वारा एक ग्राम तथा २५ दीनार दान में देने का वर्णन आता है (साची लेख गु० सं० ९३ = ४१२ ई० का० इ० इ० भाग ३, पृ० ३१)। ई० सं० ४७९ में मयकुआर (प्रयाग, उत्तर प्रदेश) नामक स्थान में (प्रथम कुमारगुप्त के राज्यकाल में ही) बुद्धदेव की प्रतिमा स्थापित की गई थी। गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा की पीठ पर जो लेख अंकित है उनमें गुप्त राजा का नाम तथा गुप्त सन् में तिथियाँ उल्लिखित हैं। द्वितीय कुमारगुप्त तथा बुद्धगुप्त के नामों तथा गु० सं० १५४ एवं १५७ (= ई० सं० ४७३ और ४७) का उल्लेख बुद्ध-प्रतिमा के लेख में मिलता है। इन सभी प्रतिमाओं का निर्माण तथा बौद्ध साहित्य के सृजन से बौद्ध भिक्षुओं के कार्यक्रम में परिवर्तन आ गया। पर्वतों में खोदे गए चैत्य या विहार उन्हें आकर्षित न कर सके। मैदानों में रह कर 'बौद्ध दर्शन' तथा 'बौद्ध न्याय' की श्रीवृद्धि की। अनेक बौद्ध विहार स्थापित किए गए। सारनाथ तथा नालंदा के महाविहार इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। विहारों में शिक्षा की पद्धति अपनायी गई। शास्त्रों का प्रतिपादन होने लगा। विहार केवल भिक्षुओं के निवास के स्थान न रहे, अपितु बौद्ध उपासकों के तथा बौद्ध धर्मानुयायी धनीमानी लोगों के पुत्रों के भी शिक्षा-केंद्र हो गए। निलमुट्टी जातक में वर्णन आता है कि तक्षशिला में वाराणसी, राजगृह, मिथिला तथा उज्जयिनी आदि नगरों के बालक वहाँ शिक्षा प्राप्त करने जाते रहे। महाविहार बौद्ध शिक्षा संस्था के रूप में परिवर्तित हो गए। मिलिंदप्रश्न नामक बौद्ध ग्रंथ में इन बातों का समर्थन किया गया है। इत्सिंग ने लिखा है कि शिष्यों का समस्त भार अध्यापक (भिक्षु) पर था। बौद्ध शिक्षकगण रुग्ण विद्यार्थी की मुश्रूपा करते थे (टाकाकुसु—इत्सिंग, पृ० १२०) गुप्तकाल से विहार केवल बौद्ध धर्म प्रचार के केंद्र न रहे। उनमें त्रिपिटक के साथ शिल्पों की शिक्षा दी जाने लगी। तक्षशिला शिल्प-शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। बौद्ध शिक्षक तथा प्रमुख भिक्षु त्रिपिटक मात्र के अध्ययन-अध्यापन

से संतुष्ट न रहे, वरन् नार्मिक वाद विवाद तथा खडन-मंडन के लिए ब्राह्मण धर्मग्रन्थों का भी अभ्यास करने लगे। बौद्धों की इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली ने सुदूर प्रदेशों से विद्यार्थियों (विशेषतः बौद्ध सभ में प्रवेश करने वाले) को आकर्षित कर विहार को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के योग्य बना दिया। नालंदा (महाविहार आधुनिक विश्वविद्यालय) ने चीन से बौद्ध भिक्षुओं को आकर्षित किया। ह्वेनसांग ने नालंदा में वर्षों रह कर शिक्षा ग्रहण की थी।

समतल भूमि पर निर्मित 'विहारो' की तिथियाँ पुरातत्व की खुदाई से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर निश्चित हो चुकी हैं। सारनाथ के विहार से गुप्तकालीन प्रतिमा तथा प्रतिमा-लेखों की उपलब्धि से ही तत्कालीन विहार की तिथि स्थिर की गई है। दसवीं सदी के गहड़वाल नरेश गोविंद चंद्रदेव की बौद्ध पत्नी कुमारदेवी का एक शिलालेख सारनाथ में मिला है, जिसमें विहार-निर्माण की चर्चा की गई है। अतएव, वह विहार ११ वीं सदी का माना जाता है। इसी प्रकार नालंदा महाविहार के भग्नावशेष की खुदाई में अनेक तत्रयान प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनके आधार पर नालंदा वज्रयान का केंद्र माना गया है। वहाँ अनेक मुद्रा-लेख मिले हैं, जो बौद्ध भिक्षुओं के कार्य से संबंधित हैं। नालंदा के प्रमुख भिक्षु की अपनी मुहर थी। मूर्तियों पर लेख अंकित हैं। इन लेखों की लिपि पाल-युग की है। अतएव, इन प्रतिमाओं तथा मुद्रा-लेखों के आधार पर विहार आठवीं या नवम् शती के माने जाते हैं। विहार सं० १ में पालनरेश देवपाल का एक ताम्रपत्र मिला, जिसमें जावा द्वीप के शासक बालपुत्र देव द्वारा प्रार्थना की गई है कि (सुवर्ण) जावानरेश द्वारा निर्मित नालंदा के विहार को पाँच गाँव दान में देने की कृपा करे।

सुवर्ण द्वीपाधिपम महाराज। श्री बालपुत्रदेवेन।

दूतक मुखेन व्यम्बिज्ञापिता. यथा मया

श्री नालंदायाम्बिहारः कारितः।

ग्रामान् पच विपाञ्चतोपरिचियोद्देशा निमानात्मन पत्रो।

लोकहितोय दयाय च ददौ श्री देवपाल नृप॥

(देवपाल का नालंदा ताम्रपत्र लेख)

इस प्रकार नालंदा महाविहार अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका था। वहाँ के वर्तमान भग्नावशेष इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इस महान्, विशाल तथा प्रसिद्ध महाविहार में हजारों भिक्षु निवास करते थे। अध्ययन-अध्यापन होता था। भारत तथा बाहरी देशों से शिक्षा के निमित्त बौद्ध अनु-

यायी आया करते थे। चीनी यात्रीगण ह्वेनसांग तथा इत्सिंग के वर्णन से नालंदा विहार के विशाल आकार प्रकार का ज्ञान हो जाता है। नालंदा के लंबे-चौड़े तथा कई मंजिल के ऊँचे विहार ने बस्तियार खिलजी को सदेह में डाल दिया कि नालंदा का महाविहार, किला (सैनिक अड्डा) है अहिंसावादी भिक्षुओं का निवासस्थान नहीं। तिब्बत के भिक्षु धर्मस्वामी ने नालंदा के अवसान का विवरण उपस्थित किया है।

पुनः यह कहना असंगत न होगा कि गुप्त-युग से विहार-निर्माण की दिशा-बदल गई। यों तो सह्याद्रि में अजंता की गुफाएँ (विहार न० १, २, १२, १६, १७, आदि) बनीं। किंतु, उस प्रक्रिया का प्रायः अंत हो गया। समतल मैदान में ईंट-पत्थर जोड़ कर कई मंजिल के विहार तैयार होने लगे। पूर्व-मध्ययुग (ई० स० ७००-११००) में वज्रयान का प्रचुर प्रचार हुआ। वज्रयान पर ब्राह्मण मत का अधिक प्रभाव था। प्राचीन बौद्धमत से दूर जाकर तत्रयान ने अपना सिद्धांत निश्चित किया, जिसमें 'विहार' का कोई स्थान न था। महायान-युग में पुरानी परंपरा का निर्वाह दीख पड़ता है, यानी चैत्य-मंडप तथा विहार। किंतु, वज्रयान में भगवान् बुद्ध की भी प्रधानता जाती रही। समाज में आदि बुद्ध, पंच ध्यानी बुद्ध तथा उनके परिवार देवताओं की पूजा होने लगी। बुद्ध धर्म के ह्रास के युग में मैदान के विहार ही धर्म के केंद्र बने रहे। जैसे—नालंदा तथा विक्रमशिला महाविहार।

बौद्ध-युग में विहार दो कार्य संपन्न करते रहे। धार्मिक प्रचार के केंद्र होने के कारण प्रवक्तृ भिक्षु वहाँ बुद्धमत-संबंधी व्याख्यान अथवा उपदेश दिया करता था। उस विहार के निवासी भिक्षुओं तथा ग्रामीण उपासकों को समुचित स्थान पर स्थिर कर धार्मिक चर्चा हुआ करती थी। उपासकों को धार्मिक विषयों पर उपदेश तथा अध्ययन करा कर भिक्षु अपने कर्तव्य का पालन करते रहे।

द्वितीय मुख्य कार्य भारतीय शिक्षा से संबद्ध था यानी विहार 'शास्त्रीय-परिषद्' के रूप में कार्य-संचालन करने लगा। शिक्षा देना, शास्त्रार्थ का प्रबंध करना, ऊँचे शास्त्री का अध्यापन तथा साहित्य-सृजन आदि कार्य विहार में संपन्न होते रहे। नालंदा महाविहार में परीक्षा लेकर प्रमाण-पत्र देने की भी परिपाटी थी। इस प्रकार 'विद्या-परिषद्' के आदर्श कार्यों के कारण नालंदा संसार में प्रसिद्ध महाविहार हो गया था।

चौथा अध्याय

विहार को दान

भारत की प्राचीन परंपरा में संन्यासी (परिव्राजक) गृहस्थ आश्रम के पालन करने वाले जन समुदाय की सहायता से जीवन-यापन करता रहा और उन्हीं से भिक्षा माँग कर भोजन ग्रहण करता था। वैदिक शिक्षा में भी आचार्य के अंतैवासी ग्राम में 'भवती भिक्षां देहि' कह कर नित्य भिक्षाटन किया करते थे। स्मृतियों में 'यतिश्च ब्रह्मचारी द्वौ भिक्षा शिनौ स्मृतौ' का उल्लेख आता है। यति (संन्यासी) की परंपरा में हम बौद्ध भिक्षुओं की भी रखते हैं, जो उपासकों (गृहस्थ बौद्ध) से भोजन के लिए अन्न प्राप्त करते थे। भिक्षावृत्ति करने के कारण ही बौद्ध परिव्राजक 'भिक्षु' संज्ञा से प्रसिद्ध हुए। बौद्ध साहित्य में 'भिक्षु-भिक्षुणी' नाम से ही चर्चा की गई है। प्रव्रज्या के पश्चात् बौद्ध मत में प्रवेश करने पर व्यक्ति चाहे जिस आयु का हो, 'भिक्षु' ही कहलाता था। अशोक के धर्म लेखों में भिक्षु-भिक्षुणी-शब्दों का प्रयोग मिलता है। किंतु बौद्ध भिक्षुओं को, जिनकी कम आयु थी, अन्न-वस्त्र-से ही जीवन की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती थी। उनका जीवन वैदिक संन्यासी की तरह न था।

संघ में नए लोगों की शिक्षा तथा 'अध्ययन' का भी प्रश्न विचरणीय था। धर्मप्रचार के लिए धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन का कार्य भी अत्यंत आवश्यक था। इसलिए भिक्षा मात्र से सारी आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं थी। संघाराम में—भोजन, वस्त्र, औषधि और धर्मग्रंथों का लिखना आदि कार्यों के लिए द्रव्य की आवश्यकता अनुभव की गई। भिक्षु नित्य भिक्षा माँगने नगर में चले जाते थे। अतः, जनता से उनका कम संपर्क रखने के लिए भिक्षा-वृत्ति का अंत करना भी आवश्यक समझा गया। यही कारण था कि बौद्ध विहारों को जनता द्वारा दान दिए गए, ताकि समुचित ढंग तथा आदर्श मार्ग पर कार्य चल सके।

बौद्ध अभिलेखों तथा दानपत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि राजा, प्रजा (उपासक), राज्यकर्मचारी, धनीमानी लोग, श्रेणी (व्यापारिक संस्था)

तथा भिक्षु कलाकार दान किया करते, जिनकी पारस्परिक तुलना नहीं की जा सकती। यदि दान की वस्तुओं का वर्गीकरण किया जाए, तो वे दो उपविभागों में विभक्त हो सकती हैं।

(अ) उत्पादक वस्तुएँ—इस वर्ग में उन चीजों को रखते हैं, जिनसे आय की अभिवृद्धि होती थी। दान का अतः उन वस्तुओं में न था।

(ब) अनुत्पादक—वृद्धिहीन चीजें, जिनका शीघ्र अंत हो जाता।

प्रथम वर्ग में।

(१) ग्राम की भूमि को प्रमुख स्थान था। उसी भूमि के कर्षण से भिक्षुओं के लिए अन्न की प्राप्ति होती थी। कई अभिलेखों में भूमिदान का विवरण पाया जाता है। इस स्थान पर भूमि का क्षेत्रफल कम होता तथा आय अल्प मात्रा में होती थी।

(२) पशुओं का दान—उनके दुग्धधृत का उपयोग विहार के भिक्षु किया करते थे। घृत में प्रतिमा के समीप दीप जलाया जाता था।

(३) द्रव्य का दान—भूमिकर या नकद धन भी विहार को दान दिया जाता था। उसका उपयोग विभिन्न कार्यों के लिए किया जाता था। नकद पैसे को जमा कर बैंक से सूद लेते थे। बाजार के मकान (गृह) को दान करते थे, जिसमें किराया मिलता था और भिक्षुओं के जीवन-निर्वाह का साधन बन जाता।

(४) मूर्तिदान—ईसवी सन् के आरंभ में ही अभिलेखों में मूर्तिदान का विवरण पाया जाता है। यह भी एक पुण्य कार्य था। लोगों को विश्वास था कि प्रतिमा के दान से निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

(५) विहार का दान—ई० स० पूर्व सदियों में चैत्य मंडप के साथ विहारों की स्थिति सर्वत्र दीख पड़ती है। चैत्य-निर्माण का कार्य समाप्त हो जाने पर भी विहार की आवश्यकता बढ़ती ही गई। शासक तथा उपासक विहार का निर्माण भी पुण्य कार्य समझते और इस कारण अभिलेखों में कई विहार-दान का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

अनुत्पादक वस्तुओं में भोजन वस्त्र, ई धन, कंबल, पुस्तक, धातु की वस्तुएँ तथा प्रतिमा-दान की गणना होती है। इन वस्तुओं के दान की समाप्ति भी स्वाभाविक थी। इनका उपयोग ही कार्य का अंत था। इन्हीं उत्पादक तथा अनुत्पादक दान-सामग्रियों का विवरण कालक्रम के अनुसार उपस्थित किया जाएगा।

बौद्ध साहित्य के अनिर्विक्त अभिलेखों में संघाराम के लिए दान का वर्णन भरा पड़ा है। ईश्वरी मन् के आरम्भ में महायान मत में बुद्ध-प्रतिमा का आविर्भाव हुआ और पूजा का कार्य विस्तृत होने लगा। अतः, कुषाणकालीन लेखों में प्रतिमा-दान का विवरण प्रचुरता से मिलता है। कनिष्क ने बौद्ध होने के कारण स्तूप तथा विहार का निर्माण कराया, परन्तु उसके उत्तराधिकारी अधिकतर प्रतिमा-दान ही करते रहे। राजा तथा उसके राज्यपाल (महाक्षत्रप) इसी कार्य से पुण्य-लाभ की कामना करते थे। कनिष्क के तीसरे वर्ष (३ + ७८) ८१ ई० में वाराणसी के महाक्षत्रप खरपल्लवा ने बोधिसत्व प्रतिमा के साथ छत्रयष्टि (लाठी का दान किया था) स्थापित की थी।

- (१) महारजस्य कर्णिकस्य मं०... ३
- (२) बोधिसत्वो छत्रयष्टि प्रतिष्ठापितो
- (३) भिक्षुबलस्य त्रेपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो।

[मारनाथ बुद्ध-प्रतिमा लेख-ए० इ० भा ८, पृ० १७३]

कनिष्क के ग्यारहवें वर्ष में विहारस्वामिनी नामक उपासिका ने छत्रयष्टि की स्थापना की (दान किया)।

विहारस्वामिणि उपसिक-इमं यठि प्रतिठनं (स्मुविहार ताम्रपत्र लेख)

महेत महेत (प्राचीन श्रावस्ती, जिन्ना गोडा उत्तर प्रदेश) के एक लेख में भी बोधिसत्व के साथ छत्रयष्टि के दान का वर्णन मिलता है—

भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिटकस्य दान बोधिसत्वो छत्र दण्डश्च

[ए० इ० भा० ९ पृ० २९१]

कनिष्क के उत्तराधिकारी गण भी इसी प्रकार का दान देकर पुण्य लाभ करते रहे। वामिशक (वर्ष २८ = १०६ ई०) के साची से उपलब्ध प्रतिमा-लेख में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा-स्थापना का वर्णन किया गया है। धर्मदेव निर्मित विहार में भगवान् शाक्यमुनि की मूर्ति स्थापित की गई थी।

भगवतो धर्मदेवविहारे प्रतिष्ठापिता

कुषाणवशी नरेश हुविष्क के शासनकाल में बौद्ध-प्रतिमाओं की स्थापना स्थान-स्थान पर की गई। इस पुण्य कार्य (दान) का समाज पर इतना प्रभाव पड़ा कि जैन उपासको ने भी अर्हत महावीर की प्रतिमा दान की थी। लखनऊ संग्रहालय की एक जैन प्रतिमा की पीठ पर निम्न लेख अंकित मिला है —

महाराजस्य हृदिकस्य सचचर ४८ (४० + ८).....

यशाये दान समवस्य प्रोदि । प्रतिस्थापितम्

[ए० इ० भा० १० पृ० ११२]

ई० सन् १२६ (४८ + ७८) मे हृदिक के शासनकाल मे परिवार के यश-लाभार्थ संभव (तीसरे जैन तीर्थंकर) की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई । उस शासक के मथुरा प्रतिमा-अभिलेख मे वर्णन आया है कि सब प्राणियों के हित तथा सुख के लिए हृदिक द्वारा निर्मित विहार मे बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई ।

महाराजस्य देवपुत्रस्य हृदिकस्य सम्बत्सरे ५१ (= १२९-ई०) हेमंत मगवतः शक्यमुने प्रतिमा प्रतिष्ठापाति सर्वबुद्ध पुजात्थम्

सर्वदुखोपशमाय सर्व-सत्त्व हित सुखार्थं महाराजदेव पुत्र विहरे ।

बुद्ध-प्रतिमा-दान (स्थापना) का क्रम कम न हुआ । कालांतर मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है । गुप्तनरेश प्रथम कुमारगुप्त (ई० सन् ४४८) के शासन में भिक्षु बुधमित्र द्वारा प्रतिमा के दान का वर्णन एक अभिलेख मे किया गया है—

नमो बुधाय । भगवतो सम्यक् संबुद्धस्य स्व मता विरुद्धस्य
इय प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्ध मित्रेण

[मनकुवार लेख का० ई० इ० भा० ३, पृ० ४६]

पाँचवी सदी के अन्य दो गुप्त लेखों से सारनाथ में बुद्ध-प्रतिमा-स्थापना का उल्लेख प्राप्त होना है । अभयमित्र नामक व्यक्ति ने बुद्ध-प्रतिमा-दान कर यानी स्थापित कर पुण्य लाभ किया था ।

[अ] भक्त्यवर्जित-मनसा यतिना पुजात्थं भयमित्रेण

प्रतिमा-प्रतिमस्य गुणोरपरैय कारिता शास्तुः ।

[ब] करिताभयमित्रेण प्रतिमा शाक्य भिक्षुणा ।

[आ० स० इ० वा० रि० १९१४-१६, पृ० १२४]

भारत मे दान की महिमा का वर्णन धार्मिक ग्रंथों मे पाया जाता है । सभी मतों मे दान के महत्त्व का उल्लेख मिलता है । मौर्यसम्राट् अशोक के अभिलेखों मे साधारण दान (भूमिदान) से धर्मदान गुहा एवं भूमिदान को ऊँचा स्थान दिया गया है । उसके ग्यारहवें शिलालेख मे 'ब्राह्मण स्त्रमणानां साधुदानं' वाक्य उल्लिखित है (ब्राह्मण तथा साधुओं को दान उचित है) किंतु बारहवें लेख मे धर्मदान की महत्ता बतलाई गई है—

देवानापिये नो तथा दान वा पूजा वा मनति ।

अथा किति षालवडि शिया षव पाषंडति ।

मौर्यकाल के पश्चात् भारतीय अभिलेखों में अधिक संख्या दानपत्रों की है। बौद्ध-युग में विहार के भूमिदान देने का विवरण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। शासकों का इस ओर विशेष ध्यान था। द्वितीय शताब्दी के क्षत्रप तथा सातवाहन लेखों में दान का वर्णन प्रचुरता से मिलता है। संभव है, उन शासकों पर पौराणिक विचारों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। दान की महिमा स्मृतियों तथा पुराणों में विशेष रूप से वर्णित है। भूमिदान के पुण्य फल से वे स्वर्ग लाभ की कामना करते थे। दान से सारा पाप नष्ट हो जाता, ऐसा विश्वास था।

यत्किञ्चित् कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्षित, अपिगोचरं मात्रेण
भूमिदानेन शुध्यति। स नर सर्वदा भूप यो ददाति वसुन्धरान्
भूमिदानस्य पुण्यन फलं स्वर्गं पुरंदर।

उत्तरी तथा दक्षिण भारतीय अभिलेखों में सर्वत्र गुहा दान का विवरण उपलब्ध है। उत्तर-पश्चिम भारत से पल्लव नरेश अयस के शासनकाल में धनी व्यक्तियों तथा बुद्ध धर्मन्यायी ने संघ को दान दिया। पटिक के तक्ष-शिला ताम्रपत्र में ऐसा वर्णन है कि उसने शाक्य मुनि के भस्मपात्र को सघाराम में पूजा निमित्त स्थापित किया था। (का० इ० इ० भा० २ पृ० १७) तस्ते वहाँ लेख में संघ को दान देने का विवरण उपलब्ध हुआ है। (वही, पृ० ६३) धनी व्यक्तियों में अनाथ पीडिक द्वारा जेतवन के दान का उल्लेख भरहुत वेदिका के लेख में किया गया है, जहाँ चारों दिशाओं से आकर भिक्षु-निवास करते रहें।

इस प्रकार भूमिदान के महत्त्व को समझकर क्षत्रप शासक नहपान का जामाता ऋषभदत्त पुण्य लाभ तथा स्वर्ग की कामना से प्रेरित होकर भूमि दान करता रहा। क्षत्रप गुहालेख में उसके दान का वर्णन उपलब्ध है। ऋषभ-दत्त ने गुहा निर्माण कर भिक्षुसंघ को ग्राम (ग्रामभूमि)-दान में दिया था।

[अ] गोवर्धने त्रिरश्मिषु पर्वतेषु धर्मात्मा इव लेण कारितं
इया च पोढिया। चरक पषंभ्यः (परिव्राजकभिक्षुसंघ) ग्रामे
नालंगोले द्वात्रीशत नालगेर मूलन (नारियल वृक्ष) सहस्र प्रदेन

[ब] बलूरकेसु लेण वासिनं पवजितानं चातुदिसंस संघस याप
णाय ग्रामो करजिको बत्तो [कालेगुहालेख]

बलूरक गुहा में निवास करने वाले चारों दिशाओं के परिव्राजक संघ को (भिक्षुसंघ) करजिक नामक ग्राम दान में दिया गया, ताकि भिक्षुओं की जीवन-यात्रा का निर्वाह हो सके।

सातवाहन-कुल के कतिपय लेखों में गुहादान के साथ ग्रामभूमि के दान का वर्णन मिलता है। एक नासिक लेख में (प्रथम शती ईसवी पूर्व) उल्लेख है कि सातवाहन नरेश कृष्ण के शासनकाल में नासिक नगर निवासी भिक्षु ने गुहा-निर्माण कराया, ताकि सभी भिक्षु व्यवहार में ला सकें।

सातवाहन कुले कहे राजनि

नासिक केन समणेन लेणं कारित

सातवाहनवंशी अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि क्षत्रप राजा नहपान के पराजित होने पर सातवाहन नरेशों तथा रानियों ने भद्रियों को आज्ञा दी कि जितनी भूमि (ग्राम अथवा) क्षत्रप राजाओं द्वारा भिक्षुओं को दान में दी गई थी, वह सारा उन्हीं भिक्षु मठ को दे दिया जाए (दान कर दिया जाय)। उस क्षेत्र या ग्राम की आय या अन्य कर की वसूली सातवाहन-कर्मचारी न करे। समस्त आय भी उसी भिक्षु मठ को दे दिया जाए। इससे प्रकट होता है कि महाद्वि पर्वतमाला में निर्भिन विहार की सुरक्षा तथा भिक्षुओं के जीवन-निर्वाह निमित्त दान की योजना सातवाहन शासकों द्वारा तैयार की गई थी। नासिक के समीप त्रिरश्मि पर्वत में स्थित लेण तथा काले की बलूरक लेण का नामोल्लेख सातवाहन लेखों में किया गया है। गौतमीपुत्र शातकर्ण के नासिक गुहालेख में स्पष्ट वर्णन है कि त्रिरश्मि पर्वत गुहा (लेण) निवासी भिक्षुओं को ऋषभदत्त (नहपान का जायाता) ने जिस क्षेत्र को दान किया था, शातकर्ण उसी भूमि को पुनः दान करता है—

गामे अपर कखडिये या खेत अजकालकिय

उभभदानेन (= ऋषभदत्त) भूत निवतन

(= निर्वतन भूमि का माप करीब तीन एकड़) खताति वे

२०० ऐत अग्गखेत निवतण (= निवर्तन)

सतानिवे (= द्वे) २०० इमेस पवजितान

(= भिक्षु) तेकिरसिण (त्रिरश्मि पर्वत गुहा

निवासी) वितराम।

गौतमीपुत्र शातकर्ण की महारानी ने उसी स्थान पर दूसरा लेख अंकित कराया, जिसमें नासिक के कर्मचारियों को आदेश दिया गया है कि त्रिरश्मि पर्वत गुहा के निवासी भिक्षुमठ को कल्प्या ग्राम में जो भूमि दान में दी गई थी, उसको राजा की ओर से जोता न जाए। उस नगर सीमा में सौ निर्वतन राजकीय भूमि को भी दान दिया जाए। इसमें बौद्ध मठ के निवासी भिक्षुगण को भोजन निमित्त अन्न मिलेगा और उनका जीवन-निर्वाह होगा।

एथ अम्हेहि पवते तिरण्हम्हि अम्ह
 धमदान लेणें पतिवसतान पवजितान
 भिखून गामे कखडीसु पुवखेत दत्त त
 च खेत न कसते (= जोता जाए) ।
 सो च गामो न वसति । एवं सति य दनि
 एथ नगर सीमे राजक खेत अम्ह सतकं
 ततो एतेस पवजितान भिखून
 तेरण्हुकान ददम खेतस निवतण (निर्वतन)
 सतं १०० तस च खेत म परिहार वितगम ।

राजकीय खेत का भूमिकर दान देने के अतिरिक्त मातवाहन नरेशों की यह भी आज्ञा थी कि उस भूभाग में कोई राजकर्मचारी प्रवेश नहीं कर सकता (अपावेम) । उस भूमि से जितने प्रकार का खनिज पदार्थ निकले, वह सारा भिक्षु संघ को दिया जाए । (अलेख-वादक) इस प्रकार की दान-प्रणाली आदर्श वादी थी । उसके पुत्र पुलमावि के शासनकालीन कालें गुहालेख में उमी पुराने बलूरक पथ को सारा राजकीय कर के महित ग्राम दान में दिया गया ।

गामो दत्ता बलूरक-सघस बलूरक
 लेनस स करुकरो सदेय मेथो
 (सभी कर सहित) ए० इ० भा० ७ पृ० ७१

मातवाहनवशी दूसरे नासिक गुहालेख में भी (ई० सं० १६९) उस वंश की महारानी (पुलमावि की पतामहि) द्वारा तिरश्मि पर्वत शिखर पर स्थित भिक्षुसंघ को पिसाजिपदक ग्राम-दान का वर्णन मिलता है—

एत च लेण महादेवी महाराज पितामहि
 ददाति गामं तिरण्हुपवतस अपर
 दाखिण पसे पिसाजिपदक सब जात
 योग-निरठि (समस्त करों सहित)

पुलमावि ने भी सन् १५२ ई० में देवी गुहा के निवासी उसी भिक्षु संघ को सुदर्शन नामक ग्राम दान किया था, जिससे उस की वृद्धि हो ।

तिरण्हम्हि न धंम सेतुस लेणस
 पटि सथरणे (अभिवृद्धि) दत्त । एथ

गोबधनाहारे दक्षिणमगे गामो

सुवसिणा भिक्षुहि देविलेण वसाहि

उसी के समीप दूसरा समलिपद नामक ग्राम देवी गुहा के निवासी भदावनीय भिक्षुसंघ की वृद्धि के निमित्त दिया गया ।

[नासिक गुहालेख ए० इ० भा० ८, पृ० ६०-७२]

सातवाहन कुल के अंतिम सम्राट् यज्ञश्री शातकार्णि ने (ई० स० १८०) क्षत्रप लोगों को जीत कर राज्य का विस्तार किया था । उसने भी नासिक में गुहा नं० २० का निर्माण कराया तथा चारों दिशाओं से आगंतुक भिक्षुओं के निवास के लिए दान किया—

चातुदिसस च भिक्षु सघस आवासो दत्तो ति

[ए० इ० भा० ८ पृ० ९४]

इस वंश की अवनति के पश्चात् सातवाहन राजाओं के अधीनस्थ शासक (गवर्नर) राज्य करने लगे । नागार्जुनी कोण्डा (जिला गंटुर, तामिलनाडु) के क्षेत्र में इच्छवाकु नरेश राज्य करने लगे । उनके लेखों के अध्ययन से तथा अमरावती एवं जगयपेट्ट स्तूप निर्माण से ज्ञात होता है कि नागार्जुनी के भूभाग में बौद्ध मत का प्रचार था । राजाओं ने विहार का निर्माण कर भिक्षु संघ की वृद्धि के लिए दान किया था । तीसरी सदी के एक लेख में वीरपुरुषदत्त द्वारा श्री पर्वत के समीप विहार दान का वर्णन मिलता है ।

सिरिपवते विजयपुरीय पुव दिसा भागे

विहारे च ल धमगिरीय चेतियघरं

सचेतीय सब नियुत कारितं उपातिकाम

एक दूसरे लेख में महाचैत्य (स्तूप) के समीप नाना दिशाओं से आने वाले परिव्राजकों (भिक्षुओं) के निमित्त ऋंडप (विहार) बनाने का वर्णन किया गया है—

महाचेतिय पादमू ले पवजितानं

नानादेश समनागतात सब साधुनां

महाभिक्षुसघस.....पतिठापित

नागार्जुनी कोण्डा लेख ए० इ० भा० २० पृ० २१

इच्छवाकुवश के नरेश वीरपुरुषदत्त की पत्नी ने भिक्षुओं के लिए विहार तैयार कराया था ।

सिरी वीरपुरुषदत्तस माय्या महादेवीय

देय घम (= दानदिया) इयं सब जात

नियुतो विहारो अचरियान । बौद्ध

आचार्य वहसुतियानं पतिट्ठपितो

[ए० इ० भा० २१ पृ० ६२]

उत्तरी भारत में कनिष्क के पश्चात् (ईसवी सन् पहली सदी से तीसरी सदी तक) छोटे-छोटे राजा शासन करते थे, जिनके नाम समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित हैं। मध्य भारत तथा गंगा-यमुना दोआब में नागवंशी नरेश राज्य करते थे। उनके लेख तथा सिक्के उनकी स्थिति को प्रमाणित करते हैं। पंजाब तथा उत्तर पश्चिम में पित्रले कुषाणनरेशों का शासन था, जो शैव-मतानुयायी हो गए थे। अतएव, कनिष्क के पश्चात् गुप्त राजाओं के उत्थान तक किसी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक कार्यों का उल्लेख मली-भाँति नहीं किया जा सकता। बुद्धमत का ह्रास हो रहा था। चौथी सदी के आरम्भ से गुप्त नरेशों ने शासन आरम्भ किया जो वैष्णव मत के मानने वाले थे। किंतु, उनकी धार्मिक सहिष्णुता के कारण बौद्धों का समाज में आदर बना रहा। उन राजाओं ने बौद्ध सस्थाओं को दान दिया और बौद्ध कला को पोत्साहित किया। उनके दरबार में बौद्ध मतानुयायी राजकीय पद पर आसीन हुए। भागवत धर्म का प्रभाव महायान मत पर बढ़ता ही गया। फलतः चैत्य तथा विहार का समिश्रण हो गया। गुप्त काल में थोड़ी गुफाएँ खोदी गईं, परंतु उनमें ब्राह्मण देवी देवताओं की प्रतिमाएँ मिलती हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय (गु० स० ८२ = ४० ई०) ने विदिशा के समीप उदयगिरि पर्वत को काट कर गुहाएँ तैयार करायीं। उसमें शिवमूर्ति की स्थापना की—

भक्त्या भगवत इशम्भोर्गुहामेतामकारयत्

[का इ० इ० भा० ३ पृ० २५]

सांची के लेख में चंद्रगुप्त द्वितीय ने सांची के स्थानीय विहार (काकनाद-वोट-सांची का प्राचीन नाम है।) को पचीस दीनार दान किया था। यह कहना कठिन है कि काकनादवोट महाविहार का निर्माण किस व्यक्ति ने किया था। अन्य गुफाओं में वराह तथा शेषशायी विष्णु की प्रतिमाएँ खुदी हुई देख पड़ती हैं।

शासकों के समान कुछ बौद्ध मतानुयायियों ने भी बुद्ध प्रतिका का दान किया, जिसका विवरण मूर्ति की चौकी पर खुदे लेख से प्राप्त होता है। कुमार-गुप्त प्रथम, कुमार गुप्त तृतीय तथा बुधगुप्त के शासन काल में क्रमशः बुद्धमित्र और अभयमित्र ने बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की।

(अ) नमोबुधान । भगवतो सम्यक् सम्बुद्धस्य स्व मताविरुद्धस्य इय प्रतिमा
प्रतिष्ठापिता भिक्षुसंबुद्धभिन्नेन [मनकुमार लेख ४८८ ई०]

(व) भव्या वर्जित मनसा यतिना पूजात्थयभयभिन्नेन

प्रतिमा-प्रतिमस्य गुणौ—कारिता शास्तुः ।

(स) कारितभयभिन्नेन प्रतिमा शाक्यभिक्षुणा ।

गुप्तकाल से बौद्धों के सदृश ब्राह्मण सस्थाओं को भी दान दिया जाने लगा था कहना चाहिए कि बौद्धों विहार की दान-परंपरा का अनुकरण गुप्त तथा उत्तर—गुप्तकाल में होने लगा । यही कारण था कि बंगाल के अनेक लेखों में दोनों सस्थाओं के दान का विवरण उपलब्ध होना है । बंगाल के गुर्णधर ताम्र पत्र (ई० स० ५०७) तथा पहाड़पुर ताम्रपत्र (राजधानी-बंगला देश) में विहार के लिए भूमि दान का वर्णन मिलता है (३० हि० क्वा० भा० ६ ए० इ० भा० २०) । इनके अध्ययन में ज्ञात होता है कि बुद्ध की मूर्ति विहार में स्थापित की गई और उसी के पूजा-निमित्त भूमिदान में दी गई थी ।

महायानिकवेवर्त्तिक भिक्षुसंघनाम्परिगृहे भगवतो बुद्धस्य सतत त्रिकालं (सुबह, दोपहर-शाम) गन्ध-पुष्प-दीप धूपादि प्रवर्तनाय तपस्यभिक्षु सधस्य च चीवर पिण्डपान शयनासन ग्लान प्रत्ययभेष ज्यादि परिभोगाय विहारे खड स्फुट्ट प्रति सम्कार करणाय [गुर्णधर ताम्रपत्र]

दानपत्र में अतनी भूमि का दान वर्णित है, उसका आय में निम्नलिखित कार्यों के लिए व्यय का उल्लेख है—

(१) भगवान बुद्ध की मूर्ति की त्रिकाल पूजा जिसमें गन्ध, धूप, दीप और पुष्प का व्यवहार किया जाए । यह पूजा प्रकार ब्राह्मण-देवता के पूजा के फुट्ट सदृश परिलक्षित होता है ।

(२) विहार के निवासी भिक्षुओं के चीवर (वस्त्र निमित्त),

(३) सोने के लिए आसन का प्रबन्ध,

(४) बीमार के लिए औषधि का प्रबन्ध और

(५) विहार के भग्न होने पर उसके संस्कार (मरमत) के निमित्त । पहाड़पुर ताम्रपत्र के लेख में भी ऐसी ही विषयों की चर्चा है । भगवान बुद्ध की पूजा की वही रीति अपनायी गई थी, जिसे ऊपर वर्णन किया गया है । इन सभी कार्यों का अनुकरण ब्राह्मण धर्म से किया गया, जो पारस्परिक प्रभाव का द्योतक है ।

अधिष्ठित विहारे भगवतामहितां गन्ध धूप सुभनो दीपाद्यर्थ

उत्तरी बंगाल से अनेक लेख प्रकाश में आए हैं जिनमें विष्णु, गोविन्द-स्वामी, वासुदेव आदि के पूजा-निमित्त दान का उल्लेख है। (दामोदरपुर, फरीदपुर, ताम्रपत्र छठी सदी) पहाड़पुर (उत्तरी बंगाल) की खुदाई से अनेक विहारों का पता चला है, जिनका निर्माण समतल भूमि पर भिक्षुओं के आवास के लिए किया गया था। बंगाल में आठवीं सदी से पालवंशी राजाओं ने शासन आरंभ किया था, जिनमें अधिकतर बुद्धधर्मावलंबी थे। उनके लेखों में परम मौगत की पदवी तथा ताम्रपत्रों के विरे पर धर्मचक्र का आकार घोषित करता है कि पालनरेश बौद्ध थे। नालंदा तथा विक्रमशिला महाविहारों की वृद्धि का श्रेय पाल राजाओं को ही है। बुद्धमत के तीसरे यान वज्रयान के संस्थापक भी माने गए हैं। अधिकतर लेखों में 'ओनमो बुद्धाय' तथा 'भगवन्त बुद्ध भट्टारकम्' वाक्यों का प्रयोग-मंत्रों का उच्चारण यह प्रमाणित करता है कि उत्तरी भारत (विहार तथा बंगाल) में वज्रयान के अनुयायी अधिक थे। लेखों में वर्णित दान बुद्ध प्रतिमा के पूजार्थ या विहार में निवास करने वाले भिक्षुओं के जीवन-यापन के लिए दिए गए थे। नालंदा ताम्रपत्र विहार म० १ ग प्राप्त हुआ है, जिसमें परममौगत महाराजाधिराज श्री धर्मपाल के पुत्र परममौगत परमेश्वर महाराजाधिराज श्री देवपाल के शासन का वर्णन है। इस ताम्रपत्र को अंतर्राष्ट्रीय रूपान्ति प्राप्त थी, क्योंकि उसी में सुवर्ण द्वीप के (जावा) शासक बालपुत्रदेव द्वारा नालंदा में विहार-निर्माण का वर्णन है। उस जावानरेश ने देवपाल से पाँच ग्रामदान देने का आग्रह किया, ताकि उसकी आय से बालपुत्र देव द्वारा निर्मित विहार के भिक्षुओं का दैनिक कार्य सन्न हो जाए तथा उसकी आय से

- (१) वस्त्र,
- (२) भोजन,
- (६) आमन,
- (४) औषधि तथा
- (५) धर्मग्रन्थ-लेखन

का कार्य सुचारु रूप से हो सके। अतः, पालशासन के दान पत्रों का विश्लेषण यह प्रकट करता है कि पालनरेश बौद्ध थे। वज्रयान के आश्रयदाता थे। उनकी नीति तथा कार्यों का बौद्धधर्म से अनिष्ट संबंध रहा। नालंदा ताम्रपत्र से निम्नलिखित उद्धरण उस विषय को प्रकाशित करते हैं, अतएव उन पंक्तियों का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है—

नालंदागुणवून्वलुब्ध मनसा भवतया च शौद्धोदने
 बुध्वा शैलसरित्तरंग तरलां लक्ष्मीभिन्ना शोमनाम्
 यस्ते नीघ्नत सौघधाम धवलः सधा मिश्रशिया
 नाना सद् गुण भिक्षुसंघ बसतिः तस्याम्बिहारः कृतः

जिस नालंदा नामक स्थान में भिक्षुगण निवास करते हैं, वही विहार का निर्माण किया गया। इस विहार का निर्माण कर बालपुत्रदेव के निवेदन का विवरण नीचे लिखी पंक्तियों से उपलब्ध हो जाता है—

सुवर्णद्वीपाधिपममहाराज श्री बालपुत्रदेवेन दूतक मुखेन व्यम्बिज्ञापिता यथा मया श्री नालदाया विहार कारित तत्र भगवतो बुद्ध भट्टारकस्य प्रज्ञापारमितादि सकलधर्म्मने त्री स्थान स्यायाथे तांत्रिक बोधिसत्त्व गण स्याष्ट महापुरुष पुद्गल चातुर्द्विंशाय भिक्षुसंघस्य वलिचरुम्भ्र चीवरपिड पात शयनासनगलान प्रत्यय भेषज्याद्यथे धर्मरत्न लेखनाद्यथे विहारस्य च खडस्फुटित समाधानार्थ शासनी कृत्य प्रतिपादित ।

स्वर्ण द्वीप के महाराज बालपुत्रदेव के दूत ने निवेदन किया कि नालंदा में विहार का निर्माण हो चुका है। उसी स्थान पर चारों दिशाओं से आने वाले भिक्षुगण द्वारा बुद्ध की पूजा, मंत्र (भोजन) वस्त्र, धर्मग्रंथ के लिखने, औषधि निमित्त तथा विहार के संस्कार (मरम्मत) के लिए दान दिया जाय। उस विहार को देवपाल ने श्री नगर (पाटलिपुत्र) भुक्ति के राजगृह विषय (जिला) में स्थित चार ग्राम तथा गया जिले में स्थित एक ग्राम को दान दिया था। उनके नाम थे—नदिवनाक, मणिवाटक, नटिका, हस्ति तथा गालामक। उस ग्राम के सभी राजकीय कर (समुचित भागभोग कर हिरण्यादि प्रत्यायोग नय) दानग्राही यानी नालदा विहार के मुख्य प्रबंधक को ग्रहण करने की आज्ञा दी गई थी। उस भूमि की पैदावार तथा अन्य कर उपरिलिखित कार्यों (चीवर, भोजन, आसन औषधि, धर्मग्रंथ लेखन तथा विहार की संरक्षण (मरम्मत) के निमित्त व्यय किए जाएं। पालनरेशों द्वारा बौद्धमत को प्रश्रय मिलने से वज्रयान की वृद्धि हुई, नालदा जिसका प्रमुख केंद्र हुआ। वर्तमान काल में नालदा तथा कुर्कीहर (गया जिला) से अत्यधिक वज्रदान की धातु-प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनके उत्कीर्ण लेखों में पाल राजाओं का नामोल्लेख है और प्रसिद्ध बौद्धमंत्र अंकित है—

यो धर्मा हेतु प्रभवा हेतुं तेषा तथागतो ह्यध्वत्
 तेषां च यो निरोधो एव वादी महाधम्मणः ।

१० वीं सदी तक उत्तर भारत में बौद्धमत का संमान था। उपासकों तथा भिक्षुओं की संख्या कम नहीं थी। नालंदा महाविहार के विद्वान भिक्षुओं ने तिब्बत तथा चीन में बौद्धधर्म तथा साहित्य का प्रचार किया। मध्य एशिया होकर भारत का यश चीन तक पहुँचा और बौद्धमत के प्रचार होने पर ज्ञान-पिपासु चीनी यात्रियों ने मध्य एशिया के कठिन मार्ग को पारकर भारत में पदार्पण दिया। बुद्ध के तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया। देश की अवस्था का वर्णन भी अपने यात्रा विवरण में किया था। ह्वेनसांग ने वर्णन किया है कि नालंदा महाविहार को दो सौ ग्राम दान में मिल चुके थे। इस विवरण से महाविहार की विशालता तथा उससे संबंधित बौद्ध पंडित एवं भिक्षुगण के महत्वपूर्ण जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

नालंदा के मद्भूत सारनाथ भी एक प्रधान बौद्ध केंद्र था। अशोक के समय से ही शासकों का ध्यान उनकी ओर बना रहा। अशोक के स्तंभ एवं स्तूप, कनिष्क की बुद्ध प्रतिमा तथा गुप्त युग के विहार उस स्थान के महत्त्व को बतलाते हैं। इस तीर्थस्थान पर प्रतिमा दान के अनेक उल्लेख मिलते हैं। कुमारगुप्त तृतीय, बुध गुप्त तथा पालनरेश महीपाल के शासनकालीन बुद्ध प्रतिमाओं को उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। ग्यारहवीं सदी के गाहड़वाल राजा गोविन्द चंद्रदेव की पत्नी कुमार देवी बौद्धमत को स्वीकार कर चुकी थी। अतएव उसने एक बृहत विहार सारनाथ में तैयार कर दान किया, ताकि चारों दिशाओं के परिव्राजक निवास कर सकें। उत्तरी भारत में राजनीतिक परिवर्तन से सेन राजाओं ने बंगाल में बौद्धमत को निराश्रित बना दिया। अरब वाले के आक्रमण द्वारा विभिन्न दिशा में स्थित विहार भी नष्ट कर दिये गए तथा ब्राह्मणमत ने बौद्धधर्म को अक्रान्त कर लिया। अतएव दसवीं सदी के पश्चात् बौद्धमत का ह्रास होता गया।

दक्षिण भारत में बौद्ध केंद्र का विकास सातवाहन युग में हो रहा था। गंटूर के समीप नागार्जुनी कोडा तथा अमरावती के बौद्ध गुफाएँ एवं स्तूप विश्वविख्यात हैं। बौद्ध स्तूप को महा चेतिय का नाम दिया गया था। चैत्य के समीप विहार का निर्माण नितांत आवश्यक था। विशाखापट्टम् जिले में कई विहार बनाए गए थे, जो अब प्रकाश में आए हैं। तामिलनाडु में अनेक विहार का वर्णन मणिमेखलाई द्वारा उपलब्ध हुआ है। सातवीं के १०वीं सदी तक पांड्या तथा पल्लव राजाओं के शासन में अनेक बौद्ध विहार निर्मित हुए थे। नगपट्टिन नामक नगर का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है, जो

पल्लव तथा चोल नरेशों द्वारा महत्त्वपूर्ण केंद्र माना गया था। यही कारण है कि पल्लव नरसिंह वर्णन द्वितीय ने आठवीं सदी में बौद्ध गुफाएँ तैयार करायीं। कई सदियों बाद जावा द्वीप के नरेश ने इस स्थान पर भी विहार तैयार किया, जिससे नालंदा के सदृश नगपट्टिन को भी अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिल गई। दक्षिण भारत से पूर्वी द्वीप समूह का व्यापारिक संबंध था। जावा आदि द्वीप समूह से चोल मंडल पर जहाज आया-जाया करते थे। अतः, नगीपट्टिन के महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण सुवर्ण द्वीप के श्रीविजय नामक राज्य का शासक शैलेन्द्र वंशी चूडामणि वर्मन ने एक विहार का निर्माण किया, जिसे चोलनरेश राज राजा एवं कुलतग प्रथम के ग्रामदान में दिया था (जिस तरह देवागल ने बालपुत्रदेव द्वारा निमित्त विहार को दान दिया था) उसका विवरण लिडन में संग्रहित ताम्रपत्र पर अंकित लेख में मिलता है....

राज राजा केसरी

वर्मा स्वमाम्राज्य वर्षे एक विशतितमे निखिल धरणि तिलकायमाने क्षत्रिय शिखामणि बलनादु नास्ति महती जनपद निवाहे पट्टनकूटर नास्ति जनपद अनेक सुर सदन सत्रप्ररामाणि रामे विविध सीध राजमाने नागीपट्टन निजमति विभव विजित सुर गुरुणा बुधजन कमलवन मरीचिमालिआर्थिजन कल्पपादपेन शैलेन्द्र वंश सभूतेन श्री विषयाधिपतिना कटाहाधिपत्य मातवता मकरध्वजेना धिगत सकल राजविद्यस्य चूडामणि वर्मण पुत्रेण श्रीमार विजयोतुंग वर्मण स्वापितुरनाम्ना निर्मापित अधरीकृत कनक गिरीममुन्नति विभवं अति रमणीय चूडामणि वर्मणस्य विहार अधि वसते बुद्धाय तस्मिन्न धनपद निवाहे पट्टन कुरर नास्ति जनपदे करिणो परिक्रमण विस्पष्ट सीमा चतुष्टयं आनं मंगला मिधान ग्राममदात् ।

राज केसरी वर्मन राजराजा ने जिसने समुद्र पार चीजों (वैज्ञानिक) को देखा है, जिसके पैर राजाश्री के मुकुट मणि में प्रकाशमान है, चूडामणिवर्म नामक विहार को २१ वें वर्ष में दान दिया। वह विहार मेरु पर्वत से ऊँचा तथा सुंदर है और श्रीमार विजयोतुंग वर्मन द्वारा निमित्त किया गया था। वह अत्यंत ज्ञानी देवगुरु को जीतने वाला कमलवन के लिए सूर्य कल्पतरु के समान दाता, शैलेन्द्र वंश में उत्पन्न, कटाह द्वीप का स्वामी था, नागपट्टन में अनेक मंदिर, विहार, आरामवन आदि तैयार कराया था। तात्पर्य यह है कि सुवर्ण द्वीप के शासक द्वारा निर्मित बौद्ध विहार को चोलनरेश ने ग्राम-दान किया। जिससे उस विहार का आर्थिक प्रयोजन संपन्न हो सके।

बौद्ध विहार को दान देते समय शासको ने ग्राम-भूमि की सीमा का उल्लेख किया है। उन लेखों में स्थान-स्थान पर 'सकसकरो सदेय मेयो' (कालेंगुहालेख) वाक्य भी मिलते हैं। पालनरेशों के दान पत्र में 'सभागभोगकर हिरण्य प्रत्याय'

वाक्य उल्लिखित है। इससे ज्ञात होता है कि भूमिकर मुद्रा (नकद) दान (टैक्स) के अतिरिक्त अन्य सामयिक कर (जिसे लेखों में बलि शुल्क) चुगो आदि भी दानग्राही को

ग्रहण करने की आज्ञा थी। विहार में भिक्षुओं की बढ़ती संख्या को देखकर उपासकगण द्रव्य भी दे दिया करते, जिससे कार्य सुचारु रूप में संपन्न हो। उसका एक कारण यह भी था कि ग्राम भूमि के अन्न के अतिरिक्त अन्य आवश्यक कार्यों के लिए कभी द्रव्य की भी आवश्यकता अनुभव हुई। अतएव, विभिन्न मार्गों से आय पाकर ही विहार का कार्य भली-भाँति चलता था। वस्त्र एवं औपधि जैसी वस्तुएँ हैं, जिनकी आवश्यकता किसी समय हो सकती है। उन उपयोगी चीजों के लिए साक्षान् द्रव्य चाहिए। ग्राम भूमि से उस आवश्यकता की शीघ्र पूर्ति होना संभव भी न था। इस कारण मुद्रादान की आय (सूद) का ही उपयोग किया जाता रहा, ऐसा वर्णन लेखों में मिलना है। दान भूमि में चूंगी अथवा अन्य खनिज पदार्थ भी उपलब्ध होते रहे जिनका संकेत अभिलेखों में किया गया है। परंतु उनका विस्तृत विवरण अप्रासंगिक होगा। पल्लव शासक अयस के शासनकाल में शिवरक्षित नामक धनी व्यक्ति ने दस सहस्र कार्पायण मघ को दान में दिया था (का० इ० इ० भा० २ पृ० १७)

क्षत्रप नरेश नहपान के नासिक गुहा-लेख में द्रव्यदान का बड़ा ही रोचक वर्णन है। नकद द्रव्य को विहार के प्रबंधक को न देकर स्थानीय श्रेणी (व्यापारिक संस्था जो बैंक का भी काम करती थी) कोष में जमा कर दिया गया, ताकि उसके सूद से ही विहार में भिक्षुओं के कार्य संपन्न हो सके। निम्न पंक्तियाँ इस विषय को स्पष्ट कर देती हैं—

क्षत्रपस नहपानस जामाना-उषवदातेन संघस चातुदिसस इय लेण नियातितं वत्त चानेन अक्षय निवि कहाषण सहस्रानि श्रीणि ३००० संघस चातुदिसस ये इमस्मि लोणे वसांतान भविसति चिवरिक कुशाण मूलेच । एते च कहाषण प्रयुत्ता गोवधन वायबापु श्रीणीसु । कोलिक निकाये २००० वृध पडिक शत अपर कोलिक निकाये १००० वधि पायून पडिक शत । एते च कहाषणा अप डिदातवा वधि भोजा । एतो च चिवरिक सहस्रानिवे २००० ये पडिक शते ।

ऐतो मम लेणे वसतुधानं भिक्षुन वीसाय एकीकस चिवरिक वारसक च सहस्रं प्रयुक्तं पायून पडिकशते अतो कुशन मूल ।

क्षत्रप नहपान के जमाता ऋषभदत्त ने चारो दिशाओ के भिक्षुसभ के लिए इस (नासिक) लेण (गुहा) को दान में दिया । उसे सर्वदा के लिए तीन हजार मुद्रा (नकद) दान भी किया जिससे सभ में निवास करने वाले भिक्षुओं को वस्त्र (चीवर) तथा अन्न (हसनमूल) मिल सके । यह द्रव्य नामिक के श्रेणी के पास स्थायी (अक्षयनिवि) रूप में जमा कर दिया । इसमें दो हजार कार्षापण [सिक्के] कौलिक नाम निकाय (व्यापारिक संस्था) के पास जमा कर दिया जाय और इस धन पर एक रुपया प्रति सैकड़ा (पडिक शत) सूद (वधि) मिलेगा । इस (दो हजार रुपये) को व्यय नहीं किया जा सकता (अपडिदातवा) केवल उसका सूद ही खर्च हो (वधि भोजा) इस सूद से (भिक्षुओ) वस्त्र का प्रबंध हो । एक हजार कार्षापण उस संस्था (निकाय) को बारह आने प्रति सैकड़ा (पायून पडिक शत) सूद (वधि) पर दिया जाए । इससे अन्न का प्रबंध हो । उस विहार में बीस भिक्षुओ के (भिक्षुन वीसाय) लिए बारह मास (वारसक) का भोजन एवं वस्त्र उस आय सूद से चलाया जाए ।

दो हजार का मासिक मूल बीस कार्षापण होता है । अतएव बीस भिक्षुओ के लिए यह धन चीवर (वस्त्र) में व्यय किया जाता था । उन सभी के लिए वर्ष भर का भोजन व्यय नब्बे रुपया था । इस 'गणना' से प्रतीत होता है कि भिक्षुओ के निमित्त बहुत कम द्रव्य खर्च किया जाता था ।

ऐसा ही वर्णन गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के सांची लेख (ई० स० ४१२) में उपलब्ध है । वहां काकनादवोट महाविहार के लिए पचीस दीनार (गुप्त-कालीन स्वर्ण मुद्रा) दान में दिया गया । इसके आधार पर तथा भिक्षु संस्था के अभाव में प्रतिभिक्षु व्यय का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, किंतु, यह सही है कि विहार में व्यय की मात्रा अधिक नहीं । संभवतः परिव्राजक का भोजन मात्रा भी कम रहा हो । आपस्तम्भ धर्मसूत्र (२।४।९-१३) में वर्णन किया गया है कि मयामी को आठ ग्रास (कोर) ही खाना चाहिए । वानप्रस्थी उससे दुगुना तथा गृहस्थ वत्तीस ग्रास । इस मात्रा से व्यय का अनुमान नहीं किया जा सकता । ह्वेनसांग ने तो भिक्षुओ के भोजन का वर्णन करते समय महाशालि [मर्चोत्तम] नामक चावल का उल्लेख किया है जिसे विहार में प्रयोग किया जाता था ।

नालंदा ताम्रपत्र में 'सम्यक् बहुधृत वधिभिः व्यजनैः युक्तमन्नम्' (ए० इ० मा० २० पृ० ४४) वाक्य का उल्लेख यह स्पष्ट कर देता है कि भोजन

की सामग्री या प्रकार न्यून कोटि का न था । सामग्रियों की बहुलता तथा सस्तेपन के कारण भोजन व्यय कम रहा होगा । गुप्त साम्राज्य के उत्थान के पश्चात् संभवतः साधुओं को सत्र (= छत्र) में बिना मूल्य भोजन वितरण किया जाने लगा । सत्र उसी स्थान के लिए प्रयुक्त है, जहाँ गृहहीन भिक्षु तथा साधुओं को भोजन बाँटा जाए । वर्तमान समय में भी वाराणसी में ऐसे सत्र (छत्र) है । जहाँ नित्य बिना मूल्य भोजन वितरण होता है ।



पाँचवाँ अध्याय

विहार-निर्माण-कार्य

यद्यपि चैत्य-मंडप के समान बौद्ध विहारों की विशिष्टता न थी, किंतु उनकी योजना तथा उनके प्रतिपादन द्वारा तत्कालीन वास्तुकला पर प्रकाश पड़ता है।

गुहा-निर्माण की परंपरा अति प्राचीनकाल से भी विदित थी और यूनान, रोम तथा अमिरिया (मेसोपेटामिया) के लोग भी विज्ञ थे। परंतु, भारत के प्राचीन युग में अत्यंत आकर्षक, सुंदर तथा कल्पना सहित गुफाएँ निर्मित हुई थी। उनकी समता करना कठिन है। ब्राउन का मत था कि गुफा-निर्माण-कला भारतवासियों ने ईरान (परमिपोलिस) से सीखा। इस मत में अधिक बल नहीं दी जा सकता। भारत के कलाकार बौद्ध या ब्राह्मण मतानुयायी हो, ग्राम के निवासी थे, जिन्होंने गुफा को जन्म दिया। गुफाएँ ग्राम में स्थित झोपड़ी या गृह के मूल स्वरूप को लेकर खोदी गई थी। कारीगरों ने ऐसी योजना तैयार कर ली, जिसका पालन किया गया और वही आज दिखलायी भी पड़ता है। अग्रिम पृष्ठों में वर्णित चैत्य तथा विहार (गुफाएँ) के आकार-प्रकार से स्पष्ट हो जाएगा कि भारतीय कलाकारों ने अपने झोपड़ी या गृह के रूप को ही चट्टानों में खोद कर सुंदर तथा स्थायी रूप दिया था। बर्तमान या लकड़ी के स्थान पर प्रस्तर ही एक मात्र साधन था, जिससे वैदिक ऋषियों की कुटिया को गुफा का नामकरण किया। उनमें शयनस्थान, अन्य कमरे, रसोईघर और पढ़ने का स्थान आदि आवश्यक था। विहार में कुँआ, अध्यापन निमित्त स्थान तथा सोने के लिए बेंच आदि जोड़ दिए गए। शहर से दूर स्थायी निवास के लिए पत्थर-शिनाओ को काट कर विहार तैयार करना एक मात्र उपाय था। संभव है कि मौर्य-युग के पञ्चान् ब्राह्मण धर्मावलंबी शासकों ने असहिष्णुता के कारण भिक्षुओं को दूर हटा कर पर्वत गुफाओं में स्थान दिया हो। इसमें सचाई का स्थान अधिक है। कारण यह है कि अद्यावधि जो विहार मिलते हैं, वे पर्वतों में स्थित हैं।

बौद्ध विहारों का आरंभ हीनयान युग में हुआ। पर्वतों को काट कर विशिष्ट मूलरूप को ध्यान में रख कर विहार तैयार किए गए थे। उनमें कोई वनावट की विभिन्नता न थी। भिक्षु-संख्या को देखकर विहार निर्माण का

प्रश्न मूलतः विचारणीय रहा । हीनयान तथा महायान के विहार एक समान न थे । किंतु, हीनयान मन के विहार ग्रामीण गृह की योजना लेकर तैयार हुए । महायान वालों ने उन स्थानों पर निवास करने के पश्चात् कुछ परिवर्तन किए । जिसमें विहार के केंद्रीय बड़े कमरे का निर्माण उल्लेखनीय है । चारों तरफ छोटे कमरों में महायान काल में प्रस्तर की चौकियाँ तैयार हुईं, जिन पर भिक्षु शयन करते रहे । उन चौकियों का क्षेत्रफल नवें बगें फीट था । इसी कारण कोठरियों का द्वार बीच में न होकर एक किनारे पर बनाया गया ।

हीनयान विहारों का मुख्य केंद्र सह्याद्रि पर्वतश्रेणियों में है । उसको प्रारंभिक भवन कहना उचित होगा । हीनयान के पश्चात् महायान कारीगरों ने सुधार लाकर गुफाएँ तैयार कीं । हीनयान गुफाएँ कारीगरों का प्रथम प्रयास मान जाएँ, तो उचित होगा । पर्वतश्रेणियों में जितने गुफाएँ—चैत्य-मंडप या विहार उपलब्ध हुए हैं, उनकी बनावट में एक प्रकार का क्रम देखा जाता है । यह कहना सर्वथा कठिन होगा कि अमुक गुहा आरंभ, मध्य या अंतिम काल में निर्मित हुई थी । परीक्षा से सभी वैज्ञानिक ढंग पर, एक योजना बद्ध तथा सभी प्रकार के माप तौल सहित खोदी गई है । विश्लेषण करने पर तथा भीर अध्ययन करने में हीनयान एवं महायान विहार को पृथक् किया जा सकता है । बनावट में भी कुछ समानता है । कारीगरों के समुख कोई मूल-रूप (Model) न था केवल गाँव की झोपड़ी तथा रहने वाले घर का स्वरूप प्रसार में उतारा गया । पर्वत के बाहरी भाग को लवबत् काट कर (स्थान बना कर) कार्य आरंभ करते थे और सगतराश सीख कर कार्य के योग्य बन जाता । पत्थर कर्तक को चैत्य या विहार का आकार ध्यान में रख कर पर्वत के बाहरी भाग पर स्थान स्थिर करना पड़ता था । मुँह खोद कर एक छोटा रास्ता बनाया जाता, जिससे प्रस्तर के छोटे कटे टुकड़ों को बाहर फेंक सके । दक्षिण-पश्चिमी भारत तथा तमिल देश की गुफाओं का यही क्रम था । चैत्य-मंडप के साथ ही पर्वत के शिखर की ओर मुख्य भिक्षु का निवासस्थान बनाया जाता । वह प्रायः एक भिक्षु के लिए छोटा कमरा (Cell) होता है । अन्य भिक्षुओं के लिए क्रमशः विहार खोदे जाते थे । जिन कारीगरों ने गुफाएँ खोदी थी, वे लकड़ी के भवनों में रहने वाले थे । अतएव, उन लोगों ने लकड़ी की शहतीर का सहारा लिया जो भाजा काले आदि के चैत्य-मंडपों के मेहराब-द्वार की छतों में देखा जा सकता है । भीतरी भाग में आज भी लकड़ी वर्तमान है, किंतु बाहरी भाग में (भाजा चैत्य में) शहतीर रखने के लिए खुदे गहरे स्थान आज भी दीख पड़ते हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि लकड़ी से प्रस्तर का माध्यम लेकर कारीगरों ने कमाल किया। चैत्य के साथ विहार-निर्माण का कार्य प्रारंभिक स्थिति का द्योतक है। अशोक ने उसका शुभारंभ किया था। उसी ने बराबर पर्वत (गया, बिहार) को खुदवा कर आजीबिक परिव्राजकों के लिए गुहादान किया था। अतः, बराबर तथा नागार्जुनी की गुफाएं (विहार) प्राचीनतम हैं। अशोक ने संभवतः पाटलिपुत्र में अशोकाराम तथा कुक्कुटाराम नामक दो विहार बनवाए थे। पर, उनकी स्थिति का पता नहीं लगा है। उन्हें लकड़ी या बाँस द्वारा बनाए जाने के कारण या कालांतर में नष्ट हो जाने से अवशेष भी उपलब्ध नहीं हुए हैं। सुसंगठित रूप में विहार के निर्माणकर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है, परन्तु, अभिलेखों के आधार पर कुछ विहारों का इतिहास विदिन है। गुहा-निर्माण शासक, धनीमानी व्यक्ति, साधारण दानी पुरुष या बौद्ध कलाकार द्वारा विहारों का निर्माण हुआ। श्रावस्ती का अनाथपीडिक एक धनी व्यक्ति था जिसने राजा से जमीन खरीद कर आराम बनवाया। क्षत्रप तथा सातवाहन नरेशों के नाम भी लिए जा सकते हैं। सह्याद्रि में वर्तमान विहारों में उनकी बनावट तथा इतिहास का ज्ञान हो जाता है। उमका आकार भिक्षुमंश्या पर निर्भर था। पर्वत को खोद कर सभी विहारों को एक मीध में बनाना संभव न था। चैत्य में संबद्ध भी विहार बने। यानी स्थान का चुनाव परिस्थिति पर निर्भर था। विहारों के दान की चर्चा अन्यत्र की गई है। धार्मिक वातावरण में विहार का निर्माण उत्तरोत्तर बढ़ता गया। हीनयान विहारों की अपेक्षा महायान विहारों में सुधार तथा सूक्ष्म परिवर्तन देख पड़ता है।

यों तो विहार का श्रीगणेश भारतीय ग्रामीण गृह के अनुकरण पर हुआ था, किंतु कालांतर में परिवर्तन लाना आवश्यक हो गया। प्राचीन समय में निवास के निमित्त ग्राम में ऐसे घर बनाए गए थे, जिनमें एक चौकोर आँगन था। उसके चारों तरफ बरामदे और हर दिशा में कई कमरे तैयार किए गए थे। एक दिशा में उसका द्वार था, जो बड़े बरामदे में खुलता था। बाहरी इयादी आकार में बड़ा रहता है, जिसमें घर का स्वामी बैठता और स्वजन से भेट या वार्ता करता था। इसी मूलरूप (Prototype) को ध्यान में रख कर कलाकारों ने बौद्ध विहार का निर्माण किया। पर्वत चट्टानों को खोद कर अततो गत्वा उसी गृह के अनुरूप विहार बने। चूंकि पर्वत के तले से खुदाई प्रारंभ की जाती थी, इस कारण सबसे प्रथम बाहरी बरामदा बनाया जाता, जिसमें कई स्तंभ होते थे। उसके प्रायः मध्य भाग से भीतर जाने का प्रवेश

मार्ग होता, जो विहार के आँगन में पहुँच कर समाप्त हो जाता। ग्राम के गृह की तरह आँगन से आकाश को देखना कठिन था। विहार का ऊपरी भाग भी पर्वत का ही अंग था। अतएव, उस बंद आँगन में चारों दिशाओं में बरामदे तथा प्रत्येक बरामदे में कोठरियाँ बनाई गईं, जिनने भिक्षु निवास करते रहे। इसी सन पूर्व सदियों में विहार के समीप चैत्य भी बनाए गए, जिनका महत्त्व हीनयान-युग तक सीमित था। महायान के उदय होने पर विहार के प्रवेश द्वार के सीध में कोठरी में बुद्ध प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई। विहार का मूल स्वरूप सर्वत्र एक-सा था, किन्तु स्थान के अनुकूल या समयानुसार उसमें परिवर्तन अवश्यंभावी था। नासिक, काले, अजंता, एलोरा के विहार के कुछ स्तंभ अलंकार सहित हैं। पश्चिम भारत में कई मंजिल के विहार हैं, पर स्तंभ अनलंकृत। अलंकरण का आरंभ सातवाहन राजाओं के नासिक गुहा-स्तंभ में दीख पड़ता है। यह इतनी वृद्धि पर था कि अजंता गुहा (विहार) के स्तंभ अत्यधिक रूप में सुंदर बनाए गए हैं। विहार के मूल आकार में परिवर्तन होने लगा। विहार की लंबाई-चौड़ाई की वृद्धि हो जाने में अंदर का भाग (जिसे आँगन कहना चाहिए) विशाल दीख पड़ने लगा। कारीगर को इस बात का भय था कि खुदाई के पश्चात् ऊपरी छत का हिस्सा बोल्लिल होकर गिर न जाए। अतएव, उसकी सुरक्षा के लिए मध्य में चार बड़े स्तंभ खड़े कर दिए, ताकि ऊपरी चट्टान का भार उन्हीं स्तंभों पर पड़े। इसलिए चार खंभों के मध्य का चौकोर भाग स्वतः उन स्तंभों के बाहरी क्षेत्र से पृथक् हो गया। सूक्ष्म रीति से परीक्षण करने पर विहार के भाग में दो बरामदे प्रस्तुत हो जाते हैं। स्तंभ में भी दो कतारें दृष्टिगोचर होती हैं। अजंता के गुहा सं० १, २, १६, १७ में हम इस आकार को देख सकते हैं। चौकोर भाग में कमरों (Cells) से सज्ज बरामदा तथा केन्द्र में स्थित स्तंभ पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

पर्वत में खुदे विहार तथा समतल भूमि में निर्मित विहार में मूलतः कोई भेद नहीं ज्ञात होता, किन्तु परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किए गए। पर्वत के विहार आरंभ होने से पूर्व कलाकार सारी योजना को अपने मस्तिष्क में रखकर कार्य आरंभ करता था। शनैः-शनैः उस लक्ष्य को पूरा करने के लिए छेनी से काम लेते रहे। कई वर्षों के लगातार परिश्रम से वह कार्य संपन्न होता था। कभी-कभी तो किसी कारणवश बलाकार उस कार्य (खनन) को छोड़ चले जाते। आज भी ऐसे कहेरी के अधूरे विहार दिखलाई पड़ते हैं, जिनकी खुदाई पूरी न हो सकी। काले, अजंता और एलोरा आदि स्थानों में भी अपूर्ण विहार के अवशेष मौजूद हैं।

समतल भूमि का निर्माण सर्वथा भिन्न था। इसमें ईंट-प्रस्तर को जोड़ कर विहार का निर्माण होता। एक भाग यानी बाहरी बरामदा अथवा बाहरी दीवाल या आंगन के कमरे तैयार हो जाने पर दूसरे भाग को बनाया जाता। किसी कारणवश अथवा भूल के कारण अनुपयुक्त आकार को गिराकर नया बना देते। बरामदे में प्रस्तर का स्तंभ स्थिर करते। विहार का आंगन तथा कमरे की लंबाई-चौड़ाई की सीमा तो अवश्य थी, किंतु उन पर इतना बोझ न था कि नष्ट हो जाने का भय उत्पन्न होता। सारनाथ के विहार क्षेत्रफल में कम है, तो नांददा के विहार विशाल है। लंबा-चौड़ा आंगन है। उसी के एक अंश में कुआँ है। भोजन पकाने का स्थान है। द्वार पंडित (अध्यापक) के निवास के लिए पृथक् कमरा है। भिक्षुओं के लिए अन्य कमरे तथा पठन-पाठन के लिए पृथक् स्थान है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार समतल मैदान में जितने विहार बनाए गए, उन सब का आकार-प्रकार एक सदृश नहीं मिलता। विहार को अलंकृत करने की प्रथा पुरानी है। पाचवीं सदी में अजंठा के विहार सं० १, २, १६, १७ की दीवारों पर भित्तिचित्र खिचे हैं। उसमें बुद्ध के जीवन-संबंधी चित्र, जातको का प्रदर्शन तथा अन्य सामाजिक चित्र प्रदर्शित हैं। इनका विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा। नांददा विहार की नाख पर भी मूर्तियों का स्थापित कर भिक्षु अपने निवासस्थान को अलंकृत करते रहे।

भारत में प्रायः १२०० गुफाएँ निर्मित की गई थी, जिनमें बौद्ध गुफाओं की संख्या सबसे अधिक है। १०० बौद्ध गुफाओं के विषय में अभी तक संबंधित विवरण उपलब्ध होते हैं। जैनियों ने भी कुल दो सौ गुफाएँ तैयार करायी थी। ब्राह्मण मतानुयायियों ने इसे प्रोत्साहित नहीं किया। परिस्थितियों के कारण जितनी गुफाएँ खोदी गई थी, उनमें उदयगिरि, एनौरा, एलिफेन्टा, महाबलिपुरम् आदि स्थानों की ब्राह्मण गुफाएँ प्रसिद्ध हैं। प्रायः सौ ऐसी गुफाएँ संपूर्ण भारत में देखी जाती हैं।

विहारों का सर्वेक्षण यह बतलाना है कि मौर्यकालीन बराबर तथा नागार्जुनी पर्वत की गुफाएँ सर्वप्रथम निर्मित हुई थी। गया की पहाड़ियाँ काले टोम प्रस्तर की हैं, अतएव उनमें गुहा खोदना एवं विहार-निर्माण का कार्य

अशोक ने आरंभ किया। यद्यपि उसका साम्राज्य विहारों का क्रमिक विस्तृत था, पर अन्य स्थानों पर गुफाएँ मिलनी नहीं विकास है। हिमालय की मिट्टी वाले चट्टानों में गुफाएँ खोदी

नहीं जा सकती थीं। शुंगकाल में हीनयान युग में पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत में सह्याद्रि पर्वतशृंखला में अनगिनत विहार

निर्मित किए गए । उनकी धार्मिक परंपरा के अनुसार भाजा, बेदमा पितलखोरा एवं कालें (पूना के समीप) तथा नामिक, अजंता, एलोरा (महाराष्ट्र) आदि गुफाएँ भिक्षुओं के निशान के लिए क्रमशः तैयार हुई थी । हीनयान तथा महायान मतानुयायियों के द्वारा निर्मित विहारों में कोई मूलतः भेद नहीं है । महायान में आकार-प्रकार जोड़े गए थे । अजंता की गुफाएँ पाँचवीं सदी में तैयार हुई थी । उन विहारों को अलंकृत भी किया गया, जो अजंता की निजी विशेषता है । एलोरा में कई मंजिल के विहार बने । बबई के समीप कंहेरी के सैकड़ों विहार पश्चिमी भारत में विहार-निर्माण की प्रमुखता की याद दिलाते हैं । इस प्रकार मौर्यकालीन विहार के कल्पना के आधार पर कालांतर में अत्यधिक विहार बनते गए । मौर्य तथा उत्तर मौर्ययुगी विहार के रूप में अंतर भी है । बाहरी वरमंदे तथा भीतरी वरामंदा एवं कमरों की योजना उत्तर मौर्ययुग की है । आठवीं सदी तक पश्चिमी सह्याद्रि पर्वतमाला में विहार खोदे गए थे । हिन्दु कालांतर में समतलभूमि पर ईंट-प्रस्तर जोड़ कर विहार बने ।

नालंदा महाविहार के निर्मित भवन (विहार) उस मौर्यकालीन गुफाएँ विहाल योजना का स्मरण दिलाते हैं । पूर्वी भारत में भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि एवं खडगिरि की जैन गुफाएँ भी उसी क्रम में तैयार की गई होंगी ।

पश्चिम भारत की सह्याद्रि पर्वत की गुफाओं में बरावर पर्वत (जिला गया, विहार प्रदेश) की गुफाएँ मूलतः भिन्न हैं । बरावर तथा नागार्जुनी पर्वत को खोद कर सात गुफाएँ तैयार हुई थी, जिनके दीवारों पर लेप तथा अंकित लेख से उन्हें मौर्यकालीन मानते हैं । बरावर में खुदी गुहाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—

- (१) कर्नकोपर,
- (२) मुदामा,,
- (३) लोमशऋषि तथा
- (४) विश्वज्ञोपरी,
- नागार्जुनी—(५) गोपिका,
- (६) वहिजर,
- (७) वडलहिक ।

इनके अतिरिक्त राजगृह से तेरह मील दूर सीतामढ़ी गुफा के अवशेष मिले हैं । इनमें मुदामा तथा लोमश ऋषि नामक गुफाएँ दर्शनीय हैं । पर्वत की बनावट के कारण दोनों लबान में खोदी गई हैं । भीतर में मेहराबदार हैं । उनका क्षेत्रफल ३२ फीट ९ इंच × १० फीट, ६ इंच × १२ फीट ३ इंच है ।

भीतर प्रवेश करने पर लंबे भाग के किनारे एक गोलाकार कमरा बना है, जिसका व्यास १९ फीट है तथा अर्द्ध गोल आकार में छत भी तैयार किया गया था, जिसकी ऊँचाई १२ फीट ३ इंच मापी गई है। सुदामा गुफा की बनावट देहात की झोपड़ी के सदृश्य है, जिसका ऊपरी फूस का हिस्सा आधी गोलाई लेकर बनाया जाता है और दो किनारों पर बाँस के खंभे से सहारा के लिए जमीन में स्थिर किए जाते हैं। सुदामा गुफा की दीवाल में भी लंबवत् कटान, है जो बाँस के खंभों की याद दिलाती है। उसी फूस की झोपड़ी को पत्थर में खड़ा किया गया है, जिसकी दीवाले लेप के कारण दर्पण की तरह चमकती है। लोमश ऋषि गुफा की बाहरी दीवाल पर्वतशिला को काट कर गृह शिखर (नुकीला) के सदृश तैयार हुई है। संगतराश ने बढई की कारीगरी का अनुकरण किया है। बाहरी दरवाजा ७½ फीट ऊँचा है। इसे सुंदर बनाने के लिए मेहरावदार कटान है, जिसमें घरन (प्रस्तर के) का कोना बाहर निकले है, और अर्द्धगोलाकार प्रस्तर से जुड़े हुए हैं। दरवाजे के मेहराव के ऊपरी भाग में दो पंक्तियों में अलकरण दृष्टिगोचर होता है। निचली खुदाई में हाथियों की पंक्ति है। मध्य में स्तूप बना है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न दिशाओं से हाथियों के झुंड उस स्तूप की पूजा के लिए आ रहे हैं। उन जानवरों में जीवन का संचार है। ऐसा जाना जाता है कि कल ही सारा कार्य संपन्न हुआ हो। ऊपरी कटान में प्रस्तर को जालीदार गोल भरोखे का आकार दिया गया है जिसे रोशनी प्रवेश के निमित्त तैयार किया गया होगा। नागार्जुन पर्वत में खुदी 'गोपिका' नामक गुफा की बनावट इससे भिन्न है। यह सादा, बिना किसी प्रकार के अलकरण तथा सुरंग की तरह तैयार की गई थी। यह ४४ फीट लंबी, १९ फीट चौड़ी तथा १० फीट ऊँची है। छत का भाग मेहरावदार है। इसके दरवाजे पर दशरथ का लेख अंकित है, जिससे गोपिका गुफा मौर्यकालीन कही जाती है। इसमें लेप का अभाव है। बराबर के पहाड़ी का भूभाग कोलाहल रहित होने के कारण चुना गया होगा, ताकि पारिव्राजक शांत वातावरण में निवास कर सकें। आरंभ में बिहार का जैसा संक्षिप्त चित्र दिया गया है, बराबर की गुफाएँ उनसे भिन्न हैं। कालांतर में इसी आकार के क्षेत्र खोदे गए जिनका विवरण अग्रिम पृष्ठों में दिया जाएगा। परंतु, यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत न होगा कि आजीविक साधुओं के लिए चैत्य की कल्पना नहीं की जा सकती। वह तो निवासस्थान ही था। यही संभव है कि शुंगकाल में ग्राम गृह के मूलरूप को कारीगरों ने बिहार के निमित्त अपनाया तथा झोपड़ी (सुदामा या लोमश ऋषि गुफा का आकार) को

चैत्य के रूप में परिवर्तित कर दिया । ईंट, मिट्टी या फूस के साधन त्याग कर प्रस्तर में उसी आकार को समाविष्ट किया । इसके चुनाव में यह कारण होगा कि घर को निवासस्थान तथा झोपड़ी को वार्तालाप, संगम स्थान या आगंतुकों से सामयिक चर्चा का स्थान मानते रहे । उसी विचार को विहार एवं चैत्य के रूप में प्रकट देखते हैं ।

मौर्यकालीन बराबर की गुफाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि सर्वप्रथम विहार की ही उपयोगिता प्रमुख समझ कर खुदाई की गई । बराबर के समीप में चैत्य का अभाव है । किंतु, मौर्य-युग के पश्चात् चैत्य तथा विहार साथ-साथ बनाए गए । विहार की स्थिति के पश्चात् पूजा-स्थान का निर्माण हुआ, अतएव क्रम में विहार तत्पश्चात् चैत्य बने होंगे ।

हीनयान गुफाएँ पूना के समीप भाजा नामके ग्राम के चैत्य सर्वथा ग्रामीण झोपड़ी के सदृश बने हैं जिनमें स्तंभ अनलंकृत हैं । झोपड़ी के बाँस सदृश स्तंभ ऊपर की ओर झुके हैं । ऐसी बनावट भाजा के पश्चात् समाप्त कर दी गई । अतएव, भाजा के विहार भी गुहाओं (विहारों) की शृंखला में सर्वप्रथम माने गए हैं । चैत्य के समीप ही विहार दीख पड़ता है, जिसमें सामने की ओर चार तथा दोनों पार्श्व में चार छोटी कोठरियाँ (Cells) बनी हैं । इस भूभाग के समीप ही अन्य विहार वर्तमान हैं ।

भाजा (पूना, महाराष्ट्र) ग्राम के समीप स्थित अनेक विहार हैं । इसी पूर्व सदियों में चैत्यों से सटा विहार का निर्माण होता रहा । यानी चैत्य तथा विहार सबद्ध हैं । चैत्य द्वार के सामने के मण्डपा को सुंदर बनाने के लिए चैत्य-वातायननुभा आकार बनाए गए थे तथा समीप ही में विहार खोदा गया था । हीनयान युग की गुफाओं (विहारों) के अंदर के बड़े भाग तथा पार्श्व में कोठरियाँ बनाने की प्रथा चल पड़ी जो कालांतर में परिवर्तित हो गई । उस परिवर्तित युग की गुफाएँ महायान मत से संबन्धित थीं । हीनयान युग के भाजा, पितलखोरा तथा अजंता के कुछ विहार माने जाते हैं । अजंता की गुहाएँ अपना स्थान रखती हैं । एक भूभाग में कई गुफाओं का निर्माण उसकी प्रधानता का द्योतक है, जहाँ हजारों भिक्षु निवास करते थे । अजंता चैत्य १० के साथ बारहवीं गुफा (विहार) का सर्वप्रथम निर्माण हुआ था । उसके पश्चात् गुहा (विहार) संख्या ८ तथा १३ बनाए गए । चैत्य ९ के साथ आठवाँ विहार जुड़ा है ।

अजंता के विहारों की अपनी कहानी है । हीनयान चैत्य के साथ जो विहार बने थे, उनकी उपयोगिता कालांतर में समाप्त हो गई । महायान युग प्रा०—१०

के चैत्य तथा विहार मिश्रित तैयार हुए, जिनका क्षेत्रफल पहले से बड़ा था। इनका आकार-प्रकार बढ़ाया गया। विहार संख्या ७, ११, ६ का निर्माण दूसरे क्रम में हुआ था। संख्या १५ से २० तक के विहार बनावट में सर्वोत्तम माने जाते हैं। १६ तथा १७ भित्तिचित्र के लिए सुप्रसिद्ध हैं, जिन्हें देखने के लिए संसार के लोग आते हैं। विहार की आवश्यकता बढ़ने के कारण (विहार) गुहा २१ से २५ तक तैयार की गई। पहले से पाँचवाँ विहार अंतिम क्रम में बना था। सातवीं सदी के मध्य तक उनका निर्माण होता रहा। संभवतः दो सौ भिक्षुगण अजन्ता के विहारों में निवास करते रहे। गुहा निर्माण में कला तथा धार्मिक भावना के सहयोग से सफल कार्य हो सका। हीनयान विहार चैत्य के साथ जुड़े रहने से छोटे होते, किंतु महायान विहारों की विशालता के कारण अंदर स्तंभों का भी निर्माण होने लगा। अजन्ता के विहार एक मंजिल के है। विहार के अंदर का क्षेत्रफल विस्तृत होने के कारण भीतरी भाग में चार स्तंभ बनाए गए हैं, ताकि ऊपर के बोझ को समालंभके। इस प्रकार का एक मंजिल का विहार कोलावा जिले के कोनदने में भी देख पड़ता है। बीच का भाग स्तंभ-युक्त है। बाहर की ओर बरामदा है, जिसमें स्तंभ खुदे हैं। बरामदे में एक मुख्य द्वार है तथा दोनों तरफ खिड़कियाँ बनी हैं। भीतरी भाग में तीन दिशाओं में कोठरियाँ बनी हैं। पितलखोरा के भग्न विहार की कोठरियाँ वर्तमान हैं, जिनकी चौकोर बनावट है। इसी प्रकार के हीनयान विहार के तीन उदाहरण नामिक में मौजूद हैं। इनकी सुंदर बनावट तथा खूबे अभिलेख से जान होता है कि कला विकसित हो गई थी। इनकी खुदाई ईसवी सन् की पहली सदी में हुई थी। पश्चिमी शक क्षत्रप महोपाय तथा दक्षिण के सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णी तथा यज्ञश्री के शासनकाल (ईसवी सन् १३० एवं १८० ई०) में विहारों का निर्माण हुआ था। सभी में बाहरी बरामदा बड़ा है तथा भीतर मध्य कमरा (आँगन का प्रतिरूप) में स्तंभ का अभाव है। तीनों दिशाओं में कोठरियाँ खोदी गई हैं, जिनमें भिक्षु के शयन के लिए प्रस्तर-चौकियाँ बनी हैं। बरामदे के स्तंभों में कमल पुष्प का आधार है। उस पर सीढ़ीनुमा चौकियाँ बनी हैं, जिन पर जानवर की आकृतियाँ हैं। इस प्रकार का स्तंभ-युक्त बरामदा वेदश के विहार में भी वर्तमान है। गौतमीपुत्र शातकर्णी के विहार में स्तंभ खुदे हैं, जिनमें वामन का आकार जुड़ा है। वही सारे बोझ को मानो उठा रहा है। उनके सिर पर शहतीर बनी है। नामिक विहार के प्रवेश मार्ग पर साची के तोरण (शहतीरों की स्थिति सदृश द्वार) बना है। इससे प्रकट होता है कि नासिक के कलाकारों ने नवीन विचार तथा स्वतंत्र रूप से

कार्य किया है। इन विहारों में महायान भिक्षुओं का निवास हो जाने पर उनकी बनावट बदली गई। भिक्षुओं को कोठरियों के अतिरिक्त पूजा-स्थानों की भी आवश्यकता थी। इसीलिए महायान विहार हीनयान विहारों से कुछ भिन्न है। उसके केंद्रीय कमरे में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई।

अजंता के समान नासिक विहार का ही नाम उल्लेखनीय है। इस स्थान पर बीस गुफाएँ हैं, जिनमें संख्या १८ चैत्य है। शेष विहार हैं। विहार की दीवारों पर क्षत्रप तथा सातवाहन लेख खुदे हैं। इन विहारों का क्षेत्रफल चालीस वर्गफीट (चौकोर) है। यज्ञश्री शातकर्णिक का विहार ६१ फीट × ३७ फीट क्षेत्रफल में फैला है। भीतरी भाग की चौड़ाई ४४ फीट है। दोनों पार्श्व में आठ कोठरियाँ हैं। विहार के द्वारमार्ग के सामने पूजास्थल है। वहाँ एक बड़े कमरे में बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। अतः, इन महायान विहार कहते हैं। यह अजंता विहार संख्या १६ के समकालीन जान होती है। दोनों में बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। महायान के प्रचार से विहारों में निम्न परिवर्तन स्पष्ट प्रकट होते हैं (उदाहरण के लिए अजंता गुहा ११, ७, ६) —

- (१) विहार के केंद्रीय कमरे में बुद्ध-प्रतिमा,
- (२) विहार की दीवारों पर उत्कीर्ण आकार एवं आकृतियाँ,
- (३) विहार केवल शयनस्थान न रहे (जैसा हीनयान युग में था), पर मिश्रित रूप धारण कर लिया (निवास तथा पूजा),
- (४) भस्मपात्र का पूजा सर्वथा समाप्त और
- (५) ब्राह्मण मत का प्रभाव।

अजंता से २४० किलोमीटर उत्तर बाघ की गुफाएँ (ग्राम बाघ, माडु, मालवा) हैं। इस क्रम में नर्मदा घाटी में कई विहार निर्मित किए गए थे। आठ विहारों के मध्य चैत्य का नाम तक नहीं है। इसके मुख्य विहार के भीतरी भाग में वर्गाकार २८ स्तंभों की पवित्रियाँ हैं, जो पार्श्व में स्थित कोठरियों को केंद्रीय भाग से पृथक् करती हैं। पूरा विहार ९६ फीट क्षेत्रफल में विस्तृत है। बाघ के विहार में सुंदर भित्तिचित्र बने हैं, जिनमें घोड़ों या हाथियों का जुलूस दीख पड़ता है। स्त्रियों की संख्या अधिक है, जो नृत्य कर रही हैं। सभी रंगीन वस्त्र धारण किए हैं। उनमें कुछ राक्षस, यक्ष आदि की आकृतियाँ चित्रित हैं। बबई तथा थाना के मध्य सालसेट टापू में कनहेरी की गुफाएँ (विहार) हैं जिनकी संख्या अत्यधिक है। यह हीनयान के अवनतिकाल का द्योतक है। इसमें सभी विहार समुचित रूप से बने नहीं हैं। कुछ अधूरे रह गए हैं। इनकी बनावट नासिक तथा बाघ के सदृश है जो दूसरी सदी से नवी सदी तक निर्मित हुए थे।

यहाँ दो मंजिल के भी विहार हैं। कुछ विहार क्षेत्रफल में बड़े हैं। उनके भीतर बीच के भाग में भिक्षुओं के ठहरने के लिए (बैठने) ऊँचे चबूतरे हैं।

अजंता के पश्चात् एलोरा को स्थान देते हैं। औरंगाबाद (आंध्र प्रदेश) से अट्टाईस कीलों मीटर दूर एलोरा की गुफाएँ हैं। वह अजंता से छानवे कीलों मीटर की दूरी पर स्थित हैं। वही ग्यारह संधाराम (विहार) निर्मित महायान गुफाएँ हैं। यहाँ के विहारों की विशेष ढंग से निर्मित हैं। अंदर जाने के लिए बरामदा है तथा सामने गर्भगृह है। गुहा संख्या २ का मध्य भवन ४८ वर्गफीट का है और उसका छत बारह खंभों के सहारे स्थिर है। प्रत्येक दिशा में कोठरियाँ हैं, जिनमें गलियारा भी मौजूद है। बड़े कमरे के दोनों पार्श्व में चार स्तंभों सहित गलियारा एलोरा की एक विशेषता है। गुहा संख्या ५ गहराई में खोदी गई है। इसके मध्य भाग में चौबीस स्तंभ (तकिया-नुमा सिरे वाले) स्थित हैं, जो दो पंक्तियों में विभक्त हैं। इसमें तेईस कोठरियाँ हैं। उनके किनारे अर्द्धमंडल में चौकोर कमरे में बुद्ध-प्रतिमा स्थिति है। गुहा संख्या १२, १३ को तीन तल (तीन मंजिल) में खोदी गई और इनकी पृथक्-पृथक् बनावट भी है। उनके संमुख लंबा-चौड़ा आँगन-सा स्थान है। तीन ताल का सबसे बड़ा कमरा ११२ × ७२ × ११ घन फीट क्षेत्रफल में है।

महायान युग में इन तीन तल विहारों (१२) का निर्माण हुआ था, जो पूजा-गृह के साथ निर्मित हैं। चैत्य तथा विहार के समिलित रूप में सम्मुख भाग (मध्य वीथी) ७८ × ३६ वर्ग फीट में है जिसमें पाँच स्तंभों की दो पंक्तियाँ हैं। उनका मादा माथा है। अंदर की दीवारें सुंदर रीति में उत्कीर्ण हैं। पहले मंजिल का बरादा १११ फीट लंबा है। अंदर का भाग तीन पंक्तियों में स्तंभों से युक्त है, ताकि ऊपरी बोझ को खंभे सँभाल लें। मध्य का पूजागृह क्षेत्रफल में २३ फीट × १५ फीट है। प्रत्येक दिशा में बारह कोठरियाँ हैं। दूसरी मंजिल का भवन ११२ फीट लंबा तथा ७२ फीट गहरा खुदा है। इसमें भी बीस वर्ग फीटवाला पूजा गृह है। बुद्ध-प्रतिमा के अतिरिक्त सात मानुषी-बुद्ध की आकृतियाँ पार्श्व में खुदी हैं। तीसरी मंजिल के बरामदे में आठ स्तंभ हैं। मध्य वीथी के संमुख पूजा गृह में बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठित हैं।

एलोरा में एक से बारह तक गुफाएँ बौद्धमत से संबधित हैं। एलोरा की प्रायः सभी गुफाएँ मिश्रित रूप में (चैत्य + विहार) तैयार की गई थीं। गुहा संख्या २, ४, ५, ८, ११ तथा १२ महायान गुफाएँ हैं। केंद्रस्थल में प्रालंबाद आसन तथा धर्मचक्र मुद्रा में बुद्ध-प्रतिमा है। बौधिसत्त्व दोनों पार्श्व में उत्कीर्ण

हैं। बारहवीं गुफा तीन तीन तल की हैं। इस प्रकार एलोरा की बौद्ध गुफाएँ अजंता के पश्चात् यानी सातवीं सदी के बाद निर्मित हुई थी।

एलोरा में बौद्ध लोगो ने सर्व प्रथम संधाराम बनाया, जिसके पश्चात् ब्राह्मण तथा जैन मतानुयायियों ने गुहाएँ खुदवाई। प्रायः प्रत्येक संधाराम में चौकोर कमरे में बुद्ध की आसन प्रतिमा स्थापित की गई थी। दो मंजिना विहार में दाहिनी ओर सोढ़ी बनी है, जिससे ऊपरी मंजिन में जाते हैं। तीन तल विहारों में यथातथ्य योजना पर तथा गणितानुसार पद्धति पर निर्माण-कार्य हुआ है, कि यथार्थ रीति से कला की उच्चता बतलायी जा सकता है।

एलोरा में गुहा संख्या १० विश्वकर्मा के नाम से प्रसिद्ध है, किंतु उन संधारामों में यही एक मात्र चैत्य दीप्त पड़ता है। यह अजंता के महायान चैत्य से बड़ा है तथा $८५ \times ४४ \times ३४$ घन फीट के क्षेत्रफल में विस्तृत है। मध्य दीर्घ को पृथक् करने वाले अट्ठाईस स्तंभ सादे हैं, जिनके अधोभाग में कुछ खुदाई दिखलाई पड़ती है। इसका स्तूप वास्तविक आकार से भिन्न है। धातु स्तूप से भिन्न बड़े आकार के उभरी प्रतिमा का आधार स्थल बन गया है। इसके देखने से प्रकट होता है कि विश्वकर्मा चैत्य मंडप से संधाराम से संबद्ध पूजास्थान का विकास हुआ। कालांतर में दोनों चैत्य तथा विहार परस्पर मिश्रित हो गए। ब्राउन पूजामंथल में भीतरी ताख की बनावट से अनुमान लगते हैं कि आर्य तथा द्राविड शैली का मूलरूप (Prototype) विश्वकर्मा गुहा में दृष्टिगत हो रहा है। (इंडियन आर्किटेक्चर पृ० ७४)। औरंगाबाद, (आंध्रप्रदेश) के समीप डेढ़ कीलो मीटर की दूरी पर कई विहार बने हैं। उनकी तिथि छठी या सातवीं सदी मानी जा सकती है। उनके देखने से प्रकट होता है कि बौद्धकला का हिंदू धर्म में विलयन हुआ। गुहाओं में ब्राह्मण मत का प्रभाव स्पष्ट है। औरंगाबाद के विहारों (३,७) की विशेषता यह है कि उसके अंदर विशालकाय आकार खुदे हैं। उपासक तथा बुद्ध की बैठी प्रतिमा के विशाल शरीर दीख पड़ते हैं। सिंहासन पर बैठे बुद्ध की विराट् मूर्ति के संमुख दो बृहत् आकार वाले श्रद्धालु उपासक घुटने टेके खुदे हैं। अन्य धर्मपरायण स्त्री-पुरुष हाथ में माला लिए भक्तिभावना सहित खड़े हैं। इसमें मनुष्य के वास्तविक आकार के प्रदर्शन में कलाकारों ने कुशलता दिखलाई है।

ईसा की प्रथम शताब्दी से महायान मत का उदय हुआ या, जिनकी स्थिति उत्तर-पश्चिम भारत में सुदृढ़ जान पड़ती है। अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम सीमा प्रदेश (आधुनिक पश्चिम पाकिस्तान) में महायान कलाकारों ने स्तूप के समीप अनेक विहारों का भी निर्माण किया, जिनकी स्थिति के

विषय मे चीनी यात्री फाहियान (चौथी सदी) तथा ह्वेनसांग ने विवरण दिया है। कनिष्क के काल मे महायान मत का प्रसार मध्य एशिया तक हो गया। अतएव, महायान अनुयायियों का ध्यान विहार-निर्माण पर केंद्रित न रहा। इस पर भी परम बौद्ध कनिष्क वा राजाश्रय पाकर गांधार के भूभाग मे अनेक विहार निर्मित हुए थे। इनकी बनावट का निजी ढंग है। इसमे कोई व्यवस्था नहीं दीख पड़ती। भवनो की जमघट है। उस क्षेत्र मे दो आकार बने हैं। (१) स्तूप (२) संधाराम (विहार)—स्तूप का सबध शरिर (धातु) से न था। स्तूप के समीप मे ही निवास का स्थान (विहार) बना, पुजारी का निवास तथा अनगिनत पूजा-स्तूप (Votive Stupa) बनाए गए हैं। तक्षशिला का धर्मराजिक स्तूप, पेशावर के समीप जमालगढी, चारमडा का विहार समूह तथा रावलपिंडी के पाम मनिकाला स्तूप उल्लेखनीय है। उन स्थानो पर स्तूप के चारो तरफ अन्य विहार आदि निर्मित है। यद्यपि अशोक ने स्तूप का आरंभ किया था तथापि कालांतर मे गांधार के कलाकारो ने उस प्राचीन ढंग मे परिवर्तन किया। स्तूप का आकार बड़ा बनवाया। नरुतवाहाई के भाग मे बने विहार के भवनो को देखने से गांधार की विशेषता ज्ञात हो जाती है। उस भूभाग मे एक चौकोर आकार (क्षेत्रफल ५५ फीट × ४५ फीट) निर्मित कर केद्र के आंगन मे स्तूप बनाया गया है। ठीक उसी मे लगे विहार भी बने है। संधाराम (विहार) की योजना पश्चिमी भारत के विहारो से मिलती-जुलती है। फाहियान ने गांधार भाग मे अनेक संधाराम देखे थे। इस प्रकार ईसवी पूर्व से प्रारंभ होकर चौथी शती तक उत्तर पश्चिम भारत मे अनेक संधाराम (स्तूप मे सबद्ध) तैयार किए गए जहाँ भिक्षु रहा करते थे।



छठा अध्याय

गुहा के अलंकरण

गुफाओं का सर्वेक्षण यह बतलाता है कि कठोर पर्वत को काट कर गुहाएँ तैयार की गई थी। निवास तथा पूजानिमित्त स्थानों पर भिक्षुगण एकत्रित हुआ करते थे। संभव है कि उपासक वृंद भी उपदेश श्रवण करने या पूजानिमित्त उन स्थानों पर आने हों। इस कारण स्तूप की वेष्टनी तथा तोरण पर जिस उद्देश्य से खुदाई की गई यानी बुद्ध के प्रतीकों या जातकों का प्रदर्शन किया गया था, वही कल्पना गुहा के मंत्र में भी काम में लायी गई। कलाकारों ने भिक्षुओं के निवास को (गुहा) सुशोभित करने के लिए बुद्ध की प्रतिमाएँ तैयार की अथवा दीवारों को उत्कीर्ण कर अलंकृत किया। पश्चिमी भारत के सह्याद्रि पर्वत में अजंठा तथा वाघ की गुहाएँ ऐसी हैं, जिनकी दीवारों को (पर्वत) खोद कर तथा उन पर लेप लगा कर सुंदर भित्तिचित्र द्वारा अलंकृत किया गया है। भारत की अन्य गुहाओं में ऐसे भित्तिचित्र के उदाहरण नहीं हैं। अजंठा की विशेषता यह है कि विहार तथा चैत्य-मंडप की दीवारें विभूषित की गई हैं। उन पर नाना प्रकार के चित्र खुदे हैं। अजंठा की गुहाओं के विस्तार तथा निर्माण के विषय में पिछले पृष्ठों में कहा गया है। इस स्थान पर उन गुहाओं का वर्णन किया जाएगा, जिनकी दीवार पर चित्र दीख पड़ते हैं। अजंठा की तीस गुहाओं में गुहा संख्या ९, १०, १९ तथा २६ चैत्य-मंडप हैं। शेष सघाराम या विहार हैं। आश्चर्य तो यह है कि कलाकारों ने पूजागृह को चित्रविहीन नहीं रखा। विहार संख्या १, २, १६ तथा १७ में इतने कलापूर्ण सौंदर्यमय भित्तिचित्र तैयार किए गए थे, जो कला वैचित्र्य तथा चित्रकारों की कुशलता के द्योतक हैं। इस परीक्षण से भित्तिचित्र को दो कानों में विभक्त कर सकते हैं। प्राचीनतम उदाहरण चैत्य-मंडप ९ तथा १० की भित्तियों पर शेष बचे हैं। उन्हें ईसा पूर्व पहली या दूसरी शती की कृतियाँ मानते हैं। चैत्य-मंडपों के स्तूपों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि गुहा सं० ९ एवं १० हीनयान-युग के मंडप हैं, जिनके स्तूप सादे तथा बुद्धमूर्ति रहित हैं। इस कारण इनको भाजा नासिक के समकालीन मानते हैं। गुहा संख्या १९ तथा २६ में स्तूप की चट्टान को खोद कर बुद्ध-प्रतिमा बनायी गई है। अतएव, इनका निर्माण ईसवी सन् दूसरी शताब्दी में हुआ होगा। कार्क

तथा अजंता की १९ तथा २६ गुफाएँ समान दीख पड़ती हैं। अन्य विहार इन गुफाओं (चैत्यमण्डपों) के पश्चात् खोदे गए। अतएव, प्राचीन चित्रों में चित्रगत मूर्तियों की वेशभूषा (उष्णीस तथा भूषण) भरहुत तथा साची के वेष्टन तथा आभूषण के सदृश है। यह चित्रकला प्रौढ तथा अनुभवयुक्त व्यक्तियों की कृतियाँ थीं। मूर्तिकला के समान चित्रकला महत्वपूर्ण थी। स्यात् इनमें पहले भारत में चित्र बहुत कम ही प्राप्त हुए हैं।

अजंता के विहारों (१, २, १६ तथा १७) की चित्रकला उन्नत अवस्था को व्यक्त करती है। पश्चिम भारत में वाकाटक युग में वास्तुकला संबंधी एक नई लहर आई, जो (क्रांति) पाँचवीं सदी से जारी हुई। इस युग में चित्रकला चरमोन्नति को पहुँच गई। यद्यपि अनेक चित्रकारों का इस कार्य में सहयोग किया, तथापि कलाकृतियाँ (चित्र) उत्तम कोटि के हैं। अपने सौंदर्य, बनावट वर्णरचना, अभिव्यक्ति तथा प्रभाव द्वारा दर्शकों का मोहित कर देती हैं। उनका गहरा अध्ययन चित्रकारों की कुशलता की अभिव्यक्ति करता है। मानव के भावनाओं, मुद्राओं तथा शरीर की भावभंगिमा को सुंदर रीति में व्यक्त किया गया है। चार गुफाओं (१, २, १६ तथा १७) के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी कुछ चित्रकारी दीख पड़ती है किंतु सभी निर्जीव तथा अवनत दशा को बनाती हैं।

अजंता की चित्रकारी तीव्र धार्मिक भावनाओं में ओतप्रोत है, तो भी मानव जीवन के विभिन्न विषयों को व्यक्त करने में चित्रकारों ने कुछ उठा नहीं रखा। यदि विषय के अनुसार इनका अध्ययन किया जाए तो निम्नश्रेणी में भिन्निचित्रों की गणना की जाएगी—

- १ बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन घटनाओं का प्रदर्शन,
- २ बोधिसत्व के विभिन्न स्वरूप,
३. भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की (जातक) कथाओं का चित्रण,
४. मानव-जीवन के विभिन्न अवस्थाओं तथा पहलूओं का प्रदर्शन,
नर, नारी, बालक, वृद्ध, रक्त, धनी, भिखारी, धर्मात्मा तथा पापी,
- ५ राजदरबार एवं राजभवन का चित्रण,
६. सामयिक विचार, प्रथाओं, वेशभूषा, वाद्ययंत्र तथा युद्धकौशल का प्रदर्शन,
- ७ देव, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, अप्सरा आदि
- ८ गुफाओं में शुद्ध आलंकारिक विषय।

इन विषयों के अनुशीलन में प्रकट होता है कि चित्रकारों को व्यापक रूप में नाना विषयों का ज्ञान था। मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त दशाओं का

वर्णन उनके दार्शनिक विचारों को परिलक्षित करता है। यहाँ अजंता की चित्रकारी की विशेषता, गूढ़ता, सौंदर्य तथा छायाचित्र के सदृश चित्रों का निरीक्षण करना उद्देश्य नहीं है, किंतु इन भित्तिचित्रों द्वारा गुफाओं की आलंकारिक स्वरूप को समुख उपस्थित करना है। जहाँ भिक्षुगण रहते थे, उन विहागों का चित्रण दीवारों को सजावट का विषय था। परंतु, चैत्य-मंडप का अलंकरण उग्रामको को आकृष्ट करने के निमित्त ही बनाया गया था। भित्तिचित्रों में देवता स्वरूप बुद्ध की जीवन-घटनाओं का चित्रण स्वाभाविक बात थी। अपने उग्रस्यदेव के जीवन-वृत्तांतों का प्रदर्शन ही बौद्ध चित्रकारों के लिए एक मात्र मार्ग था। उससे संबंधित जो सामयिक विषय सामने आते गए या चित्रकारों के मानसपटल को प्रभावित करते गए, उन सभी का चित्रण अजंता के भित्तिचित्रों में पाया जाता है। सभी चित्रकार सामाजिक प्राणी थे, समाज से विरक्त होकर भिक्षु बन गए थे, किंतु विगत जीवन की भावनाओं को सर्वथा त्याग न सके थे। इस कारण रसमय जीवन एवं शृंगार का भी चित्रण मिलता है।

अजंता के चित्र चित्रकला की पुस्तिका का काम नहीं करते थे, वरन् वे दर्शकों को आकृष्ट करने तथा उपदेश के निमित्त तैयार किए गए थे। सभी चित्र आयों के उपदेश से संबंधित नहीं हैं। शिष्यों को नैतिक विषयों की सुगम जानकारी तथा जीवन की सभी दशाओं का चित्रण भी उन भित्तिचित्रों का लक्ष्य था। अतएव कभी कभी दर्शकों को आश्चर्य होना पड़ता है कि धार्मिक वातावरण में रस एवं शृंगार को क्यों कर स्थान दिया गया। यह सुझाव रखा जा सकता है कि भिक्षुओं को भगवान् बुद्ध के समस्त जीवन की घटनाओं से परिचित होना आवश्यक समझा गया। चक्रवर्ती नरेश भा भिक्षु बन कर प्राणीमात्र की भलाई कर सकता है तथा उपदेशों से मोक्ष (निर्वाण) का मार्ग बतलाया है। ऐसे आचार्य या देवता की जीवन-क्रियाओं से लाभ उठाना भी उन चित्रों का लक्ष्य (प्रदर्शन) हो सकता है।

अजंता के भित्तिचित्र तैयार करने की विशेष प्रक्रिया थी। संगतराशों ने गुहा की दीवाल को साधारण रूप से चिकना न किया अपितु उन भित्तियों तथा गुहा के छत्तों की सतह को लेम से चिकना (चित्रकारी योग्य) किया था। वनस्पति के रेशों और धान के छिलकों को लोहे के अंश वाली मिट्टी से मिश्रित कर खुरदुरा अस्तर चढ़ाया गया था। इस प्रकार अस्तर देकर सतह चिकनी बनाई जाती और उसे चूने से सफेदी की जाती थी। इस सतह पर चित्रों की टिपाई होती तथा बाद में नाना प्रकार के रंग (गहरा, हल्का) भरे जाते थे।

इस प्रकार चित्रकारी में रंगीन मूर्तियाँ प्रस्तर की उत्कीर्ण मूर्तियों के सदृश दीख पड़ती हैं। इसमें केवल पाँच रंगों का प्रयोग किया गया है—लाल, पीला, हरा, काजल, चूना की सफेदी। रंगों को पकड़ने वाला पदार्थ गोंद था। चूना को पहले अस्तर देकर, आधा गोला रहने पर ही चित्रकारी का काम आरंभ कर दिया जाता था।

अजन्ता के चार विहारों सं १, २, १६ तथा १७ में उत्तम ढंग के भित्ति-चित्र दीख पड़ते हैं। विहारों के स्तंभ तथा दीवारों पर विलक्षण सौंदर्य लिए चित्रकारी की गई है। खंभों का आकार भी आठ तथा सोलह पहल का है, जिन पर बीना तथा विद्याधर मिथुन के आकार दीख पड़ते हैं। खंभों की डडियाँ बलेबूटे से अलंकृत हैं। खंभों के दिलहों पर बुद्ध की प्रतिमा भी उत्कीर्ण है। कहीं मुखामाला लिए कीर्तिमुख गड़े गए हैं, कहीं-कहीं कमल-

पुष्प बने हैं तथा बड़े-बड़े के नीचे मनुष्य या पशुओं की अजन्ता के विहारों की आकृतियाँ खुदी हैं। इनमें पशुओं की लडाइयाँ (हाथी चित्रकारी तथा भैंसा) भी दिखलाई गई हैं। बाहरी बरामदे में

मंडप में पहुँचने के लिए तीन द्वार हैं। बीच द्वार के पार्श्वों में एक-एक खिड़की है। पुष्पावली में सुगोभित है। उसके कोणों में कई प्रकार की आकृतियाँ बनी हैं। नागमूर्ति या विविध मुद्राओं में मिथुन मूर्तियाँ हैं, जो कई एक वाद्ययंत्रों को बजा रही हैं।

भीतर का मंडप चौमठ फुट लंबी भुजा का वर्गाकार भाग है। इसका छत बीस स्तंभों पर आश्रित है। इसके चारों ओर भिक्षुओं के निवास के लिए कोठरियाँ हैं। बाहरी बरामदे की तरह भीतरी स्तंभ भी सुंदर रीति से अलंकृत हैं। पिछले कतार के मध्यवर्ती स्तंभों पर अलंकरण की मात्रा अधिक है, जिसमें बुद्ध के जीवन की घटनाएँ, स्नान-पूजा तथा पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं। इसी भाग में चार हिरनों का एक ही सिरवाली आकृति भी चित्रित है।

प्रवेशद्वार के सामने गर्भगृह में धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा में आसीन बुद्ध की महाकाय प्रतिमा उत्कीर्ण है। मूर्ति के पार्श्वों में दो चामरधारी बोधिसत्व हैं। प्रभा मंडप के ऊपरी भाग के कोने में विद्याधर उड़ रहे हैं। पादपीठ पर दो हिरनों की आकृतियाँ खुदी हैं, जो मृगदाव की याद दिलाती हैं, जहाँ बुद्ध ने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र परिवर्तन) दिया था। मंदिर के द्वार खंभों पर पुष्पलता, नाग मिथुन एवं मकरों पर आरुढ़ स्त्रियों की आकृतियाँ कुशलतापूर्वक खुदी हैं। इन मूर्तियों के आधार पर यह कहना यथार्थ होगा कि पहली गुफा

महायान-युग में तैयार हुई थी। कलाशैली के आधार पर दूसरी में प्राचीनतर मालूम पड़ती है। इसमें वाकाटक राजा हरिषेण के मंत्री वराहदेव (ई० स० ४७५) का लेख है। परंतु, यह कहना कठिन है कि उस व्यक्ति ने इस गुफा का निर्माण कराया था। आरंभ में खंभे, प्रतिमाएँ आदि सभी रंगीन चित्रों से मंडित थी। खेद है कि इसका बड़ा अंश नष्ट हो गया है। शेष चित्रों को उत्तम कोटि के भित्तिचित्र कह सकते हैं तथा संसार के किसी भी भित्तिचित्र से तुलना कर सकते हैं। गर्भगृह के प्रदक्षिणा पथ की पिछली दीवार पर अत्यंत कलापूर्ण ढंग से बोधिसत्व की मूर्ति चित्रित है, जिसके हाथ में पुष्प है। उनके बाईं ओर सभवतः उनकी पत्नी खड़ी है। दाईं ओर दूसरे बोधिसत्व है, जो एक व्यक्ति के सहारे झुके हैं। दोनों पार्श्वों में एक राजा बोधिसत्व को पुष्प भेंट कर रहा है। मंदिर के द्वार के साथ दो बोधिसत्व खड़े हैं।

मध्यवर्ती प्रकोष्ठ की पार्श्ववर्ती दीवारों पर बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन की दो घटनाएँ अंकित हैं। पहली बोधगया का दृश्य-मार-विजय। गौतम बुद्ध वज्रासन पर बैठे तपस्या में लीन हैं। मार राक्षस (विषय-वासना) की सेना उद्देश्य से विचलित करने के लिए गौतम पर आक्रमण कर रही है। पर, वे विचलित न हुए और पृथ्वी को माक्षी बना कर उन्होंने बुद्धत्व की प्राप्ति की। दूसरा दृश्य श्रावस्ती का महाप्रदर्शन है। उस दशा में बुद्ध ने अपना चमत्कार दिखाया और प्रमेनजित तथा दर्शकों के समुख अपनी को विविध मुद्राओं में विराजमान प्रकट किया।

दीवारों पर कई जातक अच्छे ढंग से चित्रित हैं। उन प्रदर्शनों में बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं का दिग्दर्शन है। शिविजातक की कहानी पुराणों के राज शिवि से ली गई है, जिसमें वतूतर को बचाने के लिए राजा ने अपना माम तौल कर बाज को अर्पित किया था।

दूसरी सखपाल की कहानी प्रदर्शित है। बोधिसत्व सखपाल के रूप में पैदा हुआ, जिसे मनुष्यों की टोली ने घसीटना शुरू किया। सखपाल को अलार नामक गृहस्थ ने मरने से बचा लिया। उस भित्तिचित्र में अलार का तपस्वी बनना, सखपाल की यातना तथा नागराज (सखपाल का नाम) का उपदेश आदि प्रदर्शित हैं। मुख्य द्वार के दाईं ओर दीवार पर राजसभा का दृश्य है। मध्य में राजा तथा चारों ओर सभासद हैं। सिंहासन के समीप तीन विदेशी सविनय मुद्रा में बहुमूल्य उपहार राजा के पास रख रहे हैं। इसे चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय (ई० स० ६१०-४२) का दरबार समझा गया है, जहाँ ईरान के ससानियन बादशाह खुनु द्वितीय के भेजे गए राजदूतों का

प्रदर्शन है। परंतु, इसके एकीकरण में विद्वानों में मतभेद है। अन्य जातक-महाजनक, चम्पेटय आदि का चित्रण भी मिलता है। विहार की छतों पर बने चित्र आलंकारिक हैं। पुष्पलता, पत्रावली तथा पशु-पक्षी आदि चित्रों का यह कोश का काम करता है।

गुहा संख्या २ में भी बाहरी बरामदे में पहली गुफा के समान चित्रण है। खम्भों में नाना प्रकार के अलंकरण दीख पड़ते हैं। सामने मंदिर है जिसमें बुद्ध प्रतिमा उत्कीर्ण है। पार्श्व में चामरधारी बोधिसत्व है। इन मूर्तियों में भारी लटें मिर के एक ओर गिर रही हैं। इस गुफा की तिथि लेखों के आधार पर छठी शताब्दी मानी गई है। कुछ लेख में क्षाति-जातक के श्लोकों का उद्धरण है जिसमें काशिराज ने बोधिसत्व को अनेक कष्ट दिया था, तो भी उसने उपदेश देना नहीं त्यागा। इस गुफा के मंडप, प्रकोष्ठ तथा दीवारों एवं छतों में बने चित्र अधिकांश सुरक्षित हैं। इस गुफा के दीवार असंख्य बुद्ध प्रतिमाओं से भरे पड़े हैं, जहाँ बुद्ध अनेक मुद्राओं में प्रदर्शित हैं। इसमें तीन महाकाय बोधिसत्व भी चित्रित हैं। मंडप की बाईं दीवार पर बुद्धजन्म की घटनाएँ चित्रित हैं। माया का सपना, सफेद हाथी, तुषितस्वर्ग, ब्राह्मणों द्वारा माया के म्वप्न का विचार चित्रों द्वारा प्रदर्शित है। माया एक वृक्ष की टहनी के सहारे खड़ी है। नवजात शिशु को इन्द्र दोनों भुजाओं में उठाए हुए है। मंडप के बाएँ किनारे हमजातक का दृश्य है। वाराणसी राजा (ब्रह्मदत्त) की पत्नी न हंस को प्रमोहनवश पकड़वा लिया। व्याधा ने रानी के समुख उसे उपस्थित किया परंतु दोनों पति-पत्नी राजहंस ने धार्मिक प्रवचनों से प्रभावित हुए। राजहंस बधनमुक्त हो गया। विधुर पंडित तथा हूँ जातकों का चित्रण भी मौदर्यपूर्ण है। मंदिरों की दीवार पर बने चित्र अच्छी दशा में हैं। प्रदर्शन में समानता है। वर्ण, रचना-शैली तथा गृष्ठभूमि में कुछ भिन्नता नहीं है।

सोलहवीं गुफा एक ऐसा विहार है, जो अजन्ता के विहारों में भव्यतम माना गया है। इन अलंकरणों की सुंदरता, लालित्य तथा चित्रकला प्रशंसनीय है। इस गुहा के बरामदे के बाहरी दीवार पर वाकाटक राजा हरिषेण (ई० स० ४७५-५००) का लेख खुदा है जिसमें वर्णन है कि यह गुहा तापसों (भिक्षुओं) के निवास निमित्त उत्कीर्ण किया गया था। गैल गृह, खिडकियाँ, मनोहर विथियो तथा आलंकारिक स्तंभों एवं सोपन मार्ग आदि का उल्लेख है। मंडप में बीस खम्भे हैं। खम्भों के डंडे चौपट, आठ, सोलह तथा अंत में चार पहल के बने हैं। इनकी तकली शहतीरों के मिरे घुंडियों के आकार में बने हैं। मालूम पड़ता है कि विद्यावारों या गणों द्वारा उठाए गए हैं। मियुन की भी आकृतियाँ

खुदी है। इसमें प्रकोष्ठ नहीं है। खभों पर आश्रित दो गलियारे हैं। केन्द्र स्थान (गर्भगृह) में प्रलंबपाद विशालकाय बुद्ध प्रतिमा व्याख्यान मुद्रा में उत्कीर्ण है। इस विहार की चित्रकारी का काम अधिकतर नष्ट हो चुका है। सबसे प्रधान चित्र 'नंद की दीक्षा' नाम से प्रसिद्ध है। नंद को स्त्री-प्रेम से विरक्त करने, भिक्षु बनाने के लिए बुद्ध उसे स्वर्ग ले गए। यही घटनाएं मंडप की बाईं ओर प्रदर्शित हैं। मंदिर की बाईं ओर श्रावस्ती का चमत्कार चित्रित है। दाईं दीवार पर बुद्ध के जीवन की घटनाएं-सुजाता का क्षीर भेट, राजगृह के बाजार में भिक्षा-पात्र लिए बुद्ध, गौतम की पाठशाला में शिक्षा, माया एवं शुद्धोधन की वार्ता आदि विषय दिखलाए गए हैं जो कला की दृष्टि से सराहनीय हैं। मंदिर के प्रदक्षिणा-पथ की बाईं ओर दीवार पर जातक प्रदर्शन है—महाउम्मग तथा मुत्तसोम।

अजता के विहार सख्या १७ में सबसे अधिक भित्तिचित्र सुरक्षित हैं। यह अपनी कलाकृतियों के लिए विख्यात है। मंडप के प्रकोष्ठ में खभों पर सजावट देखते बनती है। द्वार की चोटी पर मैत्रेय बुद्ध तथा साथ में सात मानुषी बुद्ध की मूर्तियां चित्रित हैं। बरामदे की पिछली दीवार पर बायीं ओर अप्सरा तथा गंधर्वों की मंडली बादलों के बीच चित्रित हैं। उसमें देवराज दिखलाई पड़ता है। हवा में उड़ती हुई मूर्तियों के शरीर का लचीलापन कलाकारों ने बड़ी कुशलतापूर्वक दिखाया है। मंदिर की बाईं ओर स्तंभ-मंडप के नीचे मधुपान करते राजा-रानी चित्रित हैं। रानी की भावभंगिमा हृदयग्राही है। इसी के आगे राजकीय दंपति शोकपूर्ण मुद्रा में नगर द्वार की ओर जा रहे हैं। नगर के आगे एक राजकुमार भिक्षा बांट रहा है। इसमें साधुओं, तापसों, भिखारी की मुद्रा एवं भाव दिख पड़ते हैं। संभवतः इनके द्वारा बेसतर जातक का स्मरण दिलाते हैं। मंडप के बरामदे की दीवारों पर चित्रित विषयों की कल्पना अद्वितीय है। द्वार के दाहिनी ओर अप्सराओं की मूर्तियां चित्रित हैं। दाईं ओर राजगृह का चमत्कार, नालगिरि हाथी का दमन—प्रदर्शित है। नालागिरि मस्त हाथी को देवदत्त ने बुद्ध को मारने के लिए छोड़ा। हाथी के भय से नगर में भगदड़ मच गई, किंतु मनवाला हाथी बुद्ध के चरणों में अभिवादन करने लगा।

विहार के मंडप की दीवारों पर बहुत जातक कथाओं का चित्रण है। मुख्य द्वार के बाईं ओर छद्मन्त जातक प्रदर्शित है। किस प्रकार काशिराज की रानी ने षड्दत्त को व्याधा द्वारा मरवा डाला। कमल हृद से निकलते गजराज (षड्दत्त) पर शिकारी ने तीर साधा। शिकारी हाथी का अभिवादन कर छह दांत लेकर राजधानी लौटा। अंत में रानी उसे देखकर शोक में प्राण त्याग दी। उसी के आगे महाकपि जातक का दृश्य है। बोधिसत्व

(महाकपि) अपने साथियों के साथ गंगा के तट पर आम का फल खा रहा था। काशिराजा ब्रह्मदत्त ने उसे घेर लिया। महाकपि ने नदी के आरपार वृक्षों के सहारे अपने शरीर का पुल बना दिया, ताकि समस्त बदर बच जाए। बंदर रूप में ब्रह्मदत्त ने महाकपि के पेट पर लंबी छलांग लगाई और उसका हृदय फट गया। ब्रह्मदत्त बोधिसत्व के आत्मत्याग से प्रभावित हुआ। बोधिसत्व को राजा के नौकरो ने कबल में लपेट लिया। इस घटना का मुंदर चित्र दीवार पर दीख पड़ता है। इसी प्रकार वेसंतर जानक भी चित्रित है। इसमें राजा वेसंतर को दानी होने के कारण देश से निकाला गया। वेसंतर स्त्री तथा पुत्रों के साथ रथ पर बैठ नगर से बाहर चला गया। अंत में जंगल में घोर यातनाएं सहने के पश्चात् सच्चाई प्रकट हुई। इंद्र ने उसके बच्चे तथा उयकी स्त्री लौटा दिया। कोठरियों के दो द्वारों के बीच मातृपोषक जानक प्रदर्शित है। बोधिसत्व ने हाथी के रूप में जन्म लिया। काशिराज ब्रह्मदत्त ने इसे बंदी बना लिया। हाथी ने राजमवन में अपनी अधी माता की याद कर खाना-पीना बद कर दिया। राजा ने द्रवित होकर उसे बधनमुक्त कर दिया।

इसी तरह महिष, मुत्तयोम, मच्छ, मरभमिग जानकों का यथास्थान चित्रण है। रुह जानक का प्रदर्शन बोधिसत्व द्वारा संछ के डुबने हुए पुत्र को बचाने की कथानक से संबंधित है। निम्रोधमिग जानक मृगदाव में काशिराज के उपवन में बोधिसत्व (बंद वृक्ष के नीचे रहने वाला हिरण) के पकड़े जाने की वार्ता को प्रकट करता है।

मृगदाव की वार्ता है कि काशी राज के कारण जानवरों में प्रतिदिन बारी-बारी से एक जानवर (हिरणी) राजा के वधपात्र में मना जाय, ऐसा निर्णय हो चुका था। गर्मिनी हिरणी की बारी आई। बोधिसत्व (शारंगोनाथ) हिरणी के स्थान पर स्वयं उपस्थित हुआ। इस आत्मबलिदान से राजा प्रभावित हो गया और उसने हिरणों को मारना छोड़ दिया। प्रकोष्ठ की दीवारें बुद्ध जीवन की घटनाओं से अलंकृत हैं। श्रावस्ती का चमत्कार, तथा त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में बुद्ध का संक्रमा में उतरना प्रदर्शित है। द्वार की बाईं ओर बुद्ध की पत्नी यशोधरा अपने पुत्र राहुल का सामन ला रही हैं। राहुल पिता (बुद्ध) से पैतृक संपत्ति मांग रहा है। बुद्ध ने इसे भिक्षापात्र दिया। इस तरह बुद्ध के जीवन तथा जानकों का चित्रण गुहा संख्या १७ में अत्यन्त सौंदर्यपूर्ण तथा कलात्मक ढंग से किया गया है।

अजता गुहा की विशेषता यह है कि यहां के चैत्य-मंडलप भी अलंकृत हैं तथा दीवारों पर चित्र खींचे हैं। गुहा संख्या ९, १०, १९ तथा २६ चैत्य-

मंडल है और नाना प्रकार से विमूषित है। गुहा संख्या ९ तथा १० प्राचीन चैत्य-मंडप है जिसमें केवल स्तूप दीख पड़ता है, किंतु १९ तथा २६ चैत्य पाँचवीं सदी में निर्मित हुए थे। यद्यपि दोनों प्रकार के अजंता के चैत्यों में चैत्य-मंडपो में शताब्दियों का अंतर है किंतु स्तूप में बुद्ध-चित्रकारी संबंधी प्रतिमा को छोड़कर बनावट में कोई अंतर नहीं दीख पड़ता। गुहा की दीवार पर भित्ति चित्र में दो तहें हैं। प्राचीनतर चैत्य निर्माण के समकालीन हैं। उन चित्रों पर एक दूसरे का आरोप दीख पड़ता है। इसमें प्रकट होता है कि पुराने चित्रों को मिटाए बिना नए चित्र तैयार किए गए। चित्रों में दो समुदाय का दृश्य है। बाएँ हाथ नागराज तथा दाएँ हाथ एक राजा का चित्र है जो पाँच व्यक्तियों की फरियाद सुन रहा है। बाईं दीवार पर कुछ बुद्ध मूर्तियों के उत्तरकालीन चित्र हैं। प्राचीन तथा उत्तरकालीन चित्रों का अंतर स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। शैली तथा क्रियाविधि में बहुत पार्थक्य है।

चैत्य-मंडप संख्या १० में भी प्राचीन तथा उत्तरकालीन चित्र पाए जाते हैं। इसका निर्माण संभवतः ई० पू० दूसरी शताब्दी में हुआ था। उस समय के चित्र भी हैं। इसकी दीवार पर आधुनिक चित्र भी हैं, जिसमें राजकीय पुरुष, सैनिक, मर्गतत, स्त्रियों तथा परिजनो के साथ बौद्धवृक्ष और स्तूप-पूजा की शोभा यात्रा में जा रहे हैं। उत्तरकालीन चित्रों के नीचे दवे बड़े खड्गचित्र दाहिनी दीवार पर दृष्टिगत होते हैं। इसमें मामजातक का प्रदर्शन है। यह कथानक पौराणिक श्रवण कुमार की कथा से मिलता है। बोधिसत्व के माता-पिता अंधे हैं। उनका एक मात्र सहारा साम नामक एक बेटा है। जगत् की नदी में जब साम माँ-बाप के पीने के लिए पानी ला रहा था, काशिराज ने विपरीत तीर से उसे मार डाला। विवास्तविक बातें जान लेने पर राजा अत्यन्त पेट प्रकट कर मेवा के लिए अपने को समर्पण करता है। दैवी कृपा से साम जीवित हो जाता है तथा माता-पिता की आँखों में रोशनी आ जाती है। चित्र में राजा वाण चला रहा है। साथ में पश्चाताप करने राजा की आकृति है। तीसरे खंड में आश्रम-जीवन का दृश्य है। पुत्र-वियोग में अंधे माता-पिता साम के शरीर को स्पर्श कर रहे हैं। साम जातक के बाईं ओर षड्दश जातक प्रदर्शित हैं। इस चित्र में शिकारी छह दांत वाले हाथी को मार रहा है। छद्म शिकारी को दांत निकालने में सहायता दे रहा है। जब दांत काशिराज की पत्नी चुल्लमुभद्रा के सामने रखा गया, तो वह बेहोश हो गई। विशेषतया हिमालय में पड़ दंत का जीवन, बट-वृक्ष के नीचे

उसका निवास, दाँतो को आरा से काटना, रानी के संमुख उपस्थित करना तथा सुभद्रा का बेहोश होना आदि विषयो का सुंदर चित्रण है ।

गुहा (चैत्य) संख्या १९ तथा २६ भी अश्रुत होने के कारण प्रसिद्ध है । दीवार तथा छतो मे सुंदर चित्र दीख पड़ते है । बुद्धमूर्ति की अधिकता है । चैत्य-मंडप २६ के प्रदक्षिणा-पथ की दीवारो पर चित्र (दृश्य) को सरस बना देते हैं । इसमे दो चित्र है । पहला बुद्ध के परिनिर्वाण का तथा दूसरा बोध-गया के भार-विजय का दृश्य । परिनिर्वाण मे विशालकाय बुद्ध प्रतिमा शयन मुद्रा मे पड़ी है । शिष्यगण शोकातुर हैं । मार-विजय मे मार-सेना का आक्रमण, मार की पुत्रियो का नृत्य, बुद्ध को विचलित करने का प्रयत्न, आदि मार की आकृति सभी को दिखाने का प्रयत्न है । चित्र के बहुतसा अंश नष्ट हो गए है । चित्रकार को वास्तविक रूप से सपूर्ण दृश्य दिखाने का अवसर नही मिला । इस प्रकार अजंता के चित्रकारो ने बुद्ध के जीवन, जातक तथा सामाजिक विषयो का अधिक चित्रण किया है । भित्तिचित्र पर शेष चित्रो के अध्ययन से यह प्रकट होता है ।

काममूत्र मे चित्रकारी के जिन छह अंगो का वर्णन है, उरो अमंता के भित्तिचित्रो मे प्रयुक्त पाते है । (१) रूपभेद (२) प्रमाण (३) लावण्य-योजना (४) भव (५) सादृश्य तथा (६) वर्णिक भग । चैत्य-मंडप मे चित्रो के अवलोकन मे ज्ञान होना है कि प्रारंभिक अवस्था मे चित्रकार खुदे मूर्तियो को रंगीन बनाने मे व्यस्त थे । इस कारण तक्षण तथा चित्रकारी का संयुक्त प्रयास दीख पड़ता है । धार्मिक भावना की जागृति से बौद्ध कलाकारो ने मूर्ति-निर्माण से चित्रों पर अधिक बल दिया और प्रतिमा के सभी लक्षणो को चित्र मे उतारने का सफल प्रयत्न किया । अजंता के चित्रो मे मानव-शरीर का पूरा अध्ययन है । अंगो के कडापन को हटाकर नमी लाने की कोशिश है, जिससे वास्तविकता तथा सजीवता प्रकट होती है । इसके अतिरिक्त प्रकृति का विश्लेषण अजंता के भित्तिचित्रो मे मिलता है ।

त्रालियर रियासन (राजस्थान) के विन्ध्या पर्वत के दक्षिणी ढाल पर पांच सौ फीट की ऊँचाई नव गुफाएँ खुदी है, जिन्हे 'बाघ गुफा' के नाम से पुकारते है । सभी गुफाएँ भिक्षुओ के निवास के निमित्त तैयार की गई थी यानी सभी विहार हैं । प्रथम विहार नष्टप्राय हो गया है । दूसरे को पाडवो की गुफा कहते है तथा भली-भाँति सुरक्षित है । इसके चित्रों को घुर्जा से अधिक क्षति पहुँची है । इस विहार के मध्य मे एक चौकोर भवन (आँगन कह सकते हैं) है जिसके पार्श्व मे निवास के लिए कमरे बने हैं । बरामदे मे ताखो पर मूर्तियाँ

दीख पड़ती हैं। तीसरे को स्थानीय लोग हाथी-खाना के नाम से पुकारते हैं। चौथे को रंगमहल कहते हैं स्यात् इसके भव्य सौंदर्यमय रंगीन चित्र दीख पड़ते हैं (यानी दीवारों चित्रित हैं) इसी कारण इसे रंग-बाध की महल कहा गया। पाँचवी गुहा चौथी की समकालीन है। चित्रित गुफाएँ छह, सात, आठ तथा नवी गुफाओं के संबंध में अधिक कहा नहीं जा सकता है। सभी नष्ट हो गई हैं और मलबे से भरी हैं। अजंता तथा बाध के चित्रों में रंगों का समान चुनाव किया गया है। बाध में प्रस्तर लेप पर ध्यान कम दिया गया है, जिस तरह का मिट्टी भूसा मिश्रित लेप अजंता की गुहाओं में प्रयुक्त है। बाध के चित्रों में एक रूपता दीख पड़ती है, क्योंकि इसे एक ही समय एवं एक ही चित्रकार द्वारा संपन्न किया गया था। अजंता के चित्र थोड़ी-थोड़ी सीमा में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा चित्रित किए गए, जिससे कुछ अंशों में असमानता है।

बाध चित्रकारी की परिकल्पना (Design) कला शैली तथा आलंकारिक विशेषता (गुण) में अजंता से घट कर नहीं है। बाध चित्रों के विषय धार्मिक न होकर सामाजिक प्रदर्शनों से संबद्ध है। इन चित्रों के परीक्षा से उन्हें किसी प्रकार बौद्ध नहीं कहा जा सकता। इसमें सुंदर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित स्त्रियाँ संगीत में लान हैं। वे नृत्य कर रही हैं। उसमें धार्मिक भावना को आगेपित करना अनुचित होगा। बाध चित्रों की तिथि के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता। अजंता की तरह यहाँ की गुहाओं में अभिलेख खुदे नहीं मिलते, जिस आधार पर काल का अनुमान किया जा सके। चित्रों के अध्ययन तथा वस्त्र के पहनने की शैली, केशविन्यास तथा कलात्मक गुण के आधार पर इन्हें उत्तर गुप्तकालीन मान सकते हैं। अजंता के सर्वथा समकालीन नहीं हो सकते। छठी या सातवी शताब्दी में बाध की तिथि निश्चित करना युक्ति संगत होगा।

बाध की गुफाओं की दीवारों पर लेप लगाने का प्रश्न नहीं था। यहाँ की चिकनी दीवार पर चने से सफेदी की जाती तथा चूनाकारी के सूखने पर चित्र खींचे जाते थे। रात्रि के समय उसमें गीलापन आ जाता और सुबह चूने के पानी में रंग मिलाकर चित्र तैयार किए जाते थे। बाध के चित्रकार रंगों का चुनाव उचित रीति से करते थे। लाल, पीला, चूना सफेदी, खाकी रंग तथा काले रंगों का प्रयोग किया गया है। बाध में नृत्यसमूह तथा हाथियों पर शोभायात्रा का प्रदर्शन अत्यंत कलात्मक ढंग से चित्रित है।



सातवां अध्याय

चैत्य का निर्माण

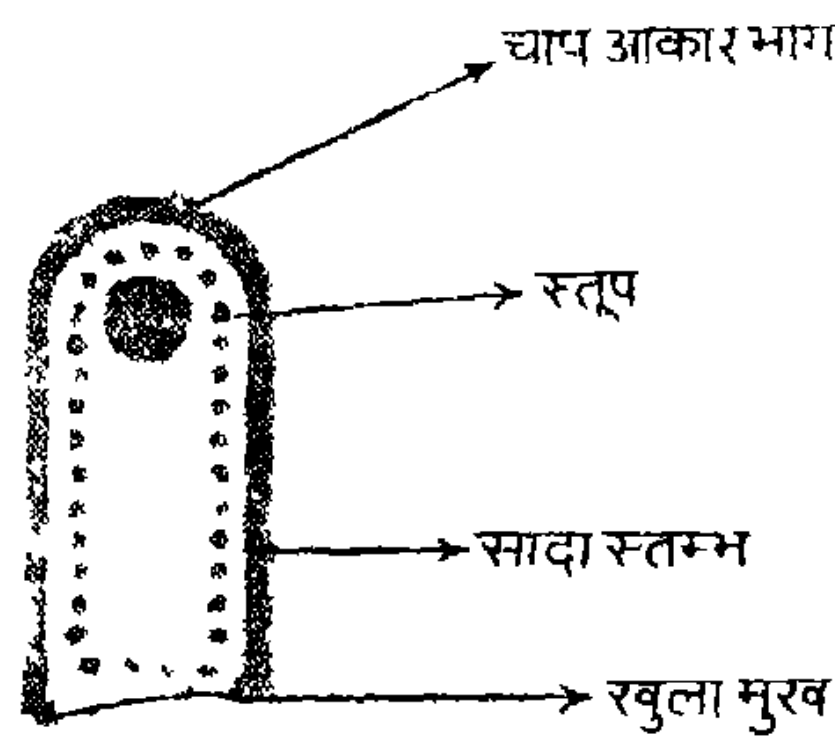
यह कहा जा चुका है कि विहार के समीप पूजा-निमित्त अर्द्धगोलाकार (बुडनाल) गुफा खोदी गई जिसमें स्तूप की भी स्थिति सर्वदा रहती है। उसी क्षेत्र में दोनों प्रकार की गुफाएँ स्थित हैं, किंतु दोनों की बनावट में अधिक अंतर है। विहार ग्राम के निवासगृह के सदृश चौकोर थे। पर्वतों की खुदाई का मूल आकार ही पृथक्-पृथक् था। पूजास्थान के निर्माण की योजना जंगल की ज पड़ी से सर्वथा मिलती है। बाँस के ढाँचे पर ही घास फूस रखा जाता था। पश्चिमी भारत में चैत्य-निर्माण का एक क्रम था। उसमें भाजा, कोन-दाने, पितलखोरा, बेदसा, नासिक, कार्ले एवं अजंता (गुहा ९ तथा १०) तथा कंहेरी एक श्रेणी में रखे जाते हैं। ये गुफाएँ यानी चैत्य गुहाएँ ईसा पूर्व पहली सदी में खोदी गई थीं। इस निश्चय पर पहुँचने का एक कारण है। हीनयान मत में बुद्ध की प्रतिमा का अभाव था और प्रतीको में स्तूप को ही गुफा में पूजा-निमित्त स्थान दिया गया। लकड़ी के ढाँचे के जितना सदृश है, वह उतना ही प्राचीन है।

उपरियुक्त स्थानों पर पर्वत में जो चैत्य खोदे गए थे, उनमें साधारण स्तूप ही दीख पड़ता है। किसी प्रकार का अलंकरण या सबद्ध मूर्ति का अभाव है। कालांतर में बुद्ध प्रतिमा जोड़ी गई। अजंता गुहा सं० १९, २६ तथा एलोरा सं० १० (विश्वकर्मा गुफा) चैत्य गुहा में स्तूप के समुख उसी शिलाखंड में बुद्ध-प्रतिमा उत्कीर्ण है। यह महायान की देन है। जब भक्तिभावना का आविर्भाव हुआ, तो बौद्धमत के दूसरे यान—महायान शाखा में बुद्ध-प्रतिमा तैयार की गई। इसी सन् के आरंभ से यह नया विधान मानने आया। इसके पश्चात् कलाकारों ने पश्चिमी सह्याद्री पर्वतशृंखला में जो 'चैत्य-मंडप' खोदे, सभी में प्रतिमा सहित स्तूप के अंड को उत्कीर्ण किया गया। अतएव, चैत्यों को हीनयान तथा महायान शाखाओं से सबद्ध कर तिर्थ निर्धारित करते हैं। कालांतर में सातवीं सदी के पश्चात् चैत्य तथा विहार का संमिश्रण हो जाता है। विहार के केंद्रीय मंडप (गृह) में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई, जहाँ भिक्षुगण पूजा किया करते तथा उपदेश भी श्रवण करते रहे।

चैत्यों की बनावट में मूलतः समानता है, किंतु समय-समय पर कुछ आकार-प्रकार जोड़ दिए गए अथवा सुंदर बनाने के लिए आलंकारिक कार्य किए गए। जैसे शोपड़ी के बांस के ढाँचे को मोड़ कर गोलाई में स्थिर करते हैं, वही दशा चैत्य-मंडप की है। यहाँ बांस के स्थान ऊपरी गोलाई में प्रस्तर का प्रयोग किया गया है। कहीं ऊपरी भाग में लकड़ी की शहतीरें भी दीख पड़ती हैं। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भाजा में चैत्य-मंडप का आरम्भ हुआ था। पर्वत को खोद कर घोडे की नालनुमा (अश्वनालाकार = अर्द्धगोलाकार) मंडप तैयार किया गया है, जिसका ऊपरी भाग शोपड़ी के बांस के ढाँचा सदृश गोल है। बांस के स्थान पर डाटदार छत में निरर्थक लकड़ी की कड़ियाँ पसलियाँ सदृश लगाई गई हैं। घोड़नाल सदृश गुहा को तीन भागों में बाँटा गया है। पर्वत से सटे पूरी गोलाई में गलियारा है, जिसे स्तूप के पीछे से विपरीत दिशा में देखने है। मध्य भाग (नाभि) से गलियारे (प्रदक्षिणा-पथ) को अलग करने के लिए प्रस्तर के खंभे तैयार किए गए, जिनके ऊपर महराब-सी बनावट है। इस प्रकार चैत्य-मंडप तीन भागों में विभक्त हो जाता है—

१. बीच का भाग नाभि-मध्यवीथी।

२. गलियारा-खंभों की दीवार से लगा हुआ भाग जो पूरे घुड़नाल की गोलाई में जाता है। उसे पार्श्व वीथी कहा जाता है। स्तूप के पीछे से होकर पार्श्व वीथी गुजरती है, अतः इसे प्रदक्षिणा-पथ भी कहते हैं।



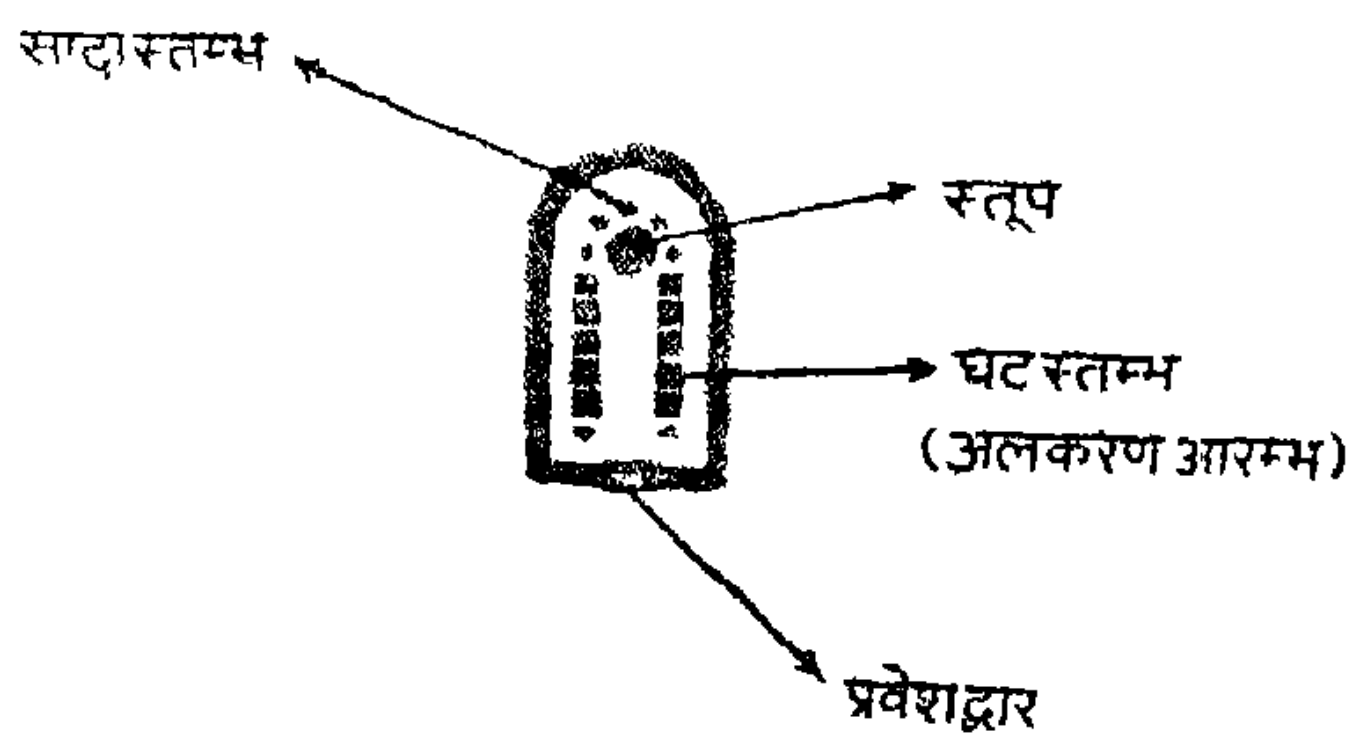
भाजा चैत्य मण्डप घोड़नालनुमा

३. स्तंभ—जो नाभि को प्रदक्षिणा-पथ से पृथक् करता है। भाजा गुफा में सभी स्तंभ सजादे हैं। क्रमशः इन खंभों में अलंकरण की क्रिया होती गई। स्तंभों

के निचले भाग में घटनुमा आकार आरंभ हुआ और स्तंभ के ऊपरी भाग (शीर्ष) में अधिक सुंदर खुदाई की गई। अजंता चैत्यों में स्तंभों को सौंदर्य-मय उत्कीर्ण किया गया है। स्तंभों के शीर्षको के मध्य में बुद्ध की प्रतिमा खुदी है। इसके अतिरिक्त घुड़सवार, हाथी, विद्याधर, संगीत-मंडलियाँ बनी हैं। छज्जों पर भी उकेरी बुद्ध-प्रतिमाएँ हैं।

घोड़े के नाल की बाहरी दिशा (मुख) के समान ही चैत्य का बाहरी भाग था, जिसमें तीन दरवाजे हैं। मध्य दरवाजा नाभि (मध्य वीथी) में प्रवेश करता था। बाएँ दरवाजे से उपासक प्रवेश कर गलियारे में घूम कर यानी स्तूप की प्रदक्षिणा कर (पार्श्व वीथी से) विपरीत दिशा (दाहिने) के गलियारे से बाहर निकल जाता है। इस प्रकार वह स्तूप की पूजा तथा प्रदक्षिणा समाप्त करता। नाभि के भाग में भिक्षुगण जा सकते थे और स्तूप को स्पर्श भी करते थे। जैसे झोपड़ी के ऊपरी (ढाँचे) भाग को जमीन में स्थित बाँस के खंभों में बाँधते हैं, जिससे वह झोपड़ी स्थायी हो जाए यानी निवास के योग्य हो जाए। वही हालत भाजा तथा वेदसा के चैत्य-मण्डपों का है। वेदसा तथा भाजा के सादे स्तंभ कुछ छत की ओर झुके हैं। झोपड़ी को खंभों के सहारे उसे सीमा में रखते हैं। जैसा कहा गया है—शनै-शनैः कलाकार स्तंभों को सुंदर रूप में विभूषित करने लगे। इस कारण उनके आधार तथा शीर्ष की सुंदरता देखने योग्य है।

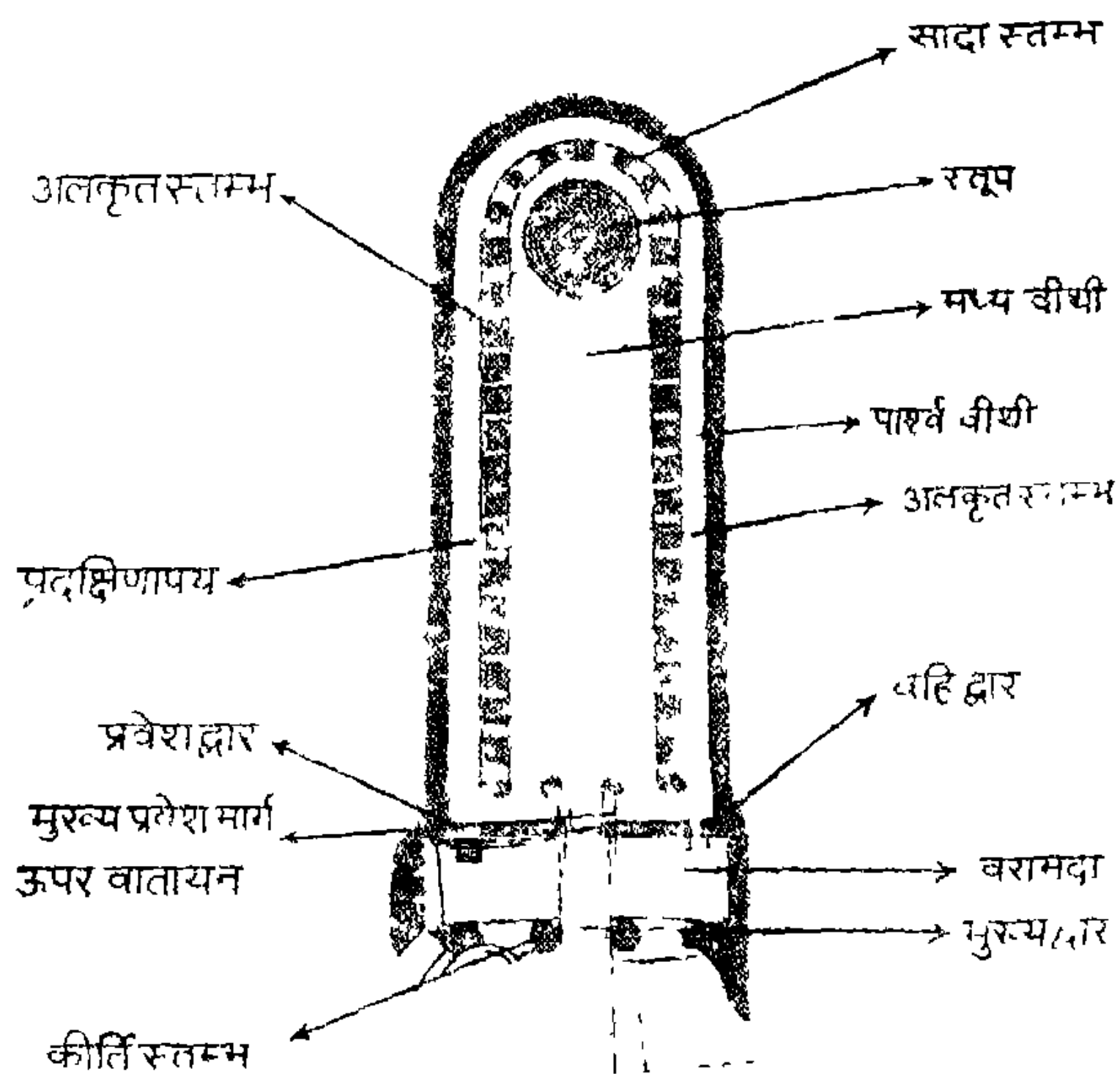
वेदसा तथा पितलखोरा के चैत्य-मण्डप भाजा के सदृश हैं। नासिक में अलंकरण आरंभ हुआ। आधार को घटनुमा बनाया गया। ऊपरी शीर्ष



नासिक चैत्य मण्डप

अशोक-स्तंभ के मूल आकार को लेकर खोदा गया। वह घंटे के आकार का है। उलटे पुष्प की पंखुड़ियाँ बनी हैं, जिन पर चौकी के सदृश प्रस्तर उत्कीर्ण

है। समस्त स्तंभों की चौकियों पर दंपति अथवा राजा-रानी की आकृतियाँ स्तूप-पूजा देखने के लिए उत्सुक-सी दीख पड़ती हैं। नासिक में चौकियों पर देखने के लिए मनुष्यों की आकृतियाँ खुदी हैं। कालांतर में काले की गुफाओं (चैत्यों) के स्तंभों को विशेष अलंकृत किया गया। पुष्प का डंठल ऊपर है। कमल की पखुडियों में से स्तंभ निकलता दिखलायी पड़ता है। पुष्पों के ऊपरी भाग पर बनी चौकियों पर काले में एक साथ चार जानवर (हाथी, बैल या सिंह) बने हैं जिनकी पीठ पर दंपति बैठे हैं। उनकी स्थिति से अनुमान लगा सकते हैं कि सभी पूजा के अवलोकनार्थ बैठे हैं। पर्वत में 'चैत्य-मंडप' खोदने के पश्चात् स्तूप पर ध्यान केंद्रित करने के लिए बाहरी प्रकाश की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस कारण तीनों द्वार के ऊपरी भाग में प्रस्तर खोद कर प्रकाश तथा वायुप्रवेश निमित्त खिड़की (वातायन) तैयार किया गया, जिसको कलाकारों ने चैत्य के आकार सदृश बनाया। इस कारण इन्हें 'चैत्य-वातायन' कहना समुचित होगा। काले तथा अजंता (गुहा)



काले चैत्य-घोड़ नाल नुमा

स० ९) के चैत्य वातायन अलंकारिक रूप में बने हैं। उनको भी लकड़ी की जालियों से भर दिया गया है। कहीं प्रस्तर की भी जाली है।

काले चैत्य यानी ईसा पूर्व पहली शती से पर्वत को खोदकर सबसे पहले बरामदा तैयार हुआ, जिसमें कई स्तंभ ऊपरी भाग के बोझ को संभालने के निमित्त हुए थे। उसी बरामदे में तीन द्वार तथा भीतर स्तंभ सहित चैत्य (घोड़नाल सदृश गुहा) खोदा जाता था। अजंता में चार स्तंभों का छोटा बरामदा चैत्य-द्वार के संमुख दीख पड़ता है।

चैत्यों में स्तूप का वर्णन अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वही सबसे प्रमुख अंश माना गया है। अशोक कालीन स्तूप समतल भूमि पर गोलाकार चबूतरे पर बनाए जाते थे। सर्वप्रथम मिट्टी का टीला था। कालांतर में प्रस्तर से आच्छादित कर दिया गया। अंड के सिरे पर हरमिका तथा छत्र तैयार किया जाता। मौर्यकालीन उन स्तूपों में सभी बातें एक साथ तैयार न हुईं। चबूतरा, अंड, हरमिका, छत्र तत्पश्चात् बेष्टनी बनी। परंतु, चैत्य-मंडपो में सारा कार्य एक आयोजन के साथ किया जाता था। घोड़नाल-नुमा आकार में मध्यवीथी के गोलाई चाप में स्तूप को प्रस्तर में खोदा गया है। प्रस्तर काटते समय कलाकार सभी आकार-प्रकार को मस्तिष्क में रख कर छेनी उठाता था। पर्वत की तलहटी से खोदना आरंभ करता और क्रमशः चैत्य के मारे आकार को सुंदर रीति से उत्कीर्ण कर अपनी कुशलता का परिचय देता था। कहीं-कहीं (कहेरी में) विहार तो पूर्ण खुदे नहीं हैं, परंतु चैत्य-संवंधी ऐसी बातें मुनी नहीं गईं। इस प्रकार बाहरी बरामदा, तीनों दरवाजे, चैत्य-वातायन, मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी, स्तंभ अलकरण सहित मेहराबदार छत्र (अर्द्धगोलाकार) उसमें प्रस्तर या लकड़ी की शहतीरें (पसलीनुमा) तथा अंतिम समय स्तूप को तैयार करते थे। डाटदार छत्र पर बनी प्रस्तर की पसलियाँ लकड़ी की कड़ियों का अनुकरण हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए, तो ज्ञात होता है कि वातायन से रश्मियाँ सीधे स्तूप पर गिरती हैं। हीनयान मतानुयायियों ने सादा स्तूप बनाया। उसके अंड के निचले भाग में बेष्टनी की तरह आकार (मेधि) बने हैं। हरमिका तथा छत्र भी वर्तमान हैं। महायान के कलाकारों ने उस स्तूप को उत्कीर्ण करते समय बुद्ध-प्रतिमा को भी खोद कर मध्य द्वार के सामने स्थिर किया, जिससे उपासक उस प्रतिमा को देख सकें।

अजंता के महायान चैत्यों (गुहा सं० १९ एवं २६) में उद्देशिक स्तूप पर बुद्ध की मूर्ति बनी है, जिसके विभिन्न अंगों में अलकरण दीख पड़ते हैं। इन

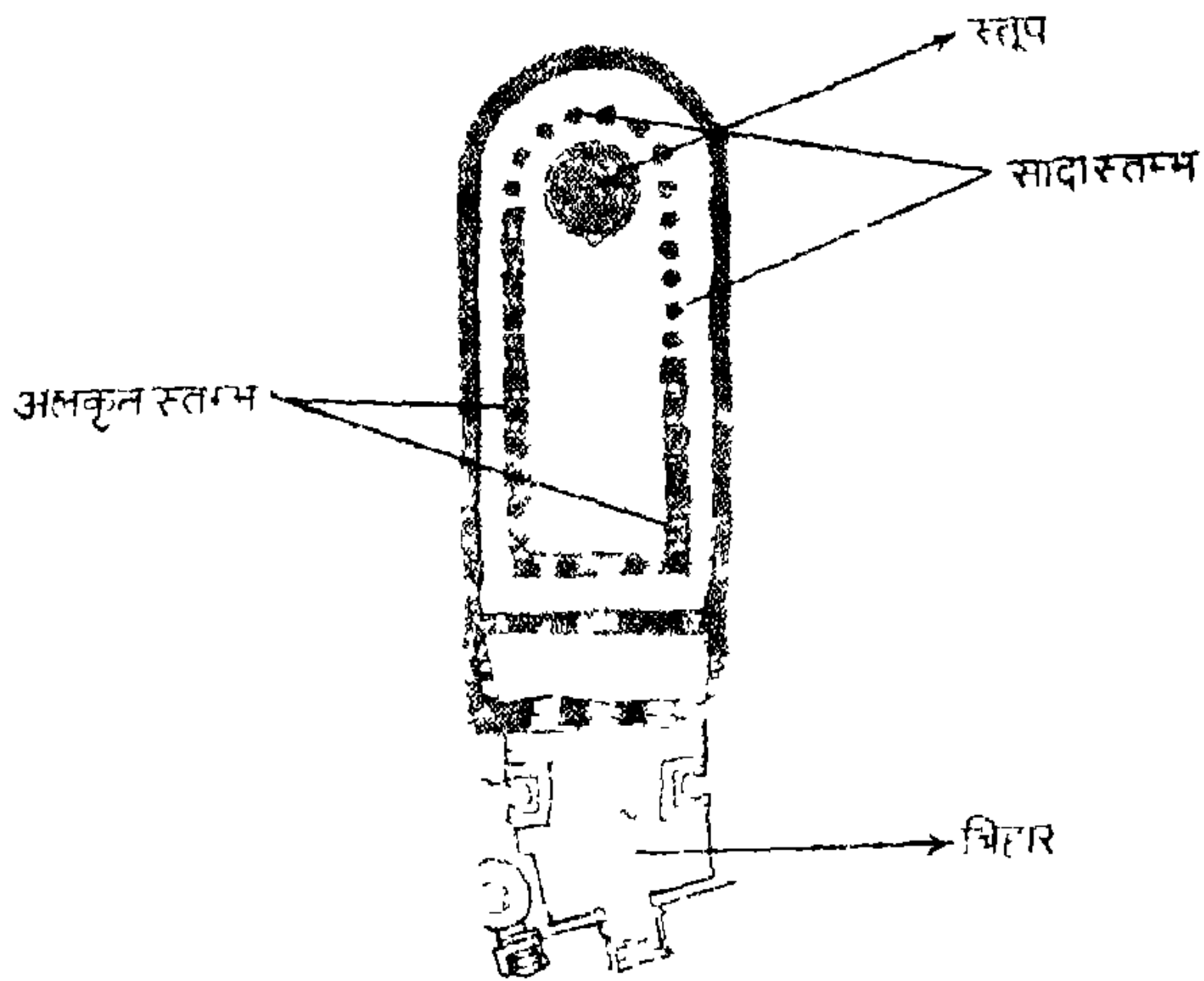
चैत्य-मंडपों में स्तूप का चबूतरा गोलाकार नहीं है। उनमें स्तंभनुमा आकार बने हैं। स्तूप को पृष्ठभूमि में बदल दिया गया है। वह केवल आलंकारिक आकार रह गया। उसमें खोद कर दोनों ओर मेहराब सहित स्तंभ बने हैं। उसी गहराई में बैठी या खड़ी बुद्ध प्रतिमा है। अजंता गुहा सं० १९ तथा २६ (चैत्य-मंडपों) में स्तूप की प्रधानता जाती रही। अलंकरणों के गढ़ने में निरर्थक आडंबरों की ओर ध्यान दिया गया है।

गुहा-निर्माण के पश्चात् पर्वत के बाहरी माथे पर चैत्य वातायन सदृश अनेक आकार बनाए गए थे, ताकि दूर से ही गुहा की स्थिति प्रकट हो जाए। पर्वत के अन्य भाग से यह अलंकरण दर्शकों को आकर्षित करता था। बेदसा, पितलखोरा तथा अजंता गुहा (चैत्य) के अग्रभाग (Facade) पर अनेक चैत्य वातायन उत्कीर्ण किए गए हैं। अजंता की महायान चैत्य (गुहा सं० १९) के पुरोभाग पर खड़ी बुद्ध-प्रतिमा खुदी है। इसे देखते ही उपासक महायान चैत्य का नामकरण कर सकता है। अजंता गुहा सं० २६ में भगवान् बुद्ध की बैठी प्रतिमा खुदी गई है। इस प्रकार अन्य चैत्यों में खड़ी प्रतिमा दीख नहीं पड़ती। अजंता चैत्य (गुहा संख्या १९) के अग्रभाग पर पूरे पर्वत को काट कर बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ (विभिन्न मुद्रा तथा आसन सहित) उत्कीर्ण दीख पड़ती हैं। संभव है, यह प्रतिमा खोदने की योजना कालांतर में बनाई गई हो। इस सुझाव का कारण यह है कि किसी निश्चित सुव्यवस्थित रूप में खुदाई का कार्य दीख नहीं पड़ता। समय-समय पर प्रतिमा उत्कीर्ण हुई, ऐसा विचार बनवान हो जाता है।

इसकी पुष्टि अजंता गुहा संख्या ९ के सामने माथा को देखने से हो जाता है। यह चैत्य-मंडप हीनयान से संबन्ध रखता है। चैत्य के अंदर सादा स्तूप बना है। किंतु, सामने के माथा पर पर्वत काट कर अनेक बुद्ध-प्रतिमाएँ बनाई गई हैं। महायान-युग के आरंभ होने पर भिक्षुओं ने हीनयान आकार को भी महायान से संबद्ध करना चाहा। इसलिए माथा को ही प्रतिमाओं से विभूषित किया। चैत्य के अंदर आकार-प्रकार को ज्यों-का-त्यों रहने दिया। केवल सामने पहाड़ को खोद कर महायान कलाकारों ने अपनी इच्छा की पूर्ति की।

कहेरी की गुहा संख्या ९० की बाहरी दीवाल पर भी बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ खुदी गई थीं। सुखासन स्थिति में बुद्ध-प्रतिमा के दोनों पार्श्व में बोधिसत्व की खड़ी मूर्तियाँ दीख पड़ती हैं। स्तूप के अंड के सिरे पर हरमिका

बनी है। वह उलटे सीढ़ीनुमा प्रस्तर की कटाव सदृश ऊपर चौड़ा होता गया है। हरमिका की चोटी पर छत्र की स्थिति है या संबध रखता है। भाजा स्तूप में छत्र का अभाव है, किंतु काले में लकड़ी का छत्र बना है। अजंता गुहा संख्या ९ में हरमिका की चोटी पर लकड़ी छत्रावली थी, जिसके यष्टियों के



कन्हेंरी चैत्य, बिहार सहित

टोकने के स्थान आज भी दृष्टिगत होने हैं। अजंता गुहा में १९ एवं २६ में मुकुटाकार छत्रावली बनी है। जिसे लकड़ी का प्रयोग नहीं है। इस प्रकार संक्षेप में चैत्य-मंडप की खुदाई का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि ईसा पूर्व पहली सदी से भाजा से आरंभ होकर अजंता चैत्य-मंडपों का निर्माण क्रमशः कलापूर्ण तथा अलंकृत होता गया। आलंकारिक विषयों की प्रधानता कलाकारों का ध्यान आकर्षित करती गई।

यदि समस्त चैत्य-मंडपों का सर्वेक्षण किया जाए, तो उपर्युक्त क्रम (भाजा कोनदने, पितलखोरा, अजंता (१०) बेदसा, अजंता (९) नासिक तथा काले) में भाजा का प्रथम स्थान है। उस विलसिले में कन्हेंरी चैत्य अव-नतिकाल का द्योतक है। भाजा का अग्रभाग काल तथा विकट जलवायु-स्थिति के कारण नाश हो गया है। इस कारण भीतरी भाग स्पष्टतया दिखलायी पड़ता है। चैत्य-मंडप के वास्तविक आकार के सदृश भाजा की भी दशा

होगी। सामने का भाग लकड़ी का बना था, जिसके स्थिर करने वाले छेद पर्वत में दीख पड़ते हैं। इसमें मेहराबदार छत में लकड़ी के शहतीर लगे थे। स्तूप की हरमिका तथा छत्र भी लकड़ी का था। यह ५५ फीट लंबा तथा २६ फीट चौड़ा है। प्रदक्षिणा-पथ की चौड़ाई साढ़े तीन फीट है।

भाजा के समीर कोन्दने के चैत्य में कुछ विकास दीख पड़ता है। इसमें लकड़ी के स्थान पर प्रस्तर को काट कर शहतीर बनाया गया। फलतः भाजा से इसमें तनिक कला का विकास सामने आता है। भाजा के सदृश ही कोन्दने का भीतरी भाग है। ईसा पूर्व पहली शती में दोनों चैत्य मंडप तैयार किए गए थे। इसे हीनमान-युग की कलाकृतियों का दृष्टांत सामने आता है। प्रस्तर तथा लकड़ी के काम करने वाले कलाकार को कुशलता प्रकट होती है। पितलखोरा तथा अजंता गुहा (सं० १०) समकालीन है। इनमें छत्र के अर्द्ध-गोलाकार भाग में प्रस्तर काट कर लकड़ी का शहतीरनुमा काम किया गया है। लकड़ी का प्रयोग शर्न-शर्न घटता जा रहा था। चैत्य-मंडप का क्षेत्रफल ५० × ३४ फीट है। ऊँचाई ३१ फीट है। तीसरी सीढ़ी पर अजंता गुहा (संख्या ९) तथा नासिक की पांडुलेण की गणना की जाती है। इनमें लकड़ी का प्रयोग नहीं दीख पड़ता। अजंता गुहा (सं० ९) के अग्रभाग को समुचित ढंग पर खोदा गया है। मध्य में दरवाजा तथा पार्श्व में दो खिड़कियाँ हैं, जिनके रक्षार्थ ऊपर कारनिष्ठ बनाया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पर्वत में खोदाई का कार्य वृद्धि पर था और उसमें कलात्मक ढंग से खुदाई सपन्न की गई थी। चैत्य-मंडप के संमुख द्वार के ऊपर चैत्य-वातायन निर्मित है। उसके मेहराब के साथ-साथ अलंकारस्वरूप खिड़कीनुमा आकार बने हैं। इस चैत्य-मंडप का भीतरी भाग चतुर्भुजी है, पार्श्ववीथी की छत भी चपटी है। अजंता में मध्य वीथी का छत में शहतीरो का अभाव है। उस स्थान की कलाकारों ने चित्र से अलंकृत किया है, क्योंकि मेहराब में उन शहतीरो की कोई आवश्यकता नहीं थी। नासिक की पांडुलेण चैत्य में द्वारमंडप नहीं है। चैत्य के सामने माथा में पांडुलेण के आकार के सदृश अनेक अलंकरण हैं। नासिक गुहा में चैत्य-स्तंभ के आधार के अलंकरण का प्रारंभिक रूप प्रकट होता है। जिसको घटनुमा आधार कहते हैं। नासिक चैत्य के स्तंभ लंबे तथा पतले हैं। इसके पश्चात् बेदसा तथा कालें में स्तंभ-अलंकरण की चरमसीमा देखते हैं। इनमें स्तंभ शीर्ष का अलंकरण देखने योग्य है। यद्यपि उनका मूलरूप अशोक के स्तंभ का अनुकरण है, किंतु चैत्य-

मंडप के स्तंभ कोणयुक्त हैं। शीर्षस्थ भाग पर दंपतियों का आकार बना है, जो पशुओं के पीठ पर पैर फैलाए बैठे हैं। द्वार मंडप से सलग्न मेहराबदार चैत्य-वातायन तथा मुख्य प्रवेश-द्वार दीख पड़ते हैं। काले के स्तंभ में अलंकरण की चरमोन्नति हुई और किसी भी हीनयान चैत्य में ऐसा आलंकारिक कार्य दीख नहीं पड़ता। इसमें सर्वप्रथम दो सिंह-स्तंभ बने हैं, जिनके भीतर द्वार मंडप है। उसकी दीवार पर अनेक आकार खुदे हैं। सामने तीन दरवाजे तथा ऊपर वातायन बनाया गया है। विद्वानों का मत है कि मंडप के बाहरी भाग में जो बुद्ध-प्रतिमाएँ खुदी हैं, उन्हें महायान कलाकारों ने कालांतर में बना दिया, ताकि हीनयान की भावना से मुक्त हो सकें। भीतरी भाग में कोई परिवर्तन कर न सके। अतएव द्वार-मंडप में प्रतिमाओं की खुदाई द्वारा इसे महायान चैत्य नहीं कहा जा सकता। उनका उद्देश्य यह हो सकता है कि उपासकों को उन अलंकरणों द्वारा आकर्षित कर सकें।

काले चैत्य-मंडप १२४ फीट लंबा, साढ़े ४६ फीट चौड़ा तथा ४५ फीट ऊँचा है। जिस भावना को लेकर हीनयान कलाकारों ने काले चैत्य का निर्माण किया था, वही विचार-एव भाव आज भी सभी के हृदयों में दीखते हैं। काले के स्तंभों की खुदाई ऐसी विचित्र है कि शीर्ष भाग में मध्यवर्ती की ओर दो हाथियों के आकार बने हैं, जिन पर दंपति बैठी हैं। उसी स्तंभ पर पार्श्ववर्ती की ओर घोड़ों का आकार बना है। इस प्रकार की खुदाई का तात्पर्य यह था कि चक्रवर्ती नरेश भी हाथियों पर सवार होकर भगवान् बुद्ध (प्रतीकस्तूप) के समुख नतमस्तक हो रहे हैं।

हीनयान चैत्य के क्रम में कन्हेंरी की दशा विचित्र है। इसका चैत्य-मंडपों के इतिहास में अपना स्थान है। इस स्थान पर दूसरी शती तक चैत्य मंडप तैयार किए गए थे। इसके देखने से अवनतिकाल के चैत्य का परिज्ञान होता है। कई चैत्य-मंडप अधूरे खुदे हैं। स्यात् उनको पूरा करने का अवसर न मिल सका। पाँचवीं सदी में महायान के प्रचार होने पर भिक्षुओं ने कन्हेंरी को भी केन्द्र बनाया। हीनयान चैत्य के अग्रभाग पर बुद्ध की अनेक प्रतिमाओं को खोद कर उस चैत्य को महायान मत में परिवर्तित करने की इच्छा व्यक्त की। चैत्य की बाहरी दीवार पर द्वारपाल की आकृतियाँ खोदी गईं। कन्हेंरी के सिंह स्तंभ स्वतंत्र रूप से बने नहीं हैं, बल्कि दीवार से संबद्ध हैं। संक्षेप में कहना युक्तिसंगत होगा कि कन्हेंरी के चैत्य-मंडप हीनयान-युग की अंतिम हीनावस्था के द्योतक हैं।

विहार : एक शिक्षा-केंद्र

विहार के संबंध में कुछ कहना पुनरावृत्ति होगी, परंतु उसकी उत्तरकालीन विशेषता के विषय में पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। पिछले पृष्ठों में इसकी चर्चा हो चुकी है कि चैत्य तथा विहार पर्वतों में पृथक्-पृथक् खोदे गए थे। पाँचवीं सदी के पश्चात् दोनों का संमिश्रण हुआ, यानी विहार के केंद्रीय मंडप (कमरे) में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई। उपासक तथा भिक्षुगण उसकी पूजा करने लगे। यद्यपि अजना के चैत्य गुहा २६ तथा एलौरा की विश्वकर्मा नामक गुहा में स्तूप से संबद्ध बुद्ध-मूर्ति खोदी गई थी, किंतु कालांतर में उस प्रकार (महायान चैत्य) की गुहा की आवश्यकता न रही। चैत्य का सर्वदा के लिए अंत हो गया। विहार की प्रधानता बढ़ती गई। भिक्षुओं के निवास के लिए पर्वतीय गुहा के अतिरिक्त समतल भूमि पर ईंट, चूना तथा प्रस्तर की सहायता से विहार बनने लगे। तक्षशिला, मथुरा, सारनाथ तथा नालंदा ऐसे समतल भूभाग में भी विहार के मूल आकार को ध्यान में रख कर ईंट से विहार बनाए गए। जनता में बौद्ध संस्कृति के प्रति आदर तथा असीम उत्साह था। धनीमानी, दानी लोगो ने विहार बनाना आरंभ किया तथा भिक्षुओं के भोजनादि निमित्त भूमिदान किया।

वैदिक परंपरा में ऋषि प्रव्रज्या लेकर जंगल में रहते थे। ब्रह्मचारी भी आचार्य से शिक्षा लेता था। परंतु, बौद्धमत में आश्रम संस्था के लिए कोई स्थान न था। बुद्ध ने मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए योजना बनाई थी, पर उसमें गृहस्थाश्रम के लिए स्थान न था। बालक सीधे संघ में प्रवेश करता था। माता-पिता स्वयं पुत्र को ब्रह्मपरायण बनाने के लिए इच्छुक रहते। ब्रह्मचारी हिमालय में आचार्य से शिक्षा लेता था। बौद्ध भिक्षु भी पर्वतीय प्रदेश में रह कर भिक्षा के लिए नगरों में आते थे। दूसरी शताब्दी में निर्मित नासिक गुहा के अभिलेख में चारों दिशाओं से आने वाले विहार के निवासी भिक्षुओं का उल्लेख है। भिक्षु नगरों में भिक्षापात्र लेकर भीख माँगते तथा जनता से संमानित भी होते थे। यह वैदिक परंपरा थी। बौद्ध संघ में सभी आयु के लोगों का निवास स्थिर किया गया। बालक प्रव्रज्या लेकर संघ में प्रवेश करता था। अतएव, बौद्धमत में प्राचीन जीवन-क्रम तथा अभ्यास को प्रतिष्ठित किया गया। जीवन में आचार्यों के सद्गुण व्रतनिष्ठ रहने का विधान बनाया।

इस प्रकार गौतम बुद्ध के समय से ही विहार (आराम) नगरो के समीप बनने लगे थे । विहारो का जीवन अरण्यवासी ऋषियों के समान था । विहार में बैठकर शांतिपूर्वक भिक्षु अध्ययन, चिंतन तथा मनन कर सकते थे । यद्यपि प्राचीन काल में पर्वतों की गुफाओं में रहना बौद्ध योजना के अनुकूल था, किंतु उत्तर काल में इसमें परिवर्तन लाना आवश्यक हो गया । गौतम बुद्ध चलते-फिरते सैकड़ों भिक्षुओं को उपदेश दिया करते । कुमीनारा में उनके साथ २५० भिक्षुगण थे ।

विहार में भिक्षु के निवास स्थिर होने पर सभी नगर में भिक्षा मांगने में भी असमर्थ थे । प्रव्रज्या के पश्चात् कम आयु के भिक्षुओं के लिए शिक्षा का प्रबंध जरूरी हो गया, जो अध्ययन के पश्चात् जनता में धर्म का प्रचार कर सके । गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण पश्चात् उनके ज्येष्ठ अनुयायी का उपदेश जितना आवश्यक था, विहार में निवास करने वाले युवा भिक्षु को शिक्षा देना भी उतना ही आवश्यक था । यही कारण है कि विहार शिक्षा के केंद्र बनते गए । प्राचीन गुरुकुल प्रथा को स्थानांतरित कर बुद्ध मत के प्रचार के कारण विहार में शिक्षा का आयोजन किया गया । प्रारंभिक ज्ञान से ऊँची श्रेणी की शिक्षा विहारों में दी जाने लगी । समतल भूमि पर निर्मित विहारों का इस कार्य में अधिक योगदान है । इसका सामान्य कारण था—पर्वतों में बड़े पैमाने पर हजारों भिक्षुओं के लिए विहार खोदना संभव न हो सका । यद्यपि फाहियान ने दृश्य गौतम बुद्ध के सघाराम का वर्णन किया है, जो पर्वत काट कर बने थे । इसमें ५०० गुहागृह थे और दूसरे तल में ४०० कोठरियाँ थी, किंतु पुरातत्त्व की खुदाई में ऐसे पर्वतीय विहार अज्ञात हैं ।

पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों का भारतीयकरण होता गया । सभी ने भारतीय संस्कृति को अपना लिया । अतएव, गुहा-निर्माण के कार्य को बल न मिल सका । ई. स. चौथी सदी से उत्तरी भारत में गुप्त सम्राट शासन करने लगे, उनकी सहिष्णुता के कारण समतल भूमि पर विहार बनाने को प्रश्रय मिला । हिमालय पर्वत में गुफाओं का निर्माण संभव न था । इसलिए राजकीय महायज्ञ तथा दानकर्त्ताओं के सहयोग में सारनाथ एवं नालंदा आदि स्थानों पर विहार बनाए गए । वही हजारों भिक्षुओं के निवास तथा भोजन का प्रबंध हो गया । धनी लोगोंने हाथ खोलकर दान दिया, जिससे निर्माण-कार्य तथा विहार का प्रबंध समुचित रीति में चल सका । बौद्ध-युग में प्रसारित भिक्षावृत्ति को रोकने के लिए निवासस्थान में ही भोजनादि प्रबंध की योजना बनाया गई । नालंदा से प्राप्त लेखों में ऐसा वर्णन मिलता है कि भोजन, आसन तथा

औषधि निमित्त विहार को दान मिले थे । पाल नरेश देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र लेख में ऐसा विवरण उपलब्ध है । पुस्तक की प्रतिलिपि तैयार करने के लिए भी दान-दिया गया था, ताकि विद्या का प्रसार हो सके ।

विहार में सर्वदा निवास करने का एक और कारण था, जिसका आभास चुल्लवग्ग (१/१३/१—१/१६) के अध्ययन में मिल जाता है । उसमें वर्णन आया है कि किटा पर्वत पर भिक्षु भोगविलास में फँस गए थे । नृत्य-संगीत में आनंद लेने लगे तथा सुंदरियों का नृत्य कराते थे । संभवतः नगर के लोगों के संपर्क के कारण किटानिवासी भिक्षुओं में दोष आ गया था । योग्य भिक्षु उस स्थान को छोड़ कर चले गए । स्यात नागरिक संपर्क से पृथक् करने के लिए विहार में निवास तथा भोजन आदि का स्थानीय प्रबंध (विहार में ही) किया गया । गौतम बुद्ध ने भी ज्येष्ठ अनुयायियों को संघ में सुधार लाने की बातें बतलायी थी ।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में निजी पाठशालाएँ चलाने वाले स्वतंत्र अध्यापक थे । वैदिक शिक्षा के अनुयायियों ने परिषद् के रूप में संघ बना लिया

था, किंतु शिक्षण संस्था बनाने का प्रयत्न न किया । उस काल शिक्षण-संस्थाओं में ऐसा प्रयास न हो पाया, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

की उत्पत्ति ब्राह्मण धर्म में शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणों का कर्त्तव्य था । प्रत्येक ब्राह्मण स्वयं एक संस्था था, किंतु आधुनिक प्रणाली की तरह पाठशालाएँ स्थापित न हो सकी थी । शिक्षक शिक्षा का प्रबंध करता तथा समाज दान देकर उस कार्य को प्रोत्साहित करता रहा । भारतवर्ष में वर्तमान शिक्षण-मस्या के स्वरूप का जन्म बौद्ध विहारों में हुआ । बुद्ध के उपासकों ने विधिवत् शिक्षा-दीक्षा पर जोर दिया । उपासकों को कई वर्षों की शिक्षा के पश्चात् प्रव्रज्या दी जाती थी । शिक्षाकाल में आध्यात्मिक चिंतन के अतिरिक्त धार्मिक ग्रंथों की शिक्षा दी जाती थी । तदर्थ पालि, संस्कृत, न्याय दर्शन आदि का समुचित ज्ञान कराया जाता था । प्रारंभिक अवस्था में भिक्षु एवं भिक्षुणियों को शिक्षा दी जाती थी, परंतु कालांतर में यह विचार किया गया कि यदि शिक्षा का द्वार सबके लिए खोल दिया जाए तो उपासकों की संख्या बढ़ती जाएगी । धर्म-प्रचार की दृष्टि से भी यह लाभकर था । युवा मस्तिष्क को शीघ्र प्रभावित कर तथा शिक्षा देकर उन्हें धर्म-प्रचार में लगाना सरल था । अतएव, संघ में अध्यापकों (भिक्षुओं) ने विहार में सुसंगठित शिक्षा-केंद्र आरंभ किया ।

भारत में जिन प्राचीन शिक्षा-संस्थाओं का पता लगता है, वे सभी नालंदा महाविहार (४०० ई० स०) के पश्चात् स्थापित हुए थे । नालंदा में कई एक

है। किंतु, देखने से प्रतीत होता है कि विहारों की संख्या अधिक थी। कुछ तो प्रकाशित न हो सके हैं। उन विहारों में प्रवेश-क्रम के अनुसार विद्यार्थियों को स्थान दिया जाता था। विश्वविद्यालय में निवास तथा भोजन के लिए कोई शुल्क न था। दो सौ ग्राम दान में मिले थे। नालंदा केवल भिक्षुओं का निवास स्थान न रहा। किंतु, शिक्षा का महान् केंद्र बन गया। बौद्धमत के तीसरे यान बज्रयान का उदय नालंदा में ही हुआ। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने नालंदा का वर्णन करते समय यह उल्लेख किया है कि विहार में हजारों भिक्षु-गण रहते थे तथा वहाँ के आचार्य भिक्षु उत्कृष्ट विद्वान और प्रकांड पंडित थे। इसी कारण विदेशों से भी विद्यार्थी अपनी शंकाओं के समाधान के लिए वहाँ आते थे। नालंदा में पढ़े विद्वान् का समाज आदर करता था।

नालंदा के भिक्षुगण अपने पांडित्य के लिए जितने विख्यात थे, उतने ही अपने निर्मल चरित्र तथा अध्यात्म-ज्ञान के लिए भी। ह्वेनसांग ने नालंदा के प्रकांड विद्वानों की तालिका दी है। वह बनलाता है कि विद्यापीठ (विहार) में विद्वत्ता का स्तर बहुत ऊँचा था। सुदूर देशों के निवास भी नालंदा में विद्या लाभ के लिए उत्सुक रहते। इस कारण चीन, कोरिया, तिब्बत तथा तोखारा से अनेक विद्यार्थियों ने यहाँ वर्षों तक अध्ययन किया था। तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए नालंदा महाविहार के पंडित सक्रिय थे। नालंदा के शान रक्षित नामक विद्वान को आठवीं सदी में बौद्ध धर्म प्रचार के लिए वहाँ आमंत्रित किया गया था। इसके पश्चात् भी शताब्दियों तक नालंदा के साहित्यिक तथा बौद्धिक कार्य होते रहे।

आठवीं सदी के बाद पाल नरेश धर्मपाल ने विक्रमशिला महाविहार की स्थापना की तथा व्याख्यान देने के लिए धर्मपाल ने अनेक विहारों (भवनों) का निर्माण किया। उसके उत्तराधिकारी कई शताब्दियों तक इस विश्वविद्यालय की सहायता करने रहे। यहाँ के भिक्षु भी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। थोड़े ही समय में विक्रमशिला की ख्याति तिब्बत पहुँच गई, जहाँ से ज्ञानपिपासु भिक्षुओं के दल यहाँ अध्ययन करने आए। दीपकर श्री ज्ञान विक्रमशिला के पंडितों में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं। इस (विहार) विश्वविद्यालय में तीन हजार भिक्षु अध्ययन करते थे।

इस विद्या-विहार का प्रबंध छह द्वार पंडितों के हाथों में था, जिसके प्रधान स्वयं महास्थविर थे। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को समावर्तन के अवसर पर बंगाल के शासकों की ओर से उपाधि या प्रमाणपत्र दिए जाते थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस विहार में भिक्षुओं का निवास अपेक्षित था, वही प्रमुख शिक्षा केंद्र—विश्वविद्यालय स्तर के विद्यापीठ हो गए।

साधारणतः सभी विहार बौद्ध सघ की वस्तु होते थे। चारों दिशाओं से पर्यटन करते हुए भिक्षु विहार में समानाधिकार से निवास करते थे। जेतवन

विहार का दान देते समय अनाथपीडिक ने कहा था
विहार में चिंतन कि यह विहार सभी भिक्षुओं के लिए है। सभी

भिक्षु जहाँ से आवें, या भविष्य में आवेंगे, सभी उस स्थान पर निवास कर सकते हैं। दूसरी सदी में नासिक में जो गुहाएँ (विहार) खोदी गईं, उन पर उत्कीर्ण लेख में ऐसा ही वर्णन है। चारों दिशाओं से आने वाले भिक्षुगण निवास करें—

मंडप चातुर्दिक् इम लेण नियायित ऐतो मम लेने वसतानं चातुर्दीसस भिक्षु सघस मुखाहारो भविसती (नासिक गुहा संख्या १०) काले गुहा लेख में भी ऐसा ही उल्लेख है—लेण वासिन पवजितान चातुर्दीसस सघस पापणय गामो करजिको दत्तो (ए० इ० भा० ७) जूनार के लेख में भी मंडप (विश्रामगृह) के दान का वर्णन है पर विस्तृत विवरण नहीं मिलता है। चौथी शती के विहारों का वर्णन फाहियान ने किया है। उसके अनुसार भारत में हजारों भिक्षुगण निवास कर चिंतन किया करते थे। महावग्ग (६/२८) में इस बात की चर्चा है कि भिक्षु गण उपासक गृहस्थ से संबध स्थापित कर भोजन आदि का प्रबंध करते रहे। इसी कारण सभी जनपदों के सेठों ने भिक्षुओं के लिए विहार बनवाए, ताकि उनके चिंतन या कार्यों में बाधा न पड़े। सद्धर्म पुंडरिक (२/६१) में वर्णन है कि भिक्षु पूजा की भावना मन में लाते। बड़ा चिंतन करते तथा निर्वाण प्राप्त करते थे।

बौद्ध-चिंतन का शुभारंभ स्वयं बुद्ध से किया था। गौतम ने उपनिषद् के आचार्यों की भाँति गूढ़तम रहस्यमय भाषा में वर्णन नहीं किया, बल्कि उसका सारा-का-सारा उपदेश सरल तथा सुग्राह्य भाषा में था। गौतम का कथन था कि जिस प्रकार समुद्र की गहराई धीरे-धीरे बढ़ती है, भिक्षुओं में धर्म का प्रसार उसी प्रकार होगा। वे चिंतन कर अर्हत् बन सकते हैं। बुद्ध ने शिष्यों को सरल भाषा में ही उपदेश ग्रहण करने का मार्ग प्रशस्त किया था। गौतम बुद्ध के जीवनकाल में ही शिष्यों ने विचार-विनिमय के द्वारा ज्ञान वृद्धि की और चिंतन किया था। चिंतन करने के पश्चात् विद्यार्थी (भिक्षु) आचार्य बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता था। भिक्षुओं की चिंतन-पद्धति में सहसा परिणाम निकलना संभव न था। बातें सुन कर स्वीकार करने का विरोध किया गया

सुविचार सहित लोकप्रतिष्ठित सत्य को ग्रहण करना सुगम समझा गया। सभी कल्पनाएँ स्वीकार नहीं की जा सकती। स्वयं समझकर विचार एवं चिंतन कर बात को ग्रहण करना चाहिए, जो सुख तथा हित के लिए हो।

चीनी यात्री ने लिखा है कि आचार्य मौखिक शिक्षा देते रहे। यद्यपि मध्य युग में पुस्तकें वृत्तमान थीं, परंतु शिक्षा देने के लिए उपयोगी न थी। अतः, आचार्य से प्राप्त शिक्षा को यथावत् ग्रहण करना सरल कार्य था। आचार्य व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें न करते थे। विद्यार्थी पढ़े हुए पाठ का मनन एवं चिंतन किया करता था। आचार्य का जीवन आदर्श था। भिक्षु भी नम्र थे। प्रश्न पूछने पर हाथ जोड़ लेते थे। अध्ययन के लिए भी अदम्य उत्साह था। गौतम ने उरुवेला में तपस्या करके यह दिखला दिया था कि शरीर को कष्ट देकर ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। भिक्षुओं के लिए गौतम का आचार आदर्श था। धर्म की शरण लेना पवित्र जीवन का द्योतक था। इस प्रकार आचार-व्यवहार तथा चिंतन द्वारा भिक्षुगण सफल जीवन व्यतीत करते रहे।



नौवाँ अध्याय

प्राचीन भारत की जैन गुफाएँ

पश्चिम भारतीय गुफाओं के समकालीन उड़ीसा प्रदेश की राजधानी भुवनेश्वर के समीप उदयगिरी तथा खंडगिरी को खोद कर कई गुफाएँ तैयार की गईं, जो ईसवी सन् पूर्व में उत्कीर्ण हुई थी। पश्चिमी भारत की गुफाओं से इनमें अधिक भिन्नता है। यद्यपि पर्वत को खोद कर गुहा-निर्माण की प्रथा समाप्त है, परंतु उड़ीसा की गुफाएँ जैनधर्म से संबंध रखती हैं। अतएव, पश्चिम तथा पूर्वी भारत की गुफाओं में मूलतः वास्तुकला संबंधी विभिन्नता है। पूर्वी भारत की गुहा-निर्माण-प्रथा में चैत्य (पूजा निमित्त स्थान) का अभाव है। संभवतः जैनमत में उस प्रकार की पूजा के विधान का अभाव था। दोनों पर्वतों में सब मिला कर पैतीस गुहाएँ उत्कीर्ण हुई थी, परंतु उनमें निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं—

खंडगिरि में—अनंत गुफा (गुहा)

उदयगिरि में—रानी गुफा, गणेश गुफा तथा जयविजय गुहाएँ।

इनके अतिरिक्त उदयगिरि में हाथी गुफा तथा मंचपुरी गुहा की भी स्थिति दीख पड़ती है। हाथी गुफा प्राकृतिक गुहा होते हुए भी कुछ सुधार कर तैयार की गई और उसी पर उड़ीसा के राजा खारवेल का अभिलेख खुदा है, जिसकी तिथि ईसा पूर्व १५७ वर्ष मानी जाती है। उसी राजा की रानी ने मंचपुरी गुहा का निर्माण कराया था। वास्तविक तिथि के अभाव में उस गुफा में खुदे आकार-प्रकार से तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है। यह दो मंजिल की गुफा है। ऊपरी मंजिल पर रानी का अभिलेख है, जिसकी लिपि ईसवी-पूर्व प्रथम सदी मानी गई है। रानी का जैन-लेख निम्न प्रकार है—

अरहंत पसावाय कलिंगानी समनानं

लेन कारितं—कलिंग चकवतिनो

सिरि खारवेलस अगमहिसि (या) कारितं।

कलिंगराजा खारवेल की रानी (महिषि) ने मुनि महावीर की कृपा से कलिंग के जैन भिक्षुओं (श्रवण) के लिए यह लेन (गुहा) निर्मित कराया।

पूर्वी भारत में उड़ीसा प्रदेश में जैनमत का प्रसार क्यों कर हुआ, यह एक प्रश्न है। जैनमत के प्रचार के बाद ही उदयगिरि में गुफाएँ (गुफा) उत्कीर्ण हुईं। संभवतः खारबेल के मगध पर आक्रमण करने के पश्चात् जैनमत पूर्वी भारत पहुँचा। हाथी गुंफा लेख में इस बात का वर्णन है कि मगध-राज को पराजित कर जैन तीर्थंकर (महावीर) की प्रतिमा उड़ीसा ले आया। अतएव, ईसा पूर्व दूसरी शती से उड़ीसा में जैनमत का प्रसार प्रकट होता है। उसी के पश्चात् भुवनेश्वर के समीप जैन गुफाएँ (श्रमणों के निवास निमित्त) खोदी गईं होंगी। उस गुफा के अन्य उत्कीर्ण आकार प्रकार या कलात्मक दृष्टांतों से इसे भरहुत के बाद माना जा सकता है। उस क्रम में हाथी-गुफा या मंचपुरी के बाद अनंत गुफा (गुहा) की गणना होती है। एक मजिन की गुफा मंचपुरी से मिलती-जुलती है। उसी के अनुकरण पर अन्य गुफाएँ खोदी गई हैं।

गुहा के द्वार पर मेहराव अलंकृत है। पशु-पक्षी तथा गंधर्व की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। गुफाओं से संबंधित तक्षण कला के आधार पर सभी गुफाएँ जैन धर्म से संबद्ध की गई हैं। उड़ीसा की जैन गुफाएँ पश्चिमी भारत के विहार से भिन्न हैं। पश्चिमी घाट में खुदे विहार में पर्वत के अंदर कोठरियाँ हैं तथा आंगन पर्वत से ढँका है। यानी छत की स्थिति है। किंतु, उड़ीसा में पर्वत को काट कर विहार (कोठरियाँ एवं बरामदे) बनाए गए। उनमें आंगन से आकाश दीख पड़ता है यानी वे पर्वत से ढँके नहीं हैं। यहाँ के विहार में एक दो या तीन ही कोठरियाँ हैं। स्यात् श्रमणों की संख्या अधिक न रही होगी। किसी में कोठरियों के समीप स्तंभयुक्त बरामदा वर्तमान है। आश्चर्य तो यह है कि भुवनेश्वर के समीप स्थित होकर भी कला की दृष्टि से गुफाएँ सुंदर नहीं कही जा सकती। भुवनेश्वर ब्राह्मण मंदिरों का नगर कहा जाता है, जहाँ प्रस्तर कला की चरमसीमा दृष्टिगत होती है।

उड़ीसा के गुफाओं की वास्तुकला की विशेषता यह है कि माथा पर (सामने) स्तंभ सहित बरामदा बना है। उससे लगे कोठरियाँ बनी हैं। रानीगुफा उड़ीसा की सबसे उच्चकोटि की गुहा मानी गई है। समीप में बाघ गुंफा का आकार मानसिक कल्पना के आधार पर बना होगा। पर्वत की चट्टान से बाहर निकला भाग बाघ की तरह दीख पड़ता है। मुख से अंदर का कमरा छः फीट गहरा तथा आठ फीट चौड़ा है। ऊँचाई केवल साढ़े तीन फीट है।

कोठरियों से लगे छोटे कमरे बने हैं, जिनमें श्रवणों का निवास न होता था। स्यात् छोटे पूजा स्थान हैं। उड़ीसा की गणेश गुहा को हाथी गुहा भी कहते हैं। संभव है, इसे आरंभिक अवस्था में तैयार किया गया था। गुहा के द्वार पर दो जानवर द्वारपाल के स्थान पर उत्कीर्ण हैं। यह प्रणाली अधिक दिनों तक स्थायी न रह सकी। गणेश गुहा के सामने पाँच खंभों का बरामदा है। खंडगिरि की गुहाएँ अत्यंत साधारण हैं। पहली सदी से उनका प्रचलन एवं खोदने का कार्य समाप्त हो गया। इस कारण पूर्वी भारत में ईसवी सन् के पश्चात् गुफाओं के कार्य-कलाप का अंत हो गया। उड़ीसा की जैन गुफाओं के अतिरिक्त पूर्वी भारत में बिहार प्रदेश के राजगृह पर्वत में खुदी सोन-भंडार नामक गुहाएँ हैं, जो भिक्षुओं के निवास निमित्त बनी थी। सोन-भंडार जैन गुफा है, जिसका चौकोर आकार है। यह ३३ फीट लंबी, १७ फीट चौड़ी तथा ११ फीट करीब ऊँची है। इस गुहा में एक द्वार तथा खिड़की बनी है, जिसमें कलात्मक खुदाई का अभाव है। उसी के समीप दूसरी जैन गुफा है, जो वनावट में सोन-भंडार के सदृश है। इसकी छत नष्ट हो गई है।

यद्यपि उत्तरी भारत में जैनमत पल्लवित तथा पुष्पित हुआ, किंतु दक्षिण तथा पश्चिम भारत में यह फलवान हुआ। दक्षिण भारत के शासक राष्ट्रकूट तथा यादव शासन काल में जैन गुहाएँ एलोरा में एलोरा की जैन गुहाएँ खोदी गई थी। यानी नवी तथा दसवीं शती में वास्तविक विहार (जैन श्रमणों का निवास) उत्कीर्ण न हुए थे। एलोरा के जैन गुफा समूह में इद्रसभा (गुहा संख्या ३२) तथा जगन्नाथ सभा (गुहा संख्या ३३) नामक दो प्रमुख जैन गुहाएँ हैं। छोटा कैलाश (गुहा संख्या ३०) इन दोनों से पृथक् है और कैलाशनाथ (गुहा संख्या १६) की स्थिति के कारण छोटा कैलाश कहा जाता है। कैलाश मंदिर का छोटा अनुकरण है। गुहा संख्या १६ के चौथाई क्षेत्रफल में खोदा गया है। यह ३६ फीट चौड़ा है जब कि ब्राह्मण गुफा संख्या १६ (कैलाशनाथ) ५५ फीट चौड़ा है। उपरियुक्त इद्रसभा एवं जगन्नाथ सभा एक विशाल चट्टान को काट कर तैयार की गई हैं। इद्रसभा तो उच्चकोटि के कलात्मक उदाहरण उपस्थित करता है, जिसे जैन कलाकारों ने सबसे पहले तैयार किया। छोटे भाग में आकार-प्रकार का जमघट है। इद्रसभा के प्रवेशद्वार से अंदर बड़ा-सा आँगन में (५० फीट) में पहुँचते हैं, जिसके मध्य में एक विशाल चट्टान में उत्कीर्ण देवमंदिर खड़ा है। वह द्राविड़ शैली का मंदिर है। समीप में स्थित आकारों के परीक्षण से

इसका समान अनुपात नहीं है। इसमें तीर्थंकर की प्रतिमा है तथा समीपस्थ ताख में जैन साधुओं की आकृतियाँ खुदी हैं। गर्भगृह के स्तंभ अलंकृत हैं। इन गुफाओं की खुदाई तथा प्रतिमाओं के जमघट के कारण वास्तविक उद्देश्य को कलाकार भूल-से गए हैं।

ये गुफाएँ देवमंदिर हैं, इनमें श्रमणों के निवास निमित्त कोई स्थान नहीं। केंद्र में देवस्थान तथा पार्श्व में उत्कीर्ण आकार या आकृतियाँ खुदी हैं। इनके देखने से पता लगता है कि संगतराश पर्वत के ऊपरी भाग से खुदाई की परंपरा का अवलंबन करते रहे। यही कारण है कि गुहा के ऊपर का भाग पूर्णतः व्यवस्थित तथा आलंकारिक रूप में खुदा है। ऊपरी मंजिल परिष्कृत है, किंतु नीचे के भाग केवल अवलंबन कर दिया गया है। बीच के भाग में स्तंभ-युक्त बरामदा है और सभामंडप में बाहर खंभों की स्तंभश्रेणी हैं। उसकी छत्र कमलपुष्प के रूप में अलंकृत है। सामने के कमरे में महावीर की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इद्रसभा के देखने से कला की विशेषता, प्रस्तर की सुंदर खुदाई तथा तकनीकी दक्षता का परिज्ञान हो जाता है। इसका ऊपरी भाग कला का अद्वितीय नमूना उपस्थित करता है। जननाथ मंदिर दो मंजिल का है। इद्रसभा के सदृश बनाने पर भी इसमें योजना के नियमितता का अभाव है। इसमें तीन देवमंदिर जमीन की सतह पर अव्यवस्थित रूप में बने हैं। उनकी बनावट में सतुलन नहीं है। नीचे का भाग इंद्रसभा के समान खुदा है, जो क्षेत्रफल में ५७ फीट लंबा तथा चालीस फीट चौड़ा है। ऊपरी छत्र को बारह अलंकृत स्तंभों से सँभाला गया है। गलियारे की दीवार में महावीर-प्रतिमा खुदी है। जैन गुफाओं को बड़े सुंदर ढंग से सँभाला गया है, जो एलोरा के बौद्ध या ब्राह्मण गुफाओं में नहीं दीख पड़ता। जैनमत में लोकोपकारिता का आचार ही इस बिड़ंबना का आधार माना जा सकता है। इंद्रसभा के परीक्षण से ज्ञात होता है कि इसी से ब्राह्मण गुफाओं की विशेषता एवं उनमें परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया गया।

बादामी की चालुक्य कला, राष्ट्रकूट का एलिफैंटा तथा एलोरा गुहाएँ एवं पल्लव के महाबलिपरम् के रथ इंद्रसभा के अनुगामी हैं। एलोरा की जैन गुहाएँ अलंकरणयुक्त होते हुए उनमें कल्पना का अभाव है। आध्यात्मिक भावों से भरे हैं। इन गुफाओं की खुदाई बौद्ध विहार की तरह नहीं पायी। जैन गुहाएँ पर्वत की तलहटी (अधोभाग) से उत्कीर्ण कर ऊपर की ओर न

बनी थीं। यों कहा जा सकता है कि विहार की खुदाई से विपरीत दिशा में काम कर कलाकारों ने जैन तथा बौद्ध गुफाओं का एलोरा में निर्माण किया। बौद्ध गुफाओं में संगतराश निचले भाग से ऊपर की ओर बढ़ते गए और संपूर्ण रूप से सुंदर गुहा (मंदिर) को तैयार किया। एलोरा की जैन तथा ब्राह्मण गुफाएँ (देवस्थान) आठवीं से दसवीं सदी तक तैयार की गई थीं। जैन गुफाएँ नौवीं सदी के अंत या दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्कीर्ण हुई होंगी। ब्राउन का मत है कि जैन गुफाओं के बाद ही भारत में शिलाखंड को खोद कर गुहा-निर्माण का कार्य समाप्त हो गया। पर्वत के भीतर खोदकर अंधेरे स्थान में भिक्षुओं के निवास के लिए गुहा की आवश्यकता न रही। एलोरा की ब्राह्मण तथा जैन गुफाओं में प्रकाशमय स्थान में देवस्थान को स्थिर किया गया। पूर्ववत् गुहा-परंपरा का अंत हो गया। धार्मिक विचारधारा में भी परिवर्तन आया, जिस कारण वास्तविक रूप में गुहा का प्रयोजन न रहा।



दसवीं अध्याय

ब्राह्मण धर्म से संबद्ध गुफाएँ

महायान मत के उदय होने पर बौद्ध गुफाओं में जो परिवर्तन हुआ, उसका वर्णन किया गया है। कृषाणकाल के पश्चात् गुप्त सम्राटों ने भी वास्तुकला को प्रोत्साहित किया। सहिष्णु होने के कारण बौद्ध कला की उन्नति होती रही। बौद्ध गुफाओं (विहारों) के अनुकरण पर समतल भूमि पर गुप्त युग में विहार बनाए गए। पर्वत खोद कर चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भी भिलसा (मालवा मध्य प्रदेश) के समीप उदयगिरि पर्वत के अधोभाग में दो गुफाएँ (देवस्थान) खुदवायी, जिनमें हिंदू देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। प्रायः गुप्त युग से दसवीं सदी तक जितनी ब्राह्मण धर्म संबंधी-गुफाएँ तैयार की गई थी, सभी में देवता की मूर्ति स्थापित है। इसका कारण यह था कि महायान मत में विहार का चैत्य से मिला दिया गया और विहार के केंद्रीय कमरे में बुद्ध-प्रतिमा स्थापित की गई। यानी दोनों (चैत्य तथा विहार) का पृथक् अस्तित्व न रहा। इसी भावना का अनुकरण कर हिंदू शासकों ने जितनी गुफाएँ खुदवायी, सब में देवप्रतिमा स्थापित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण मतानुयायी राजाओं ने साधुओं के निवास के लिए स्थान (विहार) की व्यवस्था न की; क्योंकि बौद्ध मत के सदृश ब्राह्मण यति एक स्थान पर निवास नहीं करता था। ब्राह्मण मत में विहार के लिए कोई योजना नहीं थी। प्राचीन विहार हिंदुओं के लिए महत्त्वपूर्ण न थे। केवल देवस्थान का निर्माण आवश्यक कार्य हो गया। इसी कारण गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट एवं पल्लव आदि नरेशों ने गुफा-खुदवा कर देवता का निवास (देवस्थान) घोषित किया। दक्षिण में जिस समय अजंता की बौद्ध गुफाएँ बन रही थी, उस काल में तथा कालांतर में (दसवीं सदी तक) ब्राह्मण गुफाएँ खोदी गईं। एलोरा का कैलाशनाथ, वाशमी की गुफाएँ तथा एलंफैंटा उसके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

गुप्तकाल में ब्राह्मण गुफा-निर्माण का आरंभ माना जा सकता है। उदयगिरि (बिदिसा, मध्यप्रदेश) गुफाएँ पूर्णतः उत्कीर्ण नहीं थीं किन्तु

खुदाई तथा प्रस्तर जोड़ कर उनका निर्माण हुआ था। पर्वत खोद कर उदयगिरि गुफा के सामने खंडित बरामदा तथा अंदर चौकोर कोठरियां बनी है। उसकी दीवाल पर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का एक लेख (तिथि गु० स० ८२) चौथी शती का है। इसे अयथार्थ गुहा (False Cave) कह सकते हैं। उदयगिरि में कई मिथ्या गुहाएँ दीख पड़ती हैं। पूर्व गुफाओं से बनावट की पृथक् शैली प्रकट होती है। बाहर की ओर चौकोर स्तंभयुक्त बरामदा तथा भीतर कोठरी। वराह तथा शेषशायी विष्णु की प्रतिमाएँ गुफाओं में उत्कीर्ण हैं। कहने का साराश यह है कि गुप्तकाल में देवस्थान-निर्माण की योजना चन पड़ी, जो कालांतर में विकसित होती गई। दक्षिण भारत में धार्मिक भावना जी जागृति होने के कारण पाँचवीं सदी से देवस्थान (मंदिर) समतल भूमि पर बनाए गए, जिनका वर्णन तीसरे खंड में किया जाएगा। दक्षिण तथा पश्चिम भारत में छठी सदी से प्रस्तर खोद कर नए प्रकार की वास्तुकला का शुभारम्भ हुआ, जिसको राष्ट्रकूट नरेशों ने प्रोत्साहित किया। एलोरा तथा एलिफंटा की ब्राह्मण गुहाएँ नए आकार-प्रकार को लेकर सामने आईं। उनकी योजना सर्वथा नवीन थी। यद्यपि मूलतः बौद्ध कल्पना से इनका निर्माण सर्वथा पृथक् नहीं है, किंतु बनावट में अंतर है तथा पूजा निमित्त उनमें परिवर्तन लाया गया था। एलोरा पर्वत के पश्चिमी माथा को काट कर आधी मील तक ब्राह्मण गुहाएँ बनाई गईं। गुहा संख्या १५ से २९ तक सभी ब्राह्मण गुहाएँ हैं।

इस क्रम में निम्न उल्लेखनीय है—

संख्या १४—रावण की खाई

संख्या १६—कैलाशनाथ (मंदिर)

संख्या २१—रामेश्वर गुहा

संख्या २९—डुमर लेण (गुहा)

(सीता नहान)

इन ब्राह्मण गुफाओं में आरम्भिक अवस्था में बौद्ध विहार का अनुकरण मात्र है। बाहरी भाग में स्तंभयुक्त बरामदा तथा भीतर कोठरी है। उदाहरण के लिए दस अवतार गुफा। इसके पश्चान् गुहा-निर्माण में परिवर्तन लाया गया और कोठरी की स्थिति पर्वतीय भाग में पृथक् हो गई। गुहा संख्या १४ तथा २१ (रामेश्वर) में कोठरी के चारों ओर मार्ग बना है, जिससे कोठरी पृथक् अस्तित्व रखती है। तीसरे प्रकार में देवस्थान अन्य उत्कीर्ण

भाग से गुहा मध्य में अलग खड़ा है। उसमें प्रवेश के लिए कई द्वार बने हैं (गुहा संख्या २९)। एलफैंटा भी इसी रूप में बना है। चौथी खुदाई की शैली सर्वथा भिन्न है। इसमें ब्राह्मण कलाकारों की कुशलता की चरम सीमा दीख पड़ती है। बौद्ध विहारों या चैत्यों में पर्वत के अधोभाग से खोद कर गुहा का निर्माण होता था। खोदते समय उस गुहा की पूरी योजना सामने रहती थी। यानी अधोभाग से ऊपर की ओर जाता तथा सारा आकार पर्वत से छिपा रहता था। माथे पर चैत्य वातायन को देख कर चैत्य का अनुमान लगाया जाता था। विहार के लिए द्वारमार्ग थे। एलोरा (गुहा संख्या १२) की तीन तल गुहा में स्तंभयुक्त बरामदे दीख पड़ते हैं। एलोरा की गुहा संख्या १६ कैलाशनाथ मंदिर के नाम से विख्यात है। इसमें मंदिर के चबूतरे पर रावण कैलाश पर्वत को सिर पर धारण किए उत्कीर्ण है। कैलाश पर शिव-पार्वती बैठे हैं। अतएव, कैलाश के कारण गुहा को कैलाशनाथ का नाम दिया गया। इसकी वास्तुकला सर्वथा भिन्न तथा अद्वितीय है। कलाकारों के मानसपटल पर कैलाशनाथ का पूरा चित्र खिंचा था। उसी को याद कर पर्वत के ऊपरी भाग से खोदते सगतराश अधोभाग पर पहुँचे। यानी संपूर्ण मंदिर देखा जा सकता है। पर्वत में कोई भाग छिपा नहीं है। इस योजना को पूरा करना साधारण काम न था। पर्वत को इस प्रकार खोदा गया कि केंद्रीय भाग में शिव-मंदिर है, जो ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। चबूतरे को चारों तरफ से अलंकृत किया गया है। हाथियों तथा शेरों की पूरी आकृतियाँ चबूतरे की चट्टान पर खदी हैं। चारों तरफ बरामदे हैं, जिनमें अनेक देवप्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई हैं। मध्य में खड़े होकर पार्श्व की कई मजिल की कोठरियाँ देखते हैं। सप्तमातृका की आकृतियाँ सुंदर ढंग से बनी हैं। केंद्रस्थ मंदिर के चारों तरफ बरामदे हैं, जिनमें शिव तथा विष्णु के अवतार की मूर्तियाँ खुदी हैं। पर्वत के समीप पहुँचते ही एक द्वारमार्ग से अंदर प्रवेश करते हैं। प्रवेशद्वार के पार्श्व दोनों तरफ परदा सदृश पर्वत की दीवाल खड़ी है जिस पर विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ खोदी गई हैं। द्वार से प्रवेश कर केंद्रस्थ मंदिर के चारों तरफ रास्ता (प्रदक्षिणा पथ) बना है जो अन्य भवनों से कैलाशनाथ को पृथक् करता है। बाहर तथा भीतर की खुदाई (प्रतिमाओं का आकार) देखते बनता है। मंदिर के बाहरी ओर प्रस्तर की दीवाल है, जो कैलाश के लिए परदा का काम करती है। उस पर दिग्पाल के आकार खुदे हैं, जो कैलाश की रक्षा करते हैं। त्रिपुरान्तक तथा लिंगोद्भव शिव की प्रतिमाएँ देवतागण में प्रसिद्ध हैं। उसी की रक्षा के लिए दिक्पाल दीख पड़ते हैं।

परदे के बारह दिक्पाओं में अग्नि, इंद्राणी, यम, वराह या त्रिविक्रम की आकृतियाँ खुदी हैं। द्वार के समीप में गजलक्ष्मी तथा दुर्गा की प्रतिमाएँ कैलाश के गौरव को बढ़ा रही हैं।

मध्य स्थान में निमित्त मंदिर के पार्श्व में भवन दो मंजिल का है। जैसे गुहा संख्या १२ तीन तल है। पहली मंजिल में सीढ़ियों से प्रवेश कर एक बड़े स्थान पर पहुँचते हैं, जो ९७ फीट चौड़ा तथा ५० फीट गहरा है। चौदह स्तंभ छत को सँभाले हैं। इसे लंकेश्वर मंदिर कहते हैं। बाईं ओर छोटी सीढ़ी का मार्ग है, जिसके सहारे चतुर्भुज आकार के विशाल कमरे में पहुँचते हैं, जिसमें छह पक्तियों में प्रत्येक में नौ स्तंभ खड़े हैं। वह स्थान १०५ × ९५ फीट क्षेत्रफल में है। ऊपरी छत को सहारा देने के लिए चौरासी खंभे हैं। इस मंदिर में शैव, वैष्णव तथा शाक्त मत से संबधित प्रतिमाएँ बनी हैं। उनमें गणेश, नरसिंह, त्रिमूर्ति, सूर्य, वराह आदि देवता की मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। दाहिनी ओर दीवाल में शिव की राबणनुग्रह मूर्ति बनी है। लंकेश्वर मंदिर की दीवाल एवं स्तंभ पर सुंदर रीति से देवताओं की प्रतिमाएँ खुदी हैं।

मध्यभाग का मुख्य मंदिर (कैलाशनाथ) रंगमहल के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस मंदिर का प्रमुख स्थान ५७ फीट × ५५ फीट क्षेत्रफल में है। सामने का छोटा आकार नंदी के लिए बना है। इस केंद्रस्थ मंदिर के चारों तरफ बरामदे की दीवाल देव प्रतिमाओं (शैव तथा वैष्णव) से भरी पड़ी है। भगवान् शिव के विभिन्न कार्यों का प्रस्तर में प्रदर्शन किया गया है (भैरव या महायोगी) कैलाशनाथ मंदिर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस गुहा में भित्तिचित्र बने हैं, जिनमें युद्ध का दृश्य है। ऐसा भित्तिचित्र अन्य स्थानों में कम मिलता है। कैलाश की विशेषताओं का अनुशीलन किया जाए, तो इसे प्रस्तर में महाकाव्य कह सकते हैं। इससे उच्च कोटि का गुहा-निर्माण नहीं हो सकता है। संभव है, दूसरे कलाविद् उसकी कल्पना कर सकें, किंतु उसे कुशलतापूर्वक उमी दक्षता के साथ उत्कीर्ण कर सकेंगे, यह सदेहात्मक है। बरोदा ताम्रपत्र लेख में कैलाशनाथ मंदिर के वैभव, कला तथा आश्चर्यमय खुदाई की प्रशंसा की गई है। इसकी सर्वोत्कृष्ट आकार दैवी-चिंतना का कार्य हो सकता है। मानव-कल्पना के बाहर की कृति एलोरा के कैलाशनाथ में देख पड़ती है। मनुष्य के हाथों इसका निर्माण संभव न रहा होगा। सह्याद्रि की पर्वतशिला को ऊपरी भाग में मंदिर की पूरी योजना

तैयार कर खोदा गया था। मध्य भाग में मंदिर चारों तरफ खुला मार्ग (प्रदक्षिणापथ) पार्श्व में गलियारे, मूर्तियों से भरे हुए द्वारमंडप, अंगन, ध्वजस्तंभ, चबूतरे से संबद्ध हाथिय क आकृतियाँ, अन्य देशमूर्ति तथा मनुष्यों के आकार आदि का उत्खनन साधारण मस्तिष्क का काम नहीं है। बुद्धि के साथ प्रयत्नशीलता एवं लगन आदि गुण कलाकार के लिए नितांत आवश्यक था, जो उसे पूर्ण कर सके। संगतराश तथा मूर्तिकार के सतत् लगन एवं धीरता के कारण हजारों रूप, आकार (दैवी, मानुषी या अन्य प्राणियों का) खोदे जा सके। कैलाश राष्ट्रकूट वंश के वैभव का द्योतक है। धार्मिक भावना के साथ धर्मोन्माद या हठधर्म के कारण ऐसा अद्वितीय निर्माण हो सका। कैलाश के निर्माताओं को छोड़ कर ऐसी दैवी विचार तथा उच्चकोटि की कलात्मक कृति की कल्पना का स्वप्न भी कोई न देख सका होगा।

इस कारण कैलाश वास्तु-जगत का चमत्कारिक कृति है। ब्राउन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पर्वत के ऊपरी भाग से लंबवत् चट्टान काट कर पहाड़ के अधोभाग पर पहुँचे तथा मध्य के दो सौ फीट लंबा सौ फीट चौड़ा तथा सौ फीट ऊँची चट्टान को दूसरे भागों से पृथक् किया गया। शनैः-शनैः उसी में विभिन्न आकार रूप तथा आकृतियाँ खोद कर कार्य सुसंपन्न हुआ।

देवस्थान के चारों तरफ पथ खोदने का कार्य गुहा १४ (रावण की खाई) तथा २१ (रामेश्वर गुहा) में दीख पड़ता है। रावण की खाई की साधारण योजना थी, जिसके अंदर चौकोर भाग है, जो ५२ फीट चौड़ा तथा ८७ फीट गहरा है। दो तिहाई भाग में स्तंभयुक्त कमरा है तथा शेष भाग में देवस्थान है। पार्श्व की वीथी से देवमंदिर के प्रदक्षिणापथ तक पहुँच जाते हैं। बड़े स्थान (कमरा) के किनारे विशाल चट्टान को काट कर देवस्थान बना है, जो घनाकार है। इस देवमंदिर के द्वार के समीप कई आकृतियाँ खुदी हैं, जिनमें भवानी-प्रतिमा प्रमुख है। इसी दुर्ग को मंदिर समर्पित किया गया है। उस स्तंभयुक्त सभाभवन के दक्षिण में शैब तथा दाईं ओर (उत्तर दिशा में) वैष्णव-प्रतिमाएँ उन्कीर्ण हैं।

एलोरा की गुहा (संख्या २१) को रामेश्वर गुफा कहा गया है, जिसके मध्य भाग में देवस्थान है। उसी के चारों तरफ प्रदक्षिणा पथ दीख पड़ता है। खुदाई तथा तम्रण कला की बहुलता से यह अधिक अलंकृत है। मध्य भाग में चबूतरे पर नंदी की आकृति है जो (बबूतरा) अत्यधिक खोदा गया है। उसी के ठीक सामने देवमंदिर का अग्रभाग है और छोटी दीवाल से पृथक् की गई है। उस दीवाल के मध्य में दो स्तंभ हैं, जिसे द्वार का भाग कह सकते हैं।

उसके बाद सभामंडप है, जो २५ फीट गहरा तथा ७० फीट चौड़ा है। सभी स्तंभ तर्कियानुमा आकार रखते हैं। उस सभामंडप के तीन ओर भिक्षुओं के लिए कोठरियाँ (Cells) बनी हैं। कोठरियाँ तथा सभामंडप का भाग पूर्ववर्ती गुहा के सदृश है। उनतीसवी गुहा (डुमर लेन) की बनावट अन्य गुफाओं से भिन्न है। इनमें देवस्थान का पृथक् अस्तित्व होते हुए, कमरों से चारों तरफ घिरा है।

इस गुहा की बनावट अन्य गुफाओं में भिन्न है। इसमें तीन दिशा से प्रवेशद्वार है। (जैसा एलिफैंटा में है) इसका कारण यह था कि पर्वतों की समाकृति ऐसी थी कि उसको ध्यान में रख कर नई योजना तथा नया मार्ग निकालना आवश्यक था। ऐसी गुफाओं में विस्तृत क्षेत्रफल है, उनके अंग भी विस्तीर्ण हैं। संभवतः इन गुफाओं में देवयात्रा के समय जनसमूह के स्थान का प्रबंध आवश्यक था, इसीलिए गुफाएँ सुविस्तृत खोदी गई थीं। प्रकाश के लिए भी खुदाई की योजना बनानी थी। यह मध्य भाग का एक बड़ा सभा-मंडप था, जिसमें वीथी स्तंभों के मध्य से गुजरती थी। एलोरा में डुमरलेन विस्तृत तथा प्रमुख देवमंदिर था। पर्वत की दशा के ऊपर इसकी खुदाई निर्भर है। इसके बीचोबीच विशाल देवस्थान दीख पड़ता है। चारों दरवाजे पर द्वारपाल खड़े हैं। इस देवस्थान तक पहुँचने के लिए सभामंडप (चौकोर) भाग जो १५० फीट लंबा तथा ५० फीट चौड़ा है) में मध्य वीथी तथा पार्श्व वीथी के रूप में स्थान पृथक् हो जाते हैं, क्योंकि उस स्थान के स्तंभ ऐसा विभाजन करते हैं। तर्कियानुमा स्तंभ पंद्रह फीट ऊँचे हैं, जिनका आधार पाँच फीट मोटा है। इस प्रकार उनतीसवी गुहा एलोरा की प्रमुख गुफाओं में एक मानी जाती है।

डुमर लेन (गुहा) के सदृश एलिफैंटा तथा जोगेश्वरी गुहाएँ (बंबई के समीप) तैयार की गई थी। डुमर लेन के अनुकरण पर ही ये गुफाएँ खुदी हैं। बंबई के समीप एलिफैंटा गुहा उसके समान रूप रखती है। आठवी सदी के मध्य में इस टापू पर गुफाएँ खोदी गई थी। सोलहवी सदी में पुर्तगाली लोगो ने इस टापू पर स्थित गुफाओं को नष्ट कर दिया। चूँकि उन्हें एक हाथी प्रस्तर का बना दीख पड़ा था, अतएव उस टापू का नाम एलिफैंटा रखा गया। एलोरा के डुमर लेन से छोटे पैमाने पर दोनों गुफाएँ निर्मित हैं। एलिफैंटा गुहा १३० फीट × १२९ फीट क्षेत्रफल में विस्तृत है। पहाड़ की स्थिति के कारण इसे कुछ विभिन्न आकार में खोदा गया। इसमें देव-

मंदिर केंद्रस्थ स्थान पर दृष्टिगत होता है। एलिफैंटा देवस्थान में प्रवेश करने के तीन मार्ग हैं। प्रमुख प्रवेश मार्ग से जाने पर पार्श्ववीथी से होकर मंदिर में पहुँचने हैं। मध्यवीथी में तक्रियानुमा शीर्ष युक्त स्तंभ की पंक्तियाँ हैं, जिनके एक छोर पर शिव मंदिर है। इसमें बड़े दरवाजे हैं, जिनके द्वारपाल विशालकाय हैं। पार्श्ववीथी के चारों तरफ विस्तृत दिलहे है। इन दिलहों में शिव की लीला का (प्रस्तर खोद कर) प्रदर्शन किया गया है। दक्षिण की दीवाल के दिलहे पर अर्द्धनारीश्वर तथा शिव-पार्वती के विवाह का दृश्य उत्कीर्ण है। प्रस्तर की खुदाई में उच्चकोटि की कृतियाँ हैं। उस भाग के मध्य स्थान पर त्रिमूर्ति महेश का विशाल सिरोभाग खुदा है। गंभीरतापूर्वक देखने से वह शिव के तीन स्वरूप को बतलाता है—

१ अधोर शिव (भैरव) जिसकी मूँछें हैं तथा आँखें भयावह दीख पड़ती हैं।

२. पार्वती के सिर का भाग। कानों में कर्णफूल तथा कोमल चेहरा है।

३ शिव का शांत रूप, जिसकी जटा स्पष्ट रूप से दिखलायी गई है। कुछ विद्वान् इसे त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश कहते रहे; किंतु गहराई से विचार करने पर यह शिव के तीन स्वरूप का द्योतक है। इसे महेश-प्रतिमा का नाम दिया गया है। यह शिव की उस सर्वशक्ति की अभिव्यक्ति करता है, जिसके द्वारा वह उत्पत्ति, रक्षा तथा सहार का कार्य करते हैं।

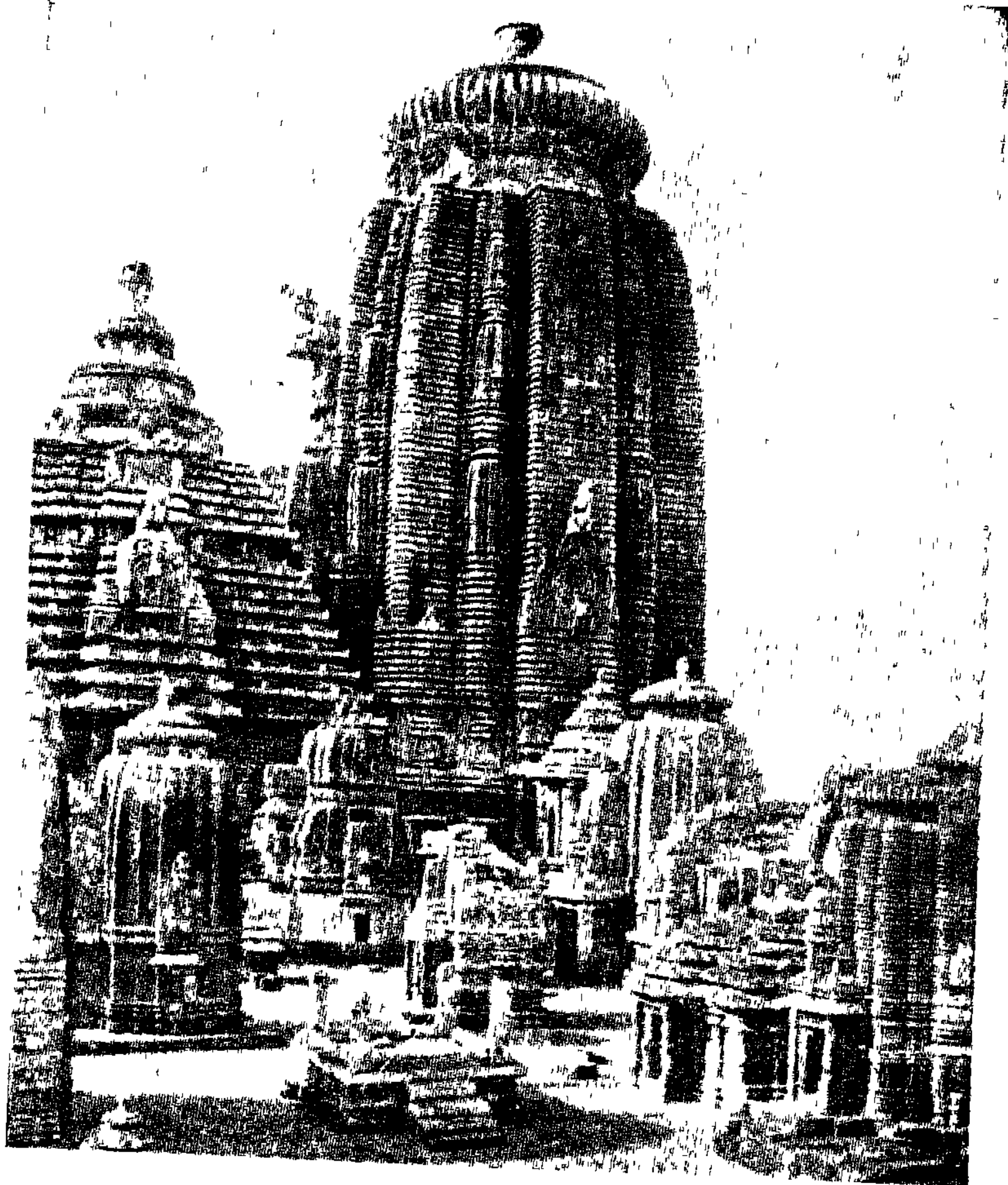
इस प्रकार की खुदाई से कलाकारों की कुशलता का परिचय मिलता है। खुदाई के परीक्षण से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तर माध्यम के कारण कलाकार ने सीमित रूप से कार्य किया था। परन्तु, सोनार की तरह प्रस्तररूपी धातु को गला कर अपने अनुकूल साँचे में ढाला। उनमें कलाकार की आत्मा छिपी है। मुख्य मार्ग से जाकर पार्श्ववीथी में पहुँचते हैं। इसी के बाईं तथा दाहिनी ओर शिव की अन्य देवी लीलाएँ प्रदर्शित हैं। अंधकासुर बध, शिव-मूर्ति, गंगाधर-मूर्ति और कल्याण सुंदर मूर्ति आदि स्वरूपों को पार्श्ववीथी के विशाल प्रस्तर के दिलहों पर खोदा गया है। बंबई के सालसेट टाबू में जोगेश्वरी गुहा (देवस्थान) स्वस्तिकार खुदाई का अंत दीख पड़ता है। जोगेश्वरी की निर्माण-योजना तकरहित है तथा विश्वामपूर्वक कार्य नहीं किया गया है। इस गुहा के भीतर ९५ वर्गफीट का ढका आँगन है, जिसके चारों तरफ स्तंभों के समूह सहित पार्श्ववीथी है।

मध्य कोठरी में शिवलिंग स्थापित है। उसके स्तंभ एलोरा तक्रियानुमा शीर्षस्तंभ से मिलते-जुलते हैं। गुहा के प्रवेशमार्ग पर चार स्तंभों का

बरामदा है, जिससे अंदर जाते हैं। आगिन के तीन प्रवेश मार्ग से दूसरे बरामदे में पहुँचते हैं, जिसमें स्तंभश्रेणियाँ दीख पड़ती हैं। सभी द्वार, बरामदे और आगिन एक सीध में ही है। इस कारण जोगेश्वरी गुहा का विस्तार २५० फीट हो गया है। ऐसी लंबी तथा गहरी पर्वत की कटान अन्यत्र नहीं है। पश्चिमी भारत में पर्वतशिला काट कर जितने देवस्थान बनाए गए, इनमें जोगेश्वरी विस्तृत गुहा कही जा सकती है। एलोरा तथा एलिफंटा एवं जोगेश्वरी की खुदाई चालुक्यों के पश्चात् राष्ट्रकूटों ने संपन्न किया था। दसवीं शताब्दी तक गुहा-खनन का कार्य पश्चिमी भारत सह्याद्री की शृंखला में होता रहा।



तीसरा खंड



मंदिर

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भारतवर्ष की हजारों वर्ष की सस्कृति में धर्म प्रमुख स्थान रखता है। धार्मिक विचार मानव-जीवन के कर्मों का संचालन करता है तथा मनुष्य का जीवन दर्शन उसी पर आधारित है। पुरुषार्थ में मोक्ष की प्राप्ति सर्वोपरि समझ सारे कार्य उसी की उपलब्धि के निमित्त किए जाते हैं। वैदिक परंपरा में पुनर्जन्म का सिद्धान्त सभी को मान्य था। बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन आता है कि यति तपस्या का जीवन व्यतीत कर ब्रह्म में लीन होने का प्रयत्न करते हैं, ताकि ससार के बंधनों से मुक्त हो जाएँ। जिस मनुष्य को वेदांत का परम ज्ञान प्राप्त नहीं होता, वह ससार में पुनः जन्म लेता है। उपनिषदों में विशेष-तया छांदोग्य तथा बृहदारण्यक में कर्म के सिद्धांत पर बल दिया गया, ताकि व्यक्ति को जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ने का अवसर एवं प्रोत्साहन मिलता रहे।

वैदिक युग में प्रकृति-देवों की पूजा का विधान था। दार्शनिक विचारों के साथ रुद्र तथा विष्णु-पूजा का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद में रुद्र का वर्णन आता है। वह प्रकृति के देवता बनस्पति तथा पशु-चारण से संबन्धित थे। दूसरे देवता—विष्णु—यज्ञ के देवता माने जाते थे। वैदिक युग में यज्ञ संस्था का विकास होता गया और विष्णु की एकता यज्ञ से स्थिर की गई।

यज्ञो वै विष्णुः

समस्त देवताओं में विष्णु श्रेष्ठतम समझे गए।

विष्णु परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः

(ऐतरेय ब्राह्मण १।१)

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पुराण के विष्णु की कल्पना वेदों से ली गई। वामन या वराह का उल्लेख भी ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। पांचरात्र ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि भागवत धर्म वेद से ग्रहण किया गया।

यह कहना उचित होगा कि कालांतर में (ईसवी सन् के आरंभ से) देवताओं की पूजा जिस रूप में की जाने लगी. वह प्रकार वैदिक साहित्य में नहीं मिलता । परंतु, ज्ञानप्राप्ति के लिए मनन तथा देवता का चिंतन आवश्यक था । वैदिक दर्शन में शक्ति के लिए स्थान न होने पर भी देवपूजन को स्थान मिल चुका था । यही कारण है 'देवालय' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में आता है । यद्यपि प्राचीन भारतीय संस्कृति में (बौद्ध युग से पूर्व) सामूहिक धार्मिक कृत्य का अभाव-सा था, किंतु व्यक्तिगत रूप से देवपूजन की प्रथा वर्तमान थी । समाज में देवता के रूप या उसके आलय (स्थान) की स्थिति अज्ञात न थी । वैदिक संस्कृति में देवपूजा के लिए पुरोहित तथा क्षत्रियों के लिए धार्मिक स्थानों (देवमंडप) की नितांत आवश्यकता थी । अतएव, वैदिक-कालीन देवालय को मंदिर (पूजास्थान) कहना उपयुक्त होगा । पश्चिमी विद्वानों का अनुमान मात्र है कि वेदों में देवालय (मंदिर) नामक संस्था का अभाव दीख पड़ता है, परंतु उनके कथन में कोई तथ्य नहीं है । मंदिरों का निर्माण देवालय के रूप में वैदिक युग के पश्चात् अवश्यमेव होने लगा । महाभारत में वास्तुकला का विशेष परिचय मिलता है । इन भवनों में शिल्प-कला उच्च कोटि की थी ।

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहितः सर्वशिल्पिभिः

अतीव रम्यः सोऽप्यत्र प्रहसन्निव तिष्ठति

(सभापर्व १८)

इष्टदेवों के स्थान निश्चित थे, जिन्हें देवस्थान, देवायतन, देवालय या मंदिर की संज्ञा दी जा सकती है । सभी का अर्थ है—रहने का स्थान । यह कहना उचित न होगा कि वैदिक परंपरा में मंदिर के लिए स्थान न था । यद्यपि पुरातत्त्व की खुदाई से उनसे प्राचीन भग्नावशेष नहीं मिले हैं, जो वैदिक कालीन मंदिर का चित्र सामने उपस्थित करते. परंतु साहित्यिक प्रमाण अविश्वसनीय नहीं हो सकते ।

प्राचीन भारत में ईसापूर्व चौथी सदी से मंदिर-निर्माण का क्रम आरंभ होकर मुसलमान काल से पहले अवरूढ़ हो गया । परंतु, मंदिरों की वास्तुकला पर कोई बाहरी प्रभाव न पड़ सका । सामाजिक विषयों के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि भारतीय जीवन में इस्लाम आदि का कुछ प्रभाव अवश्य हुआ । कला के क्षेत्र में साहित्य तथा चित्रशैली पर बाहरी प्रभाव स्पष्ट है ।

मुगलों के प्रभाव से ही मध्ययुग में 'मुगल-कलम' के नाम से चित्रकला विख्यात हुई थी। आश्चर्य यह है कि वास्तुकला विशेष कर मंदिरों की स्थापत्यकला पर कुछ भी प्रभाव न पड़ सका। मंदिरों का निर्माण सर्वदा भारतीय परंपरा के अनुसार होता रहा। ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण उत्तर तथा दक्षिण भारत की स्थापत्यकला (विशेष कर मंदिर) विभिन्न रूप से सामने आती है, किंतु सांस्कृतिक विचार से उनमें विभेद नहीं है। इस मार्ग में उच्च कोटि की बनावट, कुशलता तथा कौशल के पीछे भारतीय मनः-शक्ति काम कर रही थी। हिंदू विचारधारा में धर्म के संमुख मानव-जीवन अप्रधान समझा गया है और उसमें ही मनुष्य के सारे प्रयास का आदर्श एवं प्रेरणा को ढूँढ़ सकते हैं।

राजपुताना में चित्तौरगढ़ के समीप संकर्ष (बलदेव, तथा वासुदेव (कृष्ण) की प्रतिष्ठा का वर्णन मिलता है। निम्न अभिलेख से प्रकट होता है कि भगवान् शालिग्राम की पूजा के लिए शिला प्रकार (घेरा) तैयार किया गया, जिसे लेख में नारायणवाटिका कहा गया है—

भगवद्भ्यां संकर्षण वासुदेवाभ्यां अनहिताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजा शिला
प्रकारो नारायणवाटिका (घोसुंडी लेख—ए० ई० भा० १६)

मध्य भारत में विदिशा के समीप एक विदेशी यवनदूत हेलियोडोरस द्वारा स्थापित स्तंभ प्रकाश में आया है, जिस पर गरुडध्वज की स्थापना का उल्लेख है। उस स्थान पर देवमंदिर (विष्णु मंदिर) के भग्नावशेष देखे जा सकते हैं। इस कारण यह अनुमान सही है कि हेलियोडोरस ने विष्णु मंदिर के संमुख गरुड (पक्षी) युक्त ध्वज की स्थापना की थी।

स्तंभ-लेख निम्न प्रकार है—

देवदेवस वासुदेवसं गरुडध्वजे अयं कारिते इअ हेलियोदोरेण भागवतेन
दिअस पुत्रेण तखसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अतिलिकितस उपता
सकासे रजौ (बेसनगर गरुडस्तंभ-लेख, आ० स० रि० १९०९)

अतएव, ईसापूर्व सदियों में मंदिर-निर्माण के ऐसे प्रमाण तिरस्कृत नहीं किए जा सकते। साँची में भी ऐसे वास्तुकला के अवशेष मिले हैं, जो ईसापूर्व भारत में मंदिर-निर्माण के कथन की संपुष्टि करते हैं।

प्राचीनकाल में चौथी शती से गुप्तसम्राटों का शासन आरंभ होता है। उस युग में वैष्णवधर्म राजधर्म का स्थान ले चुका था। अतएव, भक्तिभावना से

प्रेरित होकर राजा तथा प्रजा ने देवता के स्थान की प्रतिष्ठा की। उसी को मंदिर कहेंगे। बौद्धकाल में विहारों के केंद्रीय स्थान में बुद्ध-प्रतिमा स्थापित होने लगी थी, जो गर्भगृह कहा जाता था। एलोरा में ऐसी गुफाएँ वर्तमान हैं, जहाँ बुद्ध-प्रतिमा स्थापित है। पिछले पृष्ठों में यह कहा गया है कि ब्राह्मण मत में भी ऐसी गुफाएँ तैयार हुईं जिनमें हिंदू देवता की मूर्ति स्थापित है। एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर तथा एलिफैंटा के शिव मंदिर का उल्लेख किया गया है। इससे पूर्व ही गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय ने उदयगिरि (विदिशा के समीप) में गुहा खोद कर विष्णु के बराह अवतार तथा शेषशायी विष्णु-प्रतिमा को स्थान दिया। उसी स्थान पर छोटे बरामद सहित एक चौकोर कमरा भी दृष्टिगत हुआ है, जिसे प्राचीनतम मंदिर की बनावट मानते हैं। इस कारण गुहा के मूल आकार को ध्यान में रखकर यह कहना उचित होगा कि ब्राह्मण मत में बौद्ध देवस्थान का अनुकरण किया गया और कालांतर में परिवर्तन के साथ नए आकार प्रस्तुत किए गए।

सर्वप्रथम ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को मंदिरों में स्थान दिया गया। परंतु, विष्णु तथा शिव के समुख ब्रह्मा का स्थान हीन हो गया। पौराणिक युग में ऐसा विश्वास पैदा हो गया कि ब्रह्मा की स्तुति के कारण ही दैत्यों का बल बढ़ता गया, जिन्होंने देवताओं से प्रतिस्पर्धा की तथा कष्ट दिया। अतएव, उसी भावना के फलस्वरूप ब्रह्मा के प्रति भक्ति का अवसान होने लगा। मंदिरों का विकास भक्तिभावना से संबद्ध था। अतएव, सगुण भक्ति की प्रेरणा से इष्ट देवों के लिए देवालय (मंदिर) की स्थापना आवश्यक कार्य हो गया। मंदिर में भक्तजन भगवान को अपनी पुकार सुनाते हैं। यदि यह कहा जाए कि ब्राह्मण मत में सामूहिक पूजा का अनुकरण बौद्धों के संघ से हुआ, तो उसमें आपत्ति नहीं की जा सकती। भारतीय विचारधारा में मनन-चिंतन एकाग्रचित्त से किया जाता है, जिसके लिए शांत वातावरण तथा एकांत स्थान चाहिए। व्यक्तिगत रूप में भी इष्टदेव की पूजा करते हैं। बौद्ध संघ में चैत्य या विहार में एकाकी या सामूहिक पूजा की योजना थी। किंतु, उपदेश सामूहिक रूप से किया जाता था। संभवतः उसी प्रणाली का अनुकरण ब्राह्मण मत में हुआ, जिसे मध्य युग में इस्लाम तथा ईसाई मतानुयायियों ने अपनी परंपरा से संबद्ध कर दिया। जुमे का नमाज तथा रविवार के दिन चर्च का कार्य उसी पद्धति का अनुकरण कहा जा सकता है। मंदिरों में सामूहिक पूजा के लिए विशेष स्थान है। वही भक्तजन कीर्तन कर इष्टदेव को प्रसन्न करने

का प्रयास करते हैं। मंदिर देवता का स्थान है। भक्तों की पुकार सुनने तथा नैवेद्य स्वीकार करने के लिए प्रतिमा मंदिर में प्रतिष्ठित है।

ब्राह्मण मत में वैष्णव धर्म तथा शैव धर्म के ही अधिक अनुयायी या उपासक वर्तमान हैं। विष्णु वैदिक देवता हैं। अतएव, इस विष्णु की धर्म का मूल श्रोत विष्णु-संबंधी वैदिक सूत्रों में माना जा सकता लोकप्रियता है। भागवत धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप का परिचय महाभारत में मिलता है। इसका प्रमुख ग्रंथ गीता भी है। भगवद्-गीता के आधार पर भागवत धर्म की रूपरेखा स्थिर की गई। कृष्ण के उपदेश का सार यह है कि भक्ति से परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है और भगवान के भक्त को जगत् में यश प्राप्त करते रहना चाहिए। भागवत में स्वयं विष्णु के मुख से कहलाया गया है, “मैं भक्त के अधीन हूँ। पूर्णतया परतंत्र हूँ। साधु भक्तों के द्वारा मेरा हृदय स्वीकृत है। भक्त मेरे प्रिय हैं”—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज

साधुभिर्ग्रस्तं हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।

(भागवत, ९।४।६३)

अतएव, भगवान् की लोकहितकारिणी कार्यक्षमता तथा भक्तप्रियता के कारण विष्णु लोकप्रिय देवता हो गए। वैष्णव लोगों की लोकोपकार वृत्ति भगवान् की सर्वोच्च आराधना है, इस कारण विष्णु मंदिरों का निर्माण आर्य संस्कृति में होने लगा। उत्तरी भारत में गुप्त युग से ही वैष्णव मंदिर निर्मित होने लगे और यह परंपरा बारहवीं सदी तक बनी रही।

शैव धर्म का संबंध अनार्य संस्कृति से मानते हैं। सिंधु घाटी में तत्संबंधी अवशेष मिले हैं। पशुपति शिव तथा अनेक लिंग की आकृतियाँ मोहेनजोदड़ों से उपलब्ध हुई हैं। यों तो आर्य संस्कृति में वैदिक रुद्र का विवरण मिलता है। रुद्र का संहार रूप वैदिक स्तुतियों में विशेष रूप से दिखलायी पड़ता है। इसी संहार से अपनी बश-परंपरा तथा पशुधन बचाने के लिए मानव रुद्र की स्तुति करता रहा। आर्येतर जानियाँ शिव (रुद्र) की पूजा करती थी, उसका प्रमाण वैदिक साहित्य में मिलता है। अथर्ववेद में देवताओं में रुद्र (महादेव = शिव) ब्राह्मणों का अधिष्ठाना बतलाया गया है। किंतु, रुद्र की स्तुति के समान ही परवर्ती युग में शिव-संबंधी मान्यताओं का समाज में समावेश था। रुद्र तथा शिव का मिलन वैदिककाल में ही पाते हैं। उपनिषद्काल में (रुद्र) शिव को विष्णु के सदृश प्रतिष्ठित पाते हैं। महाभारत युग में आर्येतर

शिव (रुद्र) की महिमा सुप्रतिष्ठित हो गई, जो महेश्वर कल्याणकारी सर्व-व्यापक उपाधियों से विभूषित हुए। स्वयं अर्जुन तथा कृष्ण शिव से मिलने हिमालय पर गए और वही उनकी स्तुति भी की। यानी शंकर का स्थान पूज्य हो गया था। शिव से ही पशुओं की उत्पत्ति बतायी गई है (महाभारत, वनपर्व ३८। अनुशासन पर्व अ० १४) पौराणिक साहित्य में शिव असुरों तथा देवताओं में तेजस्वी कहे गए हैं। शिव परमयोगी है। उनका नाम महादेव है। शिव का लोकरक्षक रूप भी प्रसिद्ध है। भागवत में कहा गया है कि लोकरक्षा के निमित्त वे शक्ति के साथ विचरण करते हैं। योगी स्वरूप तथा आदर्श प्रवृत्तियों के कारण भक्तों में शिव की प्रतिष्ठा हुई। लिङ्गपुराण में शिव-लिङ्ग-पूजा का अतिशय माहात्म्य बतलाया गया है। इन सभी विषयों पर विचार कर भक्तजनों ने शिवमंदिर का निर्माण किया। ऐतिहासिक विश्लेषण से पता चलता है कि गुप्त युग (चौथी शती) में वैष्णव मत की प्रधानता के कारण विष्णुमंदिर की प्रमुखता रही। उत्तरी भारत में यत्र तत्र वैष्णव वास्तुकला का विकास हुआ। उत्तर गुप्त युग में हर्षवर्द्धन बौद्ध होकर इस प्रकार के कार्य से विमुख रहा। सातवीं सदी से दक्षिण भारत में शैव मंदिर का शुभारंभ किया गया, जिसकी उत्पत्ति मद्रास के ममीष मामल्लपुरम् में दीख पड़ती है। यह कहना यथार्थ होगा कि विष्णुमंदिरों में शिखर का आविर्भाव हुआ किंतु दक्षिण के शिव-मंदिरों का शीर्ष (गुंज) स्तूप के आकार से मिलता-जुलता है। मध्ययुगीन भारत में विष्णुमंदिरों के साथ खजुराहो में कंदरिया महादेव तथा भुवनेश्वर में लिंगराज मंदिर बनाए गए। आठवीं शती के पश्चात् दक्षिण में शैव मंदिरों की प्रधानता है। इस प्रकार मंदिरों के सर्वेक्षण से वस्तुस्थिति का परिज्ञान हो जाना है। इस्लाम के कारण १२ वीं सदी के बाद उत्तरी भारत के मंदिर-निर्माण में बाधाएँ उपस्थित हुईं, किंतु दक्षिण भारत अछूता रहा और उस भूभाग में मंदिर-स्थापत्य-कला का विकास होता रहा।

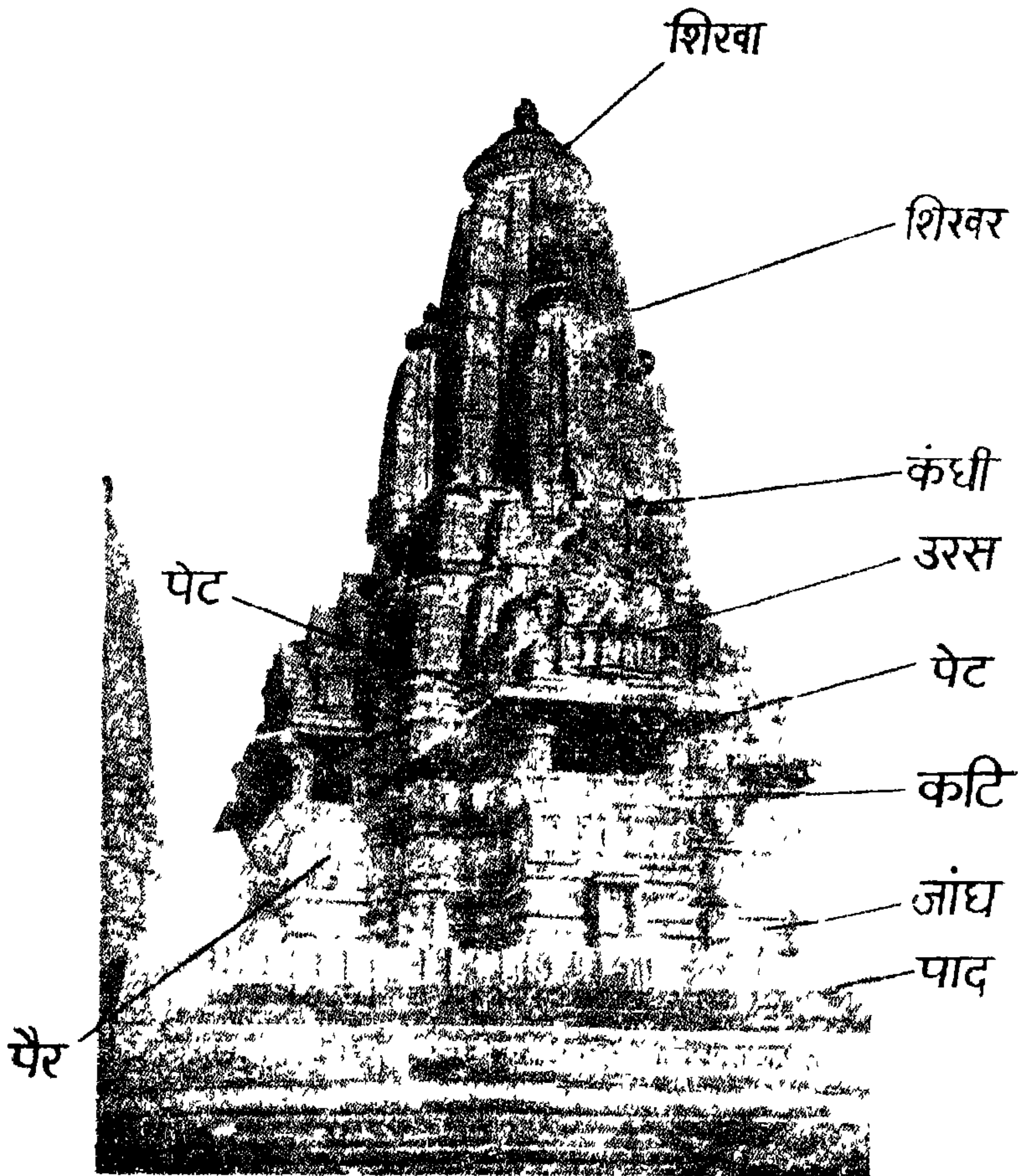
भारत की प्राचीन स्थापत्यकला में मंदिरों का विशिष्ट स्थान है। भारतीय विचारधारा तथा संस्कृति ने छोटी-मोटी बाहरी बातों को आत्मसात् कर लिया। इसी प्रकार भारतीय मंदिर देश की परंपरा तथा प्रतिभा की उपज हैं। प्राचीन भारत की कलात्मक भावनाएँ मे धर्म के लोकप्रिय स्वरूप की छाप दृष्टिगोचर होती हैं। मंदिर का वास्तु न केवल साधारण जन के आवास से भिन्न है, अपितु गर्भगृह के ऊपर विमान की उच्चता आध्यात्मिक

भावना तथा विशिष्टता का प्रतीक है। मंदिर का शिखर दूर से ही उच्च स्वर में ईश्वर की सर्वव्यापकता का उद्घोष करता है। समीप आते ही मानव भक्ति में विभोर हो जाता है। संसार की ओर से हट कर आध्यात्मिक भावना जग जाती है। मंदिर की भित्तियों, स्तंभों तथा छतों पर उत्कीर्ण अथवा उभरी हुई आकृतियों के मध्य दर्शक अपने को भूल जाता है। देवी-देवताओं के संमुख भक्त नतमस्तक हो जाता तथा अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप कर निर्मल एवं पवित्र भावों के निमित्त जागरूक होता है। मंदिरों के विभिन्न स्थानों पर कलाकारों ने पशु, पक्षी, पुष्पलता, पौराणिक दृश्यों और लोककथाओं का प्रदर्शन कर सामाजिक चित्रण उपस्थित किया है तथा तरुणियाँ एवं कामोत्तेजक प्रमगों के द्वारा दुष्टों के आसुरी कर्मों को दिखाया है। भक्तों के सामने देवों के प्रणय चरित्र का चित्रण मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है। यानी मंदिर का स्थापत्य तथा शिल्प धार्मिक भावना का संचार करते हैं। भक्तों को यह आभास तक न होता कि जीवन में अनास्था रखने से ही कार्य की सिद्धि होगी। भगवान् के पूजन से ही जीवन में पवित्र स्रोत मिलेगा और संसार में धार्मिक समुन्नति हो सकेगी। शिल्पियों में आत्मत्याग की इतनी गहरी भावना थी कि कहीं भी उन्होंने अपना नामोल्लेख तक न किया। यही कारण है कि कलाकृतियों के रचयिता के नाम अज्ञात हैं। मंदिरों की रचना-कला सामाजिक तो थी नहीं, धार्मिक भावनाओं सहित आध्यात्मिक साधना का एक मार्ग बना। इन बातों को ध्यानपूर्वक सोचा जाए, तो प्रकट होगा कि मंदिर केवल पूजा-गृह ही नहीं थे, बल्कि सांस्कृतिक जीवन के केंद्र भी थे। मंदिरों की स्थापना तथा निर्माण से केवल वातावरण ही परिवर्तित न होता, बल्कि आसपास की धार्मिक प्रवृत्तियों के जागरण में सहायता भी करता था। मंदिर अपनी विजालता तथा दृढ़ता से उन विचारों को स्थायित्व प्रदान करता, जिनका उद्देश्य आदर्शों तथा मूल्यों की रक्षा करना था। जिस भू-भाग में मंदिर निर्मित होता, उस क्षेत्र में बसी जनता की धार्मिक गतिविधि वही केंद्रित हो जाती। राजा तथा प्रजा समीप की भूमि को मंदिर के लिए दान दे कर धार्मिक पिपासा को शांत करती और स्थानीय जनता को प्रेरणा भी देती थी। आध्यात्मिक चिंतन तथा जीवन के मूल्यों की सार्थकता अथवा जीवन-दर्शन का ज्ञान भक्त-जन मंदिरों में प्रवेश कर ही प्राप्त कर सकते हैं।

मंदिर के रूपविधान की कल्पना एक गुण का कार्य न था, किंतु कलाकार ध्यानावस्थित होकर नए-नए विचारों को लेकर अपनी कुशलता दिखलाते रहे।

प्रारंभ में चैत्य के आकार से उन्हें प्रेरणा अवश्य मिली होगी तथा गर्भगृह का नामकरण भी विहार में स्थित प्रतिमा-स्थान को लेकर मंदिर की मानव-कल्पना किया गया, किंतु भारतीय वास्तुशास्त्र का भी प्रभाव कालांतर में पड़ता गया और उसी कारण से सारे देश में मंदिरों की विभिन्न रूपरेखा सामने आई। कलाविदों ने

मंदिर का मानव देही रूप



सही विचार किया कि जो परमात्मा मनुष्य के शरीर में अंतर्हित है, सूक्ष्म रूप

में विराजमान है, उसी (इष्टदेव की मूर्ति) की प्राणप्रतिष्ठा कर देवालय में रखते हैं। अतएव, मूर्तिकारों ने उस देव की मानवाकृति (Anthropomorphic form) तैयार की, जिसे मंदिर के गर्भगृह में स्थापित किया गया। उसी विचार से प्रेरित होकर इस बात की कल्पना की गई कि मानव-शरीर के अंदर रहने वाले देव को बाहर प्रतिष्ठित करने के लिए मनुष्य की देही कल्पना का मूर्त रूप मंदिर तैयार किया गया। अतः, यह कहना यथार्थ होगा कि देवता का आवास मंदिर को मनुष्य के शारीरिक अंगों के सदृश व्यक्त (प्रत्यक्षरूप) किया गया। उसी में प्राणप्रतिष्ठा के पश्चात् उपासक पूजा-कार्य संपन्न करता है।

जिस चबूतरे पर मंदिर का निर्माण आरंभ होता है यानी सारे मंदिर का बोझ संभालता है, वह पाद कहा जा सकता है। उसके ऊपर का भाग पैर एवं जाँघ का द्योतक है। जहाँ से मंदिर का भीतरी भाग दिखलायी पड़ता है, वही कटि स्थित है। भीतरी भाग पेट का रूप खड़ा करता है। छत के ऊपर छाती तथा स्कंध का संकेत मिलता है। शीर्ष तथा शिखा मानव का सर है यानी मंदिर का शीर्ष भाग मनुष्य के सिर के समकक्ष माना गया है। इस प्रकार मानव-देह की कल्पना लेकर मंदिर का निर्माण हुआ।

हिंदू धर्म में मंदिर का निर्माण पारलौकिक कार्य को ध्यान में रख कर किया जाता है। भक्त इष्टदेव को पुकार सुनाने वहाँ एकत्रित मंदिर की उपयोगिता होते है। अतएव, गर्भगृह के बाद ऐसे मंडप की आवश्यकता प्रतीत हुई, जहाँ भक्तजन आराधना कर सकें एवं उपदेश सुन सकें। ऐसे मंडप के निर्माण से अन्य कार्यों में भी सहायता मिली।

(१) दरबार हाल—शासकों के समुख प्रजाजन द्वारा कष्टों का वर्णन करना तथा निराकरण के मार्ग ढूँढने की प्रथा भी प्राचीन युग में वर्तमान थी। उस कार्य के लिए मंदिर का मंडप ही समुचित स्थान था। वहाँ देवता के सामने राजा जनता को सुख पहुँचाने, सुधार लाने तथा नवीन योजना के संबंध में वार्ता करता था।

(२) विद्वत् परिषद्—एकत्रित होकर सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर विवेचन करना अथवा मंदिरों के मंडप में शास्त्रार्थ करना था।

वादे वादे जायते तत्त्वबोधः

विवेचन करने से वास्तविक तथ्य का पता चलता है। अतः, मंदिरों में यह कार्य संपन्न होता था।

(३) राजसभा का अधिवेशन-स्थल—मंदिरों के मंडप में राज-सदस्य एकत्रित होकर शासन-संबंधी विषयों पर चर्चा करते थे। आज भी पंचायतें मंदिरों के प्रांगण में बैठक बुलाती हैं तथा अनेक विषयों पर निर्णय लेती हैं।

(४) व्यासकथा का स्थान—धार्मिक प्रवचनों के लिए मंदिर स्थल को चुना जाता; क्योंकि वहाँ का वातावरण धार्मिक तो था ही, जनसाधारण इष्टदेव के सामने एकत्रित होकर शातचित्त से व्यास द्वारा कथित कथाओं का श्रवण करते रहे।

(५) शिक्षा का स्थान—इस विषय का सविस्तर वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा, परंतु संक्षेप में यह कहना उचित भी होगा कि मंदिरों में शिक्षा की भी व्यवस्था थी। धनीमानी व्यक्ति मंदिर का निर्माण कराता और धर्म-ग्रंथों के पठन-पाठन की व्यवस्था भी करता था। उसी के अनुकरण पर इस्लाम में मकतब मसजिदों में स्थिर किए गए। गिरजाघरों में पादरी बाइबिल पढ़ाता है। उनकी संख्या बढ़ने पर शिक्षा-संस्थाएँ समीप में तैयार हुईं और समीपस्थ गिरजाघर प्रार्थना के लिए सुरक्षित रखा गया। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में शिक्षा देने की व्यवस्था थी तथा उसके निमित्त दान भी दिए गए।



दूसरा अध्याय

चैत्य तथा मंदिर

इस विषय को चर्चा की जा चुकी है कि 'वत्यमडप' बौद्धों के लिए पूजन-हेतु पर्वतों को उत्कीर्ण कर तैयार किए गए थे। कलाकार पर्वत की चट्टानों को खोद कर घोडनालनुमा आकार तैयार करता, जिसके गोलाई भाग की ओर स्तूप की स्थिति रहती थी। अतएव, प्रारंभिक अवस्था में 'चैत्य' ही पूजा-स्थान निर्धारित किए गए। कालांतर में 'चैत्य' नामक गुहा की स्वतंत्र स्थिति समाप्त कर दी गई। संभवतः महायान मत में मूर्ति की प्रधानता होने से स्तूप को अनावश्यक समझा गया। अतएव, बौद्ध कलाकारों ने 'बिहार' तथा 'चैत्य' का समिश्रण कर दिया। बिहार में निवास करने वाले भिक्षुओं को अन्यत्र जाने की आवश्यकता न रही। बिहार के केंद्रीय भाग में एक कमरे में ही बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की जाती, जहाँ भिक्षु अथवा उपासक पूजा निमित्त जाया करते थे। चूँकि स्तूप में भगवान् का भस्मपात्र रखा जाता था, यानी शरिर (धातु) अथवा राख डि बेया में रखी जाती थी, इसीलिए स्तूप पूजा का आधार हो गया। तक्षशिला से प्राप्त एक ताम्रपत्र लेख में वर्णन मिलता है कि पटिक नामक क्षत्रप शामक ने माता-पिता के पूजन तथा अपने परिवार, स्त्री एवं पुत्रसहित पूजन के निमित्त सधाराम में भगवान् शक्य मुनि (बुद्ध) के शरिर (अवशेष) की स्थापना की।

पतिको तखशिलए नगरे—अत्र देशे पतिको अप्रठवित भगवत शकमुनिस शरिरं प्रतिथवेति सधरम सर्व बुधन पूजये मतपि पुययतो क्षत्रपस सपुत्रदरस।

(का० इ० ई० भा० २ पृ० २८)

शरीर के अवशेष को 'धातुगर्भ' भी कहने लगे। अतः, जिस स्थान में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई, उसे 'गर्भगृह' का नाम दिया गया। ब्राह्मण मत में उस 'चैत्य' तथा 'धातुगर्भ' के समान 'मंदिर' तथा 'गर्भगृह' की प्रतिष्ठा की गई। कहने का तात्पर्य यह है कि 'चैत्य' के मूल विचार का

अनुकरण मंदिर में किया गया। विहार में केंद्रीय कमरा चौकोर होता, जिसकी ऊपरी छत समतल रहती। यह आकार ब्राह्मण धर्म में ले लिया गया। पर्वत की शिखाओं के सहारे स्वतंत्र रूप से कमरा बनाया गया, जिसका प्रारंभिक रूप साँची के गुप्तकालीन पर्वत की गुहा में (मर्यादा १७) देखते हैं। उदयगिरि पर्वत के दक्षिण किनारे पर दो स्तंभों वाला बरामदा है, जिसके साथ में खोदकर भीतर कमरा बना है। यही मंदिर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्य भगवान् के प्रतीक (स्तूप) का स्थान था, उसी तरह मंदिर ब्राह्मण देवता के निवास का स्थान कहा गया है।

चौथी सदी से भागवत धर्म के अभ्युदय के पश्चात् (इष्टदेव) भगवान् की प्रतिमा स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतएव, वैष्णव मतानुयायी मंदिर-निर्माण की योजना करने लगे। साँची का दो स्तंभयुक्त कमरे 'गुप्त-मंदिर' का प्रथम चरण माने जाते हैं। चूंकि कमरे में प्रतिमा की स्थापना की जाती थी, अतः उसे 'गर्भगृह' की संज्ञा दी गई। मानसार्थ में वर्णन आता है कि मंदिर को राजपथ पर स्थापित किया जाए। यह विवरण बुद्ध तथा आनंद के वार्तालाप की याद दिलाता है जिसमें बुद्ध ने कहा था कि चौराहे पर स्तूप निर्मित किए जाएं। महापरिनिर्वाण सूत्र में इसका विशद वर्णन मिलता है। संभव है, गुप्त युग में उसी विचार से प्रभावित होकर उदयगिरि पर्वत खोद कर मंदिर तैयार किया गया। कुछ गुफाओं का आकार बौद्ध गुहा से मिलता-जुलता है, किंतु चौकोर कमरा तथा समतल छत वाले (पर्वत में खोदा) आकार को मंदिर कहा गया है। पर्वतमाला की परिस्थिति के अनुसार गुफाएँ खोदी जाती यानी गुहाद्वार की कोई निश्चित दिशा नहीं थी। किंतु, वैष्णव मंदिर का द्वार सर्वदा पूरब दिशा में होता है। पूर्वी दिशा में द्वार रखने का विशेष उद्देश्य था। सूर्य का प्रकाश प्रातः पूरब दिशा से आता है (दिशा सापेक्षिक शब्द है। सभी के लिए पूरब या पश्चिम एक-सा नहीं होता) सूर्य की प्रभा में कमल खिलता है, जिस पर लक्ष्मी आसीन होती है। कमलासन लक्ष्मी बिष्णु की भार्या है। अतएव, शक्ति को ध्यान में रख कर मंदिर के द्वार की दिशा स्थिर की गई।

यदि भारत में प्रचलित वैष्णव तथा शैव मतों का इतिहास देखा जाए, तो प्रकट होता है कि उत्तरी भारत में वैष्णव मत प्रधान रहा तथा दक्षिण भारत में शैव धर्म की प्रमुखता थी। हैबेल का मत है कि दक्षिण के शैव मंदिरों में स्तूप के आकार का गुंबज अंगीकार किया गया। शिव योगीराज हैं। हमेशा

में रहते हैं। जहाँ शव की दाहक्रिया होती है। उसी रास्ते (अवशेष) को पात्र में रखकर स्तूप के मध्य प्रतिस्थापित किया जाता था। संभवतः इस कारण शैवधर्म में स्तूप को आदरणीय स्थान मिला। यही कारण है कि दक्षिण के मंदिरों (द्राविड़ शैली) में प्रायः स्तूपाकार शीर्ष (गुंबज) दोख पड़ते हैं।

फरगुसन के मतानुसार भारतीय मंदिरों के गुंबज देशज नहीं हैं, किंतु मेसोपटामिया से अनुकरण किए गए। इसमें कितना सार है, यह मंदिरों की शैलियों के विवरण से प्रकट हो जाएगा। भारतीय विद्वान् 'चैत्य' में मंदिर की छिपी रूपरेखा को स्वीकार करते हैं, परंतु शिखर के विदेशी प्रभाव को सारहीन मानते हैं।

अशोक के पश्चात् सार्वभौम राज्य की कल्पना राजनीतिक कारणों से सफलीभूत न हो पायी। उत्तर में शुंगनरेश ने ब्राह्मण मत का पुनरुत्थान किया तथा मौर्यों के उत्तराधिकारी दक्षिण भारत के सातवाहन नरेश अपने को 'एक

ब्राह्मण' कहते रहे। यद्यपि अमरावती के आकार-मंदिर की प्रारंभिक प्रकार का प्रोत्साहन उनसे अवश्य मिला था, पर वे अवस्था वैदिक परंपरा के अनुयायी थे। ईसवी सन् के आरंभ

से महायान मत का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने हीनयान की प्रतीकात्मक कला को नीचा दिखाया और प्रतिमा-पूजन का विधान किया। कनिष्क उसी परंपरा का पालन करता रहा। गंधार कला में प्रधानतः बुद्ध-प्रतिमाएँ तैयार की गईं। कहने का तात्पर्य यह है कि हीनयान कलाकारों ने जिस जीवट तथा लगनपूर्वक सह्याद्रि में गुफाएँ तैयार की थी, वह उत्साह न रहा। महायान वालों ने अजंठा के चैत्य स्तूप पर बुद्ध-प्रतिमा खोदी तथा पर्वत के अग्रभाग में विविध बुद्ध-मूर्तियाँ उत्कीर्ण कर महायान की योजना को सफल बनाया।

तीसरी शती से उत्तरी भारत में गुप्त वंश का राज्य आरंभ होता है, जिनके समय में लंका से बल्लभ तक का भाग गुप्तों के प्रभाव में आया। गुप्तनरेश परम वैष्णव थे। उनकी कृतियाँ उनके धार्मिक विचारों की बातें सुनाती हैं।

चौथी शताब्दी तक पश्चिमी भारत में क्षत्रपों का गुप्त-मंदिर राज्य था, जिन्होंने ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृति को अपनाया। किंतु, दयालुतावश कई गुफाएँ खुदवा कर भिक्षुओं के निवास के लिए दान भी दिया था। चौथी सदी के पश्चात् सारे भारत में धर्म की लहर बदल गई। गुप्त राजाओं ने उदयगिरि में कुछ गुफाएँ तैयार करायी थी, जिनमें विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। किन्तु, समतल

भूमि पर ईंट-प्रस्तर जोड़ कर इमारतें भी तैयार हुईं, जिनकी स्थापत्य कला देशज थी। गुप्त सम्राट् धर्मसहिष्णु थे, अतः धनीमानी लोगों ने समतल भू-भाग पर ईंटका प्रयोग कर बिहार आदि भी तैयार किया।

भागवत धर्म में भगवान् के शारीरिक स्वरूप (Anthropomorphic Conception) का विचार व्यक्त किया गया है। भक्तों ने इष्टदेव की प्रस्तर-प्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा की और उस मूर्ति को मंदिर में स्थापित किया। प्राणप्रतिष्ठा गुप्तकाल की नई कल्पना न थी। इसवी पूर्व सदियों के लेखों में भगवान् बुद्ध के अवशेष को 'प्राणसमेत' कहा गया और ऐसे शरीर की स्थापना संघों में की गई थी— (का० इ० इ० भा० २ पृ० ४, २८, तथा ४८)

प्राण समेत शरीर भगवत शक मुनिस ।

यह ब्राह्मण धर्म की कल्पना थी, जिसे बौद्धों ने अपनाया। चौथी सदी से प्रतिमा के प्राणप्रतिष्ठा-निमित्त मंदिरों का निर्माण हुआ। यानी पर्वतों में 'चैत्य' नामक आकार समाप्त हो गया। खुदाई के स्थान पर संरचनात्मक (इमारत) रूप सामने आया। यद्यपि उदय गरि (विदिसा के समीप) में चंद्र-गुप्त द्वितीय ने बराह, विष्णु तथा शेषशायी विष्णु की प्रतिमा स्थापित की, गुहा खुदवाई, किंतु वह सर्वथा उत्कीर्ण नहीं है। उन्हें मिथ्या गुहा कह सकते हैं। संरचनात्मक कृतियों की बहुलता है। पाँचवी सदी के आरंभ में तिगवा (जबलपुर, मध्यप्रदेश) तथा साँची (मंदिरों की संख्या १७) के आकार इमारती है; यानी निर्मित है, खुदे नहीं। स्तंभसहित बरामदे तथा भीतर चौकोर कमरा एवं समतल छत दीख पड़ते हैं। इन्हें गुप्तकाल के प्रथम संरचनात्मक (Structural) मंदिर कहेंगे। चैत्य की ग्रामीण झोपड़ी का विकसित आकार मानते हैं। उसी प्रकार आरंभ में ईंट तथा काष्ठ की कोठरी के मूल आकार का अनुकरण कर गुप्त कलाकारों ने प्रस्तर का परम्परागत स्थान (मंदिर) निर्मित किया, जो 'गर्भगृह' के नाम से विख्यात हुआ। पाँचवी सदी से नए रूप में आकार (इमारत) बनाए गए, उनकी दो विशेषताएँ हैं —

(अ) संरचनात्मक (Structural) कार्य-पद्धति एवं

(ब) सौंदर्यपरक (Aesthetic character) ।

गुप्तकालीन मंदिरों की स्थापत्यकला में इन्हीं विचारों पर कृतियाँ केंद्रित थीं। मंदिरों के गर्भगृह ने चौकोर समतल छत से विकसित होकर शिखर का रूप धारण कर लिया। स्तंभों में पुष्पसहित पूर्ण कलश की आकृति तैयार हुई, जिसकी सुंदरता अद्वितीय है।

तीसरा अध्याय

गुप्तकालीन मंदिर

यह कहा जा चुका है कि गुप्त युग से ई.पू. का प्रयोग होने लगा और मंदिर समतल भूमि पर तैयार किए गए। यद्यपि मंदिरों में विभिन्न देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं, फिर भी सभी की वास्तुकला में समानता है। उनके सर्वेक्षण से निम्न बातें प्रकाश में आई हैं—

१. गुप्त मंदिरों की स्थापना एक ऊँचे चबूतरे पर हुई थी।
२. मंदिर तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं।
३. प्रारंभिक मंदिर की छतें समतल (चिपटी) हैं जिन्होंने कालांतर में विकसित होकर शिखर का रूप धारण कर लिया।
४. मंदिरों की बाहरी दीवारें सादी हैं।
५. गर्भगृह में एक द्वार रहता है। उसी गृह में प्रतिमा स्थापित रहती है।
६. द्वार स्तंभ अलंकृत रहते हैं। इस स्तंभ में पूर्ण कलश की आकृति दीख पड़ती है। उसी कलश से पुष्प बाहर निकले दृष्टिगोचर होते हैं। उन स्तंभों पर बेलवूटे भी उत्कीर्ण हैं। पूर्ण कलश तो वैभव का प्रतीक है। घट में जल से कमल तथा जल से विश्व की उत्पत्ति हुई।
७. द्वार के दोनों पार्श्व में द्वारपाल के स्थान पर गंगा-यमुना की मूर्ति खोदी जाती थी। गंगा मकरवाहिनी तथा यमुना कर्मवाहिनी दिखलायी गई है। ब्राह्मणों का मत है कि बौद्ध युग की यक्षिणी या सालमंजिका का समादर न रहा, उसके स्थान पर ब्राह्मण धर्म में गंगा-यमुना को स्थान दिया गया।
८. गर्भगृह के चारों तरफ प्रदक्षिणापथ रहता है, जो छत से ढका है।
९. मंदिर के वर्गाकार स्तंभों के शीर्ष पर चार सिंह की मूर्तियाँ पीठ-से-पीठ लगे बनी हैं, जिन पर छत का भार रहता था।
१०. गुप्तकालीन मंदिरों के गर्भगृह में प्रतिष्ठित प्रतिमा के केवल पूजन निमित्त आकार-प्रकार निर्मित थे। उस स्थान पर उपासक जनता के सभा-स्थल का सर्वथा अभाव था।

११. गुप्त मंदिरों के दो वर्गीकरण हैं—

(अ) पूर्वगुप्तकालीन मंदिर (३५०-५५० ई०) ।

(ब) उत्तर—गुप्त युग (५५०-६०० ई०) के मंदिर, जिनमें शिखर का प्रादुर्भाव हुआ ।

तिगवा मंदिर मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में स्थित है । इसमें एक चौकौर कमरा (गर्भगृह) बना है, जिसमें शिवलिंग स्थापित है । चिपटी छत है । बाहरी भाग में कलात्मक ढंग से बेलबूटे सहित स्तंभ बना है, जिसमें पूर्ण कलश के अतिरिक्त चार सिंह पीठ-से-पीठ लगाए बैठे हैं । छत का भार उसी पर आधारित प्रतीत होता है । सांची के मंदिर (सख्या १७) भी उसी के समान है । शिखर के अभाव के कारण इसे पाँचवीं सदी के आरंभ में निर्मित मानते हैं । इसी श्रेणी में भूमरा (नागोद रियासत, मध्यप्रदेश) का शिवमंदिर तथा नाचवा (अजयगढ़, मध्यप्रदेश) के पार्वतीमंदिर रखे जा सकते हैं । दोनों में चिपटी छत तथा स्तंभसहित बरामदा एक समान है । मंदिर में केवल गर्भगृह है और चारों तरफ चबूतरा प्रदक्षिणापथ की याद दिलाता है । द्वार स्तंभ के दाहिने मकरवाहिनी गंगा तथा बाईं ओर कूर्मवाहिनी यमुना की मूर्तियाँ बनी हैं । मंदिर के चौखट अलंकृत हैं तथा स्तंभ पूर्ण कलश के कारण गुप्तकालीन माने गए हैं । नाचवा मंदिर का वर्गाकार चबूतरा ३५ फीट चौड़ा है । इसमें ढँका प्रदक्षिणापथ बना है । नाचवा का मंदिर भूमरा से अधिक कलापूर्ण है । इसमें चौखट के अतिरिक्त पार्श्व की दीवाल लतापुष्प तथा अन्य बनी आकृतियों से सुसज्जित हैं ।

दूसरी श्रेणी में उन मंदिरों की गणना होती है, जो ईंट के बने हैं, परंतु छत के ऊपर चारों तरफ नए प्रकार के गुंबज का आकार बना है, जिसे 'शिखर' कहते हैं । 'शिखर' शब्द से मंदिर के गर्भगृह के छत की शिखर ऊपरी बनावट में तात्पर्य है । छठी सदी से गर्भगृह की चिपटी (समतल) छत के ऊपर नया आकार बनने लगा । बनावट चारों दिशाओं से एक साथ आरंभ होती है । वह क्रमशः सिमटी जाती है, चारों तरफ ऊपरी आकार की पक्तियाँ एक स्थान पर मिल जाती हैं जिसे भारतीय वास्तुकला में 'शिखर' के नाम से पुकारते हैं । इस विदु के ऊपर दो आकार होते हैं । सबसे ऊपरी भाग को कलश तथा निचले भाग को आमलक कहते हैं । इस प्रकार का शिखर उत्तरी भारत

के मंदिरों में पाते हैं, इसीलिए इसे 'आर्यशिखर' कहते हैं। भारत के मंदिरों में कई प्रकार के शिखर होते हैं, जिनका विवरण अगले पृष्ठों में दिया जाएगा।

गुप्तकालीन छठी सदी के मंदिरों में शिखर का प्रादुर्भाव हुआ। इस वर्गीकरण में भितर गाँव (कानपुर, उत्तर प्रदेश) तथा देवगढ़ (झाँसी, उत्तर प्रदेश) के मंदिरों को स्थान दिया गया है। भितर गाँव मंदिर की चौकोर समतल छत पर ७० फीट ऊँचा आकार (शिखर) बना है। ऊँचे चबूतरे पर इस मंदिर की योजना तैयार की गई थी, जिसका व्यास ३६ फीट के बराबर है। इसके पूर्वो भाग में एक स्तम्भयुक्त बरामदा है, जहाँ सीढ़ी के सहारे पहुँच सकते हैं। सामने पंद्रह फीट वर्गाकार में गर्भगृह निर्मित है, जिसमें प्रतिमा स्थापित की गई थी। इस मंदिर की सुंदरता दीवाल पर खुदे पक्की मिट्टी के फलक (Terracotta) द्वारा बढ़ जाती है। कलाकारों की कार्य-कुशलता का यह फल था। झाँसी के देवगढ़ मंदिर में हम गुप्त स्थापत्य कला की चरमोन्नति देखते हैं। उसका ऊपरी भाग पिरामिड के सदृश गुंबज वाला है। इसमें ४० फीट शिखर का अनुमान लगाया जाता है, जो भग्नावस्था में है। पाँच फीट ऊँचे चबूतरे पर गर्भगृह तैयार किया गया, जिसके चारों तरफ सीढ़ियाँ बनी हैं। इस मंदिर के गर्भगृह में चारों दिशाओं से प्रवेशद्वार बने हैं। मंदिर लंबी ईंटों ($1\frac{1}{2} \times 1\frac{1}{2} \times 3$ फीट) के क्षेत्रफल वाली सामग्री से बनाया गया है। देवगढ़ मंदिर के द्वार की खुदाई अत्यंत कलात्मक हैं। इसका अलंकरण अद्वितीय है। इसकी उच्च श्रेणी की कला, प्रौढ़ कार्य तथा अतीव गौरवमय परिमार्जन के गुणों से देवगढ़ गुप्तकाल की सर्वश्रेष्ठ कृति माना गया है।

गुप्तकालीन अन्य मंदिरों की बनावट में भी परिष्कार है। तेली का मंदिर (ग्वालियर) तथा सिरपुर का मंदिर लंबे शिखर वाली इमारतें हैं। ऊँचे चबूतरे पर बनी हैं जिसमें एक कमरा (गर्भगृह) तथा बरामदा दीख पड़ता है, उन पर ईंटों की खुदाई सतर्कतापूर्ण की गई है। देखने से पूरा मंदिर एक ही आकार में संपूर्ण भाव प्रकट करता है।

गुप्तकाल का प्रभाव समस्त उत्तरी भारत पर पड़ा और ईंट का प्रयोग प्रधानतया सर्वत्र होने लगा। बौद्धधर्म के चार तीर्थों—कपिलवस्तु एवं लुंबिनी, बोधगया, सारनाथ तथा कसिया में मंदिर एवं विशाल संधाराम (विहार) ईंट के बने दीख पड़ते हैं। इन स्थानों पर भिक्षुओं के लिए विस्तृत क्षेत्र में विहार बनाए गए। नालंदा का नाम भी इस प्रसंग में लिया जा सकता

है। उसके वर्तमान भग्नावशेष की विशालता का वर्णन सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने किया था। दो सौ फीट ऊँचे विहार का निर्माण साधारण काम न था। आज भी ईंट से तैयार मंदिर तथा विहार की शृंखला यह बतलाती है कि पाँचवीं सदी में प्रस्तर का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया। चैत्य या विहार नाम की गुहाएँ स्थगित हो गईं। पहाड़ों को खोद कर गुहा निर्माण के कार्य का अंत हो गया और समतल भूमि में ईंट के सहारे छोटी या विशाल इमारतें बनने लगी। यह सभी गुप्त स्थापत्यकला का प्रभाव था, जो पाँचवीं सदी के पश्चात् कार्यान्वित किया गया। बंगाल के राजशाही जिले में स्थित पहाड़पुर का भी नामोल्लेख किया जा सकता है। विशाल विहार तथा मंदिर एवं संबद्ध पक्की मिट्टी के टिकरे उसकी कला को व्यक्त करते हैं। गुप्त युग की एक विशेषता यह भी थी कि हिंदू (धर्म के) मंदिरों की अधिकता के कारण विहार-निर्माण हीनावस्था को प्राप्त हो गया। उससे पूर्व बौद्ध कलाकार विहार तथा देवता के गर्भगृह को संबद्ध रखते थे, किंतु पाँचवीं सदी से वैष्णव मन के प्रचार के कारण भक्तजनों ने इष्टदेव की स्थापना गर्भगृह (मंदिर) में की। विहार का प्रयोजन तथा आवश्यकता जाती रही। अतः, बौद्ध-परंपरा को गुप्तनरेशों द्वारा प्रोत्साहन न मिल सका। यही कारण है कि विहार का प्रचलन समाप्त हो गया। उस युग में वर्णाश्रम धर्म के सिद्धांत का बोलबाला था। भिक्षु बन कर ससार त्यागने की विचारधारा अवरुद्ध हो गई। ससार में रह कर भक्तजन पूजा के विधान से मोक्ष की कल्पना करने लगे। मंदिरों को ही उसके लिए सर्वथा योग्य स्थान समझा गया। इसीलिए मगध को छोड़ कर अन्य स्थानों में विहार की स्थिति हीन होती गई। नालंदा में वज्रयान शाखा तथा परमसौगत पालनरेशों के कारण इमारतों की भग्न शृंखला आज भी दीख पड़ती है।

पाँचवीं सदी के मंदिरों में बोधगया के मंदिर की भी गणना होती है। बौद्ध साहित्य में इसे महाबोधि विहार भी कहा गया है। भारत के मंदिरों में बोधगया एक आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक धार्मिक बोधगया मंदिर इमारत है। इसकी स्थापत्य कला अनोखी तथा विलक्षण है। यद्यपि गुप्त युग में शिखर का आरंभ हुआ था, किंतु इसकी अपनी विशेषता है। इसी स्थान पर गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे इसका बोधगया नामकरण हुआ। अशोक ने आठवें शिलालेख में महाबोधि की धर्मयात्रा (तीर्थयात्रा) का उल्लेख किया है—

सो देवानं पियो पियदसि राजा दसवस भिसितो संतो अयाम संबीधि ।
तेने सा धर्मयात्रा । (आठवाँ शिलालेख)

परंतु, महाबोधि के मंदिर-निर्माण का विवरण नहीं मिलता । इसे किस शासक या व्यक्ति ने निर्मित किया, यह विवादास्पद है । इस मंदिर की विशेषता के कारण नेपाल में महाबोधि का मंदिर बनाया गया तथा इसी का अनुकरण वर्मा के पेगन स्थान पर किया गया । भगवान् के ज्ञानप्राप्ति का स्थल होने से बौद्ध लोगो का ध्यान सदा बोधगया पर था ।

यह विहार (मंदिर) समतल भूमि पर बना है, जिसका निचला भाग वर्ग-कार है । ऊपर की ओर शीर्ष क्रमशः पतला होता चला गया है । सबसे ऊपर सभी आकार एक स्थान पर मिल गए हैं, जो नुकीला न होकर चिपटा है । वर्तमान मंदिर के आकार से प्राचीनतम स्वरूप का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता । पाटलिपुत्र की खुदाई से एक 'मुहर' मिली है, जिसमें बोधगया मंदिर की प्रतिकृति है । आज का मंदिर ५० फीट चौड़े चबूतरे पर खड़ा है, जिसकी ऊँचाई करीब २० फीट है । इस पर विशाल पिरामिड के आकार का गुंबज दीख पड़ता है । उसकी ऊँचाई १८० फीट है । चारो कोने में मध्य शिखर का लघु रूप तैयार किया गया और उस कारण ब्राह्मण धर्म का यह पंचायतन मंदिर बन जाता है । प्राचीन मंदिर में कोने पर स्थित आकार का अभाव है, पर मंदिर का शिखर ऊँचा है । इस मंदिर के पश्चिम बोधिवृक्ष तथा वज्रासन दिखलायी पड़ता है । ये सभी आकार-प्रकार वेदिका से घिरे हैं । पार्श्व के विहार या स्तूप नष्ट हो गए ।

गुप्तकाल में वैष्णव मत के प्रचार से जनता का ध्यान बौद्ध विहारों से हटता गया तथा लोग बिमुख होते गए । उस युग की निर्मित ईंट के विशाल आकार (इमारतें) भग्न हो गई हैं । उनकी उपयोगिताजाती रही । राजा तथा प्रजा उदासीन हो गए । पाँचवी तथा छठी शताब्दियों में गंगा घाटी के अतिरिक्त सिंध के भू-भाग में भी ईंट की इमारतें बनती रही । यद्यपि उस भाग में मोहने-जोड़ो की परंपरा से सभी परिचित थे, विशाल इमारतो का क्रम चलता रहा । उस भाग में चबूतरे पर स्तूप का निर्माण तथा पार्श्व में विहार की स्थिति विशेष उल्लेखनीय है । मीरपुर खास की खुदाई से कथित विषय पर प्रकाश पड़ता है । सिंध की इमारतें तथा अलंकरण गंगा घाटी के नमूनों से मिलते-जुलते हैं । दोनों भू-भाग की इमारतो में ईंट की सुंदर रीति से खोद कर अलंकृत किया गया है । ईंट को अलंकारिक रीति से खोदने के कार्य में सर्वत्र एकरूपता है । पक्की मिट्टी के फलक

(खंड) के आधार पर सभी ईंट की इमारतें पाँचवीं या छठी शती की ज्ञात होती हैं ।

बोधगया के मंदिर के गर्भगृह में बुद्ध की विशाल प्रतिमा भूमि-स्पर्श मुद्रा में आसीन है । मंदिर का मुख्य प्रवेशद्वार पूर्वी दिशा में है । सूर्य की किरणों से ही प्रकाश पहुँच पाता है, अन्यथा उसमें खिड़की का अभाव है । मंदिर के द्वार के समीप सीढ़ियाँ बनी हैं, जिनसे होकर पहली मंजिल पर पहुँचते हैं । वहाँ पर्याप्त क्षेत्रफल में खुला स्थान है । उसी भाग के चारों कोने में चार गुंबज हैं । इस प्रकार की मंदिर-निर्माण की योजना उस शताब्दी के अन्य मंदिरों में दृष्टिगोचर नहीं होती । इस कारण बोधगया मंदिर की विलक्षण कला है, जिसकी निर्माण रीति महाबोधि मंदिर में ही सीमित है ।



चौथा अध्याय

मंदिर-शिखर की विभिन्न शैलियाँ

पिछले पृष्ठों में इस विषय की बार्ता हो चुकी है कि गुप्त युग से ईंट के माध्यम से इमारतें बनने लगी। भारत के सभी भू-भाग में इस सामग्री (ईंट) का प्रयोग होता रहा। उत्तरी भारत के मथुरा तथा सारनाथ में ईसा पूर्व सदियों में भी ईंट की इमारतें बनी, जबकि चुनार के समीप में ही प्रस्तर-खदान वर्तमान था। धर्मराजिका तथा धमेक स्तूप उसके उदाहरण हैं। मध्य भारत में विदिशा के समीप बेसनगर का मंदिर ईंट का ही बना था, जबकि उसी युग में स्तूप के अंड को प्रस्तर से आच्छादित किया गया और काष्ठ की वेदिका का स्थान प्रस्तर ने ले लिया। ग्वालियर का तेली का मंदिर गुप्त-काल का ही है। पश्चिम में गंधार तथा सिंध के क्षेत्रों में ईंट का प्रयोग हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीनकाल से गुप्त युग तक इमारत तैयार करने में पर्याप्त अंश में एकरूपता थी। ईंट का सर्वत्र प्रयोग उम शृंखला की एक कड़ी थी। पश्चिम भारत की सह्याद्रि की गुफाओं के सदृश गुप्तनरेश द्वितीय चंद्रगुप्त ने उदयगिरि में गुहा खूदवायी, परंतु स्थानीय कारणों से उसे कार्य करना पड़ा था। अधिकांश रूप में गुप्त साम्राज्य का प्रभाव सर्वत्र विस्तृत रहा, इस कारण सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीयता की झलक दीख पड़ती है। समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त कर विजित राजाओं को मुक्त कर दिया। सिंहल तक द्वीपवामी उसके प्रभाव में आए। उत्तर में दैवपुत्र शाही नरेशों को परास्त किया। इस प्रकार एक प्रकार के सर्वभौम राज्य की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत में शक्यों को परास्त किया। अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक नरेश से संपन्न किया। अतएव, पिता-पुत्र के प्रभाव तथा शक्ति के संचार के कारण प्रायः उत्तर एवं दक्षिण भारत में राष्ट्रीयता की भावना काम करने लगी। इमारतों को बनावट में अधिक विभिन्नता नहीं थी। ईंट का प्रयोग सब जगह होता रहा। इस प्रकार छठी सदी तक भारत की स्थापत्य कला में अधिक मात्रा में सादृश्यता का अनुभव किया जाता है।

उत्तरी भारत में हर्षवर्द्धन का राज्य वास्तुकला की दृष्टि से कोई विशेष स्थान नहीं रखता। सारा भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। साम्राज्यवाद का सपना भी कोई देख न सका। गुप्तों की धरोहर ज्यों-की-त्यों पड़ी रही। किसी शासक में वैसी क्षमता न रही। राष्ट्रीय चेतना का सर्वत्र अभाव देख पड़ता है। स्थानीय परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न विचारकों ने नई दिशा दी। कला के क्षेत्र में भी आदर्शवाद का सिद्धांत समाप्त प्राय हो गया। इस कारण स्थापत्यकला में स्थानविशेष का प्रभाव दृष्टिगत होता है। सातवीं सदी से सारे भारत में वास्तुकला में नया मोड़ आया। उत्तर, मध्य तथा दक्षिण भारत की कलाकृतियाँ निजी विशेषता सहित उपस्थित की गईं। उन्हीं को शैलियों के नाम से वर्णन किया जाएगा। ये शैलियाँ विशिष्ट स्थान में पल्लवित हुईं। यही कारण है कि शिखर से संबद्ध शैलियों का ही वर्णन किया गया है।

सभी क्षेत्रों के नामकरण में भी विभिन्नता आ गई। अधिक भू-भाग में पवित्रतम स्थल (गर्भगृह) को विमान कहा जाता था। उसके ऊपर शृंङ्गाकार को 'शिखर' कहते हैं। उसे 'मीनार' भी कहा जा सकता है। विमान के भीतरी भाग में इष्टदेव की प्रतिमा स्थापित की जाती है। उस के पूर्वी दिशा में एक प्रवेशद्वार रहता है। इस गर्भगृह के संमुख एक स्तंभसहित मंडप निर्मित है, जहाँ उपासक पूजा निमित्त एकत्रित होते थे। सातवीं सदी से मंदिर निर्धारित (Prescribed) स्वरूप में बनाए गए और शिल्पशास्त्र के आदेशों का कलाकारों ने अक्षरशः पालन किया। शिल्पशास्त्र में स्थापत्य-कला के संबंध में तीन प्रकार के शिखरों का उल्लेख मिलता है—

१. नागर,
२. द्राविड़ तथा
३. वेसर ।

शिल्पशास्त्र में वर्णित शैलियों के समान कोई उदाहरण उपस्थित नहीं किया जा सकता। सभी नाम क्षेत्रीय आधार (भौगोलिक आधार) पर स्थिर हुए। पहली नागर शैली उत्तरी भारत में प्रयुक्त मिलती है। हिमालय से विध्य पर्वतमाला के मध्य भाग में नागर शिखर देख पड़ते हैं। द्राविड़ रीति का प्रयोग द्रविड़ देश (कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक का भाग) में होता रहा। सर्वप्रथम शिखर शैली पर मंदिरों का वर्गीकरण किया गया, किंतु कालांतर में दोनों प्रकार के मंदिरों के मापचित्र तथा ऊँचाई में भी विभेद होता गया। उत्तर में—नागर तथा द्रविड़ देश में प्रचलित द्राविड़ शैली के

अतिरिक्त अस्पष्ट रूप में तीसरी वेसर शैली का उल्लेख मिलता है, जिस रीति का प्रयोग विंध्या तथा कृष्णा नदी के मध्य भू-भाग में किया गया। इस भाग में चालुक्य वंश का राज्य विस्तृत था। अतः, पुरातत्त्ववेत्ता उसे 'चालुक्य शैली' भी कहते हैं। परंतु, यह मिश्रित रीति अधिक समय तक काम न कर सकी। इसमें कुछ अवयव दोनों शैलियों से ग्रहण कर नए मिश्रित नाम (वेसर) से विख्यात हुआ। कई शताब्दियों के पश्चात् इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका। दसवीं सदी के बाद भारत में नागर तथा द्राविड़ मूल्यों को लेकर मंदिर तैयार किए गए। वास्तुशास्त्र में वर्णन आता है कि नागर मंदिर आधार से सर्वोच्च अंश तक चार कोना (चतुष्कोण) है। परंतु, इस प्रकार का उल्लेख (चतुष्कोण) सभी इमारतों के संबंध में प्रस्तुत किया गया है। इस कारण 'नागर शैली' में इन चार-कोण अवयव को ध्यान में रख कर विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। द्राविड़ रीति में आठ-कोण आकार दीख पड़ता है तथा वेसर में गोल आकार। इनके आधार पर उन शैलियों का विशेष मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में पृथक्-पृथक् शैली का प्रत्यक्ष रूप (आकार) देख कर ही उसकी विशेषता बतलायी गई।

इस विषय की चर्चा करने से पूर्व यह जानकारी आवश्यक है कि आठवीं सदी से मंदिर-निर्माण का नया युग (अध्याय) प्रारंभ होता है। यों तो उस इमारत का नाम ही देवालय है, परंतु उस में ताल, आला, शय्याकोष्ठ तथा वेदी बने हैं, जिनमें भक्त देवताओं की छोटी मूर्ति प्रतिष्ठापित करते रहें। इस कारण वह मंदिर देवसमूह का निवास बन गया। मध्य युग में मनुष्यों में धार्मिक एकाग्रता की भावना काम करने लगी और इस कारण वे अपने धर्म-कार्य (मंदिर-निर्माण) में आगे बढ़ने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन में ईश्वरीय चिंतन, ध्यान एवं प्रार्थना को अधिक स्थान दिया गया और मंदिर-निर्माण से यह स्पष्ट हो गया कि भौतिक जीवन में दंभी विचार की प्रमुखता है। आर्य शैली शिखर की उत्पत्ति का धार्मिक स्रोत भी मानते हैं। कोई बौद्ध स्तूप से भी इसके विकास का अनुमान करते हैं। वह अर्द्धगोलाकार से लंबा होता गया और ईसा की प्रथम सहस्राब्दि में शिखर का रूप धारण कर लिया।

बौद्ध स्थापत्यकला को छोड़ कर ब्राह्मण तथा जैन वास्तुकला में विशेष अंतर नहीं है। हिंदू धर्म के दो प्रधान मतों—शैव तथा वैष्णव में तनिक भी भेद नहीं है। केवल शिखर के ऊपरी भाग यानी कलसी पर उनके धार्मिक चिह्न से मंदिर के विषय में विशेष जानकारी हो जाती है। मंदिर में कलस के

स्थान को त्रिशूल ने ले लिया है तथा चक्र की स्थिति से क्रमशः शैब या वैष्णव मंदिर का बोध हो जाता है। इन मंदिरों में बाहन के लिए प्रवेशद्वार के समुख छोटा-सा स्थान सुरक्षित दीख पड़ता है। शिव एवं विष्णु के बाहन होने से गर्भगृह के सामने नदी तथा गरुड़ की आसन मुद्रा में आकृति बनी है। मंदिर का प्रवेशद्वार सदा पूरब दिशा में रहता है। मंदिर की अन्य तीन दिशाओं की दीवाल पर देवतागण की मूर्ति स्थापित हैं।

भारतीय मंदिरों के निर्माता कलाविदो ने एक निश्चित यांजना से कार्य आरम्भ किया था। उन्होंने विस्तृत रूप से सुपरिचित एवं प्रतिष्ठित नियमावली का आश्रय लिया, जिस कारण भारत के कोने-कोने में स्थापत्यकला में सादृश्यता है।

पश्चिम में गुजरात से लेकर पूरब में भुवनेश्वर तक वही पद्धति काम में लायी गई है। उनके मूल में विभेद नहीं है। इस तरह स्थापत्यकला में समन्वय है, जिसे देशज कलाकारों ने कार्यान्वित किया था। देश के सौंदर्य-परक कार्यों में श्रेणीगण (शिल्पी) का विशेष हाथ रहा, जो भारत में प्राचीन समय से ही शिल्प या दस्तकारी के कार्य में लगे रहे। श्रेणी के सदस्य किसी-न-किसी शिल्प में दक्ष होते थे। एक स्थान पर निवास कर उन्होंने किसी शैली को कार्यान्वित किया और कालांतर में वह स्कूल, शैली या पद्धति के नाम से विख्यात हुई। जिस स्थान पर अधिक समय व्यतीत हुआ, वह कला-केंद्र प्रसिद्ध हो गया। यही कारण है कि शिखर के अतिरिक्त खजुराहो, उड़ीसा या द्रविड शैलियों के मंदिरों का निर्माण हुआ।

मंदिर-निर्माण धार्मिक कृत्य होते हुए भी वास्तुशास्त्र को ध्यान में रख कर कलाविदो ने कार्य किया। यों तो मंदिरों की स्थापत्यकला देखने से ज्ञात होता है कि किसी तंत्र-मंत्र या रहस्यमय विचारों का मंदिरों में प्रकटीकरण हुआ है अथवा किसी दैवी शक्ति के द्वारा इसकी रचना हुई है। अधिकतर लोग विश्वकर्मा की कृति मानते हैं, जिसमें सृजनशक्ति विद्यमान है। आज भी कला-कृतियों के प्रसंग में विश्वकर्मा-पूजा विधिवत् मनायी जाती है। इस विचार के कारण भारतीय कलाकार प्राचीन परंपरागत रीति पर अमल करते हैं, विकास के पीछे दौड़ते नहीं। उनकी कृतियों में पृथ्वी के गुणत्वाकर्षण को विवेकपूर्ण ढंग से कार्यान्वित किया गया है। इस विषय को स्थापत्यकला में महत्त्व दिया गया था कि भार का वहन लंबवत् होता है। अतएव, प्रस्तर-पर-प्रस्तर रखने से निर्माण-कार्य सुगम हो जाता है। उसमें संबद्ध

परिमाण को केंद्रित कर निर्माण में सुगमता आ जाती है। इस कार्य में सीमेंट या मूर्खी-चूने का प्रयोग अनावश्यक था। यही जान कर मंदिरों की स्थापत्य-कला में उन साधनों का प्रयोग नहीं मिलता। उसे 'सूखा निर्माण' कह सकते हैं। कभी यह भी देखा गया है कि मंदिर के निश्चित स्थान पर सभी कार्य न होकर प्रस्तर-खदान में ही संगतराश प्रस्तर के टुकड़ों को उपयोगी बनाते हैं, ताकि खदान से निकाल कर प्रस्तर को मंदिर की इमारत में लगा दिया जाए। किसी कारणवश अथवा भूल के कारण किसी प्रस्तर पर पूरी खुदाई न हो पाती तथा असंस्कृत प्रस्तर का मंदिर-निर्माण में उपयोग हो जाता है। भुवनेश्वर के राजारानी मंदिर में इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। इसलिए मंदिर के आकार-प्रकार में तर्क से काम लिया जाता था। देवतागृह की बनावट में धर्मभीरु समाज तथा निर्माता भौतिक विषयों पर ध्यान न देकर इष्टदेव की प्राणप्रतिष्ठा पर अधिक सतर्क रहता है।

उत्तरी भारत के मंदिरों के दो प्रमुख लक्षण हैं। प्रथम उनकी योजना तथा द्वितीय ऊँचाई। छठी शताब्दी के मंदिरों में स्वस्तिकाकार योजना सर्वत्र दीख पड़ती है। इसके अतिरिक्त वक्ररेखीय ऊँचाई को भी एक विशिष्टता माना गया है। भारत के उत्तरी भाग में सर्वत्र इन विशेषताओं सहित मंदिर मध्य युग तक बनते रहे। नागर वास्तुकला में दोनों विशिष्ट बातें सदा दृष्टिगत होती हैं। वर्गाकार योजना के आरंभ होते ही दोनों कोने पर कुछ उभरा भाग प्रकट हो जाता है, जिसे 'अस्त्र' का नाम दिया गया है। इस समूह के (शैली के) प्रमुख मंदिरों में देवगढ़ (झाँसी, उत्तर प्रदेश) का दशावतार, नाचना कुठारा का महादेव मंदिर तथा भितर गाँव (कानपुर) का (ईं टी) के मंदिरों का नमूना उपस्थित किया जा सकता है। इन सब में नागर (आर्य) शिखर का आरंभ दीख पड़ता है। चौड़ी समतल छत से उठते हुए शिखर की प्रधानता है।

दक्षिण भारत के द्राविड़ शैली में विमान के ऊपरी भाग पिरामिड की तरह ऊँचा होता चला जाता है। उसमें शिखर कई मंजिल के है। गर्भगृह की द्राविड़ शैली के शिखर की प्रतिकृति प्रत्येक मंजिल में दीख पड़ती है, बौद्ध स्तूप से ऊपरी आकार का अनुकरण हुआ। उसमें गोली के आकार का शवकक्ष है। इस के कारण यह 'स्तूपी' या 'स्तूपिका' कहलाता है। शिखर, मंजिल के ऊपर मंजिल की बनावट तथा प्रत्येक ऊपरी भाग में केंद्रीय शिखर की छोटी स्तूपी द्राविड़ शैली की विशेषता है। इस शैली की योजना में भीतरी वर्गाकार गर्भगृह को विस्तृत चौकोर अहाते में निर्मित करते थे, जिसकी छत प्रदक्षिणा पथ को ढक लेती है। बाहरी दीवार को स्तंभों से ताक का रूप

दिया जाता है। गुंबदी भाग अर्द्धगोलाकार या रेल के डब्बे के ऊपरी हिस्से के सदृश गोल बनाया गया है। दक्षिण भारत के मंदिरों में लंबे गलियारा तथा विस्तृत स्तंभोयुक्त मंडप द्राविड़ शैली के आवश्यक अंग हैं। कालांतर में मंदिरों को गोपुरम् से भी सज्ज किया गया। कुछ विद्वानों का मत है कि द्राविड़ शैली का मूल कागड़ी घाटी (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त औदुंबर सिक्कों पर उत्कीर्ण कई मंजिल के आकार में देखा जा सकता है। निचली बड़ी मंजिल में ऊपरी आवार घटना जाता है। इस प्रकार मंजिल के बाद मंजिल की इमारत बन जाती है। यदि उत्तरी भारत के कला-नमूनों में द्राविड़ शैली का मूल है, तो भी वह चौथी शताब्दी से पहले का अनुकरण नहीं माना जा सकता। द्राविड़ शैली में विमान का आकार ही केन्द्रक (Nucleus) बन गया। यदि उत्तरी भारत से इसे नकल किया गया और मंजिल वाली इमारत को द्राविड़ शैली में कार्यान्वित किया गया, (जो द्राविड़ भूमि से बाहर है) तो यह विवादास्पद हो जाता है कि किस मार्ग से वह शैली दक्षिण पहुँची तथा उत्तरी भाग में वह आकार-प्रकार त्यज्य क्यों हो गया? उत्तरी भारत के विस्तृत भू-भाग में नगर शैली का वर्णन शिल्पशास्त्र में मिलता है, विष्णु से हिमालय तक के भौगोलिक क्षेत्र में स्थानीय विभिन्नता का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। स्थानीय विभेद का यह अर्थ नहीं है कि मूल स्वरूप में परिवर्तन आ गया अथवा विषय की दृष्टि से उसमें मौलिक लक्षणों का अभाव हो गया। यही कारण है कि भारत के प्राचीन मंदिरों का एक साथ समूह रूप में चित्रण उपस्थित करना कठिन है। भौगोलिक दृष्टि से क्षेत्रीय शैली का वर्णन समीचीन होगा। उनकी विशेषता तथा स्थानीय प्रभाव का लेखा-जोखा सरल हो जाएगा।



उत्तरी भारत या आर्य शिखरयुक्त मंदिर

उत्तरी भारत में सातवीं शताब्दी के पश्चान् स्थापत्यकला शिखर सहित विकसित हुई। अतएव, उसे 'आर्यन शिखर वाले मंदिर' कहना यथार्थ होगा। इस शैली का विस्तार संपूर्ण उत्तरी भारत (उड़ीसा लेकर) में हुआ। यद्यपि अमुक शासक ने मंदिरों का निर्माण कराया था, परंतु उसे (स्थापत्यकला) स्थानीय न मान कर भौगोलिक आधार पर समूह रूप में व्यवहृत किया जाएगा। किसी राजवंश के साथ ही उसका संबंध नहीं है, अपितु उस शैली की लोकप्रियता के कारण पृथक् नामकरण किया गया। उदाहरण के लिए खजुराहों मध्य भारत में छत्तरपुर के समीप स्थित है, परंतु सौ वर्षों (९५०-१०५० ई०) में ही जो वास्तुकला सामने आई, वह स्थायी बन कर 'खजुराहो शैली' नाम से विख्यात हुई। उसी प्रकार उड़ीसा शैली के अनेक मंदिर भुवनेश्वर में निर्मित हुए थे। भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही उनका नामकरण किया गया। उत्तरी भारत के मुख्यतया छह प्रदेशों में आर्यन शिखर का प्रयोग मिलता है। यह सत्य है कि सभी प्रकार के मंदिरों को उत्तरी भारत में संमिलित करते हैं, किंतु सबसे कुछ-न-कुछ स्थानीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण इतिहास में छह विभिन्न शैलियाँ प्रसिद्ध हैं—

- (१) उड़ीसा शैली—पूर्वी भारत समुद्रीय तट पर उड़ीसा (प्राचीन कलिंग) प्रदेश है। इसमें एक स्थान पर मंदिरों का विकास हुआ। विशेषकर भुवनेश्वर नगर में, जिसे 'मंदिरों का नगर' कह सकते हैं।

उड़ीसा शैली के मंदिर समुद्र के किनारे भू-भाग में छह सौ किलोमीटर में विस्तृत हैं। यो तो समीप में पुरी का जगन्नाथ मंदिर तथा कोणार्क के सूर्य-मंदिर का उल्लेख किया जा सकता है—किंतु बंगाल-उड़ीसा तथा बंगाल-बिहार की सीमा पर उसी शैली के मंदिर वर्तमान हैं।

- (२) खजुराहो शैली—एक ही स्थान पर समूह में मंदिरों का निर्माण हुआ। उनका विकास पूर्वी भारत से भिन्न था। अतः, मध्य भारत में जिस आकार-प्रकार को काम में लाया गया, वह आज भी वर्तमान है।
- (३) राजपुताना—उत्तर गुप्तकाल में एक विशेषता लेकर मंदिरों का निर्माण राजपुताना में हुआ था। उनका परीक्षण हमारे सामने नई शैली उपस्थित करता है।
- (४) गुजरात तथा काठियावाड़—राजपुताना से दक्षिण-पश्चिम में एक ऐसी शैली विकसित हुई, जिनकी कला अपनी विशेषता रखती है। मंदिरों के अवशेष से सभी बातें ज्ञात हो जाती हैं।
- (५) ग्वालियर शैली—आर्यन शैली का सबसे दक्षिणी भाग में ग्वालियर दुर्ग में स्थितिवाश कुछ नवीनता लिए मंदिर बने थे।
- (६) वृंदावन तथा मथुरा के मंदिर—इन स्थानों पर जितने मंदिर तैयार हुए थे, उनको एक पृथक् समूह में रखा जाता है।

उड़ीसा शैली

नागर शैली के मंदिरों से मिलता-जुलता उड़ीसा में मंदिर तैयार किए गए, जिसका मुख्य केंद्र भुवनेश्वर है। भुवन के ईश्वर से संबद्ध नगर में इतने अधिक मंदिर तैयार किए गए, जिसका दूसरा उदाहरण नहीं है। यह मंदिरों का नगर है तथा सजातीय इमारती समूह का अद्वितीय केंद्र है। अन्य स्थानों में नागर शिखर के विकास में स्थानीय प्रभाव दीख पड़ता है। उस कारण भुवनेश्वर को छोड़ कर ऐसा कोई नगर नहीं, जहाँ के मंदिरों में समानता है और उड़ीसा का कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं रहा। सातवीं सदी से तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में असंख्य मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें अधिकतर सुरक्षित हैं। इसका कारण यह था कि शासकों ने स्थापत्यकला को प्रोत्साहित किया तथा इस्लाम का प्रवेश न हो सका, जिसके कारण छह शताब्दियों तक मंदिरों का निर्माण अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।

उड़ीसा की नई राजधानी होने के पूर्व भी भुवनेश्वर का इतिहास गौरवमय है। अशोक ने इसके समीप पाँच मील की दूरी पर धौली पर्वत पर धर्मशासन अंकित करवाया था। राज्यारोहण के आठवें वर्ष में उसने कलिंग पर

आक्रमण किया था और इस भू-भाग को जीतकर ही धर्मलेख खुदवाया होगा । अन्य स्थानों पर अशोक के चौदह लेख अंकित हैं । परंतु धौली पहाड़ी पर ११, १२ तथा १३ वें शिलालेखों के स्थान पर अन्य दो लेखों को स्थान दिया गया । अशोक ने (ई० पू० तीसरी सदी) दूसरे पृथक् लेख में तोडली (स्यात् धौली का प्राचीन नाम) के महामात्र को संबोधित करते हुए यह घोषणा की कि समस्त प्रजा मेरी संतान है । भुवनेश्वर को सातवी सदी में क्यों प्रमुखता मिली, यह कहना कठिन है । परंतु, धौली में मठ का निर्माण होता रहा । भुवनेश्वर के समीप शिशुपाल गढ़ की खुदाई से कलिंग नामक नगर की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । वही खारवेल की राजधानी थी । हाथी गुफा लेख में वह 'कलिंगाधिपति' कहा गया है । भुवनेश्वर के समीप में ही उदयगिरि खंडगिरि में खारवेल के गुहालेख मिले हैं । इस प्रकार इसी पूर्व में भुवनेश्वर का भू-भाग प्रमुख स्थान रखता था ।

ईसवी सन् के आरंभ से कुषाण तथा रोमन लोगों का संपर्क बढ़ गया । शिशुपालगढ़ की खुदाई से अनेक बातें ज्ञात हुई हैं । चौथी शताब्दी के बाद गुप्त सम्राटों का वहाँ प्रभाव हो गया । समुद्रगुप्त इस भाग पर विजय करता काँची तक गया था । गुप्त कला शैली का प्रभाव वहाँ से प्राप्त-प्रतिमा समूह में देख पड़ता है । परंतु, स्थापत्यकला में गुप्त शैली के मंदिर अभी तक प्रकाश में नहीं आए हैं । जिस शिखर का उदय गुप्तकाल में हुआ, जिसे शिल्प-शास्त्र में नागर शैली कहा गया है, उसी का विकास उड़ीसा में सातवी शती के बाद हुआ और विशिष्टता के कारण पृथक् नामकरण हुआ—उड़ीसा शैली ।

गौड़ राजा शशांक के विषय में कहा जाता है कि उसने त्रिभुवनेश्वर नामक मंदिर का निर्माण किया था । उस समय पाशुपत मत की प्रधानता थी, जिसके कारण मंदिर-निर्माण में अधिक बल मिला । यों तो पाँचवी शती से ही पाशुपत मत का प्रचार हो गया था, पर सातवी शती के पश्चात् शैव मंदिरों का निर्माण भुवनेश्वर में हुआ । शशांक के अधीनस्थ शैलोद्भव शासकों ने सातवी सदी के प्रथम चरण से मंदिर-निर्माण में हाथ बटाया । इसके बाद भौमवश का शासन अधिक दिनों तक उड़ीसा में रहा । उन्हीं की लंबी अवधि में मंदिर-निर्माण का कार्य अविच्छिन्न रूप में निरंतर चलता रहा । भौमों के उत्तराधिकारी सोमवशी नरेशों ने भी मंदिर का निर्माण कराया । ब्रह्मेश्वर मंदिर के एक लेख से इस बथन की पुष्टि होती है । ग्यारहवी शती से गंग वंश का शासन आरंभ हुआ, जिन्होंने सोमवंश का अंत कर दिया और मंदिर-निर्माण

प्रकट होना है कि भुवनेश्वर में स्वतंत्र रूप से स्थापत्यकला की प्रगति हुई । मंदिरों की योजना तथा बनावट के निरूपण में उड़ीसा के मंदिर विशेष महत्त्व रखते हैं । इस प्रकार के धार्मिक निर्माण परक इमारतों का विशिष्ट नामकरण भी हुआ । निम्नलिखित नामों का उल्लेख उड़ीसा की स्थापत्य कला के निमित्त मिलता है—

१. देवल गर्भगृह जिस मंदिर में केवल गर्भगृह वर्तमान है । शिखर मंडित घनाकार भीतरी कक्ष को देवल या विमान कहते हैं ।
२. गर्भगृह के संमुख प्रकोष्ठ यानी सभा-भवन को जगमोहन कहा गया है ।
३. नट मंदिर (नाट मंडप) नृत्य का स्थान
४. भोग मंडप—रागभोग निमित्त स्थान जो बाद में बनाए गए ।
५. मंदिर का पिण्ड—आधारस्थान, जो जमीन से अधिक ऊँचा नहीं होता ।
६. स्तंभ का अभाव—साधारणतया उड़ीसा के मंदिरों में स्तंभ नहीं बनाए गए थे । किंतु किसी बड़े मंदिर में बोझ को संभालने के लिए इमारत के कोने में चार स्तंभ संयुक्त रूप से भारवाही के रूप में स्थित हैं ।
७. बाहरी अलंकरण की प्रधानता—देवल के भीतरी भाग पूर्णरूपेण सादे प्रस्तर के बने हैं । परंतु मंदिर के बाहरी दोबारों में भलीभाँति गंभीर ढंग से सुन्दर मूर्तियाँ तराशी गई हैं ।
८. गोपनीय आकार-प्रकार—उड़ीसा के मंदिरों में बाह्य अलंकरण में गुह्य विषयों की खुदाई दीख पड़ती है । इनकी रहस्यमय वार्ता का वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा ।
९. मंदिरों के परकोटा—उड़ीसा के मंदिर-लिंगराज तथा जगन्नाथ मंदिर के चारों तरफ ऊँची चतुर्दीवारी (परकोटा) बनी है, जिसमें चार दिशाओं में द्वार बने हैं ।
१०. विमान के चारों भागों (गर्भगृह जगमोहन, नट तथा भोगमंडप) के ऊपरी भाग में गुंबज (शिखर) हैं जो शिखर-युक्त गर्भगृह के आगे क्रमशः छोटे होते चले जाते हैं ।
११. भुवनेश्वर के मंदिरों में खंडगिरि तथा उदयगिरि के खदान से प्रस्तर लाकर प्रयोग किया गया था । चौका प्रस्तर मंदिर में प्रयुक्त है, जिसमें मसाने

1
2
3
4

P

9

4

4

P

4

4

1

7
4

,

1

का अभाव है। सूखे प्रस्तर को पड़ा रखा गया है। एक के ऊपर दूसरे प्रस्तर रखने से भार संतुलित हैं। उनको लोहे के शिकजे से बाँध दिया गया है।

उड़ीसा के मंदिरों का क्रमिक विकास तिथि (काल) क्रम के अनुसार उड़ीसा के मंदिरों को तीन विभागों में बाँटा गया है। उनमें प्रधान मंदिरों की तिथियाँ निम्न प्रकार हैं—

१. ७५० ई०-९०० ई० तक

परशुरामेश्वर—भुवनेश्वर नगर में

२. ९०० ई०--११०० ई० तक

मुक्तेश्वर—भुवनेश्वर

लिगराज—भुवनेश्वर

जगन्नाथ—पुरी

३. ११०० ई०—१२५० ई० तक

अनंत वासुदेव—भुवनेश्वर

राजारानी—भुवनेश्वर

सूर्यमंदिर—कोणार्क

इन मंदिरों के परीक्षण से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम गर्भगृह का निर्माण हुआ था, जो पिष्ट पर तैयार किया गया था। इस प्राचीनतम परंपरा में उड़ीसा के कलाकारों ने देवल के समुख दूसरा प्रकोष्ठ जोड़ दिया, जिसे सभामंडप या जगमोहन कहते हैं। वहीं उपासक एकत्रित होकर पूजा का कार्य संपादित करता है।

मूल योजना में गर्भगृह तथा अन्तराल (जगमोहन) के अंदर का हिस्सा वर्गाकार है, किंतु बाहरी दीवार में कई पुस्तानुमा (Buttress) प्रक्षेपण हर एक तरफ निकला दीख पड़ता है। यदि सभी दीवार के मध्यभाग में प्रक्षेपण है, तो उस स्थिति में प्रत्येक दीवार तीन लंबवत् भाग में विभक्त हो जाती है, जिसे 'रथ' कहते हैं। तीन रथों के कारण वह 'त्रिरथ' नाम से संबोधित किया गया है। इस प्रकार दीवार में प्रक्षेपण की संख्या के आधार पर पंचरथ, सप्तरथ या नवरथ योजना के नाम से विख्यात है। प्रत्येक रथ को कई छोटी फलिकाओं में विभक्त किया गया है। उड़ीसा के स्थानीय कलाकारों ने इन प्रक्षेपणों के कारण विभिन्न नाम से मंदिर के भागों का पृथक्-पृथक् नामकरण किया है, जिस कारण नई शैली चल पड़ी। ऐसा उपविभाग उड़ीसा के प्रायः प्रत्येक मंदिर में दीख पड़ता है। भुवनेश्वर के मंदिरों में

विकास की प्रवृत्ति है। उममें अधिक विस्तरण है। गहरी सूक्ष्मता तथा मंदिरों की ऊँचाई पर स्पष्ट रूप से बल दिया गया है। बाहरी दीवार का प्रचुर अलंकरण मंदिरों की विशेषता है। परशुरामेश्वर मंदिर में जो गर्भगृह की लंबाई तथा मंदिर की संपूर्ण ऊँचाई में १ : ३ का अनुपात है, कालांतर में १ : ४ या १ : ५ हो गया। कोणार्क के सूर्यमंदिर में १ : ७ का अनुपात है। मंदिर का बाहरी भाग प्रचुर मात्रा में खुदा है। बड़ा अलंकरण के गहरे प्रदर्शन से कलाकार की कुशलता स्पष्ट हो जाती है। भुवनेश्वर के मंदिरों में सबसे छोटा आकार मुक्तेश्वर मंदिर का है, जिसकी ऊँचाई ३५ फुट है तथा गर्भगृह साठे सात वर्गफुट है। इसकी सर्वांगीण सुंदरता के कारण मंदिर समूह में ध्वंस्त माना गया है। उड़ीसा में कई मंदिर आकार तथा बनावट में समान रूप से तैयार किए गए थे। ये आठवीं तथा नौवीं शताब्दियों में निर्मित हुए थे। नागर शैली का आरंभ उड़ीसा में इन मंदिरों से प्रकट होता है। आर्य शिखर उत्तरी भारत में विस्तृत हुआ। उसके पश्चात् उड़ीसा में विकास का युग आता है, जब उसमें विवर्धन हुआ। उसमें बुनियादी खाका का विस्तार ही शामिल नहीं है, अपितु ऊँचाई की भी वृद्धि हुई। दीवार को लंबवत् रूप में कई उपविभाग में बाँटा गया और त्रिरथ से नवरथ तक दीवार की योजना में विकास होता रहा। रथ के प्रक्षेपण के साथ-साथ बाहरी दीवार को अंगशिखर से विभूषित करने का क्रम चल पड़ा। इस प्रकार उड़ीसा में शिखरयुक्त मंदिरों का व्यक्तिगत स्वरूप विकसित हो गया। उन पर अंगशिखर के पाँच विभाग दृष्टिगत होते हैं। सबसे ऊपर गजसिंह की आकृतियाँ बनी हैं। उड़ीसा के मंदिरों में रेखा की बनावट निजी विशेषता रखती है। जो कटान या रेखा बुनियादी आकार में आरंभ होती है, वह सीधे लंबवत् पर्याप्त ऊँचाई तक चली जाती है। शिखा के समीप उममें मुस्पष्ट वक्रता आ जाती है। उड़ीसा में यह लक्षण दसवीं शती से आरंभ हुआ था।

भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मंदिर में (ई० स० ७५०) यही दो विभाग निर्मित हैं। अतएव, भुवनेश्वर के मंदिर का श्रीगणेश परशुरामेश्वर से हुआ, जिसका गर्भगृह २० फुट चौड़ा है। दोनों भागों की लंबाई ४८ फुट है, जबकि देवल का शिखर ही ४४ फुट ऊँचा है। इस मंदिर का गर्भगृह चौकोर है, किंतु जगमोहन में दो पंक्तियों में तीन-तीन स्तंभ दीख पड़ते हैं। उनके कारण सारा भाग मध्य बीधी तथा पार्श्व बीधी में बँट गया है। स्तंभ ऊपरी प्रा०—१५

बोझ को सँभाल रहे हैं। परशुरामेश्वर मंदिर की भीतरी दीवार सादी है तथा बाहरी भाग जटिल रूप से भली-भाँति अलंकृत हैं। गर्भगृह तथा जगमोहन की स्थिति पृथक्-पृथक् समझी जाती है; क्योंकि दोनों भागों को एक साथ तैयार नहीं किया गया था। देवल में गर्भगृह सर्वप्रथम निर्मित हुआ। तत्पश्चात् जगमोहन की बारी आई। गर्भगृह तथा जगमोहन के ग्रंथिस्थान पर कुछ अंतर दृष्टिगत होता है, जो पृथक्ता का द्योतक है। इसीलिए दोनों की निर्माण-तिथियाँ विभिन्न मानी गई हैं।

इस निर्णय पर पहुँचने का एक यह भी कारण है कि दोनों भागों को समुचित रीति से जोड़ा नहीं गया है। यदि दोनों का निर्माण एक साथ ही हुआ, तो भेद के लिए कोई स्थान नहीं। दोनों में अनियमित रूप से जोड़ है। जगमोहन के बाहरी भाग पर जो खुदाई हुई है, वह गर्भगृह से भिन्न है। शैली तथा मूल विचार ही भिन्न-भिन्न हैं। कुछ खुदे चित्रों में विशेष कलात्मक गुण विद्यमान हैं।

परशुरामेश्वर मंदिर के प्रारंभिक निर्माण का एक यह भी प्रमाण है कि इमारत के निर्माण में बड़े प्रस्तर के टुकड़े का प्रयोग किया गया है। प्रस्तर के कोर को इस प्रकार गुंथा गया था जिसमें सीमेन्ट, मसाले या गारे की आवश्यकता न रही। इस मंदिर के अर्द्ध स्तंभ पर गुप्तकालीन स्तंभों का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ विद्वान अयहोल की चालुक्य इमारत से भी इसे प्रभावित समझते हैं। यानी भुवनेश्वर की प्रारंभिक अवस्था में उत्तर तथा दक्षिण भारतीय स्थापत्यकला का समिश्रण प्रतीत होता है। यह कह सकते हैं कि परशुरामेश्वर मंदिर उड़ीसा के मंदिरों का प्रतिनिधित्व करता है।

उड़ीसा के मध्य युग में दो प्रमुख गौरवमय मंदिरों का निर्माण हुआ था—

(१) भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर और

(२) पुरी का जगन्नाथ मंदिर।

भुवनेश्वर का लिंगराज भारत के मंदिर-निर्माण के इतिहास में श्रेष्ठ माना जा सकता है। यों तो लिंगराज उड़ीसा का प्रमुख मंदिर है तथा उड़ीसा शैली का सर्वोत्कृष्ट जीवित उदाहरण है। परंतु पूर्ण विकसित होने के कारण इसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। लिंगराज मंदिर ५२० फुट × ४६५ फुट क्षेत्रफल में विस्तृत परकोटे से घिरा है। इस घेरे के मध्य में लिंगराज मंदिर स्थित है तथा अन्य प्रतिकृतियाँ चारों ओर फैली हैं। इसके अवलोकन से बौद्धस्तूप तथा पूजास्तूप की याद आ जाती है। लिंगराज में

उड़ीसा मंदिर के चारों भागों का विकास स्पष्ट प्रकट होता है। (१) देवल या श्रीमंदिर या विमान यानी गर्भगृह (२) स्तंभयुक्त मंडल अथवा जगमोहन (३) नटमंडप (नृत्य का स्थान) तथा (४) भोगमंडप। इन चारों भागों को एक सीध तथा पंक्ति में बनाया गया है। पिछले दो मंडपों का निर्माण कालांतर में हुआ और इस कारण जगमोहन की पूरब दिशा में प्रवेश द्वार बना था। सबसे प्रभावोत्पादक श्रीमंदिर की मीनार है, जो पूरे नगर से दृष्टिगत होती है। मीनार का आधार एक किनारे पर ५६ फुट लंबा है। ५० फुट की ऊँचाई के बाद मीनार की परिरेखा, जो लंबवत् थी, भीतर झुकी दीख पड़ती है। उसकी ऊँचाई भूमितल से १६० फुट है। मीनार के ऊपरी भाग को आमलक शिला, कलश तथा ध्वज के आकार में विभक्त पाते हैं। लिंगराज में भगवान् शिव का त्रिशूल वर्तमान है। मीनार के मध्य भाग में ऐसी कटान है, जो बाहरी दीवार में ताख बना देती है। उस कोटरिका में सुंदर आकृतियाँ बनी दृष्टिगोचर होती हैं। चारो दिशाओं में सबसे ऊपरी प्रक्षेपण पर गजसिंह की आकृति है।

लिंगराज मंदिर में विमान के साथ ही जगमोहन तैयार किया गया। वह वर्गाकार न होकर आयनाकार निर्मित किया गया और ७२×५६ वर्गफुट के क्षेत्रफल में विस्तीर्ण है। यह ३४ फुट ऊँचा है और उसकी मीनार में ताख तथा खाँचा का समूह बनाया गया है। जगमोहन की मीनार १०० फुट ऊँची है। नट तथा भोगमंडपों को कालांतर में मंदिर के स्थापत्य में इस प्रकार जोड़ा गया है कि जगमोहन की बनावट से पृथक् नहीं प्रतीत होता। इस विषय की चर्चा की जा चुकी है कि उड़ीसा शैली में मंदिरों की भीतरी दीवार सादी तथा अनलंकृत होती है। प्रत्येक मंडप में चार स्तंभ वर्तमान हैं, जो ऊपरी बोझ को संभाल रहे हैं। सभी दीवार से समान अलंकार रहित नहीं है, किंतु खुदे हैं। बाहरी दीवार पर गोपनीय शृंगारिक दृश्यों का प्रदर्शन है। इसे देखते आश्चर्य होता है कि कलाकार ने जिस पवित्र भावना के साथ भीतरी अंश को आडंबरहीन बनाया तथा आदर्श लप में संयम रख सके उन्होंने बाहरी भाग को क्यों कर सुनियोजित रूप में खोदा? तक्षण कला की प्रचुर तथा भव्य दृश्य देख कर भी मीनार के शीर्ष पर स्थित प्रस्तर आकर्षक हो जाता है। इस प्रकार लिंगराज मंदिर का गौरवमय आकार-प्रकार दर्शनीय है। यह उड़ीसा शैली के प्रौढ़ मंदिरों का श्रेष्ठतम उदाहरण है। कुमारस्वामी ने लिंगराज की तिथि ई० स० १००० मानी है। भुवनेश्वर नगर आठ हजार मंदिरों से घिरा था। वर्तमान समय में भी पाँच सौ

मंदिर अच्छी या बुरी दशा में स्थित है। लिंगराज का गौरव तथा विशिष्टता अद्वितीय है। किंतु उड़ीसा के अन्य मंदिर भी वैसी बनावट रखते हैं। उसकी श्रेष्ठता की समता नहीं कर सकते। भुवनेश्वर से छप्पन किलोमीटर दूर हिंदू जनता के प्रधान तीर्थस्थान पुरी में भी भगवान् जगन्नाथ का मंदिर स्थित है। लिंगराज की तरह विस्तीर्ण तथा चारों तत्त्वों सहित जगन्नाथ का मंदिर बनाया गया था, जो परकोटा से चारों ओर घिरा है। उसके चारकोने घेरे में दो चहारदीवारी मौजूद हैं, जिनके प्रत्येक दिशा में बड़े-बड़े द्वार बने हैं। पूर्वी मार्ग-द्वार के सामने अरुण स्तंभ खड़ा है। जगन्नाथ का मंदिर लिंगराज के समान मध्य युग में निर्मित हुआ, जिसकी योजना सर्वथा मिलती-जुलती है। यद्यपि पुरी का मंदिर प्रभावोत्पादक है, विशाल स्वरूप वाला तथा परम पवित्र है, तो भी महिमा में लिंगराज में घट कर है। जगन्नाथ मंदिर के चारों भागों की संमिलित लंबाई ३१० फुट तथा चौड़ाई ८० फुट है। मीनार २०० फुट ऊँचा है। स्थापत्यकला की दृष्टि से भुवनेश्वर का लिंगराज जगन्नाथ से अधिक गरिमामय है। जगन्नाथ मंदिर के ४४० × ३१० वर्गफुट के घेरे में छोटी रूपरेखा वाले अनेक मंदिर बने हैं। पुरी में ये छोटे मंदिर ऊँची सतह पर निर्मित हैं।

अनंत वासुदेव के अतिरिक्त जगन्नाथ भी वैष्णव मंदिर है, जिसमें कृष्ण, बलराम एवं सुभद्रा की काष्ठ-प्रतिमाएँ स्थापित की गई हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये बौद्धमत के त्रिरत्न के द्योतक हैं। छोटे मंदिर के प्रधान स्तूप के समीप पूजा स्तूप का स्थान ले सकते हैं। मंदिर की दीवारों में विष्णु के अन्य अवतारों की प्रतिमाएँ हैं। नरसिंह मूर्ति के प्रतिमा प्रस्तर पर ऊपरी भाग में पाँच ध्यानी बुद्ध की मूर्तियाँ खुदी हैं। इसी प्रकार वराह-प्रतिमा के शिरोभाग पर दो ध्यानी बुद्ध दीख पड़ते हैं। विष्णु की प्रतिमा भी वरद मुद्रा में है। वैष्णव प्रतिमाओं में मुद्रा का अभाव रहता है। अतः इनके परीक्षण से यह सुझाव रखा जा सकता है कि मूल बौद्ध मंदिर को तेरहवीं सदी में वैष्णव मंदिर में परिवर्तित कर दिया गया। किन्तु कोई अन्य सबल प्रमाण नहीं है।

ग्यारहवीं सदी के बाद भुवनेश्वर के अन्य प्रधान मंदिरों में मुक्तेश्वर भी प्रसिद्ध है। इसके परीक्षण से उड़ीसा शैली की स्थापत्यकला के विकसित स्वरूप का ज्ञान होता है। इसकी योजना वंचरथ रीति पर तैयार की गई थी। यह परशुरामेश्वर मंदिर के समीप ही में सिद्धारण्य नामक स्थान

पर स्थित है। मुक्तेश्वर मंदिर के समीप तोरण है, जिसमें दो अलंकृत स्तंभ हैं। जिसका आधार चौकोर है, पर ऊपरी भाग सोलह कोण का है। शिखर पर आमलक दीख पड़ता है। यह मंदिर नीची कुरसी पर निर्मित है। जगमोहन उड़ीसा के पीढ़ा देवल की विशेषता रखता है। गुंबज में कई कतारें हैं, जो क्रमशः घटती जाती हैं। सबसे ऊपर पवित्र कलश का स्वरूप है, जहाँ सिंह की आकृतियाँ बनी हैं। तक्षण कला के प्रसंग में भी यहाँ विकास दीख पड़ता है। केतु को नवग्रह में संमिलित करना, कार्तिकेय तथा गणेश से क्रमशः मुर्गे एवं चूहे (के वाहन) का मेल इस मंदिर की विशेषता है।

उड़ीसा मंदिरों की विकास-शृंखला में भुवनेश्वर के सिद्धेश्वर, केदारेश्वर तथा ब्रह्मेश्वर मंदिरों के नाम लिए जाते हैं। सिद्धारण्य के समीप में प्रथम दोनों मंदिर मध्यम ऊँचाई रखते हैं। मुक्तेश्वर के सदृश सभी योजना में पंचरथ स्वरूप के साथ निर्मित हुए। कुरसी से ही रेखा आकार को लेकर आरंभ हुए तथा प्रत्येक राहापग (प्रत्येक दीवार के सामने का प्रक्षेपण) से संलग्न गजसिंह की आकृतियाँ हैं, जो पिछली उड़ीसा शैली के गुण को प्रकट करता है। परशुरामेश्वर तथा मुक्तेश्वर में गजसिंह का अभाव है। सिद्धेश्वर एवं केदारेश्वर मंदिरों की चारों दीवारों पर गजसिंह की आकृतियाँ बनाई गई हैं। धार्मिक भावना से संबद्ध पूजा में कलश (पूर्णघट) की पवित्रता मान कर शिखर के ऊपरी अंश पर कलश का आकार स्थिर किया गया था।

ब्रह्मेश्वर मंदिर सिद्धेश्वर एवं केदारेश्वर समूह से भिन्न है। अभिलेख के आधार पर पता चलता है कि यह ग्यारहवीं सदी में निर्मित हुआ। इसमें पंचायन समूह का आकार वर्तमान है। पहले के मंदिरों से ब्रह्मेश्वर में विकसित रूप देखते हैं। इसकी दीवार के किनारे गोलाकार होने से सुंदर दीख पड़ते हैं तथा रेखा नीचे से क्षीर्ण भाग तक सीधी चली जाती है। इसकी परिरेखा भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर से मिलती-जुलती है। जगमोहन की भी बनावट सुंदर है। अन्य उड़ीसा मंदिरों की तरह सबसे ऊपर आमलक शिला वर्तमान है।

तीसरे समूह के अंतिम उल्लेखनीय मंदिर 'राजारानी' के नाम से प्रसिद्ध है। उड़ीसा के अन्य मंदिरों से यह असाधारण बनावट रखता है। मंदिर पीले बासुदार प्रस्तर का बना है, जिसे 'राज्जानिआ' कहते हैं। इसी कारण यह राजारानी नाम से विख्यात हो गया। भुवनेश्वर के अन्य मंदिर-समूहों से

राजारानी मंदिरों की बन घट में विकसित स्वरूप देखते हैं। सामारण समाकृति में गर्भगृह वर्णिकार बना है, परंतु कई प्रक्षेपण के कारण बाहरी आकार गोल हो गया है। उड़ीसा के अन्य मंदिरों से ऊँचे घरातल पर यह निर्मित है, जो उड़ीसाशैली से भिन्न है। मीनार से शिखर की प्रतिकृतियाँ भी संबद्ध हैं। मंदिर की दीवार प्रचुर मात्रा में सुंदर रीति से अलंकृत है। अगशिखर को ध्यान में रख कर मध्य भारत के खजुराहो शिखर के समान राजारानी का रूप हो जाता है। मंदिर की बाहरी दीवार नागकन्या, वृक्षिका, शालभजिजा, मिथुन आदि की आकृतियों से अलंकृत है।

उड़ीसा की स्थापत्यकला की सबसे बड़ी उपलब्धि कोणार्क का सूर्यमंदिर है। यह शब्द कोण + अर्क से बना है, जिसका भाव है—कोण पर सूर्यमंदिर। यह संभव है कि सूर्य की किरणें इस स्थान पर पहुँच कर दक्षिणायन हो जाती हों। इस कारण उस स्थान का कोणार्क नाम पड़ा। परंतु, भौगोलिक स्थिति ऐसी नहीं है। वर्क रेखा इस स्थान के उत्तरी भाग से गुजरती है। यह स्थान कर्क रेखा पर स्थित भी नहीं है। यही पुरी से ३२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह मंदिर नरसिंह देव प्रथम (तेरहवीं सदी) के शासनकाल में निर्मित हुआ था। मंदिर के भग्नावशेष में ही संतोष करना पड़ता है। वर्षा के कारण काला होते जाने से इसे लोग 'काला पगोडा' कहते हैं। कोणार्क सूर्य-रथ के आकार को ध्यान में रखकर तैयार किया गया था, जिसकी बुनियाद में सात अलंकृत घड़े रथ खींचते-से ज्ञात होते हैं। मंदिर ऊँचे घरातल (जगती) पर खड़ा है, जिसमें दस फुट ऊँचे अलंकृत बारह पहिए दिखायी पड़ते हैं। उसका घुरा ११ ई. च तथा सोलह डंडों का वह पहिया है। यहाँ उड़ीसा शैली के चारों (देवल, जगमोहन, नट एवं भोग) आकार बने थे, परंतु वर्तमान समय में सबद्ध दीख नहीं पड़ते। संपूर्ण इमारत ८६५ फुट लंबे तथा ५४० फुट चौड़े प्रागण में बनी है। पूरब दिशा से मंदिर में प्रवेश करते हैं। देवल तथा जगमोहन ऊँचे चबूतरे पर स्थित हैं। इसका पूरा आकार पहिये सहित प्रचुर मात्रा में अलंकृत है। छोटी सीमा में इतना गंभीर अलंकरण आश्चर्य का विषय है। चारों दिशाओं में केंद्रीय रथ के अनेक प्रक्षेपण बने हैं। मीनार के भग्न हो जाने से इसकी गरिमा नष्ट हो गई है। जगमोहन के ऊपरी भाग में पिरामिड ऐसा छत तीन आकार सहित निर्मित है। गुंबज के साथ विशाल आमलक शिला दीख पड़ती है। मीनार से संबद्ध प्रभंजर जमीन पर गिरे पड़े हैं। इसके मूल रूप को ध्यान में रख कर यही कहना पड़ता है कि किसी प्रतिभावान कलाकार ने इसकी योजना बनायी होगी।

इसके स्थापत्य में पिछले सैकड़ों वर्षों के अनुभव का उपयोग किया गया होगा। इसलिए इसके प्रत्येक आकार में सामंजस्य तथा मेल है। सभी एक साथ बंधे हैं। बरातल से देवल की मीनार २२५ फुट ऊँची रही होगी। मंदिर की बुनियाद में दो छोटे मंदिरनुमा आकार हैं। गर्भगृह में मानवीय आकार की काले प्रस्तर की सूर्य-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसके विशाल बाह्य भाग में मानव तथा पशुओं की आकृतियाँ खुदी हैं। शिल्पियों ने लोककथाओं का खूब प्रयोग किया है।

यद्यपि इस स्थान पर उड़ीसा के मंदिरों के बाह्य भागों पर खुदी आकृतियों का विवरण उपस्थित किया जा रहा है, किंतु यह उड़ीसा-मंदिरों पर रीति उड़ीसा शैली में सीमित नहीं। मध्य युग के शृंगारिक प्रदर्शन भारतीय मंदिरों में शृंगारिक मूर्तियों की बहुलता देख पड़ती है। बाह्य दीवारों पर दो प्रकार की खुदाई की गई है—

१. धार्मिक भावना से प्रेरित होकर कलाकार भगवान् के विभिन्न रूपों या स्वरूपों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण करता रहा।

२. सासारिक प्रकरण को लेकर ऐसी आकृतियाँ बनायी जाती, जो अधार्मिक होते हुए भी विषय-वस्तु से बहुत दूर थी।

इनके देखने से पता चलता है कि कई शताब्दियों के अनुभव द्वारा उनकी खुदाई हुई, जिसमें तत्कालीन मानव-जीवन की बातें उत्कीर्ण रहे। इसमें व्यक्तिविशेष से कोई संबंध नहीं था, बरन् सामूहिक जीवन का प्रदर्शन था। उस प्रसंग में यह नहीं कहा जा सकता कि धार्मिक विषय या मूर्ति-संबंधी कला परिपक्व थी और उच्च कोटि की थी, अपितु सासारिक विषयों पर उसी श्रेणी तथा कलात्मक रीति से कार्य किया जाता था। इसमें कलाकार के निजी जीवन से कोई संबंध नहीं था।

मंदिरों की बाह्य दीवार पर उत्कीर्ण आकार या चित्र नाना विषयों के परिचायक थे। उनमें ऐतिहासिक विषय, कथानक, वर्णनात्मक, संगीत प्रदर्शन विभिन्न दशा एवं शृंगार में व्यस्त मिथुन तथा गृहस्थ जीवन की झाँकी देने वाले विषय खुदे हैं। दिक्पाल तथा मिथुन जोड़ा को अधिक स्थान दिया गया है। मंदिरों की बाह्य खुदाई के देखने से प्रकट होता है कि आकृतियाँ संपूर्ण मंदिर के दीवार पर फैली हैं।

उड़ीसा शैली के मंदिरों की बाह्य दीवार पर खुदे आकार कलाकार के मस्तिष्क के विचारों को व्यक्त करते हैं। दीवारों पर ताख या गहरे स्थान पर

मूर्तियों को खोदा गया है, जो मंदिर के अंग सदृश हैं। यदि सूक्ष्म तौर पर विचार किया जाए, तो यह कहना यथार्थ होगा कि भारतीय कला में मिथुन का जोड़ा वर्जित न था। यह सोचा न करते कि कामवासना से मनुष्य में शक्ति का संचार होता है। धार्मिक साधना तथा आध्यात्मिक जीवन में कामासक्त विचार के लिए प्रमुख स्थान न था। यो तो एलोरा में शिव-पार्वती आलिंगन मुद्रा में प्रदर्शित हैं। मिथुन-भावना को साधारण जीवन में सदा स्थान दिया गया है। अतः, इसके पीछे कोई रहस्य या गोपनीयता के विचार बलवान नहीं थे। उड़ीसा जैली के मंदिर की बाह्य दीवारों पर कामशास्त्र में वर्णित कामासक्त तथा शृंगारिक अथवा विविध भाँति के सभावित यौन-कर्मों का प्रदर्शन लिंगराज, जगन्नाथ तथा कोणार्क के मंदिरों में देखे जा सकते हैं। इसमें कला के कौशल का प्रश्न नहीं है, वरन् कलाकारों के मस्तिष्क की उपज है। उनके अवलोकन से प्रकट होता है कि यौन-कर्मों में मिथुनयुग्म सर्वथा लीन नहीं है। उसके पीछे कोई शरारत नहीं दीख पड़ती, अन्यथा उनमें कर्म के प्रति अनुराग या आसक्ति नहीं है। इस तरह के अश्लील प्रदर्शनों के तीन कारण हो सकते हैं—

- १ तंत्रमत का प्रभाव,
- २ मिथुनयुग्म का सर्वोपरि स्थान और
३. उपासकों को उपदेश।

मध्य युग में तंत्रयान या मंत्रयान का प्रसार पूर्वी भारत में हो गया था। तंत्र मार्ग में शक्ति-पुरुष के मेल को महामुख कहते रहे। कामासक्त प्रदर्शनों में यह विचार काम करता रहा, जो कलाकार की आसक्ति का परिचायक था। अंतिम सुझाव रखा गया है कि उपासकों को यह प्रदर्शन उपदेश करता था कि बाह्य जगत में अपवित्रता एवं अश्लीलता है। इन्हें त्याग कर ही भगवान के दर्शन से कल्याण होगा। यही विचार सर्वोत्तम प्रकट होता है।

मध्य भारतीय अथवा खजुराहो शैली

मध्य युग में खजुराहो चंदेल राजाओं की राजधानी रही। यह मध्यप्रदेश के छत्तरपुर से चालीस किलोमीटर तथा महोबा से छप्पन किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। खजुराहो नाम के विषय में विभिन्न मत हैं। कहा जाता है कि महल के द्वार के दोनों पार्श्व में खजूर के वृक्ष थे। एक अभिलेख (गंगदेव शिलालेख) में खजूर वाहक नाम का उल्लेख है। मुसलमान लेखक अलबेखनी

ने इसे खजुराह लिखा है तथा इब्नबतूता ने खजुराहो के नाम से इसका उल्लेख किया है। इसी नाम के सागर के किनारे छोटा-सा ग्राम था, जो मंदिर-समूह के कारण संसार में विख्यात है। बुंदेलखंड के जेजाक भुविन के शासक चंदेल नाम से विख्यात थे, जिनका राज्य नवी से तेरहवीं सदी तक विस्तृत रहा। दसवीं सदी के मध्य में चंदेल शासन प्रभावशाली एवं शक्तिशाली हो गया। खजुराहो के लेख में वर्णन आता है कि यशोवर्मन ने कालिंजर को जीत लिया तथा एक विशाल विष्णु मंदिर बनवाया। उसका पुत्र धंग (९५०-१००२ ई०) बड़ा ही प्रतापी योद्धा था। खजुराहो लेख में उसकी उपलब्धियों का वर्णन मिलता है। उसने गुर्जर प्रतिहार शासक को परास्त किया। खजुराहो के अनेक मंदिरों के निर्माण का श्रेय धंग को ही है। उसके पौत्र विद्याधर को मुसलमान लेखकों ने महाशक्तिशाली शासक कहा है। ई० स० १०२२ के समीप महमूद के आक्रमण से विद्याधर को झुकना पड़ा और उसी समय से खजुराहो का महत्व जाता रहा। चंदेल नरेशों ने महोवा, अजगढ़ तथा कालिंजर को केंद्र बना कर युद्ध किया था।

चंदेलनरेश शैवमत के अनुयायी थे, किंतु किसी अन्य धर्म के विरोधी नहीं थे। अतः वैष्णव तथा जैन मंदिर भी खजुराहो में निर्मित हुए थे।

मध्य प्रदेश के छत्तरपुर में स्थित खजुराहो के मंदिर नागर वास्तु शैली के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। चंदेल राजा महान् निर्माता तथा कला के आश्रयदाता थे। खजुराहो के समस्त मंदिरों का निर्माण ई० स० ९५०-१०५० के मध्य हुआ था। ये मंदिर आर्य शिखर शैली के गौरवमय उदाहरण उद्दिश्यित करते हैं।

मध्य प्रदेश शिखर मंदिरों का केंद्रस्थल रहा है और यहाँ मध्य युग से सोलहवीं सदी तक आर्य शिखर सहित मंदिरों का निर्माण हुआ था। यद्यपि उड़ीसा शैली में भी आर्य शिखर वाले मंदिर बने थे, किंतु मध्य प्रदेश के मंदिरों में सार्थक रूप में अनेकरूपा दृष्टिगत होती है। इसी प्रदेश में स्थित ग्वालियर तथा नाचना कुथारा के शिखरयुक्त मंदिरों का उल्लेख किया गया है। उसी प्रसंग में इस अवधि के प्राचीन मंदिरों में रोवा के समीप महादेव वैद्यनाथ का उल्लेख किया जा सकता है। इन मंदिरों में प्रारंभिक अवस्था के शिखर वर्तमान थे, जो भग्नावस्था में पड़े हैं। मध्य भारत के प्रायः मंदिर पंचरथ बनावट के हैं। उड़ीसा के असमान खजुराहो मंदिरों का निर्माण अल्पकाल में ही हुआ था।

खजुराहो के मंदिरों की निजी विशेषता है। स्थापत्यकला की दृष्टि से इस शैली में निम्नलिखित गुण वर्तमान हैं—

(१) परकोटा का अभाव—खजुराहो शैली के मंदिर घेरा में बने नहीं थे।

(२) ऊँचे प्रस्तर का चबूतरा—प्रत्येक मंदिर का निर्माण ठोस प्रस्तर के सीढ़ीदार चबूतरे पर हुआ था। पूजानिमित्त उस सीढ़ी से मंदिर तक सरलतापूर्वक पहुँच जाते हैं। इसके देखने से प्रतीत होता है कि मंदिर का कोई भाग पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, बल्कि सभी एक साथ बँधे हैं। एक दूसरे से ओत-प्रोत होने के कारण सुसहज वास्तु का रूप ले लेते हैं।

(३) मंदिर का कोई भाग बहुत ऊँचा नहीं है। सौ फीट से नीचे ही ऊँचाई है।

(४) मंदिर तीन भागों में बँटा है—

(अ) गर्भगृह

(ब) मंडप—उभयमंडप (वर्गाकार है) स्तम्भयुक्त है।

(स) अर्द्धमंडप—प्रवेश बरामदा, जो चारकोना है।

(५) गर्भगृह के समीप गलियारा को अंतराल कहते हैं, जो इसे मंडप से जोड़ता है।

(६) विकसित मंदिरों में गर्भगृह के चारों तरफ प्रदक्षिणापथ का स्थान सुरक्षित है तथा बाजू के भाग को महामंडप कहते हैं। यानी प्रदक्षिणापथ से संयुक्त महामंडप है। इसमें खिड़कियाँ खुलती हैं।

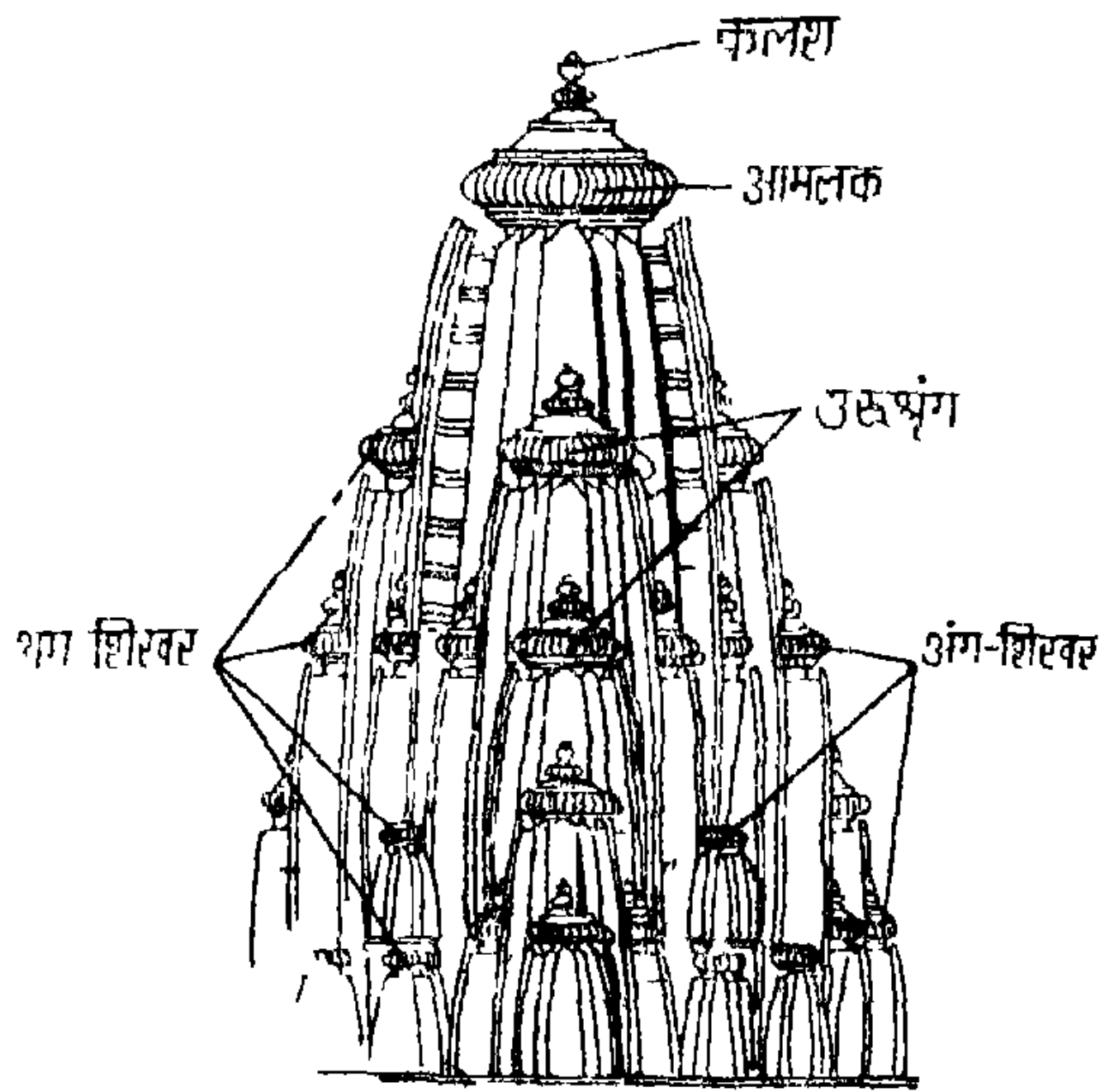
(७) खजुराहो के मंदिरों में अर्द्धमंडप से गर्भगृह ऊँचा होता चला गया है यानी ऊँचा उठने का क्रम निश्चित कर दिया गया है।

(८) खजुराहो समूह के मंदिरों का बाह्य अलंकरण चारों तरफ बाहरी दीवार के ताख या खोल में जहाँ मोड़ या उभार दीख पड़ता है, मनुष्य के अर्द्ध आकार में चित्रवल्ली, उत्कीर्ण हैं। उस चित्रवल्ली में मानव की शोभा-यात्रा दीख पड़ती है, जिसका अंत अज्ञात है। मंदिर के अंतर्भागों की बाह्य दीवारों में गवाक्ष हैं और उनके मूर्तियों की समानांतर पवित्याँ उत्कीर्ण हैं। उनके देखने से कला की पराकाष्ठा मालूम पड़ती है। खजुराहो के कंशरिया महादेव मंदिर की दीवार पर साढ़े छह सौ आकृतियाँ अथवा मिथुन युग्म बनाए गए हैं।

(९) प्रत्येक भाग के ऊपर मीनार है, अर्द्ध मंडप पर छोटा जो क्रमशः ऊँचा होता चला जाता है।

(१०) उरुशृंग की बनावट—गर्भमूह की मीनार पर चारों तरफ शिखर-नुमा आकार को उरुशृंग कहते हैं। मंदिर शिखर के निचले भाग से शिखर-नुमा आकार (अंगशिखर) आरंभ होकर ऊपर उठता है और दूसरे उरुशृंग के स्थान तक समाप्त हो जाता है। यह बनावट चारों तरफ मुख्य मीनार के दीवार से जुड़ी रहती है। अंगशिखर की बहुलता ही खजुराहो शैली की विशेषता है। सभी सहसंबद्ध हैं।

खजुराहो मंदिर का शिखर



(११) मंदिर की पूरव दिशा में प्रवेश द्वार—इस द्वार तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं, जो धरातल से ऊँचाई पर स्थित हैं।

(१२) गुलाबी या मटियाले रंग के प्रस्तर—खजुराहो के समीप चालीस किलोमीटर पर स्थित पन्ना की खदान से गुलाबी या हल्के-पीले रंग के प्रस्तर सुलभ हैं, जिनका प्रयोग मंदिर-निर्माण में किया गया है।

(१३) खजुराहो समूह की अंतस्थ दीवारों की खुदाई—खजुराहो शैली के मंदिरों की आंतरिक दीवार प्रचुर मात्रा में खुदी हैं।

(१४) शिखर पर आमलक, उस पर स्तूपिका और कलश सभी मंदिरों पर बनाए गए हैं।

(१५) खजुराहो मंदिरों में मंडप २५ वर्ग फुट में विस्तृत है, परंतु इस छोटे भाग में ऊपरी छत को सभालने के लिए स्तंभ खड़े किए गए हैं। चार स्तंभ पर प्रस्तर को सहतीर द्वारा संपूर्ण बोझ को उठाया गया है। स्तंभ के निचे पर विरूप वामन-आकृतियाँ हैं। ऐसा लगता है कि वे छत को सहारा दे रही हैं। खजुराहो समूह यानी आर्य शिखर के स्तंभों के अलंकरण में विकृत रूप वाले वामन तथा शार्दूल की विशेष स्थिति पायी जाती है। उसके निचले भाग में स्त्रियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जो आकर्षक तथा अतीव सुंदर हैं एवं नृत्य की मुद्रा में प्रकट होती हैं। मंदिरों की भीतरी छतें भी चमत्कारपूर्ण ढंग से सुशोभित हैं। ब्राउन का मत है कि दूसरे कलाकार ने ही भीतरी छत का अलंकरण किया होगा। स्वागत्यकला की दृष्टि से मंदिर के भीतरी प्रस्तरों की पृथक् खुदाई की गई, तत्पश्चात् निर्माण करते समय उन्हें समुचित स्थान पर ठीक-ठीक बैठा दिया गया। इसी प्रकार मंदिर के प्रत्येक टुकड़े को अलग ही सुसंस्कृत कर सुसज्जित किया गया और समयानुकूल उन्हें उठा कर उचित जगह पर जोड़ दिया गया। इस प्रकार मंदिर के भीतरी भाग का अलंकरण संपन्न किया गया था। सभी बातों पर विचार करने से प्रकट होता है कि ऐसी जटिल परिकल्पना में धीरता के साथ तथा चतुराई से प्रस्तर की खुदाई संधारण बात न थी। मंदिर के भीतर अंधकारमय स्थिति से समस्या और उलझती रही, तो भी भारतीय कलाकारों ने कमाल दिखाया।

खजुराहो के बिखरे ग्रामीण क्षेत्र में तीस मंदिर हैं, जिनमें कुछ भग्न हैं। वही तीनों मतों—वैष्णव, शैव तथा जैन के मंदिर विद्यमान हैं। शैवमत का प्रधान मंदिर कदरिया महादेव तथा विश्वनाथ के नाम से विख्यात है। वैष्णव-मंदिरों में चतुर्भुज ही वर्तमान हैं। पार्श्वनाथ का मंदिर जैन मत के प्रसार की याद दिनाता है। सभी मंदिरों में मध्य भारतीय मंदिरों के गुण वर्तमान हैं। योजना तथा बनावट में समानता होते हुए खजुराहो शैली के नाम से उल्लिखित किए गए हैं। ऊँचे चबूतरे पर निर्मित मंदिर में मुख्य शिखर से संबद्ध अंगशिखर की पुनरावृत्ति विशेष उल्लेखनीय है। इसकी बनावट के कारण ही मध्य भारत के मंदिर पूर्ण रूप से विकसित समझे जाते हैं।

खजुराहो के इतिहास में वामन तथा आदिनाथ के मंदिर प्राथमिक अवस्था के द्योतक हैं। बनावट समान है। गर्भगृह योजना में सप्तरथ प्रकार

का है। इनकी मीनार की परिरेखा विच्छिन्न नहीं है, यद्यपि अंगशिखर (उरुशृंग) की परिकल्पना यथावत् है। गर्भगृह की दीवारें सुंदर रीति से गढ़ी गई तथा खुदी हैं। आदिनाथ मंदिर पार्श्वनाथ के पार्श्व में निर्मित है। इसके मंडप तथा अनुलग्न प्रस्तर के स्थान पर ईंट दीख पड़ती है। वामन-मंदिर से भी इसका शिखर ऊँचा है। यही दोनों मंदिरों के आधार पर खजुराहों के मंदिरों में विकास का क्रम आरंभ हुआ, जिसने पूर्णता को प्राप्त कर लिया।

दूसरे समूह में (शिखर तथा अंगशिखर की पुनरावृत्ति) उन मंदिरों की गणना होती है, जिसमें उरुशृंग गुच्छा के रूप में मीनार से जुड़े हैं। देवी जगदंबा, चतुर्भुज, पार्श्वनाथ, विश्वनाथ तथा अंतिम सीढ़ी पर कंदरिया महादेव मंदिरों का उल्लेख किया जाता है। मूलतः सभी एक समान बनावट तथा रचना शैली के हैं। इनमें सभी गुण विद्यमान हैं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। दूसरे समूह के अंतिम चार मंदिरों में अंदर गर्भगृह की परिधि में प्रदक्षिणापथ संयुक्त मंडप है। मंडप में ही तीन ओर वातायन है। विश्वनाथ तथा चतुर्भुज मंदिरों की बनावट एक समान है। प्रत्येक कोने पर पूरक छोटे मंदिर बने हैं, जिससे इसे पचायतन कहते हैं। विश्वनाथ 57×46 वर्गफुट में तथा चतुर्भुज मंदिर 55×46 वर्गफुट में विस्तृत है। विश्वनाथ मंदिर पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि उसे १००० ई० में बनाया गया था। देवी जगदंबा का क्षेत्रफल 77×50 वर्गफुट है और सभी भाग अनुपात से बने हैं। इसमें प्रदक्षिणापथ का अभाव है। जैन मंदिरों की योजना भी अधिक भिन्न नहीं है। बाह्य दीवार के पुश्ता तथा ताख में मूर्तियाँ बैठायी गई हैं। उनसे मंदिर की बनावट में कोई रुकावट नहीं पैदा हो सकी। इसी कारण प्रक्षेपण भङ्ग्य रीति से खुदे हैं। वहाँ स्तंभयुक्त बड़े ताख में प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। दूसरे जैन मंदिर जिननाथ का है, जो ६० फुट लंबा तथा ३० फुट चौड़ा है। प्रत्येक दिशा में प्रक्षेपण के कारण कुछ भाग बाहर निकले हैं। अंदर एक आयताकार कमरा है, जिसमें दो खंड हैं (१) गर्भगृह (२) स्तंभयुक्त वरामदा। इन दोनों को घिरे हुए प्रदक्षिणापथ हैं।

खजुराहों का सबसे प्रमुख मंदिर कंदरिया महादेव का है। संभवतः यह नाम (कंदरिया) कंदर्पी का विकृत रूप है। कंदर्प कामदेव का दूसरा नाम है और शिव ने उसका विनाश किया, अतएव कंदर्पी कहलाए। उस कथानक के स्मरण में कंदरिया महादेव का मंदिर निर्मित हुआ था। इसकी लंबाई १०२

फुट, चौड़ाई ६६ फुट तथा शिखर की ऊँचाई १०१ फुट है। मंदिर की प्रत्येक ईंच दीवार आकृतियों से भरी है। उस खुदाई में मकर, विद्याधर, संगीतज्ञ, बाध तथा कामासक्त मिथुन आकृतियाँ स्पष्ट हैं। बाह्य भाग में देवी, देवता, प्रेमी एवं प्रेमिका तथा देवदूत के रूपचित्र उत्कीर्ण हैं। यदि कंदरिया मंदिर के अर्द्धमंदिर के स्वरूप को सोचें, तो प्रकट होता है कि प्रस्तर की राजगीरी की एक विशाल राशि है, जो क्रमशः चोटी की ओर ऊँची होती जाती है। इसके गर्भगृह की सप्तरथ योजना मंदिर की पूर्णता पर प्रकाश डालती है। कंदरिया महादेव मंदिर में नौ सौ के आसपास रूपचित्र खुदे हैं, जो आदमकद हैं। इससे स्थापत्यकला को सुंदरता ही नहीं मिली, बल्कि प्रस्तर आकृतियों में जीवन भी भर दिया गया है। रूपचित्र सजीव और प्राणदायक प्रतीत होते हैं।

कंदरिया महादेव का मंदिर एक ऊँचे प्रस्तर पर बना है, जहाँ सीढ़ी के सहारे पहुँच जाते हैं। देखने से उसकी मर्यादा झलकती है। मंदिर का प्रवेश-द्वार अतीव भव्य रीति से खुदा है। सामने के प्रवेशमार्ग से चौकोर अर्द्ध-मंडप भाग में चले जाते हैं। तत्पश्चात् वर्गिकार मंडप है। मंडप के बाजू का भाग गर्भगृह के चारों तरफ विस्तृत है तथा बाजों के वातायन (खिड़की) से जुड़ जाता है। इसमें विभिन्न प्रकार की बनावट एक सतह में नहीं है। अर्द्ध-मंडप से ऊँचा मंडप स्थान है। उससे अंतराल की स्थिति ऊँची है। वहाँ से कुछ सीढ़ियाँ चढ़कर गर्भगृह में पहुँचते हैं। इस प्रकार सभी समतल में नहीं है। यह कहा जा सकता है कि मध्य भारत में स्थापत्यकला की जो शैली विकसित हुई, उसका समापन कंदरिया महादेव मंदिर में पाते हैं। यह खजुराहो के मंदिरों का मुकुटमणि है।

इसकी दीवारों पर अत्यंत सुंदर मूर्तियाँ उकेरी हैं। दसवीं सदी में योगिनी संप्रदाय का जोर था। इस पर वाममार्गी विचारों का प्रभाव पड़ा। उनके विचार में जीवन का क्रम शाश्वत् रूप में चलता है। भौतिक जीवन का विनाश होता है। शिव शक्ति का मिलन जीवन का उद्देश्य है। उस आध्यात्मिक मिलन का सासारिक रूप मैथुन है। गुप्त तंत्र में दीक्षित होकर मैथुन आदि वापाचार की क्रिया करते हैं। इस प्रकार कंदरिया महादेव के मंदिरों पर उकेरे मिथुन या युग्म प्रेमी की आकृतियाँ विद्यमान हैं। नायिकाएँ शृंगारिक मुद्राओं में उत्कीर्ण हैं। तरह-तरह के शारीरिक प्रसाधन, प्रियतम को प्रसन्न करने की मुद्राएँ आदि, बंशुरी की तान, पाँवों में नूपुर धारण

करना, मुरमा लगाना, दर्पण में मुख देखना— शृंगारिक शिल्प की पराकाष्ठा बतलाते हैं। उनसे प्रगाढ़ तन्मयता तथा आनंद की चरम सीमा व्यक्त हो रही है।

मध्य भारत के मंदिरों का विवरण समाप्त करने समय जबलपुर के समीप मंदिर भेड़ाघाट पर स्थित चौसठ योगिनी का उल्लेख आवश्यक है। चौकोर मंदिरों के अतिरिक्त गोलाकार मंदिर का यह नमूना है। गोलाकार आंगन के चारों तरफ प्रार्थना निमित्त स्तंभश्रेणियाँ सहित स्थान है, जिसमें योगिनियाँ स्थापित की गई हैं। उस स्थान पर अस्सी प्रार्थना-स्थल हैं। मध्य मंदिर में उमामहेश्वर की प्रतिमा स्थापित है। खजुराहो के चौसठ योगिनी मंदिर की बनानट चार कोना है। वह चतुष्कोण भाग १०२ × ६० वर्ग फुट में फैला है। चौसठ वाह्य पूजा स्थल दीख पड़ते हैं। सभी पर शिखरनुमा मीनार हैं। नागर शिखर के ऊपरी भाग में दो आमलक हैं। इस प्रकार मध्य भारत में खजुराहो शैली की ही प्रधानता रही।

राजपुताना और मध्य भारत शैली

राजपुताना मध्य भारत तथा समीपवर्ती प्रदेशों में प्रथम सहस्राब्दि तक मंदिर-निर्माण का कार्य प्रगति पर रहा। उस भाग में गुप्तकालीन परंपरा कार्य कर रही थी। छठी शती तक गुप्तनरेशों ने स्थापत्यकला के विकास में हाथ बँटाया था। उस स्वर्णयुग में कला ने जो गरिमा का स्थान प्राप्त कर लिया था, वह इतिहास के पृष्ठों में लिखा है। गुप्तयुगी निर्माण का प्रभाव कालांतर में हुआ और राजपुताना या मध्य भारत में स्थापत्यकला गुप्तकाल के निर्माण की अनुगामीनी हुई। गुप्त शासन में पश्चिमी मालवा की राजधानी उज्जयिनी को गुप्त सम्राट् द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने दूसरी राजधानी घोषित की। उसके राजसभा में नश्वरत्न रहते थे। कविकुल शिरोमणि कालिदास की कृतियों में तत्कालीन समाज का चित्र सामने आता है। उस स्वर्णयुग में साहित्य के साथ कला भी चरमोन्नति को प्राप्त कर चुकी थी। कला के स्वभाविक गुण के कारण आनंद, हर्ष एवं उल्लास का वातावरण पैदा हुआ और कलाकारों ने शताब्दियों तक मनोरम एवं सुंदर कल्पनायुक्त कला का विकास किया। कला ही मनुष्यों के आंतरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है। यह सही है कि गुप्तकाल में मनुष्यों का कल्पना एवं विचार सौंदर्य मृदुलता, कोमलता तथा मधुरता से भरा पड़ा था। साहित्य के उच्च भावात्मक

विचारों के वातावरण में दृश्य कला पर प्रभाव न पड़ना ही अस्वाभाविक था । कालिदास के काव्यों में ही कला संबंधी विचार भरे पड़े हैं ।

गुप्त सम्राटों ने कलाप्रेमी होकर इसके संबर्द्धन में हाथ बँटाया तथा मंदिर का निर्माण किया । द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने विदिशा के समीप गुहा खुदवा कर शेषशायी विष्णु तथा वराह-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की । उसके पुत्र प्रथम कुमारगुप्त के शासन में मंदसौर (दशपुर, मालवा राजस्थान) में सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ था ।

श्रेणीभूतं भवनभतुलं कारितं दीप्त रश्मे ।

(का० इ० इ० भा० ३, पृ० ८१)

द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्वयं विष्णुध्वज की स्थापना की थी, जो आजकल मेहरौली (दिल्ली के समीप) में स्थित है । स्कंदगुप्त द्वारा ऐसे कार्यों का विवरण गुप्तलेखों में मिलता है । उसी युग में एरण में भी स्थापत्य-कला की प्रगति धीमी न रही । इससे यह प्रमाणित होता है कि गुप्तकाल में राजा, प्रजा तथा जनता धार्मिक कार्यों में रत रहा करती थी । यही कारण है कि गुप्तयुग के कला-परंपरा का मध्य युग में अनुगमन किया गया ।

ऐसी श्रेष्ठ कलाकृतियाँ ऐसे भाग में विकसित हुई थी, जिन पर इस्लाम का आक्रमण होता रहा । मुल्तान तथा सिंध पर अधिकार करने के पश्चात् उनका ध्यान राजपुताना की ओर केंद्रित हो गया । गुप्त शासन का अंत हो जाने पर राजपुताना का भूभाग गुर्जर प्रतिहारों के अधिकार में आ गया था । उनके लेख बतलाते हैं कि जोधपुर के समीप प्रतिहारनरेश ने 'सिद्धेश्वर महादेव' का मंदिर-निर्माण किया था—

पुष्करिणो कारिता यन त्रेतौ तीर्थे च पत्तनम् ।

सिद्धेश्वरो महादेवः कारितः तुंग मंदिरः ॥

वाउक की जोधपुर प्रशस्ति, (देखिए प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन भा० २, पृ० ३४७)

भोज की ग्वालियर प्रशस्ति में भी वर्णन मिलता है कि गुर्जर प्रतिहार-नरेश ने अपने अंत पुर में भगवान् विष्णु का मंदिर बनवाया था—

अत पुरपुरं नाम्ना व्यधामि नरकद्विष ।

(वही भा० २, पृ० ३७८)

इन सब उद्धरणों से पता चलता है कि राजपुताने में मंदिरों का निर्माण मध्य युग (१० वीं सदी) तक होता रहा । आठवीं, नवीं शताब्दियों में गुर्जर प्रतिहार राजा भी स्थापत्यकला में सहायता करते रहे ।

इस्लाम के भारत में प्रवेश हो जाने पर उत्तर-पश्चिम दिशा से आक्रमण होने लगे । गुर्जर प्रतिहार नरेश राजपुताने में उनकी प्रगति में बाधक थे । अतः, युद्ध होता रहा । ग्वालियर प्रशस्ति में वर्णन आता है कि आठवीं सदी में बागभट्ट प्रथम (प्रतिहार राजा) ने म्लेच्छों (मुसलमानों) को परास्त किया था । इस प्रकार युद्ध चलता रहा । गुर्जर प्रतिहार राजाओं की राजधानी कल्बीज हो जाने पर इस्लामी सेनाओं को साहस मिला । पश्चिमी भारत, राजपुताना तथा मध्य भारत में प्रवेश कर उन्होंने धार्मिक केंद्रों का विनाश किया और उसी सिलसिले में मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया । राजपुताने में मंदिरों के ध्वंसाव-शेष उस कहानी को सुनाते हैं । अतएव, उत्तर गुप्तयुगीन (८ वीं से ११ वीं सदी तक) स्थापत्यकला के नमूने बहुत कम मिलते हैं । उस काल के मंदिरों की बनावट या शैली का अनुमान दिल्ली तथा अजमेर की इस्लामी इमारतों के समीप में बिखरे भग्नावशेष से हो जाता है ।

लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि छद्बीस मंदिरों को नष्ट कर दिल्ली की मसजिद कुतुब के लिए जगह बनायी गई या उसी भू-भाग पर मसजिद बनी । उसके स्तंभों की संख्या २४० है । मंदिर के दो स्तंभों को जोड़ कर मसजिद का अकेला स्तंभ तैयार किया गया है । अजमेर की इमारत बड़ी है, जिसमें एक हजार स्तंभों का प्रयोग हुआ है । अनुमानतः पचास मंदिरों को मलवे से उठाकर उनको मसजिद में स्थिर किया गया था । इस कारण दिल्ली से राजपुताने तक देशज भव्य इमारतों का अभाव है । उन मंदिरों के प्रस्तर-स्तंभों एवं सामग्रियों का उपयोग इस्लामी इमारत बनाने में किया गया । मेहरोली तथा अन्य मजजिदों में प्रयुक्त सुंदर स्तंभों को देखने से उत्तर गुप्तकालीन मंदिरों की महिमा का परिज्ञान हो जाता है । उन मंदिर-सामग्रियों को हटा कर नई इमारतों को अधिक भव्य बनाने के लिए ही स्थान-स्थान पर स्तंभ आदि को जोड़ दिया गया, ताकि वह दृष्टि से ओझल हो जाय ।

राजपुताने में जयपुर के समीप वैराट् में प्राचीनतम मंदिर के अवशेष मिले हैं । चितौरगढ़ के नजदीक नागरी के मंदिर में शिखर तथा आमलक प्रकाश में आए हैं । इससे प्रकट होता है कि पाँचवीं शती के गुप्त शिखर का वहाँ अनुकरण किया गया था । कालांतर में जो मंदिर निर्मित हुए, उनके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है । आठवीं शताब्दी के पश्चात् निर्मित मंदिरों की वास्तुकला का परिज्ञान हो जाता है । जोधपुर से उत्तर-पश्चिम ५६ किलोमाटर की दूरी पर ओसिया नामक स्थान है । यह समृद्धशालीनगर था; जहाँ ब्राह्मण तथा जैन प्रा०—१६

मंदिरों को मिला कर बीस मंदिर निर्मित हुए थे । आठवीं-नवीं सदी के मंदिरों (बारह संख्या में) में शिखरों का विकास दिखलायी पड़ता है और उनमें स्थानीय गुणों का अभाव है । दूसरे समूह के मंदिरों में स्थानीय विशेषताएँ स्पष्ट हो गई हैं । वे मंदिरों में एक दूसरे से भिन्न हैं, यानी कोई दो मंदिर एक-जैसा नहीं है ।

हरिहर नामक मंदिर योजना में पंचरत्न प्रकार का है । इसे पंचायत भी कहते हैं । शिखर के ऊपरी भाग में आमलक बना है । झालरापाटन के मंदिर में विक्रम संवत् ८७२ (ई० स० ८१५) लेख खुदा है, जिससे ज्ञात होता है कि गुर्जर प्रतिहार नरेश द्वितीय नागभट्ट के समय में तैयार हुआ था । उसी प्रकार ओसिया का महावीर मंदिर बत्सराज (द्वितीय नागभट्ट के पिता) के शासनकाल में निर्मित हुआ । उन लेखों में राजपुताने के राजपूत मंदिरों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है । डॉ० स्टेलाक्राम्श ने उनका अध्ययन कर अपना विचार प्रकट किया है कि यद्यपि ओसिया मंदिर छोटे आकार के हैं तथापि बनावट की स्पष्टता तथा अनुपात में आदर्श उपस्थित करते हैं । इमारतों के प्रकरण या मूल विषय के विचार में सुंदर नमूना उपस्थित करते हैं । ओसिया के पंचायतन मंदिरों में केंद्रीय तथा पार्श्व के देवस्थानों को देखने से प्रकट होता है कि शिखर वाले मंदिर-समूह (भग्न हो जाने पर भी) प्रमुख स्थान रखते हैं । सभी बातों में सार्थकता दीख पड़ती । इस स्थान के सूर्यमंदिर के प्रारंभिक बनावट में एक और मंडप की वृद्धि हुई है । इस मंडप में स्तंभ-युक्त खुला कमरा है, जिसके आगे छत में ढाल है और सामने ड्योढ़ी है । इसमें अलंकृत तोरण है जिससे खुले अर्द्धमंडप, सभा एवं गर्भगृह की ओर रास्ता जाता है । यह ओसिया के मंदिरों का सिरमौर माना जाता है और भव्यता के लिए विख्यात है ।

ओसिया में कई ऐसे मंदिर स्थित हैं, जिनकी योजना शिखर-शैली से भिन्न है । इनकी निजी बनावट है । यद्यपि भग्नावस्था में कुछ मंदिर हैं, उसमें चार कोना आयात का स्वरूप दीखता है । ओसिया की छोटी स्तंभयुक्त ड्योढ़ी मध्य भारत के मंदिरों के अंतराल के समान है । सामान्यतः राजपुताना तथा मध्य भारत में शिखर का आरंभ समकालीन है । मुख्य शिखर से अंगशिखरों का संबद्ध गुच्छा इनकी विशेषता है ।

ओसिया के पिछले मंदिरों को राजपूत शैली के (विशिष्ट प्रकार के) क्रमिक विकास में महत्वपूर्ण मानते हैं । इस श्रेणी में —

(१) महावीर मंदिर,

(२) सचिय माता मंदिर तथा

(३) पिपला माता मंदिर की गाणना होती है । इनमें अंगशिखर (शिखर-नुगा आकार) की संख्या कम है, परंतु स्पष्टतया उसकी अभिव्यंजना करते हैं । राजपुताने के मंदिरों की यह एक विशेषता रही है । इन मंदिरों की मूल योजना में स्तंभ तथा तोरण का समावेश संगठित रूप में किया गया है । सचिय माता मंदिर के केंद्रीय मंडप में आठ कोण वाले स्तंभ खड़े हैं । इसका आरंभ प्रायः सप्तम शताब्दी में हुआ, जिसका विकास पिपलामाता मंदिर में देखते हैं । वहाँ मुख्यस्थित ढंग से मंडप में तीस स्तंभ हैं, जो ऊपरी बोझ को संभाले हैं । राजपूत शैली का यह विशिष्ट लक्षण है तथा आबू पर्वत के मंदिरों में स्पष्ट एवं विकास को प्राप्त किया है । ओसिया के मंदिरों के दरवाजों में कलाकारों ने अपनी कल्पना तथा कुशलता का परिचय दिया है । इसका एक और कारण यह भी है कि प्रवेशद्वार सीधा गर्भगृह में खुलता है, इसलिए कलाकारों का ध्यान केंद्रित हो गया । उस स्थान को ईश्वरीय मान कर कलाविदों ने प्रतीक तथा प्रतिमा के द्वारा चित्रित किया, अलंकृत किया या वर्णित किया । उत्कीर्ण लोकवार्ता एवं पौराणिक कथाओं को जनसाधारण के लिए प्रस्तुत किया गया है । द्वार के ऊपरी चौखट नवग्रह (रवि, चंद्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु) की आकृतियों से सुशोभित है ।

ओसिया के प्रवेशद्वार के चौखट नए ढंग से उत्कीर्ण हैं । गुप्त युग के चौखटों के निचले भाग में वाहनसहित गंगा-यमुना की आकृतियाँ गुप्तमंदिरों के द्वार की विशेषता बतलाती हैं । किंतु, इस भू-भाग के मंदिर के दरवाजे नवीनता लिए चित्रित हैं । दरवाजे के दोनों पार्श्व चौखटों के ऊपरी कोने में गंगा-यमुना की आकृतियाँ खुदी दीख पड़ती हैं । संभवतः उत्तर गुप्तकाल (छठी सदी के पश्चात्) से यह तरीका अपनाया गया और देवियों की प्रतिमाओं को निचले भाग से ऊपरी कोने में स्थित किया गया । यह तो निश्चित है कि स्वर्णयुग के विचारों का प्रस्फुटन उत्तर-गुप्तकाल में भी दीख पड़ता है । यद्यपि नए वास्तु-अलंकरण का आरंभ गुप्त युग में हुआ और नए रचनात्मक या मौलिक प्रेरणाओं का शुभारंभ उस युग की विशेषता है, परंतु उसकी अभिव्यक्ति तथा पुष्पण छठी सदी के पश्चात् हुआ, जिस पर स्थान एवं काल का प्रभाव स्पष्ट है । सभी पुष्पित भावनाओं का स्वागत ओसिया के मंदिर में देखते हैं अथवा उनका स्पष्टीकरण हुआ । इस सांस्कृतिक प्रवाह को क्षेत्रीय नहीं कह सकते, अपितु यह भारत के अधिक भू-भाग में प्रतिध्वनित हुआ । प्रथमः

सहस्राब्दि के उत्तरार्द्ध में सृजनात्मक विचारों का अत्यंत उत्कर्ष हुआ तथा उच्च श्रेणी के कलात्मक उदाहरण प्रस्तुत किए गए। भारतवर्ष के स्थापत्य-कला के इतिहास में यह महत्वपूर्ण समय माना जा सकता है, जिस समय से पर्वत-चट्टानों को खोदकर भवन बनाने का कार्य प्रायः समाप्त हो गया और निर्माणपरक (Structural form) इमारतों का श्रीगणेश हुआ। इससे भारतीय कला के उत्तरोत्तर उत्साह तथा प्रगति की सफलता के चित्र सामने आते हैं।

राजस्थान के जैन मंदिर

भारतवर्ष में ऐसी कोई स्थापत्यकला की शैली नहीं है, जिसे जैन-शैली कहा जा सके। किंतु, राजपुताने में जैन मंदिर-समूह की निजी विशेषता है। जिस समय बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मानुयायी पर्वत खोद कर इमारतें तैयार करने लगे, उसी युग में जैनियों ने भी अपने पूजास्थल को निश्चित किया। पर्वतों को खोदकर या प्रस्तर को जोड़ कर इमारतें तैयार की। उन सबका लक्षण एक-सा था और वे उस काल की विशेषताओं से युक्त थे। जैन कलाकारों ने पर्वतीय स्थानों में जैन मंदिर खोद कर उनके शिखर पर भी जैन देवालयों का निर्माण किया, जिससे वह स्थान 'मंदिर-नगर' बन गया। भारत में प्राचीन जैन मंदिरों की बहुलता नहीं है, जितनी अधिकता मध्ययुग (१५वीं सदी) में दीख पड़ती है। स्यात् इसका यह कारण हो सकता है कि जीर्ण मंदिरों के स्थान पर जैनियों ने नए मंदिर बनवाए। अतः, भग्नावशेष का भी अभाव है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि पुराने मंदिरों को धर्मान्ध जनता ने नष्ट कर दिया।

राजस्थान के जैन मंदिरों में ओसिया के महावीर मंदिर के अतिरिक्त कुंभारिया के जैन मंदिर उल्लेखनीय हैं। इनकी विशेषता यह है कि जो आकार प्रकार अथवा लक्षण दक्षिण राजस्थान के जैन मंदिरों में आरंभ हुआ, वही विकसित होकर समष्टि जैन तीर्थों में स्थायी हो गया। इसमें दोहरा आमलक तथा अगशिखर युक्त शीर्ष-शिखर दीख पड़ता है। इसे मध्य भारतीय शैली का अनुकरण मान सकते हैं। उस समूह में आवू पर्वत पर नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ मंदिरों की शिल्पी विशेषता है। पार्श्वनाथ मंदिर में स्तंभ अत्यंत उत्कृष्ट ढंग पर बने हैं, जिन स्तंभों के शीर्ष गौरवमय हैं। उनका लावण्य अद्वितीय है। सभी स्तंभ केंद्रीय मीनार को संभाले हुए हैं। उसी क्षेत्र में आलंकारिक मेहराब बने हैं। स्टेलाक्रामृश ने उनकी मनोहारिता का वर्णन किया है (आर्ट ऑफ इंडिया, पृष्ठ २१०)। पार्श्वनाथ मंदिर में राजस्थान के मकरान नामक स्थान से

उपलब्ध संगमरमर को अद्वितीय रूप में प्रयोग किया गया है। जैन मंदिरों को काले तथा सफेद संगमरमर प्रस्तर से सुसज्जित किया गया। कुंभारिया के जैन मंदिर समूह में जो विशिष्टताएँ वर्तमान हैं, उनका विकसित रूप आबू पर्वत के समीप निर्मित चार मंदिरों में देखते हैं, विशेषतया देलवाड़ा उल्लेखनीय है। गुजरात के प्रथम सोलंकी शासक भीमदेव के मंत्री विमलशाह ने देलवाड़ा (११वीं सदी) में विमलसाही नामक प्रथम जैन मंदिर बनवाया था। यह मंदिर ९८ फुट लंबे और ४८ फुट चौड़े क्षेत्रफल में विस्तृत है तथा ऊँची चहारदीवारी से घिरा है। इसमें पचास से भी अधिक कक्ष हैं, जिनमें किसी तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसमें सूक्ष्म अलंकरण-कार्य दीख पड़ते हैं। जैन मंदिरों में प्रचुर अलंकार के कारण यह सर्वोत्तम माना गया है। इसके पश्चात् आबू पर्वत पर तेजपाल का मंदिर स्थापत्यकला की सुंदरता लिए निर्मित हुआ था। तेजपाल का मंदिर विमलसाही की ही स्वाभाविक परिणति है। इसके उत्कीर्ण शिल्प नमूनों में सजीवता का अभाव है, परंतु कारं गरी ने सफाई तथा बारीकी में कुशलतापूर्वक उसे पूरा कर दिखाया है। मंदिर की एक विशेषता ठोस संगमरमर का लटकन है, जो स्फटिकमणि से निर्मित प्रकट होता है। उसे चारों तरफ गोलाई में खोद कर पुष्प बनाया गया है। अनेक आकृतियाँ लंबवत् प्रस्तर पर उत्कीर्ण हैं। उसकी सुंदरता वर्णनातीत है। गर्भगृह में नेमिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित है तथा कक्ष के द्वार मंडपों पर उस देव की जीवन-कथाएँ अंकित हैं। आबू पर्वत पर जैन मंदिर का समूह है। पर्वत के शिखर पर मंदिर-निर्माण का होड़-सा लग गया था; क्योंकि ऊँचे पर्वत पर स्थान को पुण्यतर तथा देवतागण के लिए पवित्रतम मानते थे। जैन कला में मंदिर को एक ऊँचे परकोट से घिरा रखते तथा चारों तरफ कोठरियाँ बना रहती थी। आँगन में परंपरागत स्थापत्यकला का अनुसरण करते थे। उन अंधेरी कोठरियों में जैन साधु-मंत या देवतागण की बैठी प्रतिमाएँ स्थापित दीख पड़ती हैं। १४५ फुट लंबे तथा ९५ फुट चौड़े आँगन में सारी कोठरियाँ बनी हैं। विमल मंदिर का बाहरी भाग अत्यंत सादा है, किंतु अंदर का स्थान अलंकृत है। उस मंदिर की पूर्वी दिशा में प्रवेशद्वार है, जिससे छह स्तंभों की मीनार सहित डयोढी सलग्न है। उसके पश्चान् छत से ढँका आँगन है। उसी से सबद्ध स्तंभों से निर्मित द्वार मंडप है। जिसके सामने गर्भगृह है। सम्मुख का कक्ष मध्यवीथी का काम करता है। उस भाग की दो पंक्तियों में स्तंभ वर्तमान हैं, जिसकी एक दिशा में तीर्थमंदिर स्थित है। उस

भाग के विस्तार का परिज्ञान उन स्तंभों की दूरी से हो जाता है । मध्यवीथी व्यास में २५ फुट है और स्तंभों की बंडेरी सतह से बारह फुट ऊँची है । उन पर अवलंबित मीनार ३० फुट ऊँची बनी है । उस स्तंभ के ब्रैकेट के चारों भाग में वामन-आकृतियाँ बनी हैं, जो विमल शैली के मंदिरों की विशेषता बतलाती हैं ।

विमलमंदिर के अंदर के समस्त भाग, स्तंभ तथा छत के भीतरी भाग के संगमरमर को शिल्पकारों ने इस सुंदरता से सुशोभित किया है, सजाया है, अलंकृत किया है, जिसे अद्वितीय कहेंगे । मीनार के भाग को समविंदु वृत्त में विभक्त किया गया है । मानव तथा पशु की आकृतियाँ खुदी हैं । कुछ ऊँची छलाई पर ताव बनी है, जिनमें नर्तकी की मूर्तियाँ दीख पड़ती हैं । स्थापत्य-कला की विशेषता के कारण आबू पर्वत का जैन मंदिर (विमल) उस सीमा तक प्रसिद्ध नहीं है, जितना इसकी मौलिकता तथा तक्षण की तरंगों (लहर) ने इसे विख्यात किया ।

आबू पर्वत के समीप अगलगढ में हिंदू मंदिरों की शृंखला इसी स्थापत्य-लक्षणों के साथ बनी है । रानापुर (जोधपुर) में सर्वाधिक संपूर्ण चतुष्कोण मंदिर है, जिसमें जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित है । परकोटे से धिरे मंदिर में प्रवेश के लिए पूरव दिशा में दो कमरे बने हैं । वे चौकोर तथा वर्गाकार हैं । इस चतुष्कोण स्थल के पश्चिमी भाग में गर्भगृह है । उसके सम्मुख मंडप एवं डयोढी बनी है । तीनों आकार स्तंभ श्रेणीयुक्त विहार से धिरे हैं । दीवार में अनुबद्ध आकार-प्रकार एक ही समय में निर्मित न हो पाए । मंदिर में प्रयुक्त प्रस्तर खडो से यह निष्कर्ष निकलता है कि गर्भगृह काले प्रस्तर द्वारा पहले निर्मित हुआ, तत्पश्चात् स्तंभावालि युक्त विहार का निर्माण सफेद संगमरमर में हुआ । आदिनाथ मंदिर के समीप में बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का सुंदर मंदिर विमलमाहो का अनुकरण ही है ।

राजस्थान में ११वीं सदी के पश्चात् भी कई मंदिर तैयार किए गए, जिनमें चित्तौर का कालिका माता मंदिर तथा बरौली का शिवमंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं । उदयपुर के समीप एकलिंग महादेव का मंदिर दर्शनीय है । आठवीं सदी में बप्पा रावल ने इसका निर्माण किया था । मध्ययुग में राजस्थान की धनीमानी जनता ने मंदिर-निर्माण में हाथ बटाया था और अपार धनराशि

व्यय की । उदयपुर से ५६ किलोमीटर दूर जगदंबा या अबिका का प्रसिद्ध मंदिर ११वीं सदी में बनाया गया था । यह मंदिर डेढ़ सौ फुट के विशाल परकोटे के घेरे में स्थित है । यह खजुराहो मंदिर शैली का है । गर्भगृह तथा सभामंडप के बाहरी भाग पर सुर, सुंदरी या देवता की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं । स्थापत्यकला की दृष्टि से यह मंदिर अत्यंत महत्वपूर्ण है ।



पश्चिमी भारत-गुजरात तथा काठियावाड़

मध्ययुग में गुजरात तथा काठियावाड़ के प्रदेश में स्थापत्यकला की अतीव प्रगति हुई। आश्चर्य यह है कि महमूद गजनी ने ई० सन् १०२५ में काठियावाड़ के सोमनाथ पर आक्रमण किया और मंदिरों को नष्ट किया। परंतु, उसके स्वदेश लौट जाने पर पश्चिमी भारत में वास्तुकला की ओर जनता ने विशेष ध्यान दिया। यानी उत्साह कम होने के स्थान पर अत्यधिक बढ़ गया। दिल्ली के मुल्तान के अधिकार करने से पहले (यानी ई० सन् १३००) काठियावाड़ तथा गुजरात में इमारतों का अधिक निर्माण हुआ। कुछ ध्वंस इमारतों का संस्कार हुआ और अधिक संख्या में सोलंकीनरेश के प्रोत्साहन से इमारतें तैयार की गईं। उसका श्रेय वहाँ के धनीमानी व्यक्तियों को है, जिन्होंने व्यापार से धन उपार्जन करके मंदिर-निर्माण में व्यय किया। गुजरात, काठियावाड़, कच्छ तथा राजपुताने के पश्चिमी भाग पर सोलंकी राज्य करते रहे, जिनकी राजधानी अनहिलपाटन (वर्तमान अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम) थी। इस वंश के शासक शैव थे, किंतु धार्मिक इमारतों पर इन्होंने अधिक ध्यान न दिया था। गुजरात के कलाकारों ने अपनी कुशलता तथा प्रौढ़ अनुभव का भी परिचय दिया। वहाँ की धार्मिक जनता ने असंख्य द्रव्य व्यय कर सगमरमर का प्रयोग किया। इससे मनुष्यों के आध्यात्मिक विचार तथा भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति होती है। सोलंकी नरेशों के अदम्य उत्साह के अतिरिक्त उनके राज्यपाल तथा मंत्रियों ने भी उदारता का परिचय दिया। इस कार्य में उन्होंने विपुल धनराशि को लगाया। कई पदाधिकारी जैनमतानुयायी थे, तोभी उनलोगों ने जैन मंदिर के अतिरिक्त हिंदू मंदिर के निर्माण में अथर्व परिश्रम किया था। उन दानियों में वास्तुपाल तथा तेजपाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सोलंकी मंदिर-निर्माण एक समूह का कार्य न था, अपितु सारे समुदाय की कार्यनिष्ठा तथा प्रत्येक व्यक्ति की लगन, उसकी सफलता के कारण थे। उस समय धन-संग्रह का विशेष मार्ग ढूँढ़ा गया था। मंत्री या राज्यपाल 'भूमिहर' का कुछ अंश मंदिर-निर्माण के लिए पृथक्

‘कर’ देते थे तथा जनसाधारण भी उन पुण्य कार्य के लिए विशेष ‘कर’ एकत्रित करने के लिए कटिबद्ध था । इस कार्य में कुशल कलाकारों तथा शिल्पियों का भी महत्वपूर्ण सहयोग रहा । यद्यपि किसी प्रकार के स्थापत्य का मूल आकार (Prototype) या नमूना उनके संमुख न था, तथापि स्थानीय लोक-जीवन तथा परंपरा एवं पौराणिक कथाओं की जानकारी के आधार पर उन्होंने वास्तुकला को आगे बढ़ाया । संभवतः उन्हें शिल्प के नियमों का ज्ञान था अथवा उनको धार्मिक वास्तुशिल्प के विषय में कहा गया, ताकि स्थापत्य के कार्य में वे सुचारु रूप से सकल हो सकें । करीब ढाई सौ वर्षों (ई० सन् १०२५-१२९८) में इस भू-भाग में नागर शैली के मंदिर सर्वाधिक विकसित हुए । लेकिन, तेरहवीं सदी के अंत में मुसलमान विजेताओं ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । अणहिल्लापाटन के चालुक्य (सोलकी) नरेश स्थापत्यकला के संरक्षक थे तथा उन्होंने इमारतों के विकास में हाथ बढ़ाया । उनके सांस्कृतिक जीवन की उच्चता तथा लगन स्थापत्य-कार्य की भव्य कार्य-पद्धति से प्रमाणित हो जाती है ।

गुजरात के सोलकी मंदिरों में तीन खंड होते हैं, यद्यपि प्रारंभ में यह योजना दो भागों में विभक्त थी । तीर्थमंदिर (गर्भगृह) सभा मंडप के कक्ष से इस प्रकार जुड़े हैं कि सारी इमारत समानांतर रेखाओं के भीतर सन्निहित हो जाती है । तीन भाग निम्न प्रकार हैं :—

(१) पीठ,

(२) मंडोवार—पीठ के ऊपर तथा शिखर के नीचे का भाग और

(३) मीनार या शिखर—ऊपरी भाग ।

पीठ में परंपरागत खुदाई सुवचिपूर्ण है । मंदिर की पीठ का ऊपरी भाग पूरी इमारत के आधार का काम करता है । उसमें कई ढलाइयाँ वर्तमान हैं । वे सभी अलंकरण से युक्त हैं, जिन्हें परंपरागत विचार से स्थिर किया गया है । उस ढलाई में सबसे नीचे राक्षस (शृंगसहित सिर) है और ऊपर गजपीठ दीख पड़ता है । तत्पश्चात् अश्व की आकृतियाँ हैं । सबसे ऊपर मनुष्य की आकृति है । मध्य का दूसरा मंडोवर मंदिर का प्रमुख भाग समझा जाता है । संपूर्ण उन्नयन की योजना उसी पर आधारित है । इसमें लंबवत् दीवार पर नाना प्रकार की खुदाई की गई है । इस दीवार के ताख तथा प्रकोष्ठ में समस्त देवताओं की निम्न उद्भूत प्रतिमाएँ एवं संत लोगों की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं । तीसरा तथा अंतिम स्थान कलशरूपी मीनार का है । उस शिखर के चारों तरफ उरुशृंगों का समूह बनाया गया है ।

पश्चिम भारत में इमारतों के निर्माण की प्रगति का एक और कारण माना जा सकता है। उस भाग में वंशपरंपरागत संगतराश थे, जिनकी अभिरुचि मंदिर-निर्माण में ही सोमिल थी। यहाँ के मंदिरपीठ (चबूतरा) के दो उप-विभाग हैं। निचला पीठ ऊपरी चबूतरे से चौड़ा है तथा प्रदक्षिणापथ का काम करता है। यह संचारीपथ ढँका हुआ है। उसके मध्य में गर्भगृह निर्मित है। शिखर की प्रत्येक दिशा में चैत्य के आकार का अलंकरण बना है। पश्चिम भारत (काठियावाड़ तथा गुजरात) में नागर शैली के मंदिरों को सोलंकी या चालुक्य शैली के नाम से पुकारते हैं, जो अनहिलपाटन में शासन करते थे। सोलंकी शैली से पूर्व की इमारत गुजरात-काठियावाड़ में नहीं के बराबर है। इसलिए सोलंकी मंदिर व्यक्तिविशेष के कार्य माने जा सकते हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि सोलंकी शैली काठियावाड़ के गोप मंदिर का परिवर्तित रूप है। परंतु, वास्तुकला की दृष्टि से दोनों शैलियाँ पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखती हैं।

इन मंदिरों के अंदर का भाग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस स्थान में खुदे स्तंभों की प्रमुखता है। उनके निर्माण का कार्य इस रूप में संपन्न किया गया कि मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी के स्थान स्पष्ट रूप से पृथक् हो जाते हैं। स्तंभ नीचे कुछ मोटे हैं और ऊपर की ओर (सिरे पर) पतले हो गए हैं। स्तंभों के सिरे पर वामन की आकृतियाँ हैं, जो बड़ेरी को उठाए दीख पड़ती हैं। उनमें बैक्रेट (दीवारगीर) है और दोनों सिरे के मध्य स्त्रियों की उभरी प्रतिमाएँ बनायी गई हैं। गुजरात के मंदिरों की भीतरी विशेषताएँ, स्तंभों की खुदाई और प्रवेशद्वार के अलंकरण दर्शकों की आकृष्ट करते हैं।

आर्य शैली के मंदिरों की बाहरी तथा भीतरी खुदाई एवं अलंकरण में पर्याप्त अंतर है। बाहरी गोपनीय अलंकरण की एक निश्चित योजना थी। उड़ीसा की तरह गुजरात के मंदिरों के भीतर मार्ग एवं कक्ष में अलंकरण का अभाव है। शेष भाग पर आलंकारिक प्रदर्शन है। संभवतः गुजरात के कलाकारों ने इस प्रकार मंदिर-निर्माण की योजना बनायी थी, जिसमें भीतरी कक्ष सादा हो। व्यर्थ के अलंकरण से दर्शकों का ध्यान प्रतिमा से हट जाने का भय था। इतना होते हुए भी भीतरी कक्ष को अलंकृत किया गया। इसका यह कारण हो सकता है कि कलाकार सदा ही निर्देशों या नियमों के पालन में दतचित्त नहीं थे। अतएव, मादी दीवार के विचार को प्रमुखता देकर भी भीतरी कक्ष सुशोभित किया गया। मंदिरों के भीतर प्रवेश करते ही कलाकृतियों की न्यूनता प्रकट होती है। भीतरी कक्ष में प्रकाश की भी कमी मालूम

पड़ती है। इन सभी बातों को पश्चिमी भारत के मंदिरों में विशेष तीर पर देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। किंतु, सभामंडप में प्रकाश की प्रचुरता है तथा स्तंभों का अलंकरण अत्यंत गंभीर है। उसी से गूढ़-मंडप होकर मध्यबीथी में प्रवेश किया जाता है, जिसकी आलंकारिक क्रिया धूमिल दीख पड़ती है। आश्चर्य तो यह है कि मंदिर के सहायक कक्षों में घना अंधेरा होने पर भी कलाकारों ने छत में जरदोजी का ऐसा काम किया है, मानो कोई व्यक्ति दिन के प्रकाश में उन्हें देखने का प्रयत्न करेगा या दिन की रोशनी से वह सभी प्रकाशित हो जायगा। इसका क्या रहस्य था, यह समझना कठिन है। बाह्य रोशनी के सहारे ही साधारण व्यक्ति उन्हें देख सकता था, अन्यथा नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकारों ने उन्हें देवतागण द्वारा अवलोकार्थ तैयार किया हो।

काठियावाड़ के गोप नामक स्थान पर कुछ मंदिर हैं, जिनकी शैली असाधारण है। विद्वानों का मत है कि इस भू-भाग का यह प्राचीनतम मंदिर है। यह इमारत दोहरे चबूतरे पर बनी है, जिसमें ऊपर चबूतरे का व्यास छोटा है। यह प्रदक्षिणा-पथ का काम करता है। मंदिर की दीवारें लंबवत् खड़ी हैं और सर्वथा सादी (अनलकृत) हैं। केवल सिरे पर एक गहरी लकीर का निशान बना है। चबूतरे के परीक्षण से प्रकट होता है कि दूसरे चबूतरे की दीवार लकड़ी की बनी होगी। मंदिर की दीवार के अंतिम छोर पर गहरा कानिश् दीख पड़ता है, जिस पर सीढ़ीदार छत की बनावट है और अंतिम सिरे पर गुंबज बना है। सिरे के सीढ़ीदार भाग पर दो चैत्यनुमा मेहराबें निर्मित हैं। चैत्यनुमा मेहराब की बनावट सुंदर है, जिसमें खुदाई का काम किया गया था। इस प्रकार गोप मंदिर की असाधारण बनावट है, जिसकी समता करना कठिन है। कुछ लोग इसे कश्मीर के मार्तण्ड मंदिर के सदृश मानते हैं। सीढ़ीदार गुंबज और उसमें चैत्यनुमा मेहराबें दोनों की समता देखी जा सकती है। कुमार-स्वामी ने उस सिद्धांत का समर्थन करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि कश्मीर में सूर्यपूजकों ने मार्तण्ड मंदिर का निर्माण किया और वही से आकर पश्चिम भारत में उस शैली का प्रसार किया (हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ८२)। डॉ० संकलिया ने गोप मंदिर पर गंधार प्रभाव का अनुमान लगाया है (आर्कलॉजी ऑफ गुजरात ऐंड काठियावाड़, पृष्ठ ५७-५९) गोप मंदिर की इमारती बनावट के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत के प्राचीनतम मंदिर के आकार-प्रकार से गोप की शैली मिलती-जुलती है।

गोप शैली के मंदिर-समूह के परीक्षण से उस भू-भाग में स्थापत्यकला की प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है। विलेश्वर का शिवमंदिर उस क्रमिक विकास में अंतिम स्थान रखता है। सभी मंदिरों का गर्भगृह छत से ढँके प्रदक्षिणमार्ग में निर्मित किया गया है, जिनके सिरे पर गुंबज बना है। उनकी सीढ़ीनुमा बनावट में पकितियाँ घटती हुई दीख पड़ती हैं और हर दिशा में चैत्य मेहराब से सुशोभित हैं। इससे विदित होता है कि प्रारंभिक दशा में भी काठियावाड़ में वास्तुकला-कृतियों का शुभारंभ हो गया था। गोप मंदिर में भी शिखर वर्तमान हैं।

नागर शैली के मंदिरों का विकास काठियावाड़ तथा गुजरात में क्रमशः होता रहा। दसवीं सदी तक इसकी पूर्णता मानी जा सकती है। ये प्रायः राजपूत मंदिरों के समान हैं, क्योंकि दोनों भूभाग में मंदिर-निर्माण में एकरूपता एवं समकालीनता है। सोलंकी शैली के अनेक विशिष्ट मंदिरों में गुजरात के नीलकंठ महादेवमंदिर की भी गणना होती है।

उसी के समकालीन काठियावाड़ का नवलाखा मंदिर भी कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया है। इसमें तीर्थमंदिर तथा स्तंभमंडप एक साथ गहरे रूप से संबद्ध हैं। इसका सभाभंडप दो मंजिल का है, जो ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। सभी परकोटे के घेरे में हैं। इसका शिखर ऊरुशृंग के महित सुशोभित है। स्तंभों की स्थिति इस प्रकार है कि मध्य वीथी अन्य भागों (पार्श्ववीथी) से पृथक् हो जाती है। काठियावाड़ के मंदिरों में मीनार ऊरुशृंग के सहित भी मूलतः गुप्त शिखर से मिलता है। स्तंभों में पुष्पावली तथा पूर्णघट की स्थिति यह प्रमाणित करती है कि यहाँ गुप्त स्थापत्यकला का प्रभाव था। यह ज्ञात है कि पाँचवीं सदी तक गुप्त वंश का राज्य काठियावाड़ में था। गुप्तसम्राट् स्कंदगुप्त की प्रशस्ति गिरनार पर्वत पर खुदी है। इस कारण गुप्त कलाकार पश्चिम भारत में अपना प्रभाव छोड़ गये, यह आश्चर्यजनक नहीं है। किराडु का विष्णुमंदिर प्राचीनतम इमारत है। इसमें सोलंकी स्थापत्य-कला की विशेषता वर्तमान है। वहाँ सोमेश्वर मंदिर सबसे विशाल है, जिसे सुरक्षित देखते हैं। इस मंदिर के पोठ में परंपरागत ढलाई दृष्टिगत होती है, जिसमें शृंगयुक्त सिर, हस्ति, अश्व तथा मानवाकृति क्रम से बनी है। काठियावाड़ में भावनगर के लगभग १०७ फुट ऊँची शत्रुंजय पहाड़ी पर पालिताना स्थित है जिस स्थान पर शताब्दियों तक जैन धावक मंदिर निर्मित कराते रहे। चार सौ फुट चौड़ी घाटी मंदिर-शिखरों से भरी है। सभी

अलग-अलग अहाता से घिरा है । इस पहाड़ी पर पाँच सौ से अधिक मंदिर हैं । इस्लाम के मूर्तिभंजकों ने पालिताना के मंदिरों को काफी क्षति पहुँचाई ।

काठियावाड़ के बारहवीं सदी के मंदिरों में रुद्रमल तथा सोमनाथ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । ये स्थापत्यकला की प्रगति के नमूने हैं तथा धनीमानी लोगो ने दोनों मंदिरों के साथ अपना आर्थिक संबंध स्थायी रखा । सिद्धपुर में रुद्रमल का मंदिर पूर्ण कर प्रतिष्ठित किया गया । बारहवीं सदी के मध्य में गुजरात के प्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज (ई० सन १०९४-११४२) ने इसे समर्पित किया था । इसकी गणना भारत के प्रसिद्ध धार्मिक तथा प्रचुर अलंकृत मंदिरों में होती है । गुजरात के लोकगीतों में इसकी कीर्ति एवं प्रशंसा गायी जाती है ।

सोमनाथ के मंदिर के साथ इस्लाम-धर्मावलंबियों का इतिहास संबद्ध है । ग्यारहवीं सदी में इसे भग कर मुहम्मद गजनी ने धार्मिक तृष्णा को शांत किया था, पर काठियावाड़ की जनता ने इसका जीर्णोद्धार तथा संस्कार भी किया । अहमदाबाद के एक धनी महाजन ने १७ वीं सदी के आरंभ में चौमुखी मंदिर का निर्माण करवाया था । सामान्य हिंदू मंदिरों से भिन्न इसके अंतराल भाग में चारों दिशाओं से प्रवेशद्वार हैं । इसमें तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित हैं । इस प्रकार पश्चिमी भारत में मंदिरों का संस्कार तथा निर्माण अठारहवीं सदी तक होता रहा । परंतु, तेरहवीं सदी तक उसमें तीव्रता थी । पश्चिम भारत के मंदिरों के निर्माणकाल पर विचार किया जाय, तो ज्ञात होता है कि दसवीं से तेरहवीं सदी तक सोलकी शासन-अवधि में सभी मंदिर तैयार किए गए थे । उनका विस्तार गुजरात से राजस्थान तक हुआ था ।

दसवीं सदी—दिलमल कसरा (गुजरात)

ग्यारहवीं सदी—नवलक्खा (काठियावाड़) सूर्यमंदिर (गुजरात)
विभल (आबू पर्वत) राजस्थान

बारहवीं सदी—रुद्रमल (गुजरात) सोमनाथ (काठियावाड़)

तेरहवीं सदी—तेजपाल मंदिर, आबू, राजस्थान ।

पाटन (सोलकी राजधानी, गुजरात) से चौबीस किलोमीटर की दूरी पर अनेक मंदिर-समूह में बने हैं । दसवीं सदी के मंदिरों का निर्माण साधारण रूप में हुआ था, जिसमें विमान तथा स्तंभसहित खुली ड्योढ़ी वर्तमान है । इस समूह के मंदिर प्रत्येक दशा में पूर्ण हैं और उनके देखने से विकास की प्रगति का परिज्ञान हो जाता है ।

सातवां अध्याय

उत्तरी भारत की अन्य शैलियाँ

ग्वालियर तथा वृंदावन के मंदिर

ग्वालियर दुर्ग के मंदिर उस प्रदेश के समीपस्थ देवालयों से भिन्न है। इसी तरह इसे स्थान से डेढ़ सौ किलोमीटर दूर मथुरा तथा वृंदावन के मंदिर भी स्थानीय विशेषता सहित तैयार हुए थे। दुर्ग के भीतर अनेक मंदिरों में कुछ ही प्रमुख हैं। उन मंदिरों का निर्माण ११वीं सदी में हुआ। प्रधान मंदिर 'सासबहु' के नाम से विख्यात है। उसी स्थान पर 'तेली का मंदिर' कुछ पहले निर्मित हुआ। इसमें केवल गर्भगृह के सामने ड्योढी है, जिसमें पवित्र स्थान में जाने का प्रवेशमार्ग है। इसमें कोई वर्गाकार योजना नहीं है। बाहरी आकार सर्वथा आयताकार है, जिसका कमरा क्षेत्रफल में ६० × ४० फुट है। ऊपरी भाग भी आयताकार होता चला गया है। तेली के मंदिर ऐसा अन्य हिंदू मंदिर नहीं दीख पड़ते। इस तरह का आर्य शिखर भुवनेश्वर (उड़ीसा) के त्रिलोकेश्वर में दीख पड़ता है। सास-बहु मंदिर की बनावट में मंदिर-स्थापत्यकला में कोई नवीन विचार उपस्थित नहीं होते हैं और न नए ज्ञान की वृद्धि होती है। इसमें मंडप के अतिरिक्त शिखरयुक्त विमान नष्ट हो गया है, जो १५० फुट ऊँचा रहा होगा। इस कारण सास-बहु का मंदिर एक ऊँचे टीले (सामग्रियो का ढेर)-सा प्रतीत होता है। माप योजना में यह १०० फुट लंबा, ६३ फुट चौड़ा तथा ८० फुट ऊँचा बना होगा। यह तिमंजिला मंडप चारों दिशाओं में खुले बरामदे की अवस्था में प्रतीत होता है। प्रत्येक मंजिल में विशाल बडेरिया तथा सहायक स्तंभ दीख पड़ते हैं। भग्नावस्था में योजना की परिकल्पना से उसके मूल आकार का अंदाजा लगाया जा सकता है। बाहरी आकार से भीतर की दशा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रत्येक मंजिल का भीतरी भाग एक विशाल केंद्रीय कक्ष (प्रकोष्ठ) के रूप में बना है। अतः, इसके परीक्षण से विदित होता है कि स्थापत्यशिल्पी बिना मेहराब अथवा अन्य तरीकों की सहायता लेना नहीं चाहते थे। उन्होंने स्तंभ तथा शहतीर के संयोग से ही सारा कई मंजिल मंदिर खड़ा कर दिया। कमरे के ऊपर कमरा तथा चारों तरफ खुले बरामदे देकर कई मंजिल की इमारत तैयार की। इस कार्य में मध्य के चार विशाल पायो (स्तंभों) का उल्लेख आवश्यक है, जिन पर

इमारत का प्रस्तर बोझ टिका था। संभवतः इसका अनुकरण इस्लामी मसजिद की बनावट में किया गया। उन मसजिदों के केंद्रीय भाग में विशाल स्तंभ सारे बोझ को संभाले रहते हैं।

मथुरा तथा वृंदावन में कृष्ण की लीलाभूमि होने के कारण भक्तों का ध्यान आकर्षित किया और कालांतर में बहुत पीछे मंदिर निर्मित किए गए। इस स्थान पर मंदिर-निर्माण में मिकरी के लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। इनकी स्थापत्यकला अन्य मंदिरों से भिन्न है, यद्यपि उन मंदिरों के विभिन्न नाम हैं—

१. गोविंद देवी मंदिर,
२. राधावल्लभ मंदिर,
३. गोपीनाथ मंदिर,
४. जुगलकिशोर मंदिर और
५. मदनमोहन मंदिर।

परंतु, सभी में भगवान् कृष्ण एवं राधा की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। इनकी शैली स्थानीय रूप में विकसित हुई और वृंदावन के अनिरिवत अन्यत्र उसका अनुकरण नहीं हुआ। इनका निर्माण सोलहवीं सदी में हुआ था। मुगलकाल में स्थानीय हिंदू शासकों ने इसमें हाथ बटाया। महाप्रभु चैतन्य के आगमन में वृंदावन में नया उत्साह था। अतः, कृष्णपूजा के निमित्त, कीर्तन के लिए तथा लीला के संपादन-निमित्त मंदिर तैयार किए गए। सभी मंदिर स्वस्तिका-कार हैं। इनमें छतों ने नीचा न होकर ऊँचा मेहराबी रूप ले लिया है, जैसा उस युग की मसजिदों में देख पड़ता है।

कश्मीर के मंदिर

भौगोलिक स्थिति के कारण कश्मीर का स्थापत्य निजी विशेषता रखता है। यद्यपि यह भाग ऊँचे पर्वतों से घिरा है, परंतु मध्य एशिया तथा ईरान का मार्ग यहाँ से जाता है। आवागमन के कारण उन प्रदेशों की संस्कृतियों का इस घाटी में प्रवेश हुआ, जिस कारण कश्मीर की वास्तुशैली प्रभावित हुई। अतएव, यहाँ की इमारतें विदेशीय शैली से संबद्ध हैं। कश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ (ई० स० ७२४-७६०) ने कश्मीर में भवन-निर्माण का आरंभ किया और उस काल को कश्मीर-स्थापत्य का स्वर्णयुग कह सकते हैं। इस काल की इमारतों में ब्राह्मण धर्म के मंदिरों की प्रमुखता एवं विशेषता है। जिस आकार-प्रकार की इमारतें बनती रही, उसी रीति का बोल-

बाला रहा। इस्लाम के आने से पूर्व कश्मीर में दो विभिन्न संस्कृतियाँ प्रचलित थीं—

१. बौद्ध—२००-७०० ई० और

२. पौराणिक—७००-१२०० ई०।

जैसा कहा गया है, वास्तव में मंदिर-निर्माण का महान युग आठवीं सदी से आरंभ हुआ, जिस समय घाटी में विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ। इन मंदिरों का निर्माण प्रस्तर को तराश कर विशाल पाषाण-खंडों से हुआ था। मंदिर-निर्माण का कार्य प्रायः दो सौ वर्षों तक चलता रहा। तत्पश्चात् ह्रास का युग आता है। विदेशी प्रभाव के कारण ये उत्तरी भारत के मंदिरों से पृथक् अपना स्थान रखते हैं। इनमें भारतीयपन का सर्वथा अभाव है। स्तंभ की स्थिति, दीवार की सतह की बनावट तथा अधिरचना की ऊँचाई की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भारत की स्थापत्य शैली में कश्मीर की निर्माण-पद्धति यूनानी-रोमन रीति से मिलती-जुलती है। उस पर्वतीय प्रदेश में विदेशी अधिक समय तक शासन करते रहे। इस कारण अफगानिस्तान के यूनानी बौद्ध (Greeco-Buddhist) स्थापत्य से मंदिरों का विकास हुआ। कश्मीर के मंदिरों के स्तंभ रोमन के डारिक स्तंभों के सदृश बने हैं। दूसरी विशेषता मंदिरों के छत की है, जो लकड़ी या प्रस्तर से तैयार हुए। रोमन इमारतों में जिस प्रकार चूने-गारे का प्रयोग किया जाता था, वही रीति कश्मीर के स्तंभों में अपनायी गई। श्रीनगर से दूर परिहासपुर के मंदिर में वही विधि दिखलायी पड़ती है।

कश्मीर के प्रमुख मंदिरों में मार्तंड का सूर्यमंदिर उल्लेखनीय है, जिसे ललितादित्य ने तैयार किया था। इसकी स्थापत्यकला अत्यंत उच्च कोटि की है। इसकी शैली पर कालांतर में अनेक मंदिर बनाए गए। वानगढ तथा अवन्तिपुर के मंदिर उसी शैली के हैं। मार्तंड का सूर्यमंदिर यह स्वयं घोषित करता है कि बौद्ध प्रभाव का लोप हो गया था। उसका स्थान हिंदू धर्म ने ले लिया था। पौराणिक देवताओं के मंदिर बनने लगे थे। इन मंदिरों की विशेषता यह है कि अहाते के बीच में गर्भगृह बना है तथा उसके चारों तरफ स्तंभयुक्त बरामदे हैं। यह यूनानी खम्भों की याद दिलाता है। इस मंदिर में सभामंडप के लिए स्थान था। गर्भगृह के सामने कोई कक्ष न था, बल्कि चारों तरफ बरामदा वर्तमान है। नवी सदी से अवन्तिवर्मन ने एक नए युग का आरंभ किया, जिसकी स्थापत्यकला वैष्णवधर्म से संबंधित है। श्रीनगर से तीस किलोमीटर की दूर अवन्तिपुर में आज भी विष्णुमंदिर अंशतः विद्यमान है।

यह मंदिर अधिक परिष्कृत तथा परिष्कृत कला का नमूना है। मंदिर के चारो तरफ स्तंभों की श्रेणी है। प्रवेशद्वार के सामने गरुड की कास्यप्रतिमा स्तंभ पर प्रतिष्ठित है। शंकरवर्मन द्वारा निर्मित दसवीं सदी का शिवमंदिर मार्तण्ड मंदिर के समान है। स्थापत्य शैली में पहले की अपेक्षा अधिक स्तंभ जुड़े हैं। इन्हें विशालकाय चट्टानों को तराश कर बनाया गया है।

पूर्वी भारत के मंदिर

यद्यपि पूर्वी भारत विशेषकर बंगाल महान सभ्यताओं का केंद्र रहा है, किन्तु प्राचीन वास्तुकला के उदाहरण नहीं के बराबर हैं। इस प्रदेश की जलवायु तथा वनस्पति के कारण इमारतें ध्वंस हो गईं और अवशेष नष्ट हो गए। प्राचीन समय की इमारतों में पहाड़पुर (जिला राजशाही, बांगलादेश) का नामोल्लेख किया जा सकता है। उस स्थान की खुदाई से ऐसे मंदिर के भग्नावशेष प्रकाश में आए हैं, जिनका द्वारा उदाहरण भारतीय पुरातत्व को ज्ञात नहीं है। यह एक विशाल स्थापत्य का नमूना है, जो उत्तर-दक्षिण ३५६ फुट तथा पूरब-पश्चिम ३१४ फुट माना गया है। इस स्थान पर पुराने समय में सोमपुर महाविहार का निर्माण हुआ था। इस मंदिर में अनेक चबूतरे दीख पड़ते हैं। वहाँ प्रदक्षिणा दीर्घा वर्तमान है, जो इमारत के चारो तरफ विस्तृत मुंडेरों से घिरा है। पहले तथा दूसरे चबूतरे पर जाने के लिए उत्तर दिशा में सीढ़ियाँ बनी हैं। पहाड़पुर के मंदिर, जो गूढ़ योजना सहित निर्मित प्रतीत होता है, का अध्ययन उसे साधारण स्थापत्य-कला की कृति घोषित करता है। शिल्पकारों ने उस मंदिर के मध्य भाग की योजना ही सोची थी, जिसमें लबान् में विकसित होने की कल्पना थी। उसके मध्य में वर्गाकार मिट्टी का ढेर था, जो चबूतरों से ऊपर उठा दीख पड़ता है। उसी को धूरी मान कर सारी इमारत की योजना सप्त की गई। सीढ़ी की स्थिति के आधार पर यह कहना यथार्थ होगा कि दूसरे चबूतरे तक इस मंदिर का निर्माण हुआ था। उसी सतह पर केंद्रीय टीला ईंट से ढकी जमीन दृष्टिगत होती है। मंदिर की दीवार सूखे ईंट से बनी है और गारे के सहारे जोड़ी गई थी। इस सामग्री से निर्मित मंदिर आज भी जमीन की सतह से ७० फुट ऊँचाई पर वर्तमान है।

यह मंदिर धर्मपाल (आठवीं सदी) के शासनकाल में तैयार हुआ था। उसने इसके समीप एक विशाल मठ की स्थापना की थी। मार्शल का मत था कि मंदिर 'गर्भचैत्य' से युक्त था, जिसको श्री राखालदास बनर्जी प्र०—१७

खाली छत वाला प्रकोष्ठ कहते हैं (आ० स० ऑफ इंडिया १९२५ ६, पृष्ठ १०९)। यह कहा जा चुका है कि भारतीय पुरातत्त्व में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं है। वास्तुशास्त्रों (वृहत्संहिता अ० ५२, मत्स्यपुराण अ० २६९) में सर्वतोभद्र नामक इमारत का वर्णन आया है, जिसमें चौकोर गर्भगृह होता है और प्रत्येक दिशा में प्रवेशद्वार वर्तमान हैं। चारों कोने में छोटी कोठरियाँ हैं, जो चतुःशाला गृह के नाम से विदित हैं। पहाड़पुर का मंदिर इसी सर्वतोभद्र आकार का प्रतीत होता है। इसमें कई चबूतरे हैं, जो एक मंजिल इमारत की ऊँचाई रखते हैं। चारों तरफ पूजागृह हैं। पहाड़पुर के मंदिर दो विभिन्न लक्षणों से युक्त हैं, जो भारतीय मंदिर में प्रमुख समझे जाते हैं—भद्र एवं रेखा शैली के हैं। उड़ीसा में भद्ररेखा शैली के मंदिर वर्तमान हैं। पहाड़पुर की योजना को ध्यान में रख कर एशिया के दक्षिणी-पूर्वी द्वीपसमूहों में इमारतों का निर्माण हुआ था। वर्मा के पेगन मंदिर और मध्य जावा का चंडी सेवु आदि मंदिर उसी रीति से बने हैं।

वाकुंडा तथा वर्दवान जिलों में जो खंडहर मिले हैं, उनके परीक्षण से पता चलता है कि भुवनेश्वर की मंदिर शैली पर वहाँ इमारतें बनी थीं। वर्दवान जिले में स्थित मंदिर को पालनरेशों ने १० वीं सदी में निर्मित किया था। उसके समकालीन वाकुंडा के बहुलारा तथा सिद्धेश्वर मंदिर इस शृंखला के सबसे सुंदर मंदिर हैं। ईंट के बने इस मंदिर के सारे बहिरंग पक्की ईंट से ढके हैं, जिनमें चित्रों का अलंकरण है।

प्राचीन स्थापत्य कृतियों के अतिरिक्त दंडी शैली के भी मंदिर मिले हैं, जो लोक वास्तुकला से मिलते हैं। दक्षिण बंगाल में इनका अधिक प्रचलन था। यह शैली बंगाल में प्रचलित बांस के छप्पर वाली झोपड़ियों के अनुकरण है। इन मंदिरों में ईंट या प्रस्तर के बने दोनों ओर ढालू छज्जे निकाले गए हैं, ताकि वर्षा का पानी आसानी से बह जाए। संभवतः ऐसे मंदिर मल्ल राजाओं के शासन में बने होंगे, जो मंदिर बनवाने के शौकीन थे। ईंट से निर्मित मंदिरों के बाहरी भाग में उभरी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ के चौकोर खंड जुड़े हैं। इनमें धार्मिक तथा पौराणिक कथाओं के दृश्य प्रदर्शित हैं।

दक्षिणी नागर शैली के मंदिर

भारत में विंध्या के दक्षिणी भू-भाग को मंदिरों का क्षेत्र कहें, तो कोई अयुक्ति न होगी। उत्तरी भारत में भी मंदिरों का निर्माण प्राचीनकाल में हुआ था, परंतु इस्लामी आक्रमणों के कारण वे ध्वंस कर दिए गए। उनके भग्नावशेष

उस कहानी को सुनाते हैं। दक्षिण भारत की स्थिति भिन्न थी। उस भाग की स्थापत्य कृतियों पर बाहरी आक्रमण का बुरा प्रभाव न पड़ सका और सुरक्षित रही। यही कारण है कि दक्षिण के मंदिरों के गौरवमय इतिहास का जीवित दृष्टांत सामने दीख पड़ता है। दक्षिण में हजारों मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें अधिक सुरक्षित हैं। बड़े प्रसिद्ध मंदिरों के अतिरिक्त छोटे स्थानों पर भी मंदिर बनाए गए, जिस कारण तीर्थस्थानों की संख्या बढ़ती गई। उत्तरी भारत की तुलना में दक्षिण के हजारों मंदिर प्रचुर मात्रा में अलंकृत नहीं हैं, तो भी दक्षिण भारत के मंदिर अधिक महत्वपूर्ण हैं और कला के सुंदर नमूने हैं। कलाशैली के विकास तथा सर्वोच्च उदाहरण के अवलोकन से यह कहना उचित होगा कि दक्षिण भारत की संस्कृति से उनका गहरा संबंध रहा है।

दक्षिण भारत में मंदिर स्थापत्य के आरंभ के उदाहरण मैसूर के बीजापुर जिले के अंतर्गत ऐहोल के पाषाणनिर्मित मंदिर में मिलते हैं। यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो प्रकट होता है कि उत्तरी भारत के 'नागर शैली' का विस्तार कृष्णा-तुंगभद्रा घाटी में भी हुआ। नागर शैली के इस विस्तार के भी दो उपविभाग किए जा सकते हैं। सबसे प्रथम विस्तार कृष्णा-तुंगभद्रा घाटी में हुआ जहाँ द्राविड शैली के साथ ऐहोल के मंदिर, पट्टादकल तथा आलमपुर की स्थापत्यकला नागर रीति के साथ संपन्न हुई है। यही दोनों शैलियों (नागर तथा द्राविड) का संगम मिलता है। खानदेश के समीपवर्ती भू-भाग में भी नागर शैली की इमारतें वर्तमान हैं। दोनों शैलियों की विशेषताएँ तथा तत्त्वों के संमिश्रण से चालुक्य शैली का जन्म हुआ। यही आगे चल कर एक स्वतंत्र एवं शक्तिशाली शैली के रूप में सामने आता है। बीजापुर जिले का ऐहोल नामक स्थान इमारतों का संग्रहालय है, जिसमें कुछ उसके प्राचीन गौरव को बतलाती हैं। इन मंदिरों का निर्माण ४५० ई० से ६०० ई० के मध्य चालुक्य राजाओं ने कराया था। इसी काल में उत्तरी भारत में गुप्त सम्राटों ने मंदिरों का निर्माण कराया। संभवतः आर्यन शिखर (नागर शैली) का प्रभाव दक्षिण पहुँचा। इसी कारण ऐहोल के मंदिरों में मिश्रित शैली मिलती है। इस स्थान के सत्तर मंदिरों में नागर स्थापत्य के विचार अनेक इमारतों में प्रकट हो रहे हैं। ऐहोल के मंदिर को चालुक्य स्थापत्यकला का जन्मदाता कह सकते हैं। ऐहोल के मंदिर के गर्भगृह त्रिरत्न योजना पर बने हैं। उस पर छोटा शिखर है और मंदिर के सामने के भाग में स्तंभयुक्त कमरा है। नागर शैली के प्रारंभिक शिखर की रूपरेखा ऐहोल के मंदिरों में वर्तमान है।

ऐहोल में स्थापत्य कार्य का उत्साहवर्द्धक आरंभ दो सदियों तक चलता रहा। बादामी से सोलह किलोमीटर दूर पट्टादकल में आज भी मंदिरों का जमघट है। इसमें कई मंदिर उत्तरी यानी नागर वास्तु शैली के हैं, जो पाँचवीं सदी में बने थे। शेष मंदिर दक्षिण (द्राविड) शैली के हैं। इनमें सातवीं सदी में निर्मित नागर शैली के पापनाथ मंदिर का नाम लिया जा सकता है। यह स्थापत्य कला में अन्य मंदिरों से उत्तम तथा प्रभावोत्पादक है। पापनाथ का मंदिर विशाल ठोस चट्टानों से निर्मित है। दीवारें एवं स्तंभ विशालकाय दीख पड़ते हैं। इसके ५० वर्ष बाद निर्मित संगमेश्वर तथा विरुपाक्ष के मंदिर द्राविड शैली के महत्वपूर्ण नमूने हैं। काशी विश्वनाथ के मंदिर का भी उल्लेख करना आवश्यक है। इस प्रकार के मंदिरों में गर्भगृह त्रिरत्न योजना सहित बनाया गया, जिसके ऊपरी भाग में शिखर विद्यमान है। यह सभी ऐहोल तथा उत्तरी भारत के स्थापत्य मंदिरों के नमूनों के समान है। दक्षिण भारत की आरंभिक शिखर शैली में आमलक भी दीख पड़ते हैं। पट्टादकल के पापनाथ मंदिर में ढका प्रदक्षिणा मार्ग है, जिससे संबद्ध दो प्रकोष्ठ हैं। एक को अंतराल तथा दूसरे को सभामंडप कहा जा सकता है। गर्भगृह की छत चिपटी है, जिसके ऊपर शिखर स्थित है। अन्य बनावट तथा तत्वों को ध्यान में रख कर यह कहना यथार्थ होगा कि नागर शैली की मीनार को छोड़ कर समस्त आकार द्राविड रीति के विरुपाक्ष मंदिर के सदृश हैं। संगमेश्वर मंदिर में दक्षिण वास्तुकला का रूप देखते हैं। तु गभद्रा के पश्चिमी विनारे पर आलमपुर में छह मंदिरों का समूह है, जो पापनाथ से मिलता-जुलता है। दक्षिण भारत में नागर वास्तुकला के विस्तार में शिखर की प्रधानता है, जो स्थानीय अन्य आकार-प्रकार से उसे पृथक् करता है। इसमें मुख्य मीनार के साथ अंगशिखर की आवश्यकता का अनुभव उस रूप से नहीं किया गया। परंतु, उड़ीसा तथा दक्षिण की नागर शैली में मुख्य शिखर से अंगशिखर को गौण स्थान दिया गया है। इस कारण कालांतर में अंग शिखर अप्रधान हो गए और स्वतंत्रता खो बैठे। स्टेलाक्रामुश इस आकार को संग्रहित रूप मानती हैं, जिसमें दोनों को (मुख्यतया अंगशिखर) मिश्रित करने का सफल प्रयत्न किया गया (हिंदू टेम्पल्स भाग १, पृष्ठ २१-९)। इसमें एक की ऐसी प्रधानता हो गई कि शिखर की अन्य छोटी प्रतिकृतियाँ बाधा नहीं उपस्थित कर सकी। मंदिरों में उरु-शृंग इमारत (मंदिर) के निचले भाग में स्थित रहते हैं। दक्षिण के शिखर के साथ इसका लंबवत् रूप निचले कारनिस से सीधे मीनार के ऊपरी भाग तक एक सीध में पहुँच जाता है। इसकी विशेषता यह हो जाती है कि इस गुंबदी

प्रतिकृति की नई परिधि के भीतर सारी इमारत तैयार की गई है। उसके बाहर कोई भी बनावट नहीं दीख पड़ती। ऐसा दीख पड़ता है कि उरुशृंग एक सीध में जुड़े हैं। उनका पृथक् अस्तित्व वहीं है। इस कारण वे मुख्य मीनार से अलग नहीं किए जा सकते। सिरे पर आमलक शिला के समीप सभी पक्तियाँ मिल जाती हैं।

पिट्टादकल के दस मंदिरों में चार आर्य शैली तथा छह द्रविड़ पद्धति से निर्मित हुए थे।

अ र्य शिखरयुक्त—

१. पापनाथ (ई० स० ६८०)
२. जंबूलिंग
३. करसिद्धेश्वर
४. काशी विश्वनाथ

द्रविड़ शिखरसहित—

१. संगमेश्वर (ई० स० ७२५)
२. विरुपाक्ष
३. मल्लिकार्जुन
४. गलगनाथ
५. सुमेश्वर
६. जैनमंदिर

थोड़े समय में वास्तुशिल्प का अधिक कार्य हुआ था। कहा जाता है कि चालुक्य राजाओं की बढ़ती शक्ति के कारण बाहरी कलाकारों को बुला कर स्थानीय शिल्पियों को सहायता पहुँचायी गई, ताकि कार्य शीघ्र संपन्न हो सके। इन मंदिरों की सुंदर बनावट विशेष कर विरुपाक्ष मंदिर का निर्माण इस कारण सफल हुआ कि चालुक्य वास्तुशिल्पियों ने लगन से काम किया। इस परिस्थिति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सातवीं सदी में चालुक्य तथा पूर्वी समुद्रतट पर शासन करने वाले पल्लव राजाओं से घनिष्ठ संपर्क हो गया था। यही कारण था कि मैसूर के भाग में इमारतों की प्रगति रही तथा स्थापत्य कृतियाँ प्रभावित हुईं। इस प्रकार दक्षिण के ऐहोल, पिट्टादकल तथा आलमपुर नगरों के मंदिरों का विवरण यह बतलाता है कि चालुक्य राज्य में ऐसा संगम था, जहाँ आर्य शिखर तथा द्रविड़ शैली के मंदिर निर्मित किए गए।



आठवाँ अध्याय द्राविड़ पद्धति

दक्षिण भारत के सांस्कृतिक प्रवाह के साथ स्थापत्यकला का बनिष्ठतम संबंध रहा है। उस भाग में स्थापत्य कृतियों पर बाहरी आक्रमण का प्रभाव न पड़ सका। अतएव, दक्षिण भारत के मंदिर भारतीय पल्लवशैली के मंदिर वास्तुकला का गौरवमय इतिहास प्रस्तुत करते हैं। दक्षिण के हजारों मंदिर सुरक्षित हैं तथा भारतीय स्थापत्यकला के सुंदर नमूने हैं। दक्षिण भारत में एक नई शैली का विकास हुआ, जिसे द्राविड़ शैली का नाम दिया गया है। वह आर्य शैली से सर्वथा भिन्न है। इस पद्धति यानी मंदिर की स्थापत्य शैली का विस्तार मुख्यतया तमिलनाडु राज्य तथा आंध्र प्रदेश में हुआ। तंजौर, मदुरै, श्रीरंगम्, चिदंबरम् तथा रामेश्वरम् आदि स्थानों पर इस रीति के विशाल मंदिर विद्यमान हैं। अनेक समकेंद्रिक प्रांगण, भव्य शिखर तथा सहस्र अलंकृत स्तंभों सहित पद्धति का विकास हजार वर्षों के स्थापत्यकला का परिणाम है। द्राविड़ स्थापत्यकला के नमूने छठी सदी से मिलते हैं। यदि इस पद्धति के विकास के युग पर विचार किया जाय, तो इसे पाँच उपविभागों में विभक्त कर सकते हैं। निम्नलिखित पाँच महान राजवंशों ने इस विकास में योग दिया—

(१) पल्लव कालीन रीति	(ई० स० ६००-९००)
(२) चोल कालीन पद्धति	(ई० स० ९००-११५०)
(३) पांड्य कालीन पद्धति	(ई० स० ११५०-१३५०)
(४) विजयनगर पद्धति	(ई० स० १३६०-१५६०)
(५) मदुरा के नायक	(ई० स० १६००-१७००)

दक्षिण भारत में पल्लव शासन मध्य युग में सक्रमण की अवधि है। इसी युग में द्राविड़ स्थापत्यकला का शुभारंभ हुआ। दक्षिण भारत में सातवाहन वंश के उत्तराधिकारी पल्लव राजा सातवी सदी से शासन करते रहे। पल्लव स्थापत्यकला का केन्द्र काची के समीप में स्थित था। इस शताब्दी के पल्लव युग में पर्वत खोदकर रथ से आरंभ होकर द्राविड़ शैली के मंदिरों का विकास

सफलतापूर्वक हुआ, जिसके उत्थान में अनेक राजवंशों ने हाथ बटाया। इसका फैलाव सीमित रहा और विशेष राजवंश के पैतृक संपत्ति के रूप में यह कालांतर में विकसित होता रहा। इस प्रकार अंतिम अवस्था को पहुँच सका। दक्षिण में शक्तिशाली बन कर तीन शताब्दियों तक पल्लवनरेशों ने वास्तुशिल्प को प्रोत्साहित किया था। उनकी संपूर्ण कृतियाँ दो श्रेणी या (अवस्था) में बाँटी जाती हैं खुदाई एवं बनावट—(Excavated and Structural)। प्रथम अवस्था के भी दो उप-विभाग हैं।

(१) महेंद्र शैली—शतवी सदी के आरम्भ में जिस स्थापत्यकला का प्रादुर्भाव हुआ, वह प्रस्तर चट्टानों को खोदकर तैयार हुई। उन खोदी हुई इमारतों को 'रथ' कहा जाता है। चूँकि महेंद्र के उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मन पल्लव नरेश की पदवी महामल्ल थी, अतः रथों को महामल्ल स्थापत्य वर्ग में भी रखा जाता है। सौ वर्षों (ई० स० ६१०-६९०) में सारा कार्य संपन्न हुआ। इस अवधि में भी दो प्रकार की स्थापत्य शैलियाँ प्रचलित हुईं, जो आगे चल कर एक साथ मिल गईं। महामल्ल उपाधि के कारण समुद्र-किनारे पर स्थापित नगर महामल्लपुर (वर्तमान महाबलिपुरम्) के नाम से विख्यात हुआ। यह नगर मद्रास से ६० किलोमीटर दूर स्थित है, जहाँ आरंभिक दोनों रीतियों का प्रचलन रहा—मंडप तथा रथ।

(अ) मंडप—ये मंडप १५ या २० फुट के बराबर ऊँचे हैं। इन मंडपों में खंभों की सुंदरता, छज्जों की बनावट तथा स्थापत्य के साथ मूर्तिकला का मेल दर्शनीय है। मंडप पर्वत खोद कर तैयार किए गए, जिनके स्तंभ अलंकृत हैं। आधार में सिंह की आकृतियाँ हैं, जिस कारण उन्हें 'सिंहस्तंभ' कह सकते हैं। उन मंडपों के भीतर कोठरियाँ भी हैं।

(ब) दूसरी रीति की स्थापत्यकला के उदाहरण को 'रथ' कहते हैं। यह वास्तव में उन विशाल मंदिर-रथों के समान है, जिन पर देवमूर्तियाँ यात्रा में निकाली जाती हैं। जैसे जगन्नाथपुरी का रथ। महाबलिपुरम् में इस रथ शब्द का कुछ विभिन्न प्रयोग है। इसे एकाक्षम मंदिर (Monolithic Ratha) कह सकते हैं।

(स) राजसिंह समूह—पल्लव स्थापत्यकला की दूसरी श्रेणी को महामल्ल के उत्तराधिकारी राजसिंह के साथ संबंधित कर उसे राजसिंह वर्ग (शैली) कहते हैं। यह स्थापत्यकला दो सौ वर्षों (८ वी तथा नौवी सदी) तक प्रचलित

रहो। इस स्थापत्य शिल्प की विशेषता यह है कि राजसिंह वर्ग की सभी इमारतें प्रस्तर टुकड़ों को जोड़कर (Structural forms) तैयार हुई थी।

सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में महेंद्र वर्मन ने कार्य आरम्भ किया। इसके द्वारा प्रस्तर चट्टान को खोदकर स्तंभयुक्त कमरा (मंडप) तैयार किया गया। अंदर की ओर कोठरियाँ दीख पड़ती हैं। मंडप को उनकी ड्योढ़ी मान सकते हैं। प्रत्येक स्तंभ सात फीट ऊँचा है। उसका मध्य भाग चौकोर है। महेंद्र वर्मन वर्ग के मंडपों में स्तंभ कारनिस रहित हैं। त्रिचनापल्ली के पर्वत में खुदा मंडप अत्यंत सादा है। कालांतर में कारनिस (कपोत प्रार्चान नाम) को ऐसा अलंकृत किया कि अंतर से स्तंभ में आकार जोड़ा गया, जिसे 'कुडु' कहते हैं। वह बौद्ध गुफाओं के चैत्य मेहराब के समान है। किंतु, उसे छोटा रूप देकर (कुडु को) अलकरण का साधन बना लिया गया। उस अवधि में अन्यत्र भी मंडप बने थे, जो एक के ऊपर दूसरा स्तंभ युक्त प्रकार था। बौद्ध विहारों में उसकी एकता या उनका अनुकरण मान सकते हैं। भैरवकोडा में ऐसे अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। इस स्थान के स्तंभ परिष्कृत रूपरेखा के हैं, जिन्हें द्राविड़ रीति का प्रतिनिधि मानना उपयुक्त होगा। सिंह आधार उनके वश (सिंहविष्णु) का प्रतीक समझा गया है। मामल्ल वर्ग की दूसरी अवस्था में 'रथ' को स्थान दिया गया है। नरसिंह वर्मन (ई० स० ६४०-६६८) इस स्थापत्यकला का संरक्षक था। इसकी शासन-अवधि में मंडप के साथ 'रथ' की प्रधानता थी। समुद्र-किनारे महाबलिपुरम् में दोनों अवस्थाओं के स्थापत्य उदाहरण तैयार किए गए थे। यह नगर पल्लव राजधानी काचीपुरम् का बदरगाह था, जहाँ से दक्षिण भारत के शासकों ने एशिया के पूर्वी द्वीपसमूह पर आक्रमण किया था। पल्लव स्थापत्य शैली का विस्तार भी इसी मार्ग से वृहत्तर भारत में हुआ। महाबलिपुरम् के समुद्र-किनारे इमारती कड़े प्रस्तर का पर्वत है, जो उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत है। यह आधा मील लंबा, चौथाई मील चौड़ा तथा सौ फुट ऊँचा था। इस स्थान का प्रस्तर कड़ा (Granite Stone) होते हुए भी समुद्री हवा के कारण नष्ट होता चला जा रहा है। समुद्र के किनारे की इमारतें प्राचीन कही जाती हैं, किंतु उनका मूल आकार नष्ट हो गया है।

महाबलिपुरम् में दस खुदे मंडप हैं जिनमें धर्मराज, महिषासुर पंच पांडव वराह उल्लेखनीय हैं, जो मुख्य पर्वत में खुदे हैं। प्रायः सभी मंडप सामने २५ फुट चौड़े और २० फीट ऊँचे हैं। कोठरियों सहित मंडप २५ फुट गहरे हैं, जिनमें स्तंभ की ऊँचाई नौ फुट है। कोठरियाँ चौकोर एवं १० × ५ वर्ग

फुट क्षेत्रफल में बनी हैं। सामने का माथा कुडू सहित बने हैं। मंडों की यही विशेषता है कि सभी शिल्प कला के सुंदर अलंकरण से युक्त है। मंडों के स्तंभ प्रचुर मात्रा में खुदे भी हैं।

महेंद्र शैली की दूसरी अवस्था (Phase) में रथों का निर्माण हुआ। इनको बालू के भीतर किस उद्देश्य से खोदा गया था, यह एक रहस्य है। सभी रथ अकेला, बिना लक्ष्य के खड़े हैं, जिनकी अदरूनी खुदाई असमान है। इनसे मंदिर-निर्माण में कितना उत्साह एवं प्रोत्साहन मिला होगा, यह अज्ञात-सा है। रथ की ऐसी बनावट इमारतों की रहस्यमय कल्पना थी, जिसे अभी तक गूढ़तम समझते हैं।

महाबलिपुरम् के रथ अतीव विशाल चट्टान से निर्मित न हुए; क्योंकि उनका क्षेत्रफल सीमित था। ये ४२ फुट लंबे, ३५ फुट चौड़े तथा ४० फुट ऊँचे आकार में हैं। उनकी संख्या सात होने से 'सात पगोडा' (Seven Pagodas) के नाम से विख्यात है। ब्राउन का मत है कि दोनों बौद्ध मठ तथा चैत्य-मंडप के अनुकरण पर तैयार हुए हैं। सात पगोडा निम्नलिखित हैं—

- (१) द्रौपदी रथ,
- (२) अर्जुन रथ,
- (३) धर्मराज रथ,
- (४) नकुल-सहदेव रथ,
- (५) भीम रथ,
- (६) गणेश रथ और
- (७) किनारे का मंदिर।

द्रौपदी रथ सबसे छोटा है, सादा यानी अलंकरणरहित है तथा पूर्णतया खुदा है। एकाक्षर रथों का स्थापत्य प्राचीन बौद्ध विहारों पर आधारित होने के कारण चौकोर या आयताकार है। ब्राउन ने इनका उल्लेख 'विहार रथ' के नाम से किया है। संभवतः वर्गाकार आंगन में स्थित कोठरी के स्वरूप से रथ का विकास हुआ। ऊँचाई में ये पिरामिड या गोली के आकार के हैं। प्रायः सभी रथ दो मंजिल के हैं। प्रत्येक छत पर उन्नतोदर (Convex) रूप में कानिस् दीख पड़ती है, जिसे चैत्य वातायन सदृश मेहराब से अलंकृत किया गया है। दक्षिण भारत में उसे 'कुडू' कहते हैं। रथ की निचली दीवार में भित्तिस्तंभ बने हैं तथा ऊपरी मंजिल छोटे मंडप से घिरी है। नकुल-सहदेव रथ योजना में

चौकोर था, परंतु कुछ आयताकार भी बने हैं। सभी रथों की परिकल्पना एक-सी नहीं है। ऊपरी भाग में गुंबज को 'स्तूपी या स्तूपिक' कहते हैं। गुंबज मेहराबी आकार के भी हैं। इसी को ध्यान में रख कर मूलतः द्राविड़ शैली के दो प्रकार—(१) मीनारसहित विमान तथा (२) विशाल मार्ग द्वार गोपुरम् विकसित हुए थे।

धर्मराज रथ वर्गाकार है और संभवतः इसी से द्राविड़ विमान का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें जमीन की सतह का कक्ष वर्गाकार है, जिसके चारों तरफ स्तंभ सहित खुला बरामदा है। इसी आकार-प्रकार के ऊपरी भाग में गुंबज है, जो शृंङ्गाकार है (सूच्याकार प्रस्तर स्तंभ) जो क्रमशः ऊपरी भाग में पतला होता चला गया तथा जिसके सिरे पर (टोपी की तरह) गोल अष्टकोण स्तूपिका दीख पड़ती है। प्रत्येक मंजिल दूसरी से पृथक् है। उनमें उन्नताकार चैत्यनुमा मेहराब (कुडु) बने हैं। देखने में पता चलता है कि ऊपरी मंजिल गर्भगृह का काम करती है तथा नीचे का बरामदा प्रदक्षिणा मार्ग प्रकट होता है। इस प्रकार धर्मराज रथ तो विशिष्ट तौर पर द्राविड़ विमान का रूप उपस्थित करता है। गणेश रथ चौकोर होकर आकर्षक तथा दिलचस्प है। ऊपर मंजिल का मिरा गोली के आकार सदृश शवकक्ष से ढँका है। इसमें छोटे पैमाने पर गोपुरम् का आकार अपनी विशेषता लिए बनाया गया है। चौकोर योजना में प्रवेशद्वार उपयुक्त माना जाता है और गोली के आकार की छत भी उपयोगी सिद्ध होती है। महाबलिपुरम् के वर्गाकार तथा चौकोर प्रकार के रथ साथ-साथ विद्यमान हैं, जिनकी स्वतंत्र कल्पना शात होती है। विद्वानों का मत है कि द्राविड़ मंदिर के दो प्रमुख तत्त्वों का मूल मामल्लपुरम् के रथों में निहित है। राजसिंह (पल्लव) शैली में प्रस्तर चुनकर निर्मित इमारतों में काचीपुरम् का कैलाशनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। इसमें द्राविड़ शैली की सभी विशेषताएँ सुव्यवस्थित ढंग से व्यक्त की गई हैं। राजसिंह पल्लव ने महाबलिपुरम् के समुद्र-तट के मंदिर तत्पश्चात् काची के कैलाशनाथ मंदिर का निर्माण करवाया।

दक्षिण भारत के नगरों में काचीपुरम् की भी प्रसिद्धि है। इसके वैभव के कारण चौथी सदी में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने काची पर आक्रमण किया था तथा विष्णुगोप नामक राजा को परास्त किया। सातवीं सदी से पल्लवों की राजधानी कांची विद्यालयों तथा मंदिरों के लिए विख्यात है। यहाँ शैव तत्पश्चात् वैष्णव मत का प्रचार था। यही कारण है कि शैव मंदिर (कैलाशनाथ) तथा वैष्णवमंदिर (वैकुण्ठ पेरुमल) का निर्माण हुआ था। महाबलिपुरम्

की भाँति कांचीपुरम् भी द्राविड़ स्थापत्य का उद्गम स्थल है। यहाँ पल्लव स्थापत्य के सभी अंग विद्यमान हैं—

- (१) पतला शिखर (विमान के ऊपर),
- (२) स्तंभदार सभामंडप,
- (३) अंतराल और
- (४) आयताकार आंगन तथा ऊँचा परकोटा।

कैलाशनाथ मंदिर बुजियों से मंडित परकोटे से बिरा है। आयताकार आंगन के पश्चिमी किनारे पर गर्भगृह बना है। विमान की छत चिपटी है। स्तंभदार मंडप तथा पिरामिड के समान ऊपर पतला होते शिखर (स्तूपी) सहित गर्भगृह बना है। इस स्थान पर भी सिंह वाले भित्तिस्तंभ दीख पड़ते हैं। विमान यानी गर्भगृह का शिखर अधिक विकसित है तथा ठोस और ससगत रूप में बना है। कैलाशनाथ मंदिर में गोपुरम् का आरंभिक रूप दृष्टि-गोचर होता है। इस मंदिर के परीक्षण से प्रकट होता है कि एकाक्षर रथ एवं तट मंदिर से अधिक विकसित रूप का शिखर कांचीपुरम् के स्थापत्य की एक विशेषता है, जो सुव्यवस्थित एवं उचित अनुपात में तैयार किए गए। कांचीपुरम् के कैलाशनाथ की बनावट मंदिर की जटिल अवस्था का द्योतक है। मंदिर में दो प्रकार के प्रस्तर प्रयुक्त हैं। आधार कड़े प्रस्तर तथा ऊपरी भाग बालूदार प्रस्तर द्वारा निर्मित है। वह द्राविड़ शैली का समष्टि रूप में उदाहरण उपस्थित करता है। 'विमान' तथा 'स्तंभयुक्त मंडप' द्राविड़ मंदिर का आवश्यक अंग हैं। विमान के संमुख निर्मित मंडप पृथक् अस्तित्व रखता था। किंतु, समयांतर में दोनों को एक कक्ष से संबंधित कर दिया गया, जिसे 'अंतराल' कहते हैं। मंदिर के पूर्वी प्रवेशद्वार से आंगन में पहुँच जाते हैं। द्वार के पार्श्व में आयताकार दोमंजिला बनावट है, जिसके ऊपरी भाग में मेहराबदार गोल शिखर है। मुख्य मंदिर का यह सहायक प्रकोष्ठ है, जो प्रवेशमार्ग के भवन के निमित्त उपयोगी है। इसी को गोपुरम् का आरंभिक रूप मानते हैं। अतः, द्राविड़ शैली के वास्तविक स्वरूप कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में पाते हैं। इसमें

- (१) विमान (स्तूपी सहित),
- (२) स्तंभयुक्त मंडप,
- (३) गोपुरम् तथा

(४) परकोटे से घिरे आंगन का निर्माण, सभी आवश्यक तत्त्व विराजमान हैं।

राजसिंह ने लगभग ई० स० ७८० में बैकुंठ पेरुमल का वैष्णव मंदिर तैयार किया था। यह पल्लव शैली का अधिक विकसित उदाहरण है। यह मंदिर परकोटे से घिरा है, जिसकी पूर्वी दीवार में ड्योढ़ी है। परकोटे की बाहरी दीवार भित्तिस्तंभ तथा ताख सहित दीख पड़ती है। अंदर की ओर स्तंभों की श्रेणी वाले मठ बने हैं, जो विमान तथा मंडप से खुले मार्ग द्वारा पृथक् हैं। इसे अलग करने वाले रिक्त स्थान को प्रदक्षिणा के लिए उपयोग करते हैं। मंदिर का मंडप स्तंभों सहित वर्गाकार कक्ष है, जिसमें गर्भगृह - में जाने का मार्ग बना है। गर्भगृह की योजना वर्गाकार है, जिसके ऊपरी भाग में पिरामिड सदृश चार मंजिल का बुर्ज है और उसकी आठकोनी स्तूपिका है। सबसे ऊपर कलसी बनायी गई है। प्रत्येक मंजिल गर्भगृह के सदृश है। सबसे नीचे छत से ठका प्रदक्षिणा-मार्ग भी है। ऊपर प्रदक्षिणा-पथ के साथ खुला बरामदा भी वर्तमान है। बाहरी ओर मंजिल में गोल कानिसे है। भूमि सतह पर स्थित कक्ष के भित्तिस्तंभों के मध्य भाग अलंकृत भी हैं। इस प्रकार पेरुमल मंदिर में कक्ष, अर्द्धमंडप, गर्भगृह सभी मिलकर सुसंहत वास्तुरूप धारण करते हैं। इस क्रम से द्राविड शैली के मंदिर वास्तविक रूप धारण करते जा रहे थे।

आठवीं सदी से पल्लव वंश की अवनति होने लगी। स्थापत्य-कार्य शिथिल हो गया। तो भी वास्तु-कार्य में उत्साह-भंग न हो पाया और उत्तर पल्लव-युग में कांची के शासक नंदिवर्मन तथा उत्तराधिकारियों ने मुक्तेश्वर एवं मातंगेश्वर मंदिरों का निर्माण किया। देखने से विदित होता है कि ये राजसिंह शैली के अनुरूप ही थे। पल्लव-युग में द्राविड मंदिरों के विकास-क्रम में पट्टादकल के विरूपाक्ष मंदिर का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि यह नगर चालुक्य राज्य सीमा में स्थित था, किंतु चालुक्यनरेश विक्रमादित्य द्वितीय (ई० स० ७३३-७४६) के शासनकाल में निर्मित हुआ। उस पर द्राविड शैली के प्रभाव का कारण यह था कि चालुक्य राजा ने पल्लवों की कांची पर तीन बार आक्रमण किया। विजय के फलस्वरूप विरूपाक्ष मंदिर तैयार किया गया, अतः द्राविड शैली का प्रभाव स्वाभाविक रूप में ज्ञात हो जाता है। पट्टादकल के विरूपाक्ष तथा कांची के कैलाशनाथ मंदिरों में समान योजना एवं बनावट में एकरूपता है। देखने से कांची के मंदिर का वह दूसरा रूप प्रकट होता है। विद्वानों का मत है कि विरूपाक्ष मंदिर ने एलोरा के कैलाशनाथ गुहा मंदिर को प्रभावित किया, जिसमें पर्वत की खुदाई तथा तकनीकी क्रिया के कारण विभेद दीख पड़ता है। एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर को राष्ट्रकूटनरेश

कृष्ण ने (ई० स० ७५८-७७३) पूरा कराया। राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग चालुक्य का उत्तराधिकारी था और उसके कार्यों को राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण ने पूरा किया था। एलोरा मंदिर का आगन ३०० × २०० वर्गफुट में विस्तृत है। विमान तथा मंडप हैं। चारों तरफ प्रदक्षिणा-पथ तथा पार्श्व में खुदी मूर्तियों से भरा लंबा बरामदा है। प्रवेशमार्ग पर दो मंजिल का कक्ष है, जिसे गोपुरम् का मूल रूप कह सकते हैं।

दक्षिण भारत के चोल मंदिर

दक्षिण भारत में पल्लव शासन का ह्रास हो जाने पर चोलवंश का उदय हुआ। नौवीं शती के पश्चात् चोल राजा दो सौ वर्षों तक शासन करते रहे। चोल शासन का प्रभुत्व केवल दक्षिण भारत में ही सीमित न रहा, बल्कि इनकी महान शक्ति का प्रभाव उत्तरी भारत की गंगा घाटी तथा दक्षिण में लंका द्वीप तक विस्तृत हुआ। भारत के पूर्वी समुद्र-किनारे पर इनकी शक्ति का अत्यधिक विस्तार हुआ, इसी कारण मद्रास के पूर्वी समुद्र-तट को 'चोलमंडल' कहा जाता है। उसे अंग्रेजों में 'कारोमंडल' कहते हैं। वही इनकी सामुद्रिक शक्ति का विकास हुआ तथा चोलनरेशों ने वर्मा एवं मलाया के भू-भाग और एगिया के दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह को अपनी शक्ति द्वारा प्रभावित किया। उस शक्तिशाली साम्राज्य में अनेक भव्य एवं विशाल मंदिर तैयार किए गए, जो दक्षिण की द्राविड शैली के सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करते हैं। पल्लव राज्य की स्थापत्यकला का विकसित रूप चोल मंदिरों में देखते हैं।

संगमकाल के चोलनरेश करिकाल के कलित वैभव के विषय में कुछ कहना उचित न होगा। नौवीं शती के पूर्वार्द्ध विजयालय नामक राजा ने तंजौर के समीप छोटा-सा राज्य स्थापित किया, जो उसके उत्तराधिकारियों के शासन में विशाल साम्राज्य बन गया। परातक ने मदुरै तथा लंका पर विजय प्राप्त की। वह शैव मतानुमायी था, अतः चिदंबरम् के मंदिर को सोने से ढँक दिया। त्रिचनापल्ली जिले में स्थित कोरगनाथ का मंदिर इसी ने बनवाया था। उसका पुत्र राजादित्य राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के साथ युद्ध में मारा गया। उसी का पुत्र सुंदर चोल साहित्य का बड़ा संरक्षक हुआ। चोलों का राज्य राजराजा प्रथम (ई० स० ९८५) के शासन में चरम सीमा को पहुँच गया था। वही चोल वंश का सबसे प्रतापी एवं शक्तिशाली राजा माना जाता है और उसके शासन में साम्राज्य का चरमोन्नति हुई। उसकी संरक्षता में

साहित्य, धर्म एवं कला का अक्षुण्ण विकास हुआ। राजराजा प्रथम ने केरल, पाण्ड्य, सिंहल के शासकों को पददलित कर गंगवाडी, मैसूर तथा पर्वतीय प्रदेश को रौंद डाला। इसने समीपवर्ती द्वीपसमूहों को भी अधिकार में कर लिया। शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर उसने तंजौर में विशाल मंदिर का निर्माण किया, जो बृहद्देवस्वर अथवा राजराजेश्वर नाम से प्रसिद्ध है।

११वीं सदी के प्रारंभ में उसके उत्तराधिकारी राजेंद्र नरेश (ई० स० १०१२-४४) ने चालुक्य राजा जयसिंह को परास्त किया। पूर्वी चालुक्य राज्य, कर्लिंग, दक्षिण कोशल तथा बंगाल के पाल साम्राज्य पर आक्रमण कर विजयी बना था। इस प्रकार उसने चोल तथा चालुक्य के मिश्रित राज्यों पर शासन किया। चोलवंश के प्रायः सभी शासक स्थापत्य-कार्य में दिलचस्पी लेते रहे। शैव मतावलंबी होने के कारण अनेक मंदिरों का निर्माण किया, जो द्राविडशैली के उत्तम नमूने समझे जाते हैं। तंजौर, कांची, मदुरै, चिदंबरम् तथा दारासुरम् के मंदिरों का नामोल्लेख समीचीन होगा।

पल्लवमंदिरों की तुलना में चोलमंदिरों की प्रमुखता है। कांचीपुरम् का पल्लवमंदिर कैलाशनाथ का विमान महत्त्वपूर्ण है। लेकिन, गोपुरम् का आरंभ (छोटा रूप में) दीख पड़ता है। किंतु, चोलमंदिरों में विमान विशाल पैमाने पर तैयार किया गया और गोपुरम् भी बड़ा बनाया गया था। राजराजा तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में तंजौर, दारासुरम् तथा गंगैकोडा चोलपुरम् में बृहदाकार मंदिर तैयार हुए थे। गोपुरम् का आकार क्रमशः बृहत् होता गया और उत्तरार्द्ध चोल राज्यकाल में गोपुरम् विशाल आकार का हो गया एवं उसकी तुलना में विमान छोटा दीख पड़ने लगा। इस प्रकार चोलमंदिरों के गर्भगृह के शिखर एवं गोपुरम् पहले से बृहदाकार हो गए। द्वारपाल के संबंध में भी ऐसी बातें कही जा सकती हैं। पल्लवमंदिरों के द्वारपाल मनुष्य के प्राकृतिक स्वरूप में, दो भुजाओं वाले तैयार किए गए थे, जो चोल-युग में भयंकर मुखाकृति तथा चार भुजासहित निर्मित हुए। तंजौर तथा गंगैकोडा चोलपुरम् मंदिरों में द्वारपालों के सिरे पर त्रिशूल बना है। मुख से हाथी के दाँत निकले दीख पड़ते हैं। गोला आँखें तथा वक्र भीहें दर्शकों में भय उत्पन्न करती हैं। उनके हाथ भी तर्जनी मुद्रा तथा विस्मय अवस्था में बनाए गए हैं। अतएव, पल्लव तथा चोलमंदिरों के अवलोकन से ही उनकी तिथियाँ निश्चित हो जाती हैं—

पल्लव मंदिर

१. विमान की प्रमुखता
२. गोपुरम् का आरंभ
३. मनुष्य के आकार के द्वारपाल
४. दो भुजाएँ वाले मनुष्य
५. समतल भूमि पर स्थित मंदिर
६. सिंह सहित स्तंभ जिसमें जानवर बैठा है या अलंफ ले रहा है।
७. मंदिरों में सिंह एवं अन्य लोकातीत जानवरों को स्थान दिया गया था।

चोल मंदिर

१. विमान की विशालता
२. गोपुरम् का बृहत् रूप
३. भयंकर आकृति वाले द्वारपाल
४. चार भुजाओं सहित द्वारपाल
५. चबूतरे पर निर्मित मंदिर
६. दो कुंडु जिस पर सिंह का सिंहा बना है
७. स्तंभावलिसहित पृथक् मंडप का निर्माण
८. विस्तृत आंगन
९. दिक्पाल की स्थिति
१०. शार्दूल अलंकरण की परंपरा
११. पल्लव-युग में विभिन्न चोल-स्तंभों की बनावट है। उनमें सिंह के आकार का अभाव है। चोल-युग में स्थापत्य शिल्पी सादापन के गुणग्रहक थे। उन्हें स्तंभ सँवारने की कला ज्ञात थी। इस कारण किसी वास्तु-अंश को वे समुचित स्थान पर रखते थे। किसी प्रकार के लोकातीत पशु के लिए चोल स्थापत्य शैली में स्थान न मिल सका।

चोलवंशी राजाओं द्वारा निर्मित मंदिर तीन प्रमुख स्थानों पर स्थित हैं, जिनकी वनावट, आकार तथा सुंदरता दर्शनीय है।

१. तंजौर का बृहदेश्वर मंदिर (राजराजा द्वारा निर्मित)

२. गगैकोडा चोलपुरम् का वीर राजेंद्र प्रथम द्वारा निर्मित तथा द्वितीय बृहदेश्वर मंदिर

३. दारासुरम—राजराजा द्वितीय द्वारा निर्मित ऐरावतेश्वर

तंजौर का बृहदेश्वर (शिव) मंदिर चोल साम्राज्य के वैभव का द्योतक तथा दक्षिण भारत के वास्तुशिल्प की एक ऐतिहासिक घटना बतलाता है। यह इसके निर्माता राजराजा (ई० स० ९८५-१०१२) के गौरव को प्रतिध्वनि करता है। शासक की कीर्ति का परिज्ञान विशाल मंदिर की चारों दिशाओं में खुदे लेखों के अध्ययन से हो जाता है। राजा ने मंदिर के गुंज को सोने में ढंक दिया था।

बृहदेश्वर मंदिर कड़े प्रस्तर के चट्टानों से बनाया गया, जो समीप के स्थानों में अप्राप्य है। उसकी विशालता का अनुमान क्षेत्रफल से ही हो जाता है। यह वर्गाकार १५० फुट ऊँचे चबूतरे पर तैयार किया गया। उसके गर्भगृह की ऊँचाई सौ फीट है, जिसके सिरे पर दो सौ फीट ऊँचा विमान दीख पड़ता है। यह मंदिर ५०० × २५० वर्ग फुट क्षेत्रफल में विस्तृत परकोटे से घिरा है। इसके पूर्व दो सौ पचास वर्गफुट का बाहरी आँगन तैयार किया गया था, जिसमें निवास निमित्त कोठारियाँ तथा छोटे-छोटे पूजामंदिर बनाए गए थे। पूर्वी दीवार में गोपुरम् बना है, जो पीछे जोड़ा गया था। इसी से सबद्ध छोटा गोपुरम् है, जिससे होकर मुख्य आँगन में पहुँचते हैं। इस भाग में स्तंभ सहित विहार बने हैं और सबसे पीछे गर्भगृह पर राजसी विमान ऊपर उठता चला गया है। उस मंदिर समूह में पृथक् विशाल मंडप, स्तंभ सहित ड्योढ़ी तथा नदी के लिए तीर्थमंदिर बनाया गया है। सभी आकार-प्रकार अपनी प्रमुखता रखते हैं तथा कार्य एवं स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इतना होने पर भी विमान की विशालता, गौरव एवं विशिष्टता में किसी प्रकार की न्यूनता दृष्टिगोचर नहीं होती। द्राविड़ स्थापत्य के इतिहास में बृहदेश्वर मंदिर अपना गौरव रखता है तथा युगांतकारी घटना है। इस मंदिर के विमान के निम्न तीन विभाग हो सकते हैं—

(१) गर्भगृह का घनाकार अंश, जिसमें प्रदक्षिणा-मार्ग ढँका है।

(२) विशाल पिरामिड के आकार का उपविभाग, जिसके भीतर तैरह

ह्रासमान (क्रमशः घटता हुआ) मंडल हैं, उसके शीर्ष भाग की चौड़ाई आधार की एक तिहाई है।

(३) विमान के सिरे-भाग पर बनी गुंबदी स्तूपिका है।

विमान में क्षितिज के समानांतर गहराई तथा बाहर ऊभरे भाग हैं, जो संपूर्ण पिरामिड अंश में दीख पड़ते हैं। लंबत् भाग में भारी कानिस बने है। इस प्रकार ऊपरी तथा निचले गहरे भाग में मूर्तिया बनी हैं। पूरी मीनार सुदृढ़ तथा स्थायी विचार को ध्यान में रखकर निर्मित है। ब्राउन के मत में तंजौर मंदिर का विमान भारतीय स्थापत्य शिल्प की कसौटी है।

बृहद्देव के मंदिर के प्रांगण में सुब्रह्मण्य देव का मंदिर अत्यंत कलापूर्ण ढंग से बना है। प्रचुर मात्रा में अलंकरण के कारण यह दर्शकों को आकर्षित करता है। यह कहना उचित होगा कि मुख्य मंदिर को छोड़ कर अन्य स्थापत्य के नमूने कालांतर में जोड़े गए थे।

मंदिर के आंगन में ऊँचे चबूतरे की दीवार पर दो पंक्तियों में देवी-देवताओं की आकृतियाँ बनी हैं। गणेश, विष्णु, श्रीदेवी, भूदेवी और लक्ष्मी की प्रतिमाएँ हैं। बीरभद्र, दक्षिणामूर्ति कालातक तथा नटेश मूर्तियाँ शैवधर्म की प्रधानता बतलाती हैं। हरिहर, अर्द्धनारीश्वर चंद्रशेखर गंगाधर तथा आलिंगन चंद्रशेखर की प्रतिमाएँ शैवमत की प्रमुखता के द्योतक हैं। सरस्वती, महिषमर्दिनी आदि देवियों की मूर्तियाँ भी दूसरी पंक्ति में बनी हैं।

पूर्वी भाग में सीढ़ियों द्वारा मंदिर में प्रवेश करते हैं। उसके बाद स्तंभों-युक्त मंडप बना है। प्रवेशद्वार के ऊपर पास-पास दो गोपुरम् बने हैं। पहला विशाल है, किंतु दूसरा अधिक अलंकृत है। दूसरे गोपुरम् के प्रारंभ में दो द्वार-पाल रक्षा कर रहे हैं। उस पर शिव की जीवनलीलाओं का प्रदर्शन भी है। शिव-पार्वती-विवाह, मार्कण्डेय की रक्षाएँ, अर्जुन को पाशुपतशस्त्र-का दान, आदि प्रदर्शन दीख पड़ते हैं। गर्भगृह के समीप का स्थान अंधकारमय है, किंतु तक्षण कला के सुंदर नमूने खुदे हैं। इसके पश्चिम वाद्यसहित विष्णु, दक्षिण में शिव नटराज त्रिशूल तथा तलवार सहित, भयंकर चेहरा, दसगुंजी शिव एवं उत्तर दिशा में पद्मासना देवी प्रतिमाएँ मंदिर की शोभा बढ़ा रही हैं। नटराज-प्रतिमा में पल्लव की परंपरा विद्यमान है। चोल-युग के सर्वोत्तम कलात्मक दृष्टांत एक सौ आठ नृत्य-मुद्रा के प्रदर्शन से मिलते हैं। यह मंदिर की पहली मंजिल की दीवार पर खुदे हैं। इस प्रदर्शन से भारतीय संगीतकला का प्रा०—१८

उत्तम इतिहास ज्ञात हो जाता है। संभवतः चिदंबरम् के गोपुरम् पर खचित नृत्य-मुद्राओं का बृहदेश्वर मंदिर का प्रदर्शन पूर्व रूप ही माना जा सकता है।

तामिलनाडु के तिरुचिरापली जिले में नगर से छयानवे किलोमीटर दूर पूर्व तथा तंजौर से छप्पन किलोमीटर उत्तर-पूर्व की ओर गंगैकोंडा चोलपुरम् नामक स्थान है, जिस स्थान पर राजेन्द्र चोल प्रथम (ई० स० १०१२-४४) ने बृहदेश्वर भगवान् का दूसरा मंदिर बनवाया था। यह गंगैकोण्डा चोलेश्वर नाम से भी विख्यात है। चोलनरेश ने उत्तरी भारत में गंगा घाटी तक विजय करने के स्मारक में इस मंदिर का निर्माण किया था। उस स्थान के भग्नावशेष मंदिर के गौरव की कहानी सुनाते हैं। भीतरी परकोटे की दीवार का गोपुरम् भी नष्टप्राय हो चला है। बाहरी दीवार का गोपुरम् दीख नहीं पड़ता। यह मंदिर भी तंजौर मंदिर की योजना के सदृश तैयार किया गया। यह मंदिर ३४० फुट लंबा तथा ११० फुट चौड़ा आयतेकार विशाल आंगन में निर्मित हुआ, जिसमें १७५ × ९५ वर्ग फुट क्षेत्रफल में महामंडप बना है तथा उसका विमान १०५ फुट ऊँचा है। पूर्वी भाग में प्रवेशद्वार है, जिसके दोनों तरफ दो विशालकाय द्वारपाल हैं। महामंडप अधिक ऊँचा नहीं है जिसमें डेढ़ सौ स्तंभ चार फुट ऊँचे चबूतरे पर खड़े हैं। विद्वानों का मत है कि द्राविड़ शैली के सहस्रस्तंभावलि सहित मंडप का पूर्व रूप गंगैकोण्डाचोलपुरम् के महामंडप में पाते हैं। यहाँ गर्भगृह तथा मंडप को जोड़ने वाले कक्ष में दो पत्नियों में पाया खड़ा है। इसका विमान १६० फुट ऊँचा है। इस चोल-मंदिर में इतने अधिक अलंकरण हैं कि ब्राउन ने इनको नारीवत् यानी शृंगारिक माना है तथा पूर्व के बृहदेश्वर मंदिर पुरुष-शक्ति का द्योतक समझते हैं। इन मंदिरों को द्राविड़ स्थापत्य शैली का उत्कृष्ट नमूना कह सकते हैं। स्थापत्य शिल्प की गरिमा का परिज्ञान बृहदेश्वर मंदिरों के अध्ययन से हो जाता है।

शैव-मंदिर होने के कारण बृहदेश्वर मंदिर की दीवारों शिव के विभिन्न कार्यों के प्रदर्शन से सुशोभित हैं। अनुग्रह तथा रौद्र भाव की प्रतिमाएँ खुदी हैं। शिव-परिवार का भी अंकन मिलता है। देवी तथा विष्णु की मूर्तियों को भी स्थान दिया गया है। दीवारों की ताख पर शिव की नाना भावयुक्त प्रतिमाएँ शैवमत की प्रधानता बतलाती हैं।

राजेंद्र चोल के शासन के पश्चात् साम्राज्य की विस्तार-योजना प्रायः समाप्त हो गई। मंदिर-निर्माण-कार्य का ह्रास होता गया। इस अवनति काल में भी कुभकोनम् के समीप ही दो मंदिर बने थे—

(१) दारा सुरम् का ऐरावतेश्वर और

(२) त्रिभुवनम् का त्रिभुवनेश्वर मंदिर।

इन मंदिरों की अवस्था हीन होती चली गई। इनमें अलंकार तथा आभूषणों का अधिक प्रयोग मिलता है। बारहवीं सदी में चोल की हीनावस्था में जिन मंदिरों का निर्माण हुआ, उन्हें उत्तर-चोलयुग की कृति कहने में अत्युक्ति न होगी। चोल की अवनति के बाद पांड्य राजाओं ने दक्षिण पर शासन किया। उनके प्रभुत्व का बोलबाला होने पर चोल शैली के दो वर्तमान मंदिरों की बनावट पुराने स्थापत्य शैली की ही है। इनमें विमान बृहत् होते गए। विमान तथा मंडप के चारों तरफ अनेक गौड़ मंदिर बने हैं, जो सभी चहारदीवारी के भीतर स्थित हैं। समकेंद्रित परकोटे मौजूद हैं, जिनमें गोपुरम् बने हैं। दारासुरम् के मंदिर के प्रत्येक परकोटे में गोपुरम् वर्तमान है। इसमें गर्भगृह के सम्मुख एक निर्मित मंडप रथ के आकार का बना है, जिसे हाथी खींच रहे हैं। इसी कारण मंदिर को ऐरावतेश्वर का नाम दिया गया है, इस युग में मुख्य मंदिर को छोड़ कर गौड़मंडप कक्ष, या छोटे मंदिरों पर अधिक ध्यान दिया गया। यही कारण है कि कालांतर में गोपुरम् विशालतर हो गया तथा गर्भगृह ने छोटे आकार का रूप धारण कर लिया। इस मंदिर की बाहरी दीवार की ताख पर संजौर तथा गंगैकोडाचोलपुरम् मंदिरों के सदृश मूर्तियाँ उकेरी गई हैं। इसमें दोहरा स्तंभ निर्मित हैं, जिनके मध्य में सिंह सिर युक्त कुंड बनाए गये थे। परकोटे की दीवार भीतर मंडप-क्रम से सुंदर दीख पड़ती है। मंडप के ऊपरी भाग नटराज-सभा के नाम से प्रसिद्ध है। इस मंदिर की ताख में ऋषियों की आकृतियाँ शांति एवं प्रशान्ति का संदेश दे रही हैं। परंतु, संजौर के मंदिर में वीरोचित भाव प्रकट होते हैं। चोल-युग में संगीत तथा नृत्य के संरक्षक सभी नरेश थे, इस कारण मंदिरों में संगीत-वाद्य तथा नृत्य का प्रचुर प्रदर्शन है। चिदंबरम् के मंदिर में भी संगीत के स्थान आदि का अंकन भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार किया गया है।

चालुक्य अथवा होयसल शैली

शिल्पशास्त्र में इस विषय की चर्चा की गई है कि तीन प्रकार की वास्तु शैलियाँ प्रचलित थीं। आर्य शैली उत्तरी भारत में तथा द्राविड़ पद्धति दक्षिण में प्रयुक्त रही। मध्य भाग यानी विंध्या तथा कृष्णा नदी के मध्य भू-भाग में एक अंतर्वर्ती शैली वर्तमान थी, जिसे बेसर रीति का नाम दिया गया था। प्रथम सहस्राब्दि के पश्चात् इस शैली का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे चालुक्य वंश से संबद्ध कर चालुक्य शैली कहने लगे। इस वंश का राज्य उपरियुक्त भू-भाग से कई सौ वर्षों (छठी से १२वीं शती तक) तक विस्तृत रहा तथा अपनी शक्ति एवं प्रभाव से स्थापत्य कार्य को भी प्रभावित किया। इनके वैभव तथा सर्वोपरि मत्ता के कारण वास्तुशिल्प के साथ चालुक्य नाम जोड़ना न्यायोचित भी था। दसवीं सदी के बाद ही चालुक्यों के स्थान को द्वार समुद्र के होयसलनरेशों ने ग्रहण किया यानी साहस तथा पौरुषेय कार्यों द्वारा होयसल की प्रभुता के सभी कायल हो गए। दो सौ वर्षों (११वीं से १३वीं सदी) में ही अदम्य उत्साह तथा परिश्रम के अनेक मंदिर निर्मित किए गए, जिस का कोई पूर्व उदाहरण (नज़ीर) नहीं बतलाया जा सकता। इसी अवधि में ही चालुक्य शैली परिपक्व हो गई। स्थापत्य-कार्य का विकास एक निश्चित दिशा में हुआ। अतएव, बेसर या चालुक्य पद्धति को 'होयसल शैली' कहने लगे।

दक्षिण भारत के पूर्वी भाग में द्राविड़ पद्धति तथा पश्चिमी प्रदेशों में चालुक्य अथवा होयसल शैली का प्रचार एवं प्रसार हुआ था। इस शैली की उत्पत्ति तथा विकास की खोज सातवीं सदी के चालुक्य शासन में किया जा सकता है। उनके तीन ऐतिहासिक नगरों—ऐहोल, पट्टादकल तथा बादामी में आर्य (नागर) तथा, द्राविड़ शैलियों के मंदिर एक साथ ही निर्मित हुए थे।

इनमें मूलतः कोई विभेद न था, किंतु प्रथम सहस्राब्दि में जिस धर्म तथा स्थापत्य शिल्प का प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ, उसी के उपविभाग द्राविड़ और चालुक्य शैली के नाम से विख्यात हुए। ई० स० ४००-६०० तक का काल प्रतिष्ठित युग कहा गया है, जिसमें बौद्ध धर्म का ह्रास तथा ब्राह्मण मत की उत्पत्ति हुई। कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में बौद्ध परंपरा को हिंदुओं (ब्राह्मण मतानुयायी) ने अपनाया। पाँचवीं तथा छठी सदियों में चैत्य एवं विहार का

निर्माण होता रहा। ब्राह्मण कला में गुहा की खुदाई को अधिक बल मिला, जहाँ बौद्ध तकनीकी-सिद्धांत पर कार्य होते रहे। समतल भूमि पर निर्माण-कार्य को भी शक्ति प्रदान की गई। इस प्रकार खुदाई तथा बनावट (Excavated and Structural) की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई। पल्लवकाल से पूर्व प्रचलित वास्तु के उदाहरण बीजापुर जिले के ऐहोल, पट्टादकल तथा वादामी में मिलते हैं। इनका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया गया है। दसवीं सदी के पश्चात् चालुक्यों द्वारा निर्मित आकार-प्रकार एक पृथक् स्थान रखते हैं। इनसे मैसूर की चालुक्य पद्धति का परिज्ञान हो जाता है, जैसे महाबलिपुरम् समूह के मंदिरों द्वारा द्राविड़ शैली की विशेषताएँ विदित हो जाती हैं।

मैसूर में चालुक्य स्थापत्य उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि छठी-सदी के मध्य में पुलकेशिन प्रथम ने कदंबवंश को जीत लिया और वास्तुशिल्प का कार्य जोरों पर चल पड़ा। एक ऐहोल में ही ७० चालुक्य मंदिर है। इसी के समीप पट्टादकल तथा वादामी में भी मंदिर तैयार किए गए थे।

दसवीं सदी से तेरहवीं सदी तक विस्तृत स्थापत्य को चालुक्यों की शैली कहते हैं। इसे होयसल शैली भी कहा गया है।

यद्यपि मध्य काल में राष्ट्रकूट-नरेशों ने अधिकतर गुफाएँ खुदाई (एलोरा गुहा) किंतु इमारती ढंग (Structural) का कार्य पीछे न रहा। एलोरा में उसकी चरम सीमा देखते हैं। पश्चिमी भारत में राष्ट्रकूट वंश के ह्रास होने पर तैल द्वितीय नामक व्यक्ति ने प्राचीन चालुक्य वंश का पुनरुत्थान किया। मैसूर का भाग (कन्नडदेश) दसवीं सदी के बाद नए चालुक्य शासक के अधीन हो गया जिसकी राजधानी 'कल्याणी' स्थिर की गई (विदर से ७२ किलोमीटर पश्चिम)। दो शताब्दियों तक चोल वंश का पूर्वी दक्कन में शासन रहा, जिनके समकालीन चालुक्य तथा उनके स्थानापन्न होयसल पश्चिमी भाग में राज्य करते रहे। जिस अवधि में चालुक्य मैसूर में साम्राज्य को दृढ़ कर रहे थे, उसी समय कलात्मक कार्य की तीव्रता दीख पड़ती है। मैसूर नगर से ८८ किलोमीटर दूर श्रावण बेलगोला में गगवंशी नरेश वास्तुशिल्प को प्रोत्साहित करते रहे। चद्रगिरि में गोमटेश्वर की विशाल-काय ५६ फुट ऊँची एकाग्रमूर्ति तैयार की गई। चोल शैली के अनुसार वहाँ जैनियों ने मंदिर-निर्माण किया। यहाँ विशाल मंदिरों का अभाव है। तीर्थी ७० फुट लंबा तथा ३६ फुट चौड़े क्षेत्र में मंदिर खड़ा है। इसके ऊपरी भाग में पिरामिड-रूप का शिखर (द्राविड़ शैली) है, जिसके सिर पर गोल गुंबज दीख पड़ता है।

चालुक्य मंदिरों में द्राविड शैली के सदृश दो उपविभाग हैं—

(१) विमान तथा

(२) मंडप ।

विमान में कई मंजिल के पिरामिड गुंबज वर्तमान हैं । शीर्ष पर गोलाकार स्तूपिका है । लेकिन मंडप की छतें चिपटी हैं, जो स्तंभों पर आधारित हैं । कालांतर में विमान की ऊँचाई कम होती गई और उसमें अलंकृत ताखों की संख्या नीचे-ऊपर बढ़ती गई । चालुक्य मंदिरों में गर्भगृह से संबद्ध ढका प्रदक्षिणा-मार्ग का अभाव है । इनके मंडप विमान से भी अधिक चौड़े हैं । परकोटे के बाहरी दीवार की बनावट में नागर तथा द्राविड रीति का संमिश्रण है । इसीलिए पिछले चालुक्य वंश की शैली वास्तुशिल्प को आर्यशिल्प (नागर) तथा द्राविड शैली के मध्यवर्ती मानते हैं । इसमें नागर शिखर का शोण स्थान रहा । द्राविड कल्पना ही चालुक्य शैली का केंद्रक (Nucleus) बनी रही और उसी आधार पर भविष्य में विकास हुआ । भारतीय वास्तुकला में चालुक्य मंदिर आलंकारिक तथा अत्यंत शोभनीय उदाहरण उपस्थित करते हैं ।

हैदराबाद के कक्कानुर स्थान पर चालुक्य शैली के अनेक मंदिर मिलते हैं, जिनमें कालेश्वर का मंदिर प्रमुख माना जाता है । द्राविड पद्धति से इसमें विकसित स्वरूप दीख पड़ते हैं । इसमें विमान मंडप तथा दोनों को जोड़ने वाला कक्ष है । नंदी का प्रकोष्ठ सामने है । इसकी बाहरी दीवार में भित्तिस्तंभ बने हैं । इस प्रकार आकृतियों के स्थान पर हमारी अभिप्राय (Motive) का समावेश हैदराबाद के द्राविड मंदिरों की विशेषता है । प्रत्येक मंजिल में तिकोना छज्जा निकला दीख पड़ता है । विद्वानों का मत है कि चालुक्य या होयसल शैली के गुंबज की पट्टियाँ उसी (छज्जा) से उत्पन्न हुई थी । धारवार जिले में लोकिगुंडी में स्थित जैन मंदिर चालुक्य शैली का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । मुक्तेश्वर मंदिर उसी पद्धति का संस्कृत रूप है । हबेरी का सिद्धेश्वर तथा सोमेश्वर मंदिर उसी के समान हैं । ऊँचे चबूतरे पर मंदिर-निर्माण का केंद्रीय योजना इटगी (हैदराबाद) के महादेव मंदिर से आरंभ हुआ । इसी कारण १२वीं सदी के अभिलेख में इस मंदिर को 'देवालय चक्रवर्ती' कहा गया है । १२वीं सदी में चालुक्य राज्य में अनेक मंदिर बने, जिनमें काशी विश्वसेर प्रधान माना जाता है । आधार से शिखर तक बाहरी सतह प्राचुर्य रूप में अलंकृत है ।

इस शैली के अधिकांश मंदिर मैसूर प्रदेश में निर्मित हुए, जहाँ चालुक्य शैली की चरमोन्नति हुई और कलाकार सौंदर्य-भावना-संबंधी कार्यों में अग्रणी थे। उन्होंने वहाँ की स्थापत्य एवं कला की परंपरा को उत्तेजित किया, जिस कारण चालुक्य-होयसल शासन को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उस स्थान के राजगीरों ने हलके नीले-काले मिश्रित बलोराइट रंग वाले प्रस्तर का प्रयोग किया था। संभवतः इस साधन (प्रस्तर) के परिवर्तन से मैसूर के मंदिर ऊँचे ढंग से परिष्कृत किए गए। मंदिरों में तकनीकी विकास दृष्टिगोचर होता है और साथ में छोटे प्रस्तर के टुकड़ों को भली-भाँति सँवारा गया है। इस प्रकार मैसूर के सभी मंदिरों में प्रायः अस्सी चालुक्य-होयसल शैली के हैं। चालुक्य-होयसल शैली को निम्न चार विशेषताओं से सलग्न पाते हैं—

- (१) योजना तथा इमारती समाकृति,
- (२) सतह की दीवार का अलंकरण,
- (३) शिखर की बनावट और
- (४) स्तंभ की शैली।

मंदिरों का अध्ययन यह बतलाता है कि दक्षिण भारत में चालुक्य-होयसल योजना में मुख्य कक्ष परकोटे से घिरा रहता है। उस परकोटे में क्रमशः कोठरियाँ बनी हैं, जिनमें स्तंभसहित बरामदे भी वर्तमान हैं। उस कक्ष में तीन उपविभाग हैं—गर्भगृह प्रकोट से तथा ड्योढ़ी नवरंग (स्तंभसहित कमरा) से जुड़े हैं। इसके सामने एक चारों दिशाओं से खुला स्तंभों सहित विशाल मंडप है, जिसे मुख-मंडप कहते हैं। होयसल शैली के मंदिर इससे कुछ भिन्न हैं। इनमें एक गर्भगृह नहीं है, अपितु दो, तीन या चार गृह बने हैं। यानी होयसल मंदिरों की योजना सर्वथा विभिन्न स्वरूप रखती है। पहले के मंदिर में गर्भगृह की दीवार में सीधे या कोण के रूप में घुमाव दीख पड़ता है, परंतु होयसल मंदिर की दीवार इस प्रकार स्थान-स्थान पर मुड़ी है कि ताख के अतिरिक्त तारा की आकृति बन जाती है। चालुक्य मंदिर अष्टभुज योजना के आधार पर निर्मित हुए थे, जिनमें ज्यामिति के विभिन्न आकार बने हैं। होयसल पद्धति की भी यही विशेषता है।

होयसल मंदिर आयताकार चबूतरे पर निर्मित नहीं है। उस चबूतरे में कई प्रक्षेपण हैं तथा किनारे बाहरे की ओर निकले हैं। यानी वह आयताकार नहीं है। चबूतरा पर्याप्त लंबा-चौड़ा है और चारों ओर सीढ़ियाँ बनी हैं।

होयसल के किसी मंदिर में भीतरी प्रदक्षिणा-पथ नहीं है, इसलिए चबूतरे का वहिर्भाग प्रदक्षिणा के निमित्त प्रयुक्त होता है।

मंदिरों के विमान की दीवार तीन उपविभाग में विभक्त है, किंतु कानिस से जुड़ी हुई हैं। इन तीनों विभागों में पट्टियाँ इस प्रकार खुदी हैं कि उनकी कल्पना अनुप्राणित प्रकट होती हैं। इन खुदी पट्टियों में सबसे नीचे हाथियों का जुलूस बनाया गया है। उसके ऊपर अश्व की पंक्तियाँ हैं, जो गतिशीलता के घोटक हैं। सबसे ऊपरी पट्टियों पर लतापुष्प, कीर्तिमुख तथा सूर्य के स्वरूप खुदे हैं। मनुष्य के आँख की सीध में पौराणिक दृश्य प्रदर्शित हैं। सबसे ऊपर हंस की पंक्तियाँ वर्तमान हैं। उसी स्थान पर द्राविड़ शैली के मंदिरों में इस प्रकार का अलंकरण नहीं है। होयसल कलाकार ने दीवार के भित्तिस्तंभ तथा ताख पर देवताओं की मूर्तियाँ खोदकर अपनी शिल्पकुशलता का परिचय दिया है। उनके अवलोकन से प्रतिमाओं को मंदिर का हिस्सा कहना अनुचित होगा। सभी तक्षण कला के भव्य नमूने प्रकट होते हैं।

होयसल मंदिर के शिखर की प्रमुखता तथा बनावट ही उसकी विशेषता का मूलभाव (Key-note) माना जा सकता है। अष्टभद्र प्रणाली के कारण गुंबज की दीवार में लंबी धारी दीखने लगती है। शिखर की वृद्धि को समभाव करने के लिए पड़ी लकीरें हैं। उनकी गढ़न से ऐसा परिवर्तन हो जाती है कि संपूर्ण मीनार के एक के पश्चात् दूसरा तीसरा कतार-ही-कतार नजर आता है। इस कारण सर्वोपरि स्थित कलसी छत्रवत् हो जाती है। शिखर के खड़े या पड़े रचना से ताख तथा मंदिरनुमा आकार बन गया है। इस बनावट से शिखर की गढ़न की सुंदरता बढ़ जाती है किंतु, इमारती योजना में यह अर्थहीन हो जाता है तथा आकार रहित भी प्रतीत होता है।

होयसल शैली के स्तंभ भी अपनी विशेषता रखते हैं। यद्यपि इसे द्राविड़ स्तंभों का विकसित रूप कह सकते हैं, किंतु होयसल स्तंभ के शीर्ष चार वर्ग में ब्रैकेट तैयार करते हैं। भारतवर्ष में मंदिरों के स्तंभों को खराद पर रख कर समुचित आकार का तैयार करते हैं। यह एक विशाल लंबे प्रस्तर का बनाया जाता है और संगतराश उसे अलंकृत भी करते हैं। प्रस्तर को अनुपात में रख कर खराद पर डालकर उसे वांछित स्वरूप का तैयार करते हैं। इस प्रकार स्तंभ (Shaft) तथा शीर्ष (Capital) दिखने लगता है। उसी को चौकोर चौकी पर खड़ा करते हैं। संगतराश को स्वतंत्रता रहती है कि वह स्तंभ को

गहरा, उन्नतोदर कोणयुक्त या गोल परिरेखा तैयार करे। भारतीय प्राचीन शैली को ध्यान में रख कर कारीगर उसके ऊपरी भाग (शीर्ष से नीचे) को घंटा-नुमा तैयार करता था। यद्यपि प्रस्तर को खराद कर स्तंभ बनाने का कार्य दक्षिणी कारीगर को ज्ञात था, किंतु होयसल शासन में निर्मित मैसूर के मंदिरों में यह विशिष्टता स्पष्ट दीख पड़ती है। संभवतः बड़े पैमाने पर कारीगर कार्य में लग जाते और बहुमात्र उत्पादन में सफलता प्राप्त करते रहे। स्तंभों के ऊपर ढलुवा ब्रैकेट भी अलग से लगाया जाता था। इस ब्रैकेट में कलाकार मूर्तियों को खोद कर स्थित कर देते, इसलिए वह मंडनक प्रतिमा कही गई है। होयसल मंदिरों का विस्लेषणात्मक अध्ययन से मंदिर का स्थान नहीं रह जाता कि इस रीति के मंदिर पिछली चालुक्य शैली की एक शाखा हैं।

यह कहा जा चुका है कि मैसूर के क्षेत्र में होयसल चालुक्य राजाओं के सामंत थे, जिन्होंने बारहवीं सदी में सत्ता छीन कर अधिकार अपने हाथ में ले लिया। होयसल राजाओं के मंदिरों की थोड़ी चर्चा हो चुकी है, जो ई० स० १०५०-१३०० के मध्य निर्मित हुए थे। उनकी स्थापत्यकला का स्तंभयुक्त चपटी छत वाले तथा उत्कीर्ण मूर्तियों सहित गुफा मंदिरों का काफी प्रभाव पड़ा। होयसल मंदिरों में स्थापत्य की जगह मूर्तिकला पर अधिक बल दिया गया। इन मंदिरों में सवद्ध मूर्तियों की विशेषता यह है कि सभी मुलायम प्रस्तरों में खुदे हैं, जिनके दाने ग्रेनाइट (कडा) या बलूए प्रस्तर की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। मैसूर प्रदेश में इस प्रकार का प्रस्तर बहुमात्र से मिलते हैं, जिनका प्रयोग मंदिर निर्माण-कार्य में किया गया। होयसल मंदिरों की योजना दक्षिण भारत के मंदिरों से अधिक भिन्न नहीं है। हेलविद का होयसलेश्वर मंदिर चालुक्य-होयसल शैली का सर्वोत्कृष्ट नमूना समझा जाता है।

इसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि विमानों में आड़े खंडों की श्रेणियां बनती गईं, किंतु उनका आकार छोटा होता गया। इनको उत्तरोत्तर छोटा करते गए एवं आड़ी रेखाओं के ह्रास की अवस्था में पवित्तियों में मूर्तियों पर अधिक ध्यान दिया गया। होयसल शिल्पकारों ने स्तंभों, छतों, द्वारों, दीवारों तथा भित्तिस्तंभों को प्रचुरता से अलंकृत किया और इन सब से संबद्ध मूर्तियों को उत्कीर्ण किया।

बेलूर के चन्नकेशव मंदिर की बृहत् योजना थी। उसके समीप अन्य मंदिरों को एक परकोटे के घेरे में रखा गया, जिसका आंगन ४२५ फुट x

३८० फुट क्षेत्रफल में है। हमी के समकालीन हेलविद का होयसलेश्वर मंदिर भी बना था। प्राचीन राजधानी द्वार समुद्र के भू-भाग में मैसूर के हसन जिले के साधारण ग्राम में स्थित है। उस स्थान के भग्नावशेष से प्रकट होता है कि यह स्थान स्थापत्य कार्यों का प्रधान केंद्र था, जहां जैन तथा ब्राह्मण धर्म के मंदिरों का निर्माण हुआ था।

केशव मंदिर ऊँचे चतुर्भुज पर बना है, किंतु नीचा एवं समतल है। इसमें विमान का अभाव है। इसके समीप में छोटे मंदिर तथा द्वारपाल बने हैं। होयसल मंदिर के सदृश केशव मंदिर दर्शकों का ध्यान आकर्षित करता है। मुख्य मंडप के बाहरी स्तंभों से लगी टोडियों में मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। होमसल मूर्तिकला में नारी को मांसल तथा सजीव प्रदर्शित किया गया है। इन प्रतिमाओं का 'मंडनिकाए' कहा जाता है। इनके कारण मंदिर के बाहरी भाग की सुंदरता बहुत बढ़ गई है। मुख्य मंडनिका का भीतरी भाग स्तंभों पर टिका है। उन स्तंभों तथा छतों एवं प्रस्तर के शहतीरों पर इतना अधिक अलंकरण है कि कोई भी स्थान मूर्तियों से रिक्त नहीं है। इस शिल्प-संपदा से स्थापत्य कार्य गौण पड़ गया है। सभी स्तंभों की टोडियाँ सुंदर मूर्तियों से अलंकृत हैं। इनमें नख से शिख तक गहनों से सजी नर्तकियाँ विलामपूर्ण मुद्रा में दीख पड़ती हैं।

जैसा कहा गया है कि कक्ष के स्तंभ खराद कर बनाए जाते थे, यही दशा बेलूर के चक्रकेशव मंदिर की है। विशाल प्रस्तर खंडों को छेनी से मोटे तौर पर इच्छित आकार में गढ़ दिया गया है, तत्पश्चात् खराद पर चढ़ा कर तैयार किए गए हैं। छेनी से पुनः नक्काशी की गई है। प्रायः होयसल स्तंभों को इसी रूप से सजाया जाता था। केशव मंदिर के मध्यवर्ती मंडप की छत को भी अतीव सुंदर रीति से खोदा गया है। उसमें अठकोण का छोटा गुंबज बना है। बीच में कर्णफूल की तरह विशाल लटकन है। इसके देखने से होयसल मंदिरों के भीतरी अलंकरण का परिज्ञान हो जाता है। इसमें स्तंभों को बहुत बारीकी से तराश कर पौराणिक दृश्यों का अंकन किया गया है।

१२ वीं सदी का होयसलेश्वर मंदिर बेलूर मंदिर की तरह गुंबजहीन है। अन्य होयसल शैली के मंदिरों की तरह गर्भगृह से जुड़ा विशाल स्तंभ सहित कक्ष है। पूरब में नंदी मंडप निर्मित है। इसकी विशेषता यह है कि समान आकार के दो मंदिर परस्पर जुड़े हैं। यह सत्य है कि इस मंदिर की विशाल योजना थी, पर ऊपरी मीनार के अभाव में यह अपूर्ण प्रकट होता है। इन जुड़े मंदिरों में मंडप आमने-सामने बने हैं। नदी के मंडप की स्थिति से

पूरा मंदिर विशाल तथा अतीव सुंदर दीख पड़ता है। इसकी बाहरी दीवार तारे के आकार में निर्मित है। भीतरी भाग न्यून कोण के आकार का है, किंतु स्तंभ मंडप की सतह लंबवत् है। ज्यों-ज्यों मंदिर में प्रवेश करते जाते हैं, एक के बाद दूसरे की तीसरे सुंदर रीति से तराशे पहल सामने दृष्टिगोचर होते हैं। दीवार की तह में छह आड़ी उत्कीर्ण पट्टियाँ हैं जिनमें सिंह, गज आदि जानवरों तथा राजहंसों की आकृतियाँ एवं महाभारत और रामयण के कथानक खोदे गए हैं। इन पट्टियों की ऊपरी दीवार पर मानवमूर्तियों के पट्ट-पर-पट्ट बने हैं। केंद्रस्थल पर देवता की चित्रवत्सली उच्च उद्भूत शैली से उकेरी गई हैं। भारतवर्ष में ऐसे मंदिरों का अभाव है, जो होयसलेश्वर मंदिर के तक्षण कला की समता कर सकें। इनमें मूर्तिकला के सर्वोत्कृष्ट, मनोहारी तथा भव्य नमूने सामने आते हैं। भारत के मंदिरों में प्रस्तर में इस प्रकार का खर्चीला उदाहरण अन्यत्र ज्ञात नहीं है। मंदिर की भीतरी बनावट इतना संकुचित तथा पेचीदा है कि स्तंभों के जमघट एवं समीपवर्ती होने के कारण वह स्थल मध्य-बीथी तथा पार्श्वबीथी में विभक्त हो गया है। साधारण दर्शक को संपूर्ण स्थल ऐसा अस्तव्यस्त प्रकट होता है कि साँस लेने तथा संचार के निमित्त रिक्त स्थान नहीं दीख पड़ते। हेमविद का होयसलेश्वर मंदिर आकर्षण का केंद्र-बिंदु था, जिसकी तकनीकी कुशलता, पटुता कल्पना एवं धार्मिक चैतन्यता का दूसरा दृष्टांत उपस्थित नहीं किया जा सकता।

मैसूर से चालीस किलोमीटर दूर सोमनाथपुर का केशव मंदिर होयसल शैली के पूर्ण विकसित स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। अन्य मंदिरों की तरह यह मंदिर एक विशाल प्रागण के मध्य स्थित है। इसमें तीन गर्भगृह हैं। किंतु, तीनों एक पंक्ति में न होकर कोनाकोनी जुड़े हैं। तीनों पर विमान है, विमान की पूरी ऊँचाई में उत्कीर्ण खंडों की श्रेणियाँ एक के ऊपर एक चली गई हैं, जिनमें मंदिरनुमा आकृतियाँ हैं। होयसलेश्वर मंदिर के सदृश बाहरी दीवार में पट्टियों पर अश्वों, गजों तथा महाकाव्य एवं पौराणिक कथाओं का चित्रण है। उनके ऊपरी प्रस्तर-पट्टियों पर देवी-देवताओं मूर्तियाँ उकेरी गई हैं। सोमनाथपुर का मंदिर स्तंभावलि सहित सभामंडप की छत में शिल्प के लिए विख्यात है। पाषाणखंडों से निर्मित गुंबद के मध्य शीशे की झाड़ सदृश लटकी हुई झाड़ बनायी गई है। इनके अतिरिक्त अन्य होयसल मंदिर बारहवी तथा तेरहवी सदियों में बने थे। धारवाड़ जिले में कालांतर में जो मंदिर निर्मित हुए, उनमें नई विशेषता लक्षित होती है। छज्जा बाहर की ओर निकला है, जो कभी मुड़ा है अथवा सीधा। छज्जे का वास्तु-सौंदर्य

और भी निखर जाता है। इत्तगी, लकुंडी, कुरुवट्टी (उत्तरी मैसूर) के मंदिर परवर्ती चालुक्य तथा होयसल शैली की पराकाष्ठा के उदाहरण हैं। मैसूर में १२ वीं सदी के अनेक मंदिर हैं, जिनमें दाम्बल का डोडाबास्पा मंदिर विशेष उल्लेखनीय है।

पांड्य मंदिर के गोपुरम्

भारत के सुदूर दक्षिण में तमिलदेश में दो सौ वर्षों तक (ई० स० ११५०-१३५०) तक पांड्यवंशी नरेशों ने शासन किया। दक्षिण भारत के प्रत्येक राज्यवश ने अपनी अवधि में स्थापत्यकला में विशेष योगदान दिया और नए-नए आकार-प्रकार के मंदिर तैयार किए। पल्लवों ने 'रथ' एवं 'सिंह-स्तंभ' का निर्माण कराया, तो पल्लव शासन के पिछले युग में गोपुरम् का शुभारंभ कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में किया गया। चालुक्य-होयसल शैली के पट्टादकल के विरूपाक्ष मंदिर में भी प्राथमिक रूप देखते हैं, किन्तु स्थापत्य की जगह उसी से सबद्ध मूर्तिकला पर विशेष ध्यान दिया गया। उन मंदिरों की बाहरी दीवार पर पट्ट-पर-पट्ट उत्कीर्ण है, जिनमें पशु-पक्षी के अति-रिक्त रामायण महाभारत की कहानियाँ खुदी हैं। मंदिर की मनोहारी मूर्तिकला अपनी निजी विशेषता रखती है। ११ वीं सदी में तजौर तथा गंगैक चोलपुरम् में चोल राजाओं ने जिस रूप में विशाल मंदिर तैयार कराया, पिछली सदी में उस आदर्श की सुरक्षा न हो सकी। चोल राज्यवश के उत्तराधिकारी पांड्य हुए। उसके पश्चात् पांड्य लोगों ने नवीन विचारधारा से काम लिया। मंदिर-निर्माण-कार्य में उनका तनिक भी योगदान नहीं है, तभी द्राविड़ शैली के मंदिरों के स्थापत्य को गहरे रूप में प्रभावित किया। इसके शासन से पूर्व कलाकारों ने मंदिर की बनावट में ही अपनी कुशलता एवं प्रतिभा का परिचय दिया--विशेषतः चोल मंदिर विमान के निर्माण में। उसी के पश्चात् ही पांड्य नरेशों के मस्तिष्क में इस बात की जानकारी आंदोलित हो उठी कि दक्षिण भारत में प्राचीन पुण्य एवं कलापूर्ण भव्य मंदिरों की बहुलता है। अतएव, उस परंपरा का अनुसरण न कर तथा नए मंदिरों का निर्माण अनावश्यक समझ कर, स्थापत्य की ओर यानी विमान को अधिक सौंदर्यमय तैयार करने की नीति से पांड्य राजा उदासीन हो गए। उनका विचार था कि नए मंदिरों का निर्माण न कर प्राचीन मंदिरों

के समीप क्षेत्र को स्थापत्य की दृष्टि से अधिक सुंदर तैयार किया जाय । अतः, विद्यमान मंदिरों की वृद्धि न कर उनको सुंदर, भव्य तथा आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया । इस कारण गर्भगृह को स्पर्श तक न किया गया और चारों तरफ परकोटे तथा विशाल शिखरसहित द्वार यानी गोपुरम् का निर्माण करवाया । इस शब्द (गो + पुर) को वैदिक युग के ग्रामीण गाय-द्वार के आधार पर गढ़ा गया । नगरद्वार तथा कालांतर में मंदिरों के द्वार से संबद्ध किया गया ।

गोपुरम् या द्वार शिखर ईंट-गारे से बने थे और अनेक खंडों की पर्वत शृंगार इमारत थे । पांड्य युग में मंदिरों के बड़े आयताकार द्वार से ऊपर पंक्ति पर पंक्ति की बनावट क्रमशः चौड़ाई में कम होती गई । उसी ने गोपुरम् का वास्तविक रूप धारण कर लिया, जो विशाल आकार की डेढ़ सौ फुट ऊँचाई तक उठते गए हैं । इस शिखर के समतल शीर्ष पर बेलनाकार छत वर्तमान है, जिसके किनारों पर त्रिभुजाकार या गोलाकार छज्जे भी बने हैं । गोपुरम् की सारी सतह पर पौराणिक देवी-देवताओं, असुरों तथा गंधर्वों आदि की सजीव मूर्तियाँ खुदी हैं । तेरहवीं सदी में गोपुरम् का समष्टि रूप पूर्ण विकसित दशा में दीख पड़ता है । द्वार की अधिरचना यानी गोपुरम् का रूप विमान से भी अधिक आकर्षक तथा शानदार है । बाहरी दीवार में मंडपनुमा आकार को भी स्थान दिया गया, जो एक के ऊपर दूसरा, तीसरा बनता गया है । उस स्थान की खुदाई के गोपुरम् के बाहरी भाग पर उत्कीर्ण किया गया । इस प्रकार गोपुरम् का परिमाण बढ़ता गया और लंबवत् ऊँचा हो गया । पांड्य शासन में निर्मित गोपुरम् पिछले द्रविड़ शैली के मंदिरों के नमूना बन गए । उनके अलंकरण में भित्तिस्तंभ को भी स्थान मिला । वह क्रमशः दक्षिण भारत के स्थापत्य का आदर्श बन गया । श्रीरंगम् का जंबुकेश्वर मंदिर पांड्य-कालीन (१२ वीं सदी का) गोपुरम् से युवत है । चिदंबरम् का गोपुरम् पांड्य शैली का प्रतिरूप है, जिसे सुंदर पांड्यनरेश ने बनवाया था ।

द्रविड़ शैली के मंदिरों में दूसरी नवीनता स्तंभ तथा उनके शीर्ष का है, जिसे पांड्यनरेशों ने समाविष्ट किया था । स्तंभ शीर्ष में पुष्प आकार जोड़ कर अधिक सुंदर बनाया गया था और वह शीर्ष से लटकता दीख पड़ता है । दक्षिण भारत की शैली में समकेंद्रिक परकोटें बनने लगे, जो प्रमुख मंदिर के चारों तरफ निर्मित किए गए । उनमें सबसे भीतरी परकोटे का निर्माण पांड्य राजाओं ने किया था ।

पाण्ड्यकालीन गोपुरम् कई मंजिल के बनाए गए थे । निचली दो मंजिलें लंबवत् ठोस प्रस्तर की बनी हैं, जिससे गोपुरम् की नींव स्थायी रूप में मजबूत है । उसकी ऊपरी अधिरचना में हलके सामग्री ईंट तथा सीमेंट का प्रयोग किया गया है । यह भाग कई कक्ष के है तथा क्रमशः ऊपर की दिशा में वे छोटे होते गए हैं । गोपुरम् का शीर्ष भाग अनुपात में आधार का आधा है और शीर्ष में पचीस कोण का ढाल है । इस तरह बारहवीं सदी के पश्चात् द्राविड़ शैली के मंदिरों में दो मीनारें दीखने लगी—

(१) विमान तथा

(२) गोपुरम् ।

विमान की चौकार योजना आरंभ हुई थी, जिसके सिरे पर गोलाकार गुंबज है, लेकिन गोपुरम् का प्रारंभिक परिकल्पना आयताकार है तथा शीर्ष आकार भी उसी रूप का ही है । इसकी तुलना बौद्ध चैत्य कक्ष से कर सकते हैं ।

गोपुरम् का आकर तथा स्वरूप स्थिर हो जाने पर उनके बतावट में अंतर नहीं आ सका । उसे स्थायित्व मिल गया । पाण्ड्य-युग के गोपुरम् परंपरागत प्रकार के मिलते हैं, उनका अलंकरण वास्तुशिल्पीय रीति के हैं । बाहरी सतह पर काला तर में आलंकारिक प्रकार जोड़े गए । पाण्ड्य काल में मंदिर-निर्माण का प्रश्न ही न रहा । दारासुरम् का ऐरावतेश्वर मंदिर चौदहवीं सदी का है जिसे पाण्ड्यों के अंतिम काल में माना जा सकता है । उनमें स्तंभ तथा शीर्ष की बतावट उस युग में ही पूर्ण हुई । संक्षेप में यह कहना युक्तिवन्त होगा कि पाण्ड्य युगी गोपुरम् ने पिछले दक्षिण भारतीय मंदिरों के आदर्श उपस्थित किया ।

विजयनगर तथा मदुरै मंदिर

भारत के इतिहास में चौदहवीं सदी का युग एक विचित्र तथा अभारतीय संस्कृति का काल था, जिस समय खिलजी वंश का शासन दिल्ली में स्थापित हो गया था । इस ऐतिहासिक घटना के उल्लेख का विशेष कारण यह है कि दक्षिण में खिलजी मुल्तान अलाऊद्दीन ने सुदूर दक्षिण तक हिंदू राजाओं को परास्त कर इस्लाम की दुंदुभी बजायी थी । वह यादव, काकतीय, होयसल तथा पाण्ड्य राजाओं पर विजय प्राप्त कर असंख्य धनराशि दिल्ली ले गया । यह पराजय दक्षिण के शासक तथा भारतीय संस्कृति के लिए अपमान का

कारण था। वहाँ के राजनैतिक जीवन में उथल-पुथल हो गया और जनजीवन संकटमय हो गया। इस्लामी विजेता ने शासकों के गर्व तथा प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया। लोकजीवन में इस अनर्थकारी वटना से दक्षिण की जनता अपने को अरक्षित तथा मारे प्रदेश को नेता रहित समझने लगी। पिछले सहस्रों वर्षों से जो संस्थाएँ पल्लवित एवं पुष्पित हो रही थीं, उनकी दुर्गति होने लगी तथा वे विनष्ट हो गईं। दक्षिण की जनता को इस बात की पिपासा थी कि कोई उन्हें अराजकता से बचावे, अंध व्यवस्था को दूर करे तथा अधोगामी संस्कृति में नवजीवन लावे। उन्हें ऐसे नेता की परम आवश्यकता थी, जो प्रबल शक्तिमान होकर विधर्मी प्रभाव से उन्मुक्त करे तथा अंधकार में प्रकाश दिखलावे। कहने का सारांश यह है कि धार्मिक क्षेत्र में जनता की भावना की सुरक्षा सर्वोपरि प्रश्न था। चौदहवीं सदी से पूर्व दक्षिण के शासकों ने स्थापत्य शिल्प को प्रमुखता दी थी। द्रविड़ शैली के मंदिरों में विमान तन्पश्चात् गोपुरम् की योजना कार्यान्वित हुई। इसका यह अर्थ नहीं कि चौदहवीं सदी से मंदिरों का निर्माण समाप्त हो गया, किंतु तत्कालीन वातावरण में नवीन स्थापत्य विचार को राजदरबार में स्थान न मिल सका। वर्तमान मंदिरों में परिस्थिति या आवश्यकतानुसार परिवर्द्धन होने लगे। नवीनता की जगह संस्क्षण, संस्कार तथा संबर्द्धन की ओर शासकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

दक्षिण भारत के संकटमय जीवन में विजयनगर के राजाओं ने आशा का संचार कर प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण करना श्रेयस्कर समझा, धार्मिक जीवन में दान की पवित्रता पर जोर दिया गया। लोकजीवन में विश्वास पैदा हो जाय कि समाज के अच्छे दिन वापस आ गए। धार्मिक क्षेत्र में पूजा-पाठ, यज्ञ एवं कर्मकांड की प्रधानता हो गई। अतएव, चौदहवीं सदी में द्राविड स्थापत्य में पूजाविधि की वृद्धि के कारण अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए। विशाल प्रागण में मुख्य देवालय के साथ-साथ अन्य देवी-देवताओं के लिए छोटे देवालय बनाए गए। उनमें सबसे प्रमुख मुख्य देवता की देवी का मंदिर होता था। इसकी मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करने की आवश्यकता है। शत्रु का संहार दुर्गा के साथ संबद्ध रहता है। शिव की संहार-मूर्ति दंबी दुर्गा मानी गई हैं, अतएव धार्मिक जगत में शक्तिपूजा की ही प्रधानता रही है। प्रागैतिहासिक युग से देवी (शक्ति) पूजा का विवरण

पाया जाता है। दक्षिण की जनता शत्रु के आक्रमण की प्रखरता देख चुकी थी। अधोमुखी समाज के जागरण के लिए शक्ति-संचार की आवश्यकता थी। अतएव, विजयनगर काल से यानी चौदहवीं सदी से दक्षिण भारत में मुख्य देवता की शक्ति के मंदिर बनने लगे। मदुरै का मीनाक्षी मंदिर भगवान शिव की पत्नी (मीनाक्षी) का है। दूसरा मंदिर कन्याकुमारी का है। इस युग में मंदिरों में विशेष अनुष्ठान (शत्रु की पराजय अथवा विशेष कार्य निमित्त पूजा प्रकार) के लिए मंडप तथा खंभेदार कक्ष बनाए गए, जिससे मंदिर की विशालता बढ़ती गई।

मंदिरों में देवी की प्रधानता होने के कारण वैवाहिक मंडप (कल्याण मंडप) बनाना जरूरी हो गया। यह खुली स्तंभावलि सहित अलंकृत मंडप होता था। उसमें एक वेदिका पर समयानुकूल देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ रखी जाती थी। विजयनगर के मंदिर स्तंभों का अलंकरण प्रचुर मात्रा में गहराई के साथ किया गया है। ठोस प्रस्तर के टुकड़ों को तराश कर स्तंभों तथा स्थूणों पर मनुष्य, देवी, देवता की प्रतिमाएँ एवं पैर उठाए विचित्र पशुओं की आकृतियाँ बड़ी दक्षता से तराशी गई हैं। विजयनगर के मंदिरों के स्थापत्य का परीक्षण तत्कालीन सामाजिक जागरण को परिलक्षित तथा सर्वोत्कृष्ट आलंकारिक नमूना उपस्थित करता है। मंदिर के अवलोकन से प्रकट होता है कि जनता पुनरुत्थान की ओर अग्रसर थी। मंदिर से संबद्ध कक्ष उनके घमोंत्साह की कथा सुनाते हैं। राजकीय सहायता के कारण मंदिरों में स्थापत्य में स्वच्छंदवाद की झलक दीख पड़ती है। विजयनगर के मंदिरों में स्तंभों की बनावट तथा प्रकार की प्रमुखता दी गई है। स्थापत्य-योजना का प्रधान कार्य स्तंभों से संबद्ध है। प्रत्येक स्तंभ में मुख्य भाग से लगे मंदिर-नुमा अलंकरण दीख पड़ते हैं। स्तंभों के ढाल पर अलंकृत ब्राकेट हैं, जिन्हें शीर्ष भी कह सकते हैं। प्रत्येक दीवारगीर में सुंदर गढ़े पुष्प लटक रहे हैं, जैसे उलटी कमल की कली हो।

विजयनगर शैली के मंदिर समस्त दक्षिण भारत में पाए जाते हैं, जहाँ द्रविड़ शैली की प्रधानता रही है। विजयनगर की राजधानी हम्पी जो उजाड़ नगर है, में सर्वोत्कृष्ट मंदिर बने थे। इस विध्वस्त नगरी के सर्वोत्तम स्मारक विठ्ठल तथा हजारों राम मंदिर ही हैं। विठ्ठल मंदिर में (विष्णु विठोबा,

पंठरपुर के प्रसिद्ध देवता) प्रतिमा की स्थापना की गई है, जिसे १५१३ ई० में विजयनगर के सम्राट कृष्णदेव राय ने निर्मित कराया था। मुसलमानों के आक्रमण के कारण वह मंदिर पूर्णतया तैयार न हो सका। यह मंदिर ५०० फुट × ३१० फुट क्षेत्रफल के आंगन में स्थित है।

विट्ठल मंदिर के तीन उपविभाग हैं—

- (१) गर्भगृह,
- (२) मंडप तथा
- (३) अर्द्धमंडप—सामने खुली ड्योढ़ी।

तीनों भाग मिलकर १३५ × ६७ फुट आयताकार क्षेत्र में विस्तृत है। ड्योढ़ी में पाँच फुट की ऊँचाई पर सारी स्तभावलि तैयार की गई है। ५६ स्तंभों के अर्द्धमंडप में बारह फुट वाले विशाल खम्भे खड़े हैं। इन स्तंभों को कड़े प्रस्तर से गढ़ कर तैयार किया गया था, जिनमें तक्षण कार्य सुविधा से एवं स्थायी रूप से हो सके। स्तंभ का बल्ल तथा शीर्ष की खुदाई पृथक् ढग से की गई है। पाये भी चार या पाँच फुट की ऊँचाई तक प्रचुर ढग से उत्कीर्ण हैं। स्तंभ की पीठिका भी सुंदर रीति से खुदी है। बल्ला (Shaft) भी भव्य ढग से बारीकी के साथ तथा अतीव अलंकृत भाव में खुदे हैं। उनमें देवी-देवता की प्रतिमाएँ, अर्द्ध प्राकृतिक तथा आधे मनगढ़त रूप में जानवरों की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। उस पर विशाल दीवारगीर बने हैं। वहाँ प्रस्तर भी गहराई में खोदे गए हैं। उन पर छत आधारित है। उसे कमलपुष्प की तरह अलंकृत किया गया है। यह कहना अनुचित होगा कि सभी पाये एक ही रीति से खुदे हैं। किसी में तो आकृतियाँ उभरी हुई हैं और कुछ प्रस्तर के अलंकृत भाग हैं। थोड़ा भाग साधारण ढग से बना है। संपूर्ण रूप से विचार करने पर उनमें समरूपता नहीं है, तौभी स्तंभों की प्रधानता या प्रतिष्ठा में कमी नहीं आई है। आधारस्तंभों की बनावट एक-सी है और बड़ी कुशलता के साथ निष्पादित की गई है।

विजयनगर के मंदिरों के प्रांगण में मुख्य मंदिर से पृथक् एक कल्याण-मंडप बनाया गया है, जहाँ देवी-देवता का विवाह कल्पित रूप में सपन्न किया जाता है। यह विवाह-मंडप चारों तरफ से खुला है, जो अर्द्धमंडप से छोटा है, किंतु मिला हुआ है। इस मंडप में उत्कीर्ण मूर्तियों सहित अड़तालीस स्तंभ हैं। मंदिर के पूर्वी द्वार से सटे एक अन्य प्रकोष्ठ है, जो वास्तुशिल्प की दृष्टि से अद्वितीय है। यह मंदिर के रथ के आकार का है। रथ के पहियों को देखने से प्रा०—१९

पता चलता है कि वास्तविक रूप में पहिया घूमता है। इसकी विशेषता यह है कि पूरा रथ एक ही प्रस्तर-चट्टान से बना है। विजयनगर के स्थापत्य का यह अनुपम उदाहरण है और इसकी स्थिति से मुख्य मंदिर की शोभा द्विगुणित हो जाती है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि विजयनगर के राजाओं ने मंदिर के घेरे में अनेक मंडप निरूपित किए। उनके विशाल स्तंभों की संगतराशों समीप के प्रस्तर के खदान के कारण सरल हो गयी थी। कड़े प्रस्तर (Granite) खदान से लाकर मंदिर के आंगन में ही स्तंभ के रूप में गढ़ते थे। यही कारण था कि हम्पी के मंदिरों के विशाल स्तंभ अखंडित प्रस्तर (Monolithic) के बने थे। मंदिरों में दो रंगीन स्तंभ दीख पड़ते हैं। एक गहरा हरा (क्लोराट) रंग वाला तथा दूसरा साधारण, जिसे छेनी से सरलतापूर्वक गढ़ा जाता था। इस प्रकार पार्श्व में दो रंग वाले प्रस्तर की इमारतें खड़ी दीख पड़ती हैं। हरे प्रस्तर की स्पष्ट रूप से सोच-विचार कर भही रीति से तराशा गया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि बचकाना कल्पना है। परंतु, दूसरे प्रकार के प्रस्तर को छेनी से कलात्मक ढंग से काटा गया है। देखने से प्रकट होता है कि किसी कुशल शिल्पी ने परंपरागत भाव तथा दीर्घ अनुभव सहित यह कार्य संपन्न किया है।

हम्पीनगर के विजयनगर सम्राटों के राजमहल के भू-भाग तथा अन्य राजकीय इमारतों की स्थिति का पता चला है। राजधानी की नगर-योजना सतुलिन नहीं है, तो भी एक स्थल को दुर्ग स्थल मानते हैं तथा राजकीय भवनों के परकोटे के भीतर छोटा, किंतु अत्यंत अलंकृत, मंदिर का भी परिज्ञान होता है, जहाँ राजघराने के व्यक्ति पूजा निमित्त एकत्रित हुआ करते थे। यह मंदिर 'हजार राम' के नाम से प्रसिद्ध है। १५२० ई० में कृष्णदेव राय ने इसका निर्माण राजपरिवार के लिए ही किया था। इसका विवरण स्थानीय अभिलेख से मिलता है। इस मंदिर के मुख्य तथा सहायक भाग विट्ठल मंदिर के सदृश है। मंदिर का प्रवेशद्वार पूरब दिशा में है, जिसकी छत बिपटी है। वही से सभामंडप में प्रवेश करते हैं, जिसके चार काले मध्यवर्ती स्तंभों का असाधारण आकार एवं बनावट उल्लेखनीय है। स्तंभ के बल्ले को (Shaft) ज्यामिति के विभिन्न आकार तथा बेलनाकार बनावट से अलंकृत किया गया है। उस सभामंडप के दो अन्य प्रवेशद्वार हैं, जो आग्नि से संबंधित हैं। इसी मंडप के एक कोने में स्थित गर्भगृह में भगवान रामचंद्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसका विमान या शिखर तीन पंक्तियों में विभाजित

है, जिसका शीर्ष गुंबदी आकार का है। हजारराम के मुख्य मंदिर का विमान अंशतः प्रस्तरों तथा ईंटों से बना है।

हम्पी के समकालीन अन्य मंदिर तामिलनाडु प्रदेश में बेलौर, कुंभकोनम्, विरंजीपुरम् तथा श्रीरंगम् में विद्यमान हैं। हम्पी से डेढ़ सौ किलोमीटर दूर साइपन्नी दो मंदिरों के लिए विख्यात है। विरुवेंकट स्वामी तथा रामेश्वर मंदिर सोलहवीं सदी के प्रथम चतुर्थांश (२५ वर्ष) में निर्मित हुए थे। अपनी बनावट के कारण वे विशेषतया उल्लेखनीय हैं। उनकी स्थापत्य शैली कुछ असाधारण दीख पड़ती है। द्राविड शैली के मंदिर के विमान का आधार प्रायः सादा रहता है और शिखर (विमान) को ही प्रचुरता के साथ अलंकृत करते रहते हैं। किन्तु, तामिलनाडु के मंदिरों में विमान के आधार-प्रस्तर भी असंयत रूप में उत्कीर्ण फलकों से भरे पड़े हैं। आलंकारिक विशेषताओं को ध्यान में रख कर मैसूर के मध्ययुगीन मंदिरों से इनकी समता की जा सकती है। इतिहासकारों के लिए हम्पी नगर विशिष्ट महत्त्व रखता है। विजयनगर की स्थापत्य-गौरव के उदाहरण उस स्थान पर दृष्टिगत होते हैं।

मदुरै का मीनाक्षी देवी मंदिर

मध्य युग में भारतीय इतिहास की अनेक घटनाएँ महत्वपूर्ण समझी जाती हैं, जिनके द्वारा सांस्कृतिक क्षेत्र में उथल-पुथल हुआ। दक्षिण भारत में खिलजी-आक्रमण के कारण तथा मलिक काफूर के भयंकर दमनचक्र ने सामाजिक जीवन को आदोलित कर दिया था। विजयनगर के सम्राटों ने लोकजीवन के पुनर्जागरण में हाथ बँटाया तथा दक्षिण भारत के इतिहास में नया मोड़ पैदा किया। सारे भू-भाग में आशा की लहर दौड़ पड़ी थी। परन्तु, काल के थपेड़े ने विजयनगर के नरेशों का विनाश कर दिया। १५६५ ई० के तेलीकोटा के युद्ध में दक्षिण के मुसलमान सुल्तानों के संघ द्वारा विजयनगर राज्य का अंत कर दिया गया। कला के क्षेत्र में ह्रास आना स्वाभाविक था। जो स्थापत्य-परंपरा हिंदू-नरेशों के संरक्षण में पुष्पित हुई थी, उसे छोटे राज्यों का मुँह देखना पड़ा। विजयनगर के विनाश होने तथा इस्लामी दबाव के फलस्वरूप सुदूर दक्षिण में रियासत स्थापित हुई, जिसकी राजधानी मदुरै में स्थित की गयी। कतिपय छोटी रियासतों ने स्थापत्य शिल्प को प्रोत्साहित किया। उन्हीं छोटे राज्यों में तामिलनाडू के मदुरै क्षेत्र में फैली रियासत ने अपना प्रभुत्व कायम रखा। दक्षिण भारत के इतिहास में मदुरै के नायक-राजाओं का विशिष्ट

स्थान है तथा स्थापत्य शिल्प में उनकी अपनी देन भी है। नायक वंश में तिरु-मलै नायक का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिसने १६२३-१६५९ ई० तक शासन किया तथा उसी की संरक्षता में सुंदर एवं भव्य इमारतें बनायी गईं।

तामिलनाडु प्रदेश में संपूर्ण तमिल देश में नायक राजवंश का राज्य कुमारी अंतरीप तक विस्तृत रहा। नायक नरेशों ने पांड्य स्थापत्य नीति को अपनाया, उनका अनुकरण किया। जिस गोपुरम् को पांड्यकालीन मंदिरों में स्थान मिला था, उस सिद्धांत के आधार पर द्राविड मंदिरों के विकास में सहयोग दिया। नायक राजाओं ने जिस शैली को जारी रखा, उसी का आज तक अनुकरण होता है। धार्मिक इमारतों में मदुरै की शैली ही सर्वत्र कार्यान्वित की गई। नायक शासनकाल में मंदिरों में विमान तथा गोपुरम् की वृद्धि हुई। तत्कालीन मंदिरों के देखने से नायक स्थापत्य के क्रमिक विकास का पता चलता है। उस विकास-परियोजना के आधार पर तिथियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। विजयनगर राजाओं के शासन में यज्ञो, उत्सवों तथा धार्मिक कार्यों के प्रसार के कारण तत्कालीन मंदिरों में विस्तार की लहर दौड़ पड़ी थी। देवयात्रा की भी प्रणाली अपनायी गई, जिसके निमित्त मंदिरों की स्थापत्य-योजना में परिवर्द्धन करना पड़ा था। नायक शासनकाल में मंदिरों के कई परकोटे बने और दो घेरे के मध्य आवासीय भवन, हाट तथा गौड देवी-देवताओं के छोटे मंदिर बनाए गए। अतएव, मंदिरों से संबद्ध स्थापत्य की रूपरेखा अत्यंत विस्तीर्ण हो गई। मदुरै के मंदिर को केन्द्रस्थ मान कर समीपवर्ती भूभाग में समान रूप से अनेक मंदिर निर्मित हुए, जिनमें मदुरै को छोड़ कर श्रीरंगम्, (त्रिची के समीप) तिरुवारूर, रामेश्वरम्, चिदंबरम्, तिरुनेवेली, श्रीविल्लीपथुर में भी मंदिर बनाए गए थे। मदुरै के मीनाक्षी मंदिर को आदर्श मान कर निर्माण-कार्य संपन्न किया गया था।

मदुरै में दो मंदिर एक स्थान पर ही बने थे—भगवान् सुंदरेश्वर तथा उनकी मीन आंख वाली पत्नी (मीनाक्षी) का युगल मंदिर। इसका विशाल क्षेत्र ८५० × ७२५ वर्गफुट में विस्तृत है, जिस परकोटे में (घेरे में) सभी मंदिर तथा अन्य आकार घिरे हैं। मीनाक्षी मंदिर ही सर्वप्रसिद्ध है। इसके पूर्वी मुख्य द्वार से प्रवेश कर स्तम्भावलि सहित गलियारा होकर दूसरे द्वार तक पहुंच जाते हैं, जिसके ऊपर गोपुरम् बना है। इसी तरह का गोपुरम् अन्य

तीनों दिशाओं (पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण) में दीख पड़ते हैं। बाहरी दीवार से संबद्ध गोपुरम् से सभी छोटे हैं। पहले तथा दूसरे घेरे के मध्य ढँका आँगन है। तीसरे तथा अंतिम भीतरी अहाते में एक प्रवेशमार्ग है। उसके पूर्वी भाग में देवगृह है। इस मंदिर के तीन उपविभाग हैं—(१) गर्भगृह (२) अंतराल तथा (३) सभामंडप। गर्भगृह का विमान पार्श्व के विमान में ऊँचा है। पत्कोटे के बाहर ढँका प्रांगण है, जिसके स्तंभ प्रचुरता से उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार मदुरै मंदिर के तीनों अहातों के अंदर स्थित सभी प्रांगणों एवं कक्षों में दो हजार स्तंभ वर्तमान हैं। इनकी बनावट तथा अलकरण विजयनगर मंदिर के स्तंभ से मिलना-जुलता है।

मदुरै का मीनाक्षी मंदिर इस स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करता है। कलात्मक दृष्टि से सर्वाधिक सुंदर स्तंभ स्वामी सिंगोतनम् के हैं। स्तंभों पर जो मानव-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वे सभी मनुष्य-आकार से बड़ी हैं। मुख्य मंदिर के दक्षिण में एक सुंदर पुष्करणी है, जिसके जल में दक्षिणी गोपुरम् प्रतिबिंबित होता है। इस मंदिर में कुल ग्यारह गोपुरम् हैं, किंतु दक्षिणी द्वार का गोपुरम् सबसे विशाल है, जिसकी ऊँचाई दो हजार फीट है। इसके शीर्ष पर बेलनाकार छत है। इसकी पूरी सतह पर अगणित देवी-देवताओं, परदार साँपों तथा दिव्यजीवों की अनेक प्रतिमाएँ ही उनके मूल अभिप्राय (Motives) को व्यक्त करती हैं। मुख्य द्वार के सामने बड़ा अहाता है, जहाँ पुडु मंडप नामक इमारत तिरुमल्ल नायक ने बनवाया था, जिसमें अस्थायी रूप से उत्सव के अवसर पर देवप्रतिमाएँ रखी जाती हैं। मंदिर की योजना में इस मंडप के स्तंभ अपना स्थान नहीं रखते। मंडप में स्थित स्तंभों के बल्लो (Shafts) पर नायक राजाओं की आदमकद (मानवाकार) मूर्तियाँ बनायी गई हैं। श्रीरगम् तथा तजौर के वृहद्देव मंदिरों में दानकर्त्ताओं की प्रतिमाएँ स्तंभों से जुड़ी हैं।

मदुरै मंदिर की विशेषता इसके क्रमिक विस्तार में ही परिलक्षित होगी। मंदिर से संबद्ध, यज्ञों एवं उत्सवों को संपन्न करने के हेतु उसका विस्तार किया गया। भक्तगण देवता की अनुलनीय शक्ति का विचार कर मंदिरों की बनावट में वृद्धि करने लगे। देवता की आध्यात्मिक शक्ति के कारण ही अधिकारमय गर्भगृह में प्रतिमा प्रतिष्ठित करते, जहाँ उपासक भक्तिभावना को

अर्पित करते थे । इसी कारण गर्भगृह के भीतरी कक्ष में सभी का प्रवेश वर्जित था । दूसरे समय देवता के पार्थिव शरीर की कल्पना कर उसके अमूर्त रूप को मूर्तिमान करते थे । उस प्रतिरूप को घर्मानुष्ठान तथा उत्सव एवं राजकीय समारोह में देवयात्रा में निकालते थे । इस विभेद के कारण देवता को भीतरी ढोंके गर्भगृह में स्थापित करते जिसके बाहर जनता (उपासकों) के लिए खुला कक्ष रहता था । इस देवस्थान के बाहरी भाग में समकेंद्रित खुला प्रांगण होता है, जिसे 'प्रकारम्' कहा गया है ।

मंदिर में गर्भगृह तथा डयोढी सर्वप्रथम निर्मित होते थे । बाहरी भाग में चिपटी छत से ढँका प्रकोष्ठ बनाया जाता, जिसमें विस्तार का कार्य बढ़ता जाता था । मंदिर के विस्तार का दूसरी सीढ़ी आयाताकार परकोटे को मानते हैं । दो परकोटे के मध्य में पर्याप्त क्षेत्र आंगन के रूप में व्यवहृत किया जाता । इन आंगनों में स्तम्भसहित मंडप या सहायक देवस्थान तैयार किया जाता था । इस तरह कई परकोटे बनाए जाते और दो चहारदीवारी के बीच खुला आंगन रहता था जिसमें अर्द्धधार्मिक इमारतें वस्तु संग्रह के लिए स्थान तथा आवासीय भवन भी रहता था । इस दीवार में चार प्रवेशमार्ग रहता, जिस प्रवेशद्वार पर क्रमशः बड़े गोपुरम् निर्मित किए जाने थे ।

श्रीरंगम् का रंगनाथ मंदिर

नायक शासन में श्रीरंगम् का रंगनाथ मंदिर द्राविड शैली का सबसे विशाल मंदिर माना जाता है । यह स्थान कावेरी नदी की दो शाखाओं के मध्य टापू में स्थित है, जो नायको की दूसरी राजधानी तिरुचिपल्ली से चार किलोमीटर दूर है । इस मंदिर में विष्णु भगवान की शेषशायी प्रतिमा प्रतिष्ठित है । दक्षिण भारत के तीन प्रसिद्ध वैष्णव मंदिरों में—बैकुंठ पेरुमल्ल (कांचीपुरम्), पद्मनाभ स्वामी (त्रिवेन्द्रम्) तथा श्रीरंगम्—इसकी गणना होती है । बैकुंठ पेरुमल्ल मंदिर में भी शेषशायी विष्णु की प्रतिमा स्थापित है । श्रीरंगम् मंदिर का गर्भगृह ही पुराने स्थापत्य शिल्प का नमूना है, किंतु अन्य सभी बनावटें कालांतर में जोड़ी गई थी । श्रीरंगम् के मंदिर में सात परकोटे हैं, जिसमें समकेंद्रिक सात अहाते हैं । इस मंदिर में २१ गोपुरम् बने हैं । अहाते में आवासीय भवन, हाट तथा पूजा के लिए विविध कक्ष

भी तैयार किए गए। इस प्रकार मंदिर के अहातों में नगर बसाया गया है। बाहरी परकोटे की दीवार २८८० फुट लंबी तथा २४७५ फुट चौड़ी है और मुख्य मंदिर के चारों ओर एक के बाद दूसरे अहाते हैं। परकोटे में गोपुरम् बने हैं।

स्थापत्य की दृष्टि से मंदिर का सहस्र स्तंभोंवाला सभामंडप सबसे सुंदर है, जो चौथे प्रागण में स्थित है। एकाश्म कडे प्रस्तर (ग्रेनाइट) से निर्मित स्तंभ विशालता एवं भव्यता के कारण दर्शकों को आकर्षित करते हैं, मंत्रमुग्ध दर्शकवृंद आनंद से विभोर हो जाता है। तीसरे अहाते में गरुडमंडप स्तंभावलि से युक्त है तथा समीप में 'सूर्य पुष्करणी' नामक तालाब बना है। मंदिर का गर्भगृह ग्याहवी सदी में बनाया गया था, किंतु परकोटे तथा सभामंडप सत्तरहवी या अठारहवी सदी में जोड़े गए। तेरह द्वार मार्गों में कुछ विस्तृत है तथा खुदाई के कारण दर्शनीय है। रंगनाथ मंदिर से संबद्ध अभिलेखों का अध्ययन यह बतलाना है कि तेरहवी सदी में पांड्य नरेश एवं चौदहवी शताब्दी में विजयनगर के शासकों ने श्रीरंगम् मंदिर के स्थापत्य में वृद्धि की थी। यह कहा जा चुका है कि विजयनगर के राजाओं ने रंगनाथ मंदिर स्तंभ श्रेणियों का मंडप तैयार किया था, जिसमें जंगी घोड़ों की आकृतियाँ बनी थी। उनकी ऊँचाई ९ फुट तक मापी गई है। समस्त अश्व सहित स्तंभावलि तकनीकी का भव्य उदाहरण उपस्थित करती है, जिसकी बनावट प्रस्तर की न होकर लोहे की प्रकट होती है। श्रीरंगम् का यह 'अश्व-कक्ष' दक्षिण के स्थापत्य शिल्प में अत्यंत प्रसिद्ध है तथा घोड़े का आकृतिमय स्तंभ श्रीरंगम् में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर चुका है। इसमें प्रकट होता है कि रंगनाथ मंदिर से संबद्ध अन्य इमारतों के निर्माण का कार्य विजयनगर काल से ही चल रहा था। अहातों के देखने से ज्ञात होता है कि चौथे आँगन से इमारतों का बनना आरंभ हुआ था। इसकी बाहरी दीवार १२३५ फुट X ८४९ फुट क्षेत्रफल में विस्तृत है, जिसकी तीन दिशाओं में गोपुरम् हैं।

श्रीरंगम् से दो किलोमीटर दूर जंबूकेश्वर नामक मंदिर है। यह छोटे आकार का है, जिसमें चार ही परकोटे हैं, जिसकी पूर्वी दिशा में मुख्य गोपुरम् बना है। सामने एक सौ बीस स्तंभों वाला गलियारा है। चारों तरफ स्तंभावलि के बीच केंद्रीय आँगन है, जहाँ शैवमत के चारों प्रतीक—लिंगम्, नंदी, द्वारस्तंभ तथा पवित्रपात्र के लिए स्थान सुरक्षित है। मध्य भाग में स्तंभावलि से कुछ

दूरी पर खम्भों के समूह दीख पड़ते हैं, जो बीच आँगन के बाहरी भाग में खड़े हैं। स्तंभों के शीर्ष में ब्रीकेट है, जिनमें व्याल की आकृति खुदी है। उन पर सहतीर तथा छत आधारित हैं। इस प्रकार मध्य तथा पार्श्व बीथी पृथक् हो जाती हैं। सोलहवीं सदी का कोई अन्य द्रविड शैली का मंदिर जबूकेश्वर से अधिक भव्य नहीं है।

रामेश्वरम् मंदिर

दक्षिण भारत में सेतुबंध रामेश्वर नामक स्थान पूर्वी समुद्र-किनारे स्थित है, जहाँ से भगवान रामचंद्र ने लंका की विजययात्रा संपन्न की। वह एक छोटा-सा द्वीप है, जो छिछले समुद्र द्वारा भारत से पृथक् किया गया है और पवन के पुल द्वारा भारत से वहाँ पहुँचते हैं। द्रविड शैली का दूसरा विख्यात मंदिर रामेश्वरम् का है, जिसे नायक शासनकाल में बनाया गया था। तंजौर या मदुरै मंदिरों के सदृश इस मंदिर की सुव्यवस्थित योजना समझ में नहीं आती। तंजौर का मंदिर रामेश्वरम् का आधा ही है, तथापि उनमें स्थलपत्य सत्ता समिलित रूप में प्रकट होती है। मीनाक्षी मंदिर की तरह रामेश्वरम् मंदिर में दो देवालय हैं, जो एक के भीतर एक तीन दीवारों से घिरे हैं। सबसे बाहरी दीवार ८८० फुट ऊँची, ६७३ फुट चौड़ी तथा २० फीट ऊँची है। इसमें सत्तरहवीं सदी के चार सुंदर गोपुरम् हैं। मंदिर का सबसे महत्वपूर्ण, वैभवपूर्ण एवं भव्य खंड चार हजार फुट का स्तंभों वाला गलियारा है, जो मंदिर को घेरे हुए है। गलियारे की चौड़ाई १७ से २१ फुट तक मापी गई है। उसकी ऊँचाई २५ फुट है। स्तंभों को प्रचुरमात्रा में अलंकृत किया गया है, वे अच्छे अनुपात में बने हैं तथा सुव्यवस्थित रूप में कुशलतापूर्वक गलियारे में स्थिर किए गए हैं। गलियारे से ५ फुट ऊँचाई से आरंभ कर १२ फुट लंबाई में उनको गढ़ कर तैयार किया है। यदि एक कोने से खड़े होकर देखें और सापेक्ष महत्त्व पर विचार किया जाय, तो एक पवित्र में अनगिनत मालूम पड़ते हैं। लगभग सात सौ फुट लंबी स्तंभावलि दर्शक को चकित कर देती है। बाहरी दिशा से मंदिर सादी दीवार से ही घिरा मालूम पड़ता है। उसमें पूर्वी दिशा में एक गोपुरम् बनाया गया है। दूसरे परकोटे के प्रमुख द्वार पर भव्य गोपुरम् है, जो ग्यारह मंजिल का बना है और जिसकी ऊँचाई १५० फुट है। बाहरी दीवार की उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं में विशाल गोपुरम् बनाए जा रहे थे, किंतु उनके निचले भाग बन कर ही छोड़ दिए गए यानी वे असमाप्त हैं।

दक्षिण अरकाट जिले में स्थित चिदंबरम् में नटराज मंदिर अपनी स्थापत्य-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस मंदिर में कई इमारतें हैं, जिनका निर्माण अलग-अलग युग में हुआ था। यद्यपि पूर्वी गोपुरम् तेरहवीं सदी, पार्वती मंदिर चौदहवीं सदी तथा उत्तरी गोपुरम् १६ वीं सदी में निर्मित हुए थे। परंतु, उनकी रचना में अद्भुत तादात्म्य एवं एकता है। सहस्र स्तंभों वाला सभा-मंडप (राजसभा) के लिए यह मंदिर विख्यात है। इस मंदिर-निर्माण के पीछे एक कथानक प्रसिद्ध है कि दसवीं सदी के चोलराजा परंतक ने भगवान् शिव का दिव्यदर्शन किया, जो पार्वती-सहित डमरू लेकर नृत्य कर रहे थे। राजा ने शीघ्र ही कनक-सभा बना कर उसको स्मृति में मंदिर-निर्माण किया। मुख्य गर्भगृह में नरेश की प्रतिमा स्थापित है। मुख्य देवालय से पृथक् कई इमारतें बनी हैं। इस मंदिर में ग्रेनाइट प्रस्तर के छप्पन स्तंभ जुड़े हैं, जिनकी ऊँचाई आठ फुट है। सभी स्तंभ अतीव सुंदर रीति से खुदे हैं। जिस दासा पर स्तंभ खड़े हैं, वह सभी अलंकृत है। वहाँ नाना मुद्रा में नृत्य करती नर्तकियों की आकृतियाँ उकेरी गई हैं।

चिदंबरम् के गोपुरम् की भित्तियों पर नाट्यशास्त्र के तांडव-लक्षण प्रकरण के १०८ करण (हाथ एवं पैर का विन्यास) एक दूसरे के ऊपर क्रमशः बनाए गए हैं। इनकी खुदाई गिलापट्टों पर की गई है। नर्तकी के साथ ही एक ओर वादक तथा दूसरी ओर ताल देने वाली आकृतियाँ बनी हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी गोपुरम् पर नृत्यों को बोधगम्य करने के लिए नाट्यशास्त्र के आनुष्ठित श्लोको को भी उत्कीर्ण किया गया है। दक्षिण भारत के त्रिनेवेल्ली मंदिर भी गोपुरम्, तालाब तथा मंडप (तीनों प्रकार) से युक्त हैं। बाहरी परकोटे में चार गोपुरम् हैं तथा दूसरे अहाते से संबंधित अन्य गोपुरम् बने हैं। आयताकार क्षेत्रफल (५८० × ४५६ फुट) से मंदिर विस्तृत है।

केरल तथा दक्षिण कन्नड के मंदिर

दक्षिण भारत के विभिन्न भू-भाग में स्थित द्रविड़ शैली के मंदिरों के अतिरिक्त दक्षिण-पश्चिमी तटवर्ती केरल राज्य में भी विभिन्न शैली के मंदिरों का निर्माण हुआ। उनमें प्रस्तर, काष्ठ तथा खपरैल की सामग्रियों का प्रयोग किया गया है; क्योंकि उनकी प्राप्ति सरल थी। वहाँ के मंदिर त्रिकोणाकार हैं; छाजन वाले हैं, इसलिए द्राविड़ मंदिरों से कुछ भिन्न हैं। संभवतः उनमें देशी शैली का भी समावेश किया गया है। मंदिर एक पाषाणपीठ पर बना है तथा चारों तरफ आयताकार दालान वर्तमान है। उनकी छत ढालू

होती है, जो खपरैल के सहारे बनी है। भौगोलिक कारणों से इस प्रकार का आयोजन किया गया तथा भीषण वर्षा के प्रकोप से मंदिर बचे रहे। छतें अनेक मंजिल की होती हैं। इस कारण रिक्त स्थान पर पौराणिक कथानकों का प्रदर्शन दीख पड़ता है। केरल की राजधानी त्रिवेंद्रम् में भगवान विष्णु का 'पद्मनाभ स्वामी' नामक मंदिर द्राविड शैली प्रसिद्ध मंदिर है। पश्चिमी तट पर सबसे निचले भाग (त्रिवेंद्रम् से अस्सी किलोमीटर दूर) शचींद्रम् में एक मंदिर बनाया गया था, जो द्राविड शैली का अत्युत्तम देवालय माना जाता है। इसमें गोपुरम्, पुष्करणी तथा स्तंभो-वाला गलियारा मौजूद है। शची-द्रम् मंदिर में लकड़ी का प्रयोग नहीं के बराबर है। लकड़ी की तरह छत की बनावट घरनों पर टिकी है। चिपटी नहीं है। ये १६ वीं सदी की द्राविड शैली के मंदिरों के सुंदर उदाहरण उपस्थित करते हैं।





परिशिष्ट

परिशिष्ट १

स्तूप में शरिर-स्थापना-संबंधी अभिलेख

पीपरावा, बस्ती, उत्तर प्रदेश ई० पू० तीसरी सदी
भाषा प्राकृत, लिपि ब्राह्मी—

(१)

सुकिति भतिनं सभगिनिकनं सपुतदलन इय मलिल निघने बुवस भगवते सकियान ।

शाक्यवशी भगवान बुद्ध का भस्मपात्र मुकीति नामक भ्राना," बहन, पुत्र तथा स्त्री के साथ दान किया गया ।

(२)

मिनकोट भस्मपात्र अभिलेख मिलदं के समय का बिजौर (सरहदी, सूबा)

भाषा प्राकृत (ई० पू० पहली सदी) लिपि-खरोष्ठी

मिनेद्रम महरजम करिअस दिवस ४ + ४ + ४ + १ + १ प्राणसभेद प्रति-थविन

प्रणसभेद शरिर इदं भगवतो शकमुनिस वियक मित्रस अप्रचरजस इमे शरिर पलुग भुद्रओ न सक रे अत्रित । स शरिरात्रि कलद्रे नो शध्रो न पिडोयकेपि पत्रि गिमयभि

तरु ये पत्रे अपोमुअ वपये पचमये ४ + १ वैश्रखस मसम दिवस पंचविश्रये इयो प्रत्रियावित्रे विजयामित्रेन अप्रयरजेन भगवतु शकिमुनिसं सम संबुध स शरिर ।

(माराग अनुवाद)

महाराजा मिलिद के समय कार्तिक मास चतुर्दशी को भस्मपात्र की (भगवान शाक्यमुनि) प्राणप्रतिष्ठा की गई । उसके सामंत प्रतापी विजयमित्र के द्वारा । उसके भग्न होने पर वैशाख मास के पचीसवें दिन पुन स्थापित किया ।

(३)

स्वात भस्मपात्र का आधार अभिलेख स्वात नदी की घाटी (उत्तर-पश्चिमी प्रांत) प० पाकिस्तान ई० पू० प्रथम शताब्दी—

भाषा प्राकृत, लिपि खरोष्ठी,

थे उदोरेन मेरिदखेन प्रतिठाविद्रइमे शरिर शक मुणिस भगवतो बहुजन हितये ।

लोक के हित के लिए मेरिडवर्ख थियोडोरास ने भगवान बुद्ध के शरिर (धातु-पात्र) को प्रतिस्थापित किया।

(४)

भट्टीप्रोलु भस्मपात्र लेख

भट्टीप्रोलुस्तूप, कृष्णा जिला मद्रास प्रदेश (तामिल- नाडु)

भाषा प्राकृत, लिपि ब्राह्मी, तिथि ईसा पूर्व दूसरी सदी

कुर पितुनो च कुर मातु च कुरप सिवष च मंजुष पणति फालिग षमुंग
च बुध सरिणाण निखेतु

कुर-पिता तथा कुर माता तथा कुर शिव द्वारा निमित्त पाषाणपिटक (मंजुषा) जो बिलौर प्रस्तर ढकन सहित था। बुद्ध के धातु (शरिर = भस्म) रखने के लिए बनाया गया था।

(५)

तक्षशिला लेख

तिथि—ई० पू० पहली सदी, स्थान तक्षशिला रावलपिंडी

भाषा प्राकृत लिपि खरोष्ठी

मरिखेन सम्यकेन थूवो प्रतिस्तवितो (का० इ० इ० भा० २)

मरिख नामक व्यक्ति ने भली-भाँति स्तूप की स्थापना की।

(६)

बुद्ध की अवशेष-स्थापना का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। पहली सदी के क्षत्रप रजुबल तथा सोडास के मथुरा सिंह स्तंभ लेख में निम्नलिखित वर्णन मिलता है। (भाषा प्राकृत तथा लिपि ब्राह्मी)

थ्रँ निसिमे (= स्तूप) शरिर प्रतिठावितो भक्वतो शक मुनिस बुधस
भगवान् शाक्य मुनि बुद्ध का अवशेष (शरिर = धातु) स्तूप में प्रतिष्ठापित किया गया।

(७)

कलवान ताम्रपत्र लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान तक्षशिला, रावलपिंडी जिला,

भाषा प्राकृत, लिपि, खरोष्ठी,

कलवान ताम्रपत्र में भी शरिर (धातु)-स्थापना का उल्लेख है—

छड शिलए शरिर प्रइत्तवेति गहस्युवमि

भगवान् बुद्ध के अवशेष को शासक अयस ने भ्राता-भगिनि-दुहिता के साथ गृह स्तूप स्थापित किया था।

पहली सदी में उपरिलिखित अवशेष कहां से प्राप्त हुए, जिसकी स्थापना स्तूप में की गई ? यह अनिर्वचनीय है । इस संबंध में तर्क से काम नहीं लिया जा सकता । विश्वास करना पड़ता है ।

(८)

तक्षशिला चाँदी-पत्र पर अंकित लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान तक्षशिला रावलपिंडी,

भाषा-प्राकृत लिपि-खरोष्ठी,

१३६ अयस अषडस मसस दिवसे १५ इश दिवसे प्रदिस्तवित भगवतो धनुओ उरसकेण इंतहि पुत्रेण वह लिए तेण इमे प्रदिस्तवित भगवतो धनुओ धमरइए तक्षशिलाए तणुवए बोधिसत्त्व गहमि ।

इस लेख में वर्णन है कि राजा अयस शासन के १३६ वें वर्ष आषाढ मास १५ दिन भगवान बुद्ध के धातु (अवशेष राख) तक्षशिला के धर्मराजिक स्तूप में स्थापित किया गया । वह स्तूप अशोक ने बनवाया था । स्यात् उसकी मरम्मत कर उरशा देश के निवासी इतप्रिय के पुत्र द्वारा धातु स्थापित किया गया ।

(९)

कुरम ताम्रपत्र लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान पेशावर के समीप, भाषा प्राकृत, लिपि खरोष्ठी

धुंवमि भगवतस शक्य मुनिस (धातु) शरिर प्रदिठवेदि ।

स्तूप में भगवान् का अवशेष स्थापित किया गया ।

(१०)

खवट कांस्यपात्र लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान खवट (अफगास्तान)

भाषा प्राकृत, लिपि खरोष्ठी

वग्रमारे ग्रविहगमि धुस्तिमि भगवद शक्य मुणे शरिर परिठवेति,

वग्रमार नामक विहार के स्तूप में भगवान् शाक्य मुनि बुद्ध का अवशेष स्थापित किया गया ।

इस प्रकार ईसा पूर्व चौथी सदी से इसवी सन् की दूसरी शती तक स्तूप में बुद्ध के शरिर (अवशेष = भस्म) की स्थापना का वर्णन मिलता है । इस वार्ता के ऐतिहासिक विवेचन में जाना संभव नहीं है । इस बात पर बल देना आवश्यक है कि अभिलेखों में उल्लिखित विवरण के अतिरिक्त शरिर (अवशेष) की स्थापना (स्तूप में) का विवरण अन्यत्र नहीं मिलता ।



परिशिष्ट २

वेष्टनी एवं तोरण-अंकित लेख

प्राचीन भारत का इतिहास अभिलेखों के सहारे निर्मित किया गया है। वेदिकाओं पर अंकित लेखों से कतिपय ऐतिहासिक बातों का परिज्ञान हो जाता है—

१. राजा का नाम—जिसके शासन में अमुक कलात्मक कार्य संपन्न हुआ हो।
२. दानकर्ता शासक का नाम।
३. व्यक्तिविशेष, जिसने किसी प्रकार का दान किया हो।
४. कलाकार का नाम।
५. स्थानविशेष की चर्चा।
६. किसी धार्मिक घटना का उल्लेख।
७. विशिष्ट ऐतिहासिक विषय का वर्णन।
८. देवताविशेष का नामोल्लेख।
९. सामाजिक बातों का विवरण।

अभिलेखों के परीक्षण से प्रकट होता है कि लेख, तोरण-स्तंभों, वेदिका स्तंभ, सूची, उष्णीम पर अंकित है। प्रायः सभी लेखों के अंत में 'दान' शब्द से उसके संबंध में स्पष्ट हो जाता है कि अमुक वेदिका का भाग किसी व्यक्ति द्वारा दान दिया गया। भरहुत-तोरण के स्तंभ पर निम्न लेख खुदा है, जिससे प्रकट होता है कि यह तोरण शु गकाल (ईसापूर्व दूसरी सदी) में प्रस्तर का निर्मित हुआ। इसे धनभूति नामक नरेश ने तैयार करवाया था। (भाषा प्राकृत, लिपि ब्राह्मी)

सुगनं रञ्ज रञ्जो गामोपुतस विसदेवस पोत्रेण गोती पुतस आगरजुस
पूतेण वाञ्छि पुतेन धनभूतिन कारितं तोरना सिला कमतो च उपण ।

शुंग राजाओं के शासन में गार्गीपुत्र विश्वदेव के पोत्र गोत्री के पुत्र,
अङ्कारधू के पुत्र वात्सी का पुत्र धनभूति द्वारा प्रस्तर निर्मित स्तंभ
बनाया गया ।

अधिकतर अभिलेख बेष्टनी के स्तंभ पर अंकित हैं, जिनके अध्ययन से
अनेक बातों का पता लगता है । एक स्थान पर 'वेदिसा अनुराध्यदान' (विदिसा
का निवासी अनुराध द्वारा दान किया गया) तथा 'विदिसा अय माया दान'
वाक्य से व्यक्ति द्वारा दान का विवरण मिलता है । इसी प्रकार—

'पुरिकाय दायकन दान' वाक्य से पुरिक के दायकन के दान का पता
चलता है । इसी से पुरिक तथा विदिसा नगरों का परिज्ञान हो जाता है
कि वहाँ के निवासी दानी थे ।

'नासिक गोरखितय व्यंभो दानं' लेख में प्रसिद्ध नासिक का उल्लेख है ।
एक स्थान के वेदिकास्तंभ पर बुधरक्षित नामक कलाकार का नामोल्लेख है ।
(बुध राखितस रुपाकार कस दानं) कही भिक्षुणी द्वारा दान का वर्णन है ।

बुध रखितये (नाम) दानं भिच्छनिए (भिक्षणी द्वारा)
स्तंभ के अतिरिक्त सूचीदान का भी उल्लेख है ।

अय जातो सेपेठकिनो सूचिदानं (आर्य सेपेठकि का दान)

भरहुत के सूचि पर अंकित लेखों से ऐतिहासिक वटनाओं का भी बोध
होता है । माया के सपना को व्यवक्त करते लेख खुदे हैं—

भगवतो रूकदंत । भगवान के जन्म का द्योतक है । माया ने हाथी का
सपना देखा था । वही हाथी रू = आवाज कर रहा है । इसी प्रकार के अन्य
सूचि के मध्य फलक में जेतवन विहार का दृश्य वर्णित है—

जेतवन अनाथपीडिको देति कोठिसन्यतेन केठा

अनाथपीडिक ने जेतवन का समर्पण किया । उस (स्थान) को कोटिस
(स्वर्णमुद्रा) से खरीद कर श्रावस्ती के सेठ अनाथपीडिक ने राजा जेत से
विहार-निर्माण के लिए भूमि खरीदी तथा उस भू-भाग पर स्वर्णमुद्राओं को
फैला दिया । वही उस भूमि का मूल्य था ।

पश्चिमी तोरण के कोने के स्तंभ पर जो लेख अंकित है, वह स्पष्ट बतलाना है कि अजातशत्रु (मगध के राजा) ने बुद्ध के पदचिन्ह की पूजा की ।

अजातशत्रु भगवतो वन्दते ।

दक्षिण फाटक के स्तम्भ पर निम्न लेख—

‘राजा पसेनजित कोसलो’ अंकित है । कोसल के राजा प्रसेनजित ने भगवान के पूजानिमित्त यात्रा की थी । इस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान लेखों के अध्ययन से हो जाता है ।

भरहुत वेदिका-स्तम्भों पर मानुषी बुद्ध के नाम अंकित हैं—

भगवतो कसपस बोधि

भगवतो शक मुनिनो बोधि

भगवतो ककुसधस बोधि

इसमें काश्यप, गौतम बुद्ध तथा ककुसंद नामक मानुषी बुद्धों के नाम अलिखित हैं ।

‘भगवतो धर्मचक्र’ वाक्य से चक्र की दैवीशक्ति का आभास मिलता है ।

‘इस शालगुहा’ लेख से इंद्र की गुहा का भाव व्यक्त हो रहा है ।

‘यक्षिनी मुदसना’ द्वारा सुदर्शना पक्षी का पता चलता है । पश्चिमी तोरण के स्तंभ पर एक धार्मिक लेख खुदा है, जिसमें सुधर्मा देवसभा में बुद्ध की चूड़ा का पूजन हो रहा है । नर्तकियाँ नाच रही हैं । लेख है—

सुधम्मा देवसभा भगवतो चुडा महो ।

इस भरहुत वेदिका से संबंधित अधिकांश भागों पर लेख अंकित हैं, जो किसी-न-किसी विषय की चर्चा करते हैं ।

कालांतर में इस प्रकार के अभिलेखों का अभाव है । जो लेख अंकित हैं, वे किसी शासक से ही संबंध रखते हैं । सांची के दक्षिणी तोरण पर तीसरी बंडेरी पर लेख खुदा है । उसमें वर्णन आता है कि सातकर्णी (सातवाहन राजा) के शासन में विदिशा के हाथीदांत के कारीगर द्वारा तोरण निर्मित हुआ । सांची की वेदिका पर गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का लेख खुदा है, जिसकी भाषा संस्कृत है तथा गुप्त संवत् ९३ (= ४१२ ई०) में उत्कीर्ण हुआ था । उसमें अमरकादर्भ द्वारा सांची (काकनाद बोट) के

महाविहार में चारों दिशाओं से आने वाले भिक्षुओं के भोजन निमित्त पचीस दीनार (रवर्णमुद्रा) के दान देने का विवरण है । वह दान सूर्यचंद्र की अवधि तक के लिए दिया गया, जिसकी आय से भिक्षुओं को भोजन दिया जाय तथा दीपक जलाया जाय ।

उत्तर गुप्तकाल में स्तूप से जनता का ध्यान हट गया और स्तूप-संबंधी किसी प्रकार निर्माण-कार्य समाप्त हो गया । अतएव, तत्संबंधी अभिलेखों का अभाव है ।



परिशिष्ट ३

प्रदक्षिणा-पथ

भारतीय संस्कृति में देवस्थान या किसी पवित्र आकार-प्रकार के चारों तरफ जाकर प्रणाम करना श्रेयस्कर माना गया है। इसीलिए उसे (प्र) दक्षिणा-पथ कहते हैं। भगवान् बुद्ध की धातु की प्रतिष्ठा स्तूप के मध्य में की जाती थी, अतएव स्तूप के चारों तरफ घूम कर प्रवेशद्वार (तोरण) से बाहर निकल जाना पुण्य-कार्य माना गया है। इस उद्देश्य को ध्यान में रख-कर स्तूप से कई फुट की दूरी पर बेष्टनी तैयार की जाती, ताकि दोनों प्रकार के बीच के भाग को उपासक प्रदक्षिणा के लिए उपयोग कर सके। जितने स्तूप भरहुत, बोधगया, सांची या अमरावती में निर्मित हुए थे, सभी के चबूतरे की परिधि से संबद्ध प्रदक्षिणा-पथ बने हैं। उसी से होकर सीढ़ी द्वारा मेघि तक पहुँचते हैं। इस परंपरा को उत्तर-मौर्य युग में भी अपनाया गया।

शुंगकाल में सह्याद्रि शृंखला में जितने चैत्यमंडप बनाए गए थे, उनके चापाकार के मध्य में ऊँचे ढोलनुमा आधार पर स्तूप खुदा है। उसकी प्रदक्षिणा के लिए दीवार तथा चैत्यस्तंभों के मध्य में चार फीट चौड़ा स्थान है, जिसे पार्श्वबीथी कह सकते हैं। बाईं ओर से प्रवेशद्वार होकर पार्श्व-बीथी में घुस कर उपासक स्तूप के समीप पहुँच जाता है। स्तंभों के कारण स्तूप को स्पर्श करना संभव नहीं है। अतएव, उपासक दाईं ओर से घूम कर बहिर्द्वार से चैत्यमंडप के बाहर चला आता है। इस पूरे मार्ग को प्रदक्षिणा-पथ कहते हैं। इस प्रकार चैत्य के चापाकार भाग को पार कर उपासक स्तूप की पूजा करते हैं। स्तूप के सम्मुख तथा दोनों पार्श्व के स्तंभों के बीच का स्थान भिक्षुओं के लिए (पुजारी) सुरक्षित रहता है। उसे मध्यबीथी कहना उचित होगा।

मंदिरों के निर्माण में इस विषय पर ध्यान रखा जाता था कि उपासक गर्भगृह की परिक्रमा कर सके। इस कारण गर्भगृह में प्रतिमा की स्थापना की

जाती तथा उसके बाहर प्रदक्षिणा-मार्ग बनाया जाता । खजुराहो शैली के मंदिरों में अंदर ही परिक्रमा की योजना बनी है । उड़ीसा शैली के मंदिरों में चहारदीवारी (परकोटा) तथा मंदिर के बीच चौड़ा मार्ग वर्तमान है, जिसे प्रदक्षिणापथ कहा जाता है । इसी मार्ग से परिक्रमा करते उड़ीसा मंदिरों की बाहरी दीवार पर उकेरी श्रृ गारिक आकृतियों को देखते हैं । उनका दार्शनिक उद्देश्य था और वे तांत्रिक प्रभाव को व्यक्त करते थे । दक्षिण भारत के मंदिरों में आँगन के मध्य मंदिर निर्मित है तथा प्रदक्षिणा-पथ भी बना है । मध्य युग के मंदिरों में ढका प्रदक्षिणा-मार्ग बनने लगा और गर्भगृह के चारों तरफ का गलियारा इसी प्रदक्षिणा के लिए प्रयुक्त होने लगा । रंगनाथ मंदिर तथा रामेश्वरम् के मंदिर में यह स्पष्टतया देखे जा सकते हैं ।



स्तूप तथा पूजा-स्मारक स्तूप

पिछले पृष्ठों में स्तूप के आकार का वर्णन किया गया है तथा उससे संबंधित शरिर (धातु) स्थापना की भी चर्चा हो चुकी है। अतएव, स्तूप को शारीरिक, परिभाषिक तथा निर्देशिक धातु-संबंधी स्तूप कहते हैं। तीसरे प्रकार के स्तूप को स्मारक या मनीती स्तूप भी कह सकते हैं। इनसे शरिर (धातु) स्थापना का तनिक भी संबंध न था। धनीमानी व्यक्ति बड़े आकार अथवा निर्धन छोटे आकार का स्तूप बनाता था। मुख्य स्तूप के पार्श्व में ऐसे स्तूप बनाए जाते थे। तक्षशिला, महाबोधि, सारनाथ, नालंदा, साची, अमरावती आदि स्थानों पर निर्मित प्रमुख स्तूप के चारों तरफ पूजा (स्मारक) स्तूप देखे जा सकते हैं। यह क्रम बारहवीं सदी तक चलता रहा। यद्यपि प्रतीक-प्रधान हीनयान मत का प्रचार न था, तथापि मनीती स्तूप (Votive Stupa) का क्रम (परंपरा) समाप्त न हो सका। समतल भूमि पर अनेक छोटे स्तूप (ईंट के) बनाए गए हैं। मध्य युग में गृह में रखने के निमित्त छोटे प्रस्तर को काट कर पूजानिमित्त स्तूप बनने लगे। इतना ही नहीं, धातु (ताम्र या कांसा) का भी प्रयोग इन स्मारक छोटे स्तूपों के निर्माण में होने लगा। नालंदा तथा कुर्हीहर (गया जिला, बिहार) से धातु-स्तूप उलब्ध हुए हैं, जो पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके परीक्षण से प्रकट होता है कि हीनयान का ह्रास होने पर भी स्तूप-पूजा की परंपरा समाप्त न हो सकी। प्रमुख स्तूपों के समीप स्थानों के अतिरिक्त (जहाँ ईंट का स्तूप है) गृह में स्थापित योग्य प्रस्तर तथा धातु के स्तूप बनाए गए। पूर्व मध्य युग में महा-यान या वज्रयान की बुद्धप्रतिमा के सिरे प्रस्तर स्तूप का आकार खुदा देख पड़ता है, जो मूल स्तूप की मूल भावना से रहित था। संभवतः बौद्धमत के अनुयायियों के लिए प्रतीक का काम करना था। किरीट-मुकुटयुक्त बुद्ध-प्रतिमाएँ स्तूप की स्थिति से ही अन्य मूर्तियों से पृथक् की जाती हैं। संभवतः इस रीति को ब्राह्मण मत ने भी अपनाया और शिवमंदिर के चारों ओर छोटे शिवलिंग स्थापित किए गए। जैसे नेपाल के पशुपतिनाथ का मंदिर, काशी विदेवनाथ मंदिर जो पार्श्व में शिवलिंगों से घिरे हैं।



सामाजिक बातों का परिज्ञान

स्तूत्यों की वेष्टनियों के विभिन्न भागों तथा तोरण की बंडेरियों पर खुदी आकृतियों का गहरा अध्ययन सामाजिक अवस्था पर प्रकाश डालता है। उनकी आकृतियों के अध्ययन में तत्कालीन समाज में प्रचलित बातों का परिज्ञान हो जाता है। भारतीय साहित्य में महान व्यक्तियों या अवतारों के संबंध में उल्लेख मिलता है कि उनका सासारिक व्यक्तियों की तरह माता के गर्भ से जन्म (Biological Birth) नहीं होता, बल्कि अवतरण होता है। संसार के कल्याण के लिए वह महान देव स्वरूप अवतरित होते हैं। राम एवं कृष्ण के संबंध में ऐसी बातें रामायण तथा महाभारत में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार गौतम सिद्धार्थ के लिए भी ऐसी बातें प्रकाश में आई हैं। भरहुत तथा सांची के प्रदर्शनों में माया का सपना यह घोषित करता है कि तुषित स्वर्ग में भविष्य-वाणी हुई और उसके अनुसार बोधिसत्व सफेद हाथी के रूप में माया के गर्भ में आए। उसी भविष्य घोषणा को ध्यान में रख कर मायादेवी का सपना प्रदर्शित है। मायादेवी सोयी है। एक सफेद हाथी (खुदे चित्र में रंग नहीं पहचाना जा सकता) माया की आकृति के सिरे पर खुदा है। इसमें हाथी के प्रवेश के कथानक से जैविक-जन्म की बातें अविश्वसनीय हो जाती हैं। वह हाथी दैवी प्रतीक माना गया है। इस कारण उसे अमरावती प्रदर्शन में रथ पर बैठा दिखाया गया है। दूसरी बात यह है कि बुद्ध लोकप्रिय देवता थे, जिनकी पूजा जलचर, जानवर, पक्षी, मनुष्य तथा देवगण समान रूप से करते थे। उनके जीवन को आदर्श मान कर समाज में कार्य होता था। उनके उपदेश से ही सभी अहिंसक हो गए तथा अहिंसा धर्म का पालन करने लगे।

वेष्टनियों पर प्रदर्शित आकृतियों के देखने से प्राचीन वस्त्रभूषण का परिज्ञान हो जाता है। वस्त्र तीन ही रूप में प्रयुक्त है—

- (१) पगड़ी
- (२) छोटी धोती—गाँठ सामने तथा
- (३) चादर।

इसके अतिरिक्त शरीर पर अन्य प्रकार के वस्त्रों का अभाव-सा है। इस कमी की पूर्ति आभूषणों से की जाती थी। उन रूपों में जो आभूषण दीख पड़ते हैं, उनका आज भी उपयोग किसी-न-किसी ढंग में हो रहा है। स्त्री अथवा पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। गले में दो प्रकार के आभूषण थे, एक जो गर्दन में चिपका रहे तथा दूसरा रामनामी या हार अथवा मटरमाला। सब में लाकेट नीचे लटका रहता था। बांहों में भुजदंड तथा कलाई में कड़े स्पष्ट दीख पड़ते हैं। स्त्रियों की कलाई में चूड़ियों की भरमार है। भरहुत की यक्षिणी के हाथ-पैर में मोटे-मोटे अनेक कड़े दीख पड़ते हैं। कान के कर्णफूल झुमकनुमा वृत्ताकार, त्रिरत्न के आकार के सुंदर कर्णफूल देखते बनते हैं। करधनी का तरीका विचित्र था। कई लरों का आभूषण, जिसमें मूल्यवान् प्रस्तर जड़े थे, धोती की गाँठ के ऊपर रहता था। भरहुत के श्रीमां-देवता की करधनी अद्वितीय है। पायल कई ढंग के थे। भरहुत में यक्षिणी के पैरों में पद्म कड़े को मिला कर पायल बना है। आज भी मारवाड़ की स्त्रियाँ या मध्य प्रदेश रीवा के समीप के लोग हाथों में वैसा आभूषण पहनते हैं। इस प्रकार वस्त्राभूषण की सजावट के साथ माथे के बालों का सँवारना भी एक कलाप्रिय विषय है। उस समय दो रीति से काम लिया जाता था—

(१) माथे के पीछे गाँठ बाँधना तथा

(२) लंबे बालों को चोटी बना कर रखना (एक वेणी)

वर्तमान काल में भी ये दोनों रीतियाँ समाज में प्रचलित हैं। स्त्रियों के शृंगार का प्रदर्शन गोदना से भी दीख पड़ता है। भरहुत की यक्षिणी के वक्षस्थल तथा गालों पर गोदने का चिह्न है। उसमें पुष्प तथा पक्षी, (मोर, सुग्गा) गण के रूप बनाए गए हैं।

समाज में मनोरंजन का भी आयोजन होता रहा, जिसका प्रमाण भरहुत के प्रदर्शन से मिल जाता है। भरहुत वेदिका-स्तंभ पर नर्तकियों का नाच दिखाया गया है। अमरावती की वेष्टनी पर तुपित नामक स्वर्ग में बैठे बोधिसत्व के संमुख नृत्य करती आकृतियाँ खुदी हैं। भरहुत-वेदिका पर बंदरों द्वारा हाथी के नचाने का दृश्य खुदा है। बंदर डाक्टर के रूप में दिखाया गया है, जो दाँत निकाल रहा है। उसी भरहुत-वेदिका के स्तंभ पर नट की कला प्रदर्शित है

(Acrobatic scene) । यवमझकीय जातक में समाज के बुरे लोगों को दंड देने का कथानक उल्लिखित है, जिसका प्रदर्शन भी है । संदूक में उन्हें बंद कर न्यायाधीश के संमुख उपस्थित किया गया और कुत्सित विचार वाले व्यक्तियों को दंड दिया गया । संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि स्तूप की वेदिकाओं तथा तोरण पर खुदे चित्र तत्कालीन समाज की बातों को भी बतलाते हैं ।



बृहत्तर भारत में स्तूप की परंपरा

प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का विस्तार देश की भौगोलिक सीमा के बाहर भी हुआ, जिसे बृहत्तर भारत की संज्ञा देते हैं। भारत के समीपवर्ती देशों अफगानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन तथा नेपाल में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। दक्षिण-पूर्व एशिया के देश बर्मा, थाइलैंड, कंबोडिया तथा जावा-वालि आदि द्वीपसमूहों में भी सांस्कृतिक प्रवाह पहुँचा था। उसके विस्तृत इतिहास में जाना अप्रासंगिक होगा। बृहत्तर भारत की वास्तुकला में स्तूप महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह स्तूप की परंपरा भारतीय है, क्योंकि इसका सीधा संबंध बौद्ध धर्म से है। धर्म-प्रचार के साथ बौद्धकला का भी अनुकरण उन देशों में हुआ। अतएव, प्राचीन समय से ही स्तूप का निर्माण होता रहा। परिस्थितियों तथा स्थानीय भावनाओं को लेकर उस (स्तूप) की बनावट में यत्रतत्र अंतर देख पड़ता है। पर, मूलतः कोई विभेद नहीं है। स्तूप-निर्माण की भावना धर्म से ही प्रेरित थी, परंतु यह सत्य से परे है कि प्रत्येक स्तूप में भगवान् बुद्ध का अवशेष निहित था। अभिलेखों में (जिसकी चर्चा की गई है) शरीर के (अवशेष भस्म) प्रतिष्ठा या स्थापना का विवरण मिला है, किंतु उसकी ऐतिहासिकता संश्लेषपूर्ण है। चूंकि अशोक ने स्तूपपूजा की परिपाटी चलायी तथा चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण किया था, उसी विचारधारा को लेकर स्तूप पूजा का आधार बन गया। उत्तर-मौर्य युग में समतल भूमि पर निर्मित स्तूपों को प्रस्तर से आच्छादित किया गया तथा काष्ठ को हटाकर स्थान स्थान पर प्रस्तर की वेष्टनी स्थिर की गई। यानी शुंगकाल में स्तूप तथा तत्संबंधी आकार-प्रकार को स्थायी रूप देने का प्रयत्न हुआ। पश्चिमी भारत में सह्याद्री शृंखला में चैत्य-मंडपों में स्तूप की खुदाई ही प्रस्तर खंड में मरल समझी गई, अतएव मौर्यकालीन स्तूप-परंपरा का विकास देख पड़ता है। घोड़नुमा आकार के चाप सिरे पर स्तूप खोदा गया, जिसकी पूजा होती रही। इनमें शरीर (वातु) रखने या स्थापित करने

का प्रश्न ही नहीं उठता। कहने का तात्पर्य यह है कि स्तूप वास्तुकला का उदाहरण होते हुए भी प्रमुखतया पूजा-प्रतीक था। इसी धार्मिक विचार को लेकर बृहत्तर भारत में भी स्तूप निर्मित किए गए। मूल आकार (Model) तथा विचार भारतीय था। स्थान के कारण कुछ परिवर्तन आ गए। यानी अफगानिस्तान, तिब्बत, नेपाल, बर्मा या जावा के स्तूप सर्वथा एक-से नहीं हैं। सभी में भिन्नता है।

ईसवी सन् के आरंभ से उत्तर-पश्चिम भारत में कनिष्क का शासन था, जो बौद्ध था। अतएव, राजश्रय पाकर अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम प्रदेश में स्तूप बनाए गए। यद्यपि उत्तर-पश्चिमी भारत में इस्लाम के प्रचार से प्राचीन इमारतों का भग्नावशेष ही है, किंतु उनके ध्वस इमारतों के परीक्षण से पता चलता है कि पेशावर, रावलपिंडी मानिकवाला, तख्तेबहाई तथा अफगानिस्तान के संधारामों में स्तूप की प्रमुखता है। संधाराम के केंद्रीय भाग में स्तूप निर्मित था। मानिकवाला स्तूप में धातु की स्थिति थी, यह ठीक कहा नहीं जा सकता। किंतु, तख्तेबहाई (तक्षशिला के समीप) के मध्य स्तूप पूजा के लिए निर्मित था। पर्वतों पर या तलहटी में जितने संधारामों को चीनी यात्री (ह्वेनसांग) ने देखा था, सब के केंद्रीय भाग में स्तूप खड़ा है। चौकोर (५५ फुट × ४५ फुट) आंगन में सुंदर स्तूप बना है। उसमें छह श्रेणियों वाला छत्र बना है, जो ५० फुट ऊंचा है। इस प्रकार गांधार के भू-भाग में भारतीय यूनानी शासन होने पर भी स्तूप का कार्य स्थगित न हो सका। कनिष्क ने भी उस कार्य में पूरी सहायता की। अशोक ने धर्मराजिका स्तूप (तक्षशिला) का निर्माण किया था, उसी की रीति पर अन्य स्तूप तैयार किए गए।

नेपाल के बौद्ध स्मारक

नेपाल सदा से भारतीय संस्कृति का एक अंग रहा है और ईसापूर्व तीसरी सदी में समनदेई में अशोक ने बुद्ध के जन्मस्थान की स्मृति में स्तंभ खड़ा किया एवं लेख उत्कीर्ण कराए। गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में नेपाल का उल्लेख है। समुद्रगुप्त ने नेपाल प्रदेश को विजित किया था। पाँचवीं सदी से वहाँ वैशाली के लिच्छवि लोगो का राज्य था, जिनके अभिलेख वहाँ से प्राप्त हुए हैं। भारत तथा नेपाल का संबंध अशुण्ण बना रहा। उस भू-भाग में बौद्ध मत तथा ब्राह्मण धर्म का प्रचार हुआ, जिसकी कथा वहाँ की इमारतों तथा प्राप्त शिल्प कला के नमूने आज भी सुनाते हैं। नेपाल में बौद्धमत के साथ

शैवमत की प्रमुखता दीख पड़ती है। वहाँ की नेवार जाति ने सर्वप्रथम बौद्धमत स्वीकार किया था। पूर्वमध्य युग से भारत के विद्वान, कलाविद् तथा प्रचारक सदा नेपाल जाते रहे। बौद्धमत के प्रसार के साथ मठ तथा स्तूप भी स्थापित किए गए। ठाकुरी वंश के अंशुवर्मन नामक राजा का नाम ज्ञात है। संभवतः उसके समय ब्राह्मण धर्म का प्रचार नेपाल में हुआ। ११ वीं सदी में नान्यदेव ने त्रिभुवन से आक्रमण कर नेपाल पर अधिकार कर लिया। उसी के वंशज वहाँ राज्य करते रहे कि चौदहवीं सदी में हरि सिंह ने वहाँ अपनी सरकार बनायी। नेपाल की चार छोटी रियासतों—भादगाँव, बनेया, पाटन तथा काठमांडू—का पृथक्-पृथक् शासन था। इस तरह इन हिंदू नरेशों ने ब्राह्मण मत का विकास किया।

नेपाल में वास्तविक स्तूप का अभाव है; क्योंकि उनका संबंध भगवान के धातु (शरीर) से नहीं है। कहा जाता है कि अशोक ने पाटन की यात्रा की थी और वहाँ जो इमारत बनी, उसे चैत्य कहते हैं। नेपाल में दो स्तूप वर्तमान हैं—

१. स्वयंभूनाथ—काठमांडू

२. बोधनाथ—पाटन

इन्हें चैत्य कहने का कारण यह है कि इनके समीप अर्द्धगोलाकार टीला, ईंटों से जुड़ा है। वह स्तूप के चारों तरफ प्रदक्षिणा-पथ का काम करता है।

स्वयंभूनाथ के स्तूप की योजना मूलतः भारतीय है, किंतु नेवार जाति की कला-कुशलता का भी प्रदर्शन किया गया है। ऊँचे चतुर्भुज पर अर्द्धगोलाकार संरचना है, जिसकी तुलना भारतीय स्तूप के अंड से की जा सकती है। ऊपरी भाग में चारकोन की बनावट है, जिसे हरमिका कह सकते हैं। इसकी ऊँचाई अन्य हरमिका से अधिक है। चारों तरफ मनुष्य की आँख की तरह बड़ी आँखें बनी हैं। इनका उद्देश्य क्या था? यह कहना कठिन है। स्यात् स्थापत्य शिल्पी ने यह सोचा हो कि स्तूप की आत्मा यानी हरमिका का निवासी देव गसार् के उपासकों को देश कर उनके कल्याण की बातें सोच रहा है।

हरमिका के मध्य छत्रयष्टि रहती है, जिसके छत्र में भारतीय कलाकारों ने तीन छत्र बनाए थे। स्यात् हिंदू मत के तीन लोकों की कल्पना रही हो। सबसे ऊपरी शीर्ष पर छत्रावलि दीख पड़ती है। किंतु, स्वयंभूनाथ के स्तूप में हरमिका के ऊपरी भाग में मीनार की बनावट है, जिसमें तेरह पंक्तियाँ निर्मित हैं। नीचे से ऊपर छोटा होता चला गया है। तिब्बत तथा चीन में भी तेरह

मंजिल की लाटमुना संरचना दीख पड़ती है। अंड के निचले भाग में दो फुट चौड़ा चबूतरा है, जिस पर पाँच ध्यानी बुद्ध हैं—

१. त्र्यम्बिताभ,
२. संक्षोभ्य,
३. वैरोचन,
४. रत्नसंभव और
५. अमोघसिद्धि।

इनका देवस्थान बना है। सत्तरहवीं सदी में राजा प्रताप मल्ल ने इनका निर्माण किया था।

काठमांडू से पाँच किलोमीटर दूर बोधनाथ की इमारत है। इसे छठी सदी में तैयार किया गया था। यह ४५ फुट ऊँचे तीन सीढ़ियों वाले चबूतरे पर बना है, जिसका गुंबज ९० फुट व्यास रखता है। उस उभार की ऊँचाई ४५ फुट है। बोधनाथ मंदिर की योजना तथा सादी बनावट के कारण आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक है। नेपाल के स्तूप के समीपवर्ती अव्यवस्थित बनावट को देख कर प्रकट होता है कि मूलतः स्तूप हजारों वर्ष पहले मिट्टी का बड़ा टीला रहा होगा। अशोककालीन स्तूप की तरह बौद्ध उपासकों तथा भिक्षुओं ने मिट्टी की बनावट आरंभ की। क्रमशः उनमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होते गए। आज की रूपरेखा मिश्रित बनावट का फल है, जो स्तूप के पार्श्व में बढ़ते गए। संभवतः नेवार जाति ने सादेपन को पसंद न किया और नेवार शिल्पी स्तूप को सुंदर बनाते गए।

नेपाल के हिंदू मंदिरों में शिखर का अनुकरण किया गया है। यह ईंट-प्रस्तर के बने हैं। जो इमारतें (मंदिर आदि) काष्ठ की बनी हैं, उनमें चीनी पगोडा की रीति का समावेश दीख पड़ता है। शिखर अथवा पगोडा शैली के मंदिर सामूहिक पूजा के लिए नहीं बनाए गए थे। उनमें केवल देवस्थान या गर्भगृह था, जो इष्टदेव की पूजा निमित्त स्वयं भक्तिभावना के आधार थे। उस देवस्थान के चारों तरफ आंगन बने हैं, जहाँ उपासक एकत्रित होकर पूजा तथा प्रार्थना किया करते थे। मंदिरों में पगोडा के आकार इमारतों की सहायता बनावट समझे जाते हैं। कुछ अवस्था में पगोडा इमारत के आवश्यक भाग तथा कला-सौंदर्य को बढ़ाने वाले थे।

नेपाल के मंदिरों का शिखर आर्य शिखर शैली का अनुकरण है, किंतु इसका विभिन्न रूप से प्रयोग किया गया है। गर्भगृह के ऊपर शिखर बना है, जिसमें मंडप का अभाव है। पूरा देवस्थान स्तंभयुक्त बरामदा से घिरा हुआ

है। शीर्ष पर उरुशृंग तथा आमलक शिला को स्थान दिया गया है। पाटन का कृष्ण मंदिर इसी प्रकार के शिखर का उदाहरण है।

तिब्बत

नेपाल के पड़ोस में हिमालय पर्वतीय प्रदेश में सब से ऊँचा तिब्बत का पठार है, जिसका इतिहास सातवीं सदी के पश्चात् विदित है। नेपाल की राजकुमारी ने तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार किया, जिसके पश्चात् वहाँ मठ एवं बौद्धमंदिर बनाए गए। तिब्बत में बौद्ध भिक्षु (जिसे 'लामा' कहा जाता है) की अधिक संख्या थी, अतएव मठों का भी अधिक निर्माण हुआ। किसी मठ में तो दो-तीन हजार लामा रहा करते थे। अतएव, एकत्रित रहने के लिए लंबे-चौड़े मठ बनाए गए। किसी स्थान में मठों की स्थिति से नगर बस गए हैं। मठ की इमारतें चहारदीवारी से घिरी हैं और बाहर की ओर व्यापारीगण अथवा दुकानदारों के लिए स्थान बने हैं। मठों के निर्माण के लिए सुंदर या उर्वरा भूमि को चुना जाता था। चहारदीवार के भीतर आंगन के चारों तरफ कोठरियाँ बनी थी, जिनमें भिक्षु रहा करते थे।

तिब्बत के मंदिर चीनी ढंग के होते थे। ये आयताकार प्रस्तर के इमारतों में थे, किंतु उनकी छतें मिट्टी या खपरैल की बनायी जाती थी। उनमें चित्रकारी की जाती थी। मंदिर की दीवारों में खिड़कियों का अभाव है। प्रवेशमार्ग से ही रोशनी जाती है। भीतर का भाग उत्तर-दक्षिण दिशा में स्तंभों से विभक्त है, जो मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी में बढ गए हैं। पार्श्ववीथी में छोटे लामाओं के बैठने के लिए गद्दादार स्थान बने हैं तथा भीतर की दीवारें भित्तिचित्र से विभूषित हैं। उनके रेशमी वस्त्रों पर जातक प्रदर्शनो के चित्र भी बनाए गए हैं, जिनके झंडे को मंदिर में लटकाया जाता था। लासा में स्थित पोटल नामक मठ दलाई लामा का निवासस्थान है, जो अतीव सुंदर, भव्य तथा शानदार इमारत है। उसके मध्य में मंदिर, सभामंडप (दर्शक एवं उपासक के निमित्त भवन) तथा लामा का यह चैत्य भी दीख पड़ता है। कहा जाता है कि भारत के नालंदा महाविहार के विद्वान भिक्षु पद्मसंभव ने लासा के समीप संगपो नदी के किनारे मठ की स्थापना की थी।

बर्मा के पगोडा

भारतीय सीमा के बाहर स्तूप की विभिन्न प्रकार की बनावट को पगोडा नाम से व्यक्त किया गया है। भारतीय अभिलेखों में भगवान बुद्ध के अवशेष

(शरिर) को धातुगर्भ कहते थे। उसी के स्थापित करने पर स्थान का नाम गर्भगृह हो गया, जिसे ब्राह्मणमत में देवस्थान कहते हैं। धातुगर्भ को लंका में दगोवा कहने लगे और उसी से पगोडा शब्द बना। बर्मा में पगोडा कई मंजिल की इमारत है, जिसे बौद्ध मनावलम्बी ने निर्मित किया। स्तूप की तरह इसमें राख रखने का स्थान नहीं है। पगोडा अवशेष पर नहीं बना है, किंतु इसे धर्म का स्मारक समझते हैं। बौद्ध भिक्षु या उपासक उसकी विधिवत् पूजा करते हैं। मूलतः यह मिट्टी का एक टीला था, जिसमें सुधार लाया गया और क्रमशः एक भव्य इमारत के रूप में परिणत हो गया।

बर्मा में तीन युगों में इमारतें बनायी गईं (१) प्रारम्भिक अवस्था, जहाँ दूसरी सदी से नौवीं सदी तक इमारतें बनती रही। खेद है कि उस अवधि की इमारतें वर्तमान काल में नहीं के बराबर हैं। (२) नौवीं सदी से तेरहवीं शताब्दी तक का युग स्थापत्य का सर्वोत्तम काल माना जाता है, जिस अवधि में अनेक इमारतें बनायी गईं। बर्मा के मंदिर इसी काल के हैं। (३) तेरहवीं सदी से वर्तमान समय तक का काल लोककला के विकास का युग है। इसे 'पगोडाकाल' कह सकते हैं। मुख्यतया इस अवधि में काष्ठ का प्रयोग स्थापत्य में प्रमुख रूप से किया गया था।

११ वीं सदी से मिट्टी के विशाल टीले के रूप में स्तूप का निर्माण बर्मा में आरंभ हुआ। इसका ऊपरी भाग शंकु रूप में है। स्तूप पाँच सीढ़ियों की ऊपरी सतह पर बना है, जो नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः छोटा होता गया है। इसके देखने से पता चलता है कि इसका विचार भारत से आया होगा। पेगन में एक बौद्ध मंदिर है, जिसका केंद्रीय भाग प्रस्तर का बना है। उसके चारों तरफ स्तम्भसहित बरामदा है तथा कोने में ड्योढी बनी है। इन सारी बनावटों के ऊपर एक अधिरचना दीख पड़ती है, जो स्तम्भावलि की चिपटी छतवाले बरामदे से ऊपर निर्मित हुआ है। इस तरह बरामदे का ऊपरी अंश मध्य भाग से नीचा है तथा सीढ़ी का काम करता है।

मध्ययुगी बर्मा के मंदिर भारतीय बौद्ध-परंपरा में बने हैं। भारत के प्राचीन मंदिरों के सदृश केंद्रीय भाग आयताकार है, जिस पर भारतीय आर्य शिखर बना है। सामने अंतराल है। ढँकी ड्योढी है। इस प्रकार मंदिर की योजना सर्वथा भारतीय है। बर्मा में तेरहवीं सदी के पश्चात् पेगन में सहस्र पगोडा से कम निर्मित नहीं हुए। उनमें अनेक सुंदर रीति तथा विशेष

अनुपात में बने हैं। यद्यपि मध्ययुग (तेरहवीं सदी के बाद) के स्तूप तथा मंदिरों से किसी प्रकार के अलौकिक विचार तथा पूजाविधि का लगाव नहीं है, फिर भी बौद्धमत के अपूर्व उत्साह तथा जनता में श्रद्धा के कारण विशाल पैमाने पर इनका निर्माण हुआ था। विद्वानों का मत है कि बिहार तथा बंगाल से शिल्पकार वर्मा में आमंत्रित किए गए थे, जिन्होंने स्थापत्य का निर्माण किया। इस विचार के स्वीकार करने में आपत्ति यह है कि वर्मा की इमारतों का वहिरंग दृश्य भारतीय नहीं है। दूसरे वर्मा के जनजीवन में जिस सौंदर्य का प्रचार है, उसका स्थापत्यकला में अभाव है। अस्तु, संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि पेगन की इमारतें मूलतः भारतीय कुल की हैं। पहाड़पुर की योजना का स्वरूप वहाँ देखा जा सकता है, जिन्हें वर्मा की विचारधारा के अनुकूल संवारा गया। उसी विचार के अनुसार परिस्थितियों को ध्यान में रख कर निर्माण किया गया। वर्मा-स्तूप की बनावट में दो कार्य-पद्धतियों का समावेश दीख पड़ता है—

(१) भारतीय स्तूप के अंड में बाहरी उभार यानी उन्नतोदर (Convex) रीति।

(२) पूर्वी एशिया की इमारतों की अवतलता (Concavity) का भी समावेश हुआ, जो स्तूप तथा शिखर के भीतर प्रकट होता है। इनमें चीनी पगोडा तथा भारतीय गुंबद का मेल देख सकते हैं।

उन स्तूपों में हरमिका के स्थान पर अंड के शीर्ष भाग पर लंबा गुंबदो शिखर है। इनमें भारतीय परंपरा का पूर्णतः समावेश है, किंतु बाहरी आकार सुदूर पूर्वी एशिया से लिया गया है।

ई० स० १२७४ में पेगन नगर में मंगलाजैई नामक विशाल स्तूप बनाया गया। यह पाँच सीढ़ियों वाले चबूतरे पर निर्मित है, जिसमें सीढ़ियाँ नीचे से ऊपर छोटी होती चली गई हैं। सीढ़ियों से चबूतरे पर पहुँच कर उपासक प्रदक्षिणा-पथ में चारों तरफ परिक्रमा करता है और फिर से ऊपरी दिशा में स्तूप की गोलाकार बनावट को पर्वताकार अनुभव करता है। ऊपरी अंश घंट के आकार सदृश है, सबसे ऊपरी भाग को वर्मा में हत्ती कहते हैं, जो भारतीय कलशों का विकृत रूप है। रंगून नगर में स्थित स्वेडगान पगोडा के विशाल आकार को देखने से वर्मा में लोगों ने मूल स्तूप-आकार में पर्याप्त परिवर्तन किया।

सीढ़ीदार चबूतरे पर स्तूप निर्मित है, जिसकी परिधि १३५५ फुट है। इसके ऊपरी भाग में शुंडाकार गुंबज क्रमशः पतला होता जाता है। सबसे ऊपर एक कलशनुमा आकृति है। कहा जाता है कि इसके भस्मपात्र में गौतम के आठ बाल सुरक्षित हैं। इस प्रकार भारतीय स्मारक स्तूप के सदृश विचारों सहित वर्मा के स्तूप बने। वर्मा के मांडले नामक नगर में इस प्रकार की समाधि के चारों तरफ मठ बने हैं। कई स्थानों पर मुख्य पगोडा के पार्श्व में पगोडानुमा छोटे आकार बनाए गए हैं, जो पूजाकार्य में सम्मिलित किए जाते थे।

दक्षिण पूर्व एशिया में स्तूप-परंपरा

भारत की भौगोलिक सीमा के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया तथा द्वीपसमूह में ब्राह्मणधर्म एवं बौद्धमत का प्रचार समय-समय पर होता रहा। धार्मिक परंपरा तथा सांस्कृतिक विषयों का प्रसार व्यापारियों ने बृहत्तर भारत में किया। भारतीय धर्म के साथ कला का भी प्रसार एवं प्रचार स्वाभाविक था। इस तरह थाइलैंड, कंबुजदेश, सुमात्रा, जावा, वालिद्वीप, मलेशिया तथा हिंदेशिया की कला में भारतीय रीति का अनुकरण किया गया। इन स्थानों पर समुद्र तथा स्थल के रास्ते (वर्मा होकर) सांस्कृतिक बातों का प्रसार हुआ था। उन देशों के अभिलेखों के अध्ययन से सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति को ले जाकर भारत के लोग उन स्थानों में बस गए। संभवतः उन स्थानों पर किसी देश की कला का प्रचार रहा हो, किंतु भारतीय स्थापत्य तथा शिल्प की प्रमुखता एवं महत्त्व के कारण दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय कला का बोलबाला हो गया। जिस रीति से भी भारतीयता का प्रसार उन भू-भागों में हुआ, किंतु स्थानीय बातों पर भारतीय कला का प्रभुत्व हो गया। कंबुजदेश के खमेर तथा जावा के निवासियों पर विशेष प्रभाव पड़ा, जिस कारण स्थापत्य कार्य की गरिमा भारतीय नमूनों से भी बढ़ कर समझी गई है। कंबुजदेश में बारहवीं सदी तक गौरवमय स्थापत्य शिल्प की अभिवृद्धि हुई। किंतु, तेरहवीं सदी के पश्चात् थाई लोगों ने उसे ध्वस्त कर दिया। खमेर राजधानी अंकोर में मंदिर की योजना अद्वितीय थी। अंकोरवट मंदिर के अध्ययन से उसके सौंदर्य का पता चलता है। 'अंकोर' शब्द नगर के लिए प्रयुक्त किया गया है तथा वट (थाई शब्द) बौद्ध-इमारत के लिए उल्लिखित है। खमेर के कलाकारों ने मंदिर प्रा०—२१

की दीवार पर गहरा खोद कर पौराणिक कथानक तथा भारतीय संस्कृति की बातों का प्रदर्शन किया है। प्रथम खंड की दीवार पर देवासुर-संग्राम का दृश्य खुदा है। उसके पूर्व में दानवों का युद्ध, दक्षिण और अमृतमंथन तथा राजा की शोभा यात्रा उत्कीर्ण है। द्वितीय खंड के प्रांगण में महाभारत एवं रामायण की कथाएँ प्रदर्शित हैं। कुरुक्षेत्र, रामायण का मारीच-बध, बालि-सुग्रीव संघर्ष, अशोकवाटिका में हनुमान, लका-युद्ध तथा पुष्पक विमान में भगवान राम की यात्रा आदि प्रदर्शित है। दीवारों पर स्वर्ग-नरक के दृश्य खुदे हैं। उनका कार्य भारतीय शिल्पियों से घट कर नहीं है। धर्म की भावना से ओत-प्रोत होकर देवप्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए मंदिरों का निर्माण किया गया है। राजधानी से ५६ किलोमीटर दूर खदान से प्रस्तर लाकर संगतराश का कार्य अधिक दायित्वपूर्ण हो जाता है। यहाँ के इमारतों तथा प्रस्तर कार्यों में 'सूखा' रीति को अपनाया गया। यानी निर्माण-कार्य में गारा, सूखी या सीमेन्ट का प्रयोग नहीं किया गया है। प्रस्तर पर प्रस्तर रख कर इमारतें खड़ी की गई हैं। खमेर इमारतों में सौंदर्य की भावना की प्रधानता है। १२वीं सदी की खमेर इमारतों के लिए स्वर्णयुग माना जा सकता है। उसी समय अंकोरवट के मंदिर का निर्माण हुआ। कंबुजदेश के आदिम निवासी प्रस्तर का प्रयोग नहीं करते रहे, परंतु कला के विकास में इसे अपनाया गया। छठी सदी से वहाँ भारतीयकरण का कार्य आरंभ हुआ और खमेर कला में भारत का प्रभाव बढ़ा। अमरावती कला का प्रभाव पड़ा और सातवीं सदी तक ईंट के सहारे जो इमारतें बनी थी, उनको गहरे खोद कर (निम्न उद्भूत) आकृतियाँ बनायी गई थी। ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में सूर्यवर्मन प्रथम नामक शासक के राज्यकाल में इमारतों का शिलान्यास किया गया।

अंकोरवट चारों तरफ खाई से घिरा है। पश्चिम ओर उस पर सेतु बना है। यह पूर्व-पश्चिम लंबा तथा दक्षिण-उत्तर चौड़ा है। पश्चिम दिशा से मंदिर में प्रवेश करते हैं। इसमें गोपुर बना है, जो कांची के मंदिरों के गोपुरों की याद दिलाता है। अंकोर का मंदिर दक्षिण भारतीय मंदिरों से अधिक मिलता है। यह वट तीन खंडों में विभक्त है। भूमि से ग्यारह फुट ऊँचा पहला खंड है तथा दूसरा उससे बाईस फुट ऊँचा। तीसरा खंड चौबालीस फुट ऊँचा है। सीढ़ी के सहारे कोई व्यक्ति इन खंडों तक पहुँच पाता है। एक दूसरे पर स्थित खंड आयताकार हैं। सभी खंडों में प्रवेशद्वार गोपुरम् के

समान है। तृतीय खंड धरातल से ११५ फुट ऊँचा तथा केंद्रीय अधिष्ठान २१० फुट ऊँचा है। केंद्रीय गर्भगृह में देवराज की प्रतिमा स्थापित है। अंकोरवट की बनावट में पर्वताकार सुमेरु की कल्पना की गई है। इसका तात्पर्य यह है देवराज (भगवान) प्रलय के पश्चात् क्षीर समुद्र में सो रहे हैं। इस योजना से देवराज की ज्योति चारों तरफ प्रकाश फैला रही है।

अंकोरवट के मंदिरों में बने लाट (मीनार) की तुलना भारतीय शिखर से कर सकते हैं। आर्य शिखर के बहिर्रेखा तथा माथा में खमेर मंदिर की मीनार में समता है, किंतु खमेर मंदिर की सतह के हस्तकौशल का अध्ययन उनकी मूल विशेषता का परिज्ञान करा देता है। उनको सुस्पष्ट विशिष्टता यह है कि वह भारतीय परंपरा से अधिक प्रभावित न होकर भारत के बाहर प्रचलित पगोडा शैली का अनुकरण है। स्थापत्य-शिल्प की दूसरी विशेषता यह है कि मंदिर की दीवार पर स्थान-स्थान पर ढलाई में पुष्पासन बने हैं, जिसके कारण वहीं इमारत का दूसरी मंजिल का आधार (दासा) स्वतः बन जाता है।

जावा का स्तूप—बोरोबुदूर

दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपसमूहों में जावा का प्रधानतया उल्लेख भारतीय साहित्य तथा अभिलेखों में किया गया है। जावा के शैलेंद्र राजाओं से भारत का संबंध सर्वप्रसिद्ध है। भारतीय अभिलेखों के आधार पर अनेक बातों का उल्लेख किया जाता है। नालंदा के ताम्रपत्र लेख में शैलेंद्र वंश के तिलक बालभुवदेव का नाम आया है, जिसने नालंदा में बौद्ध विहार का निर्माण किया था। बंगाल के पालनरेश देवपाल ने उस विहार को पाँच गाँव दान में दिए थे। इस घटना से प्रकट होता है कि जावा के राजा अपने राज्य के बाहर बौद्ध धर्म के प्रसार में रुचि रखते थे। जावा का स्तूप बोरोबुदूर उन्हीं की देन है। धर्म तथा कला का पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है। अतएव, जावा के शैलेंद्र नरेश ने उस महान स्तूप का निर्माण किया था। उसकी स्थापना मध्य युग में हुई थी। जावा के इतिहास से पता चलता है कि सातवीं सदी के मध्य तक वास्तुकला का विकास नहीं हो पाया था। इसके पश्चात् स्तूप की स्थापना उस द्वीप की गौरवगाथा सुनाती है। ई० स० ६२५-९३० तक का काल भारत-जावा के स्थापत्य शिल्प का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। शैलेंद्र वंश

के राजाओं ने बौद्धकला से विशेष प्रेम प्रदर्शित किया। मंदिरों के अतिरिक्त स्तूपी का निर्माण किया। विश्व में बोरोबुद्ध के सदृश स्थापत्य की उच्चतम कुशलता को व्यवहृत करने वाला अन्य दृष्टांत नहीं है। भारत में मध्य युग में ऐसे स्तूप का निर्माण हुआ था, जिसमें शरिर (धातु) नहीं रखा जाता था। उन स्मारक स्तूपों के लिए कोई निश्चित स्थान न रहा। जावा की कला को 'भारतीय-जावा' शैली कह सकते हैं। गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो उनमें किसी-न-किसी रूप में भारतीयता की छाप दृष्टिगोचर होती है। बोरोबुद्ध भी उसने प्रभावित हुआ। बंगाल के पहाड़पुर (उत्तरी बंगाल) के मूलरूप को मध्य जावा में सशोधित तथा विकसित कर अंगीकार किया गया। यह स्तूप मध्य जावा के केडु की समतल भूमि के पार्श्व में छोटे पर्वत पर स्थित है। स्तूप आठ विभिन्न स्तर के चबूतरों के ऊपरी भाग में निर्मित है। नीचे के पाँच चबूतरे चौरस तथा आयताकार हैं, जो क्रमशः ऊपर की ओर छोटे होते गए हैं। अंतिम तीन गोलाकार हैं। सबसे ऊपरी स्तर पर समतल भाग के मध्य में बोरोबुद्ध का स्तूप स्थित है। वह वर्मा के पगोडा के समान है। यह कहा जा चुका है कि हीनयान के वास्तु में चैत्य की प्रधानता थी तथा शरिर (भगवान् बुद्ध के शरिर की राख) को स्थापित किया गया था। महायान चैत्य में बुद्ध-प्रतिमाओं को खोदा गया। संभवतः मध्य जावा में हीनयान मत का अवसान हो गया था। अतएव, बोरोबुद्ध के स्तूप में अनगिनत बुद्ध-प्रतिमाएँ खोदी गई हैं। इस आठ मजिल वाले स्तूप की ऊँचाई एक सौ सोलह फुट है। दूर से यह प्रस्तर का एक टीला मालूम पड़ता है, जो कच्छप के आकार का प्रकट होता है। यह अत्यंत विस्तृत तथा ठोस इमारत है। नीचे के चबूतरे की लंबाई ४०० फुट है। एक खंड से दूसरे खंड पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। उसका प्रवेशद्वार मेहराबदार तथा अलंकृत है। प्रत्येक चबूतरे के चारों तरफ पर्वत काट कर जो बरामदा बना है, उनके पतले स्तंभ हैं। बरामदे की दीवार पर बौद्धधर्म-संबंधी मूर्तियाँ खुदी हैं। इस प्रकार क्रम से ग्यारह उत्कीर्ण चित्रसमूह हैं। प्रवेशमार्ग से ऊपरी बरामदे में जाते समय खुदी मूर्तियाँ दीख पड़ती हैं। तीसरे चबूतरे से स्तूप की नई योजना आरंभ होती है। ऊपरी गोलाकार चबूतरो पर छोटे आकार के स्तूप बने हैं। अंतिम स्थान पर प्रमुख स्तूप है, जो इस योजना के मुकुट के सदृश दीख पड़ता है। स्तूप की कल्पना का मूल्यांकन करने से ज्ञात होता है कि विश्व के

सृजनात्मक तथा स्थापत्य-शिल्प के उदाहरणों में बोरोबुद्धर सर्वोत्कृष्ट एक उच्चतम शिखर पर रखा जा सकता है। विद्वानों का मत है कि बोरोबुद्धर की योजना में 'पिरामिड के ऊपर स्तूप' निर्माण का विचार काम कर रहा था। ऐसे भवनों का निर्माण अत्यंत कठिन है जो आकार में विशाल हो, दूर से देखने में सुंदर तथा प्रभावशाली हो तथा जिसमें चूड़ान शिल्प शैली का प्रयोग किया गया हो। जावा के कलाकारों ने स्तूप को ऐसी मूर्तियों तथा जातक प्रदर्शनों से अलंकृत करना चाहा, जो कला की दृष्टि से सुंदरतम हो तथा अन्य स्तूप उसकी बराबरी न कर सकें। यही कारण है कि बरामदे की दीवारों पर ४३३ बौद्धमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं तथा कथाओं से संबंधित प्रस्तर दीवारों पर पंद्रह सौ दृश्य खोदे गए। अतः, ऐसा मालूम पड़ता है कि बोरोबुद्धर स्तूप की कल्पना अलौकिक है।

जावा में हिंदू देवता शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा के मंदिर बनाए गए थे। उनकी शैली भारतीय थी। गर्भगृह के अतिरिक्त छोटे देवालय पाश्र्व में निर्मित किए गए थे जो बौद्ध मत के छोटे स्मारक स्तूप (Votive Stupa) की योजना के अनुकरण पर बन थे। जावा का कलसन मंदिर चबूतरे पर बना है जो एक मजिल का है तथा मध्य में मीनार निर्मित है। कलसन मंदिर के अवशेष यह बतलाते हैं कि यह उच्च कोटि की इमारत थी, जो अनुभव एवं परंपरागत रीति के आधार पर निर्मित हुई थी। ये कंबुज तथा मध्य वर्मा की इमारतों के समकालीन प्रकट होते हैं।

लंका की इमारतें

सिंहल द्वीप में बौद्धमत के प्रचार की चर्चा बौद्धग्रंथों में मिलती है। सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र एवं पुत्री को धर्मप्रचार के लिए लंका भेजा था। चौथी सदी में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने सिंहल पर आक्रमण किया था, जिसका वर्णन प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लंका से भारत का संबंध ईसवी-पूर्व सदियों में हुआ था। उस संपर्क के कारण धर्म के साथ कला का भी विस्तार हुआ। अमरावती शैली का अनुकरण वहाँ तक्षणा कला में मिलता है। भगवान बुद्ध की विशालकाय प्रतिमाएँ अनुराधपुर से प्रकाश में आई हैं। दक्षिण के पल्लवनशैली के स्थापत्य का प्रभाव लंका पर स्पष्ट है।

लंका की प्रमुख इमारतों का अवशेष ही आजकल सामने आया है। अनुराधपुर वहाँ का प्राचीनतम नगर था, जहाँ स्तूप का पग चलता है। भारतीय स्तूप में धातु (राख) की स्थापना होती रही, अतएव 'धातुगर्भ' शब्द का प्रयोग होने लगा। सिंहली में उसी धातुगर्भ से 'डागवा' शब्द की उत्पत्ति हुई। अनुराधपुर के स्तूप समकेंद्रिक चबूतरे पर स्थित हैं, जिनका आकार अर्द्ध-गोल है। वहाँ क्रमशः तीन चबूतरे हैं, जिनके ऊपरी टीले पर स्तूप बना है। वहाँ सीढ़ियों के सहारे कोई पहुँच जाता है। अर्द्धगोलाकार अंड के शीर्ष पर वाक्सनुमा कलसी बनी है, जिसे पूजा-सामग्री अर्पित की जाती है। वहाँ बुद्ध के 'दांत' (अवशेष) का पता चलता है। सबसे ऊपर छत्रावलि बनायी गई है। यह स्तूप ठोस बड़ी ईंट का बना है। अनुराधपुर का डागवा (स्तूप) २७० फुट ऊँचा तथा परिधि एक हजार फुट में विस्तृत है। लंका में स्तूप के चारों तरफ भिक्षुओं के निवासस्थान बने हैं। यह भारत में चैत्य तथा संघाराम की समता करना है। बिहार में ही बुद्ध की प्रतिमा पूजा निमित्त स्थापित की गई। उसी प्रकार अनुराधपुर में स्तूप तथा संघाराम समीप में निर्मित हैं। उस स्तूप को 'थूयाराम डागवा' कहा जाता है। यानी थुप (स्तूप) तथा आराम (संघ = निवासस्थान) दोनों मिश्रित हैं। इसके अतिरिक्त रूवनवेली, अभयगिरीय तथा जेतवनराम के नाम उल्लेखनीय हैं। जेतवनराम भरहुत में उत्कीर्ण जेतवन बिहार की याद दिलाता है। रूवनवेली का स्तूप आयताकार दो चबूतरे पर बना है, जिसका व्यास २५० फुट है। उसी प्रकार अभयगिरीय २७० फुट ऊँचा रहा होगा। भारतीय स्तूप १५० फुट ऊँचे होते थे। केवल अमरावती १६२ फुट ऊँचा बना था। सिंहल के शिल्पी का विचार था कि स्तूप को बिल्कुल ठोस बनाया जाय अतएव उनकी ऊँचाई बढ़ती गई। बाहरी टीले का सबंध पूर्वी दिशा में स्तंभसहित कक्ष से था, जो मुख्य प्रवेशमार्ग था। उससे होकर उपासक ऊपरी चबूतरे पर पहुँच जाते। चबूतरे के मध्य में आधारभूत छोटे चबूतरे पर डागवा स्थित था, जिसकी पूजा की जाती थी। इन तीन आधारभूत चबूतरों के क्रम को भंग करने वाली चार दिशाओं में गोलाकार इमारतें हैं, जो सिंहल डागवा की विशेषता प्रकट करती हैं। इनकी योजना दक्षिण भारत के अमरावती स्तूप के आर्यक स्तंभ (पूजा योग्य स्तंभ) के सदृश है। संभवतः उन छोटे पूजानालयों को धातुगर्भनुमा (के दृश) माना जा सकता है। इनके शीर्ष पर कलसियाँ बनी हैं, जिन्हें रहस्यमय भावना सत्ति (Mythi-

cal property) आकार समझा जाता है। इन्हें इस निष्कलंक इमारत के हृदय तथा स्नायुकेंद्र कह सकते हैं। सिंहल स्तूप के ऊपरी भाग के छत्र की तुलना संमानसूचक चौदछत्र से करते हैं, किंतु उसमें बौद्ध मत का कुछ भी चिह्न (बुद्ध का प्रतीक) नहीं देखते भारतीय स्तूपों की तरह छत्रयष्टि (छत्रावलि का डंडा) को यहाँ स्थान नहीं दिया गया है। यष्टि का स्थान हरमिका के मध्य में रहता है, किंतु यहाँ आधान को डागवा का धातुस्थान मानते हैं। अतएव, पश्चिम स्थान में छत्रयष्टि के कोटर का कोई स्थल दीख नहीं पड़ता। इस कारण अंड के ईंट प्रकार में छोटा प्रकोष्ठ बना कर कठोर प्रस्तर में नो छिद्र किए गए, जहाँ धातु का स्थान निश्चित किया गया और पूजा-समग्री वही एकत्रित की जाती थी।

अनुराधपुर के लोहप्रासाद के विषय में दो शब्द कहना उचित होगा। इस विहार के भग्नावशेष से इमारत की विशालता का परिचय मिलता है। यह नौ मंजिल का विशाल विहार था, जिसका गुंबजी छत्र कांस्थ का बना था। इसे ईसा-पूर्व पहली सदी में सिंहल के राजा दूतगामिनी ने बनवाया था। इस इमारत के आधार, सीढ़ियाँ तथा ठोस स्तंभों से इसकी विशालता का अनुमान लगाया जाता है।

मध्य एशिया की बौद्ध गुहाएँ

तिब्बत पठार की उत्तर दिशा में तरीम नदी की घाटी मध्य एशिया के नाम से प्रसिद्ध थी। पहली सदी में वहाँ कुषाण राज्य विस्तृत था। अतः, महायान के प्रचारक लंह नगर (लद्दाख की राजधानी) तथा कराकोरम के दर्रा होकर वहाँ गए थे। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ भारतीय कला का विस्तार हुआ और भारत के अनुकरण पर स्तूप तथा गुफाएँ बनायी गईं। आरेलस्टिन ने तरीम घाटी के रेगिस्तान में स्तूपों के भग्नावशेष का पता लगाया है। मध्य एशिया के पूर्वी भाग में लावनार के समीप पर्वत को खोद कर गुफाएँ बनी हैं, जो 'सहस्र बुद्ध गुफा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। तुयेन हांग के समीप में सभी गुफाएँ स्थित हैं, जहाँ अजंता की रीति से भित्तिचित्र खींचे गए हैं। उन चित्रों का मूल उद्देश्य बौद्धमत का प्रचार करना था।

चीनी यात्री यूवान च्वांग ने खोतान के गोमती विहार तथा कूचा के 'आश्चर्य विहार' को उल्लेख किया है। उस बौद्ध यात्री ने बुद्ध के देवयात्रा का भी वर्णन किया है, जो विहारों में मनायी जाती थी। अन्य स्थानों (यारकंद, काशगर, तुरफान आदि) में भी बौद्ध विहार बने थे, जहाँ हजारों भिक्षु रहा करते थे। वही से बौद्धमत का विस्तार चीन में हुआ। अतएव, बृहत्तर भारत के इतिहास में मध्य एशिया को भी प्रमुख स्थान दिया गया है।



फाहियान तथा ह्वेनसांग वर्णित बौद्ध इमारतें

प्राचीन भारत में उत्तर-पश्चिम दिशा से ही देश पर आक्रमण होते रहे । ईरानी तथा यूनानी आक्रमण ईसा-पूर्व सदियों में हुआ था । परंतु, ईसवी सन् के प्रारंभ से चीन की पश्चिमी दीवार के समीप निवास करने वाले खानाबदोश शक (भ्रमणशील जाति के रूप में) ने तरीम नदी की घाटी पार कर बलख होते उत्तर-पश्चिम भारत पर अधिकार कर लिया । तिब्बती पठार के उत्तर में तरीम नदी पश्चिम से पूरब की ओर बहती है । उसकी घाटी का अधिकांश भाग बंजर है । तकला मकान का रेगिस्तान भी उसी भूभाग में पड़ता है । तरीम की सहायक नदियाँ तिब्बत के पठार में निकल कर स्थान-स्थान पर तरीम में मिल जाती हैं, जहाँ नगर बसे हैं । उस मरुस्थान में कुछ पैदावार हो जाती है और बस्तियाँ भी प्रकाश में आई हैं । नदियों के तार पर नारों का नाम हरग हुआ । अतः खोतान, निया, चरचन मीरान और काशगर आदि नगर ऐसे ही बने थे । भारत के लोग उन मरुस्थानों में जाकर बस गए । वहाँ का इतिहास यह बतलाता है कि कुषाणसम्राट कनिष्क का राज्य मध्य एशिया तक विस्तृत था । तरीम नदी के उत्तर तथा दक्षिण दो प्रसिद्ध मार्ग थे । उत्तर में काशगर कूचा तथा तूरफान के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं । दक्षिण का मार्ग मीरान चरचन, निया होकर पूरब दिशा में जाता था । दोनों मार्ग लावनार के समीप तुयेन ह्वान्ग नगर के पास मिल जाते थे । वही से भारतवासी चीन जाया करते थे । मध्य एशिया में प्रवेश करने पर चीन वालों को भारतीय धर्म तथा कला का ज्ञान हुआ । कहा जाता है कि चीन के सैनिकों ने मध्य एशिया पर आक्रमण किया और भारतवासियों को बंदी बनाकर चीन ले गए, जहाँ उन्हें मुक्त कर दिया गया । बौद्धधर्म के प्रचार से चीन के धर्मयात्री भारत आना चाहते थे । भारतवासियों के लिए तो तरीम उपत्यका के दोनों मार्ग प्रशस्त थे, किंतु चीन वालों को दक्षिण का मार्ग सुगम था, जो मरुस्थान होकर पश्चिमी एशिया

तक जाया करता था। रेशम के व्यापार के कारण वह 'रेशम-मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध था। बौद्धधर्म के प्रचार से चीन के बौद्ध धर्मानुयायियों में पितृदेश (भारत) दर्शन की विषासा उत्पन्न हो गई। उसकी तृप्ति के लिए चीनी यात्री मध्य एशिया (रेशम-मार्ग) होकर भारत के लिए चल पड़े। उन यात्रियों में फाहियान (चौथी सदी) ह्वेनसांग (सातवीं सदी) तथा ह्वेनसांग का नाम उल्लेखनीय है। ज्ञान की विषासा से उन्हें बंठित मार्गों की परवाह न हुई और वे भारत में आ गए। फाहियान तथा ह्वेनसांग ने रेशम-मार्ग से भारत में प्रवेश किया। फाहियान भारत-भ्रमण कर जलमार्ग से सिंहल होकर चीन लौटा, परन्तु ह्वेनसांग ने दोनों यात्रा (भारत आना एवं चीन लौटना) में स्थलमार्ग की ही शरण ली। उसने मध्य एशिया में अफगानिस्तान होकर भारत में प्रवेश किया तथा वर्षों तक यात्रा कर तरीम के कांटे के उत्तरी मार्ग से वह स्वदेश लौटा। उसने पितृदेश भारत में पैदल यात्रा की तथा लौटते समय प्रतिमा एवं धर्मग्रंथ लेता गया।

बौद्ध चीनी यात्रियों में फाहियान सबसे पहले भारत आया। उसने मध्य एशिया के रेगिस्तान, हिंदूकुश पर्वत होकर उसने भारत में प्रवेश किया था। उत्तरी भारत में बौद्ध तीर्थों का भ्रमण कर वह ताम्रलिप्ति पहुँचा। फाहियान ने काशगर में चार हजार भिक्षुओं को देखा, जो विहार में निवास करते थे। उसने खोतान के प्रसिद्ध गोमती विहार में हजारों भिक्षुओं को देखा, जो महायान ग्रंथ का अध्ययन करते थे। कहा जाता है कि फाहियान ने देवयात्रा (रथयात्रा) को भी देखा, जो चौदह विहारों से संबद्ध था। वहाँ से चलकर गांधार की राजधानी तक्षशिला आया। वहाँ कनिष्क ने अत्यंत विशाल विहार तथा पगोडा (स्तूप) बनवाया था, जिसका दूसरा सानी न था। वह यात्री पेशावर से नगरहार (हाड़ा) आया, जहाँ एक स्तूप में बुद्ध की अस्थि का टुकड़ा रखा था। वहाँ का शासक नित्य ही उस स्मृति-अवशेष की पूजा किया करता था। पंजाब पार कर फाहियान मथुरा पहुँचा, जहाँ विशाल संघाराम बने थे और हजारों भिक्षु निवास करते थे। उसने सर्वत्र अहिंसा का प्रचार देखा और मकिसा, कान्यकुब्ज, साकेत, श्रावस्ती, नालंदा, गया आदि बौद्ध-तीर्थों का भ्रमण किया। फाहियानने वाराणसी होकर कौशांबी के 'घोषिताराम' में भी भिक्षुओं को देखा। वह पाटलिपुत्र होकर चम्पा तथा ताम्रलुक गया।

फाहियान की यात्रा सुखपूर्वक श्यतीत हुई। वह सिंहल होकर जलमार्ग से स्वदेश (चीन) लौटा था।

भारत में चौथी सदी के विहारों की वास्तविक परिस्थिति का वर्णन फाहियान के उल्लेखों से मिलता है। उसके कथनानुसार पर्वत काटकर संघाराम बने थे। उन स्थानों पर सैकड़ों गुहागृह थे, जिनमें कोठरियाँ बनी थी। पश्चिमोत्तर भाग में ५०० संघाराम का उल्लेख किया है। उस भाग में सात हजार भिक्षु रहा करते थे। फाहियान को ऐसे भी विहार मिले, जिनमें लाखों भिक्षुगण रहते थे। उसका कथन है कि सभी जनपदों में राजा, सेठ तथा अन्य व्यक्तियों ने भिक्षुओं के निवास हेतु विहार बनवाए। खेत, घर बन आराम संबंधित थे। विहारों में पेय, भोजन, वस्त्र एवं औषधि मिला करती थी। वर्षावास में भी भिक्षुओं को सब सुविधाएँ उपलब्ध थी। फाहियान ने भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करते समय विहारों का वर्णन किया है।

सातवीं सदी में ह्वेनसांग ने शासक से भारत-भ्रमण की आज्ञा माँगी, तो राजा ने उसे अस्वीकार कर दिया। वह वहाँ से चुपके निकल भागा और रात-दिन यात्रा कर मध्य एशिया पहुँचा। गोबी के रेगिस्तान में उसे कोई सहायक न मिला। तुरफान के राजा के निमंत्रण पर वह दरबार में पहुँचा। इस बौद्ध यात्री को तुरफान का शासक अपने समीप रखना चाहता था, किंतु ह्वेनसांग राजी न हुआ। एक मास के बाद वह यात्रा पर चल पड़ा। उस समय वह शासक से अनुमोदित चीनी यात्री था। तुरफान से कूचा पहुँचा। उस समय कूचा मध्य एशिया का सबसे प्रमुख नगर था। उस भू-भाग में पाँच हजार भिक्षु रहा करते थे। रास्ते में उसे पश्चिमी तुर्क लोगों के शासक खान से भेंट हुई, जिसने ह्वेनसांग की पर्याप्त सहायता की और पामीर पठार एवं बल्ख की यात्रा समाप्त कर भारत तक पहुँचाया। समरकंद तथा बल्ख का भू-भाग बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुका था। बल्ख में कई संघाराम बने थे। हिंदुकुश के पार बामियान आया, जो मध्य एशिया तथा भारत के मार्ग पर स्थित था। ह्वेनसांग ने बामियान विहार का वर्णन किया है, जहाँ हजारों भिक्षु निवास करते थे। चीनी यात्री ने काबुल के उत्तर कपिसा (वर्तमान वैग्राम) नामक स्थान को देखा, जहाँ महायान धर्म के अनुयायी अधिक संख्या में निवास करते थे। वह अनभिज्ञ यात्री न था। जिस समय कूचा पहुँचा, उसने पाँच हजार भिक्षुओं को देखा। समरकंद

मे सातवीं सदी का एक सुंदर नगर था, जहां ह्वेनसांग ने रास्ते में निवास किया। इस स्थान तक भारत से कारावान आया करते थे। मध्य एशिया के पश्चिमी भाग से होकर चीनी यात्री वल्ख पहुँचा। वहाँ अशोक के समय से ही बौद्धमत का प्रचार हो गया था, इस कारण शासक ने ह्वेनसांग का स्वागत किया। वल्ख ने अधिक संघाराम बने थे, जिसे पाँचवी सदी में हूण लोगो ने ध्वस्त कर दिया। उस भग्नावशेष से विहार के निर्माण का अनुमान लगाया जाता है। चीनी यात्री ने उसका विवरण दिया है। वह उस स्थान को पार कर हिंदूकुश होते वामियान पहुँचा, जो मध्य एशिया तथा भारत के मध्य प्रमुख स्थान माना जाता है। चीनी यात्री लिखता है कि वामियान में अनेक संघाराम थे, जिनमें हजारों भिक्षु रहा करते थे। वह उस स्थान से करिमा आया, जो काबुल से दक्षिण स्थित था। वहाँ से वह गाधार आया। उसने इसकी राजधानी तक्षशिला में निर्मित अनेक विहारों का वर्णन किया है, जहाँ बीस हजार भिक्षुगण रहा करते थे। उनमें अधिकतर महायान के अनुयायी थे। कश्मीर में स्थित संघारामों का विवरण उसके यात्रा-विवरण में पाया जाता है। उत्तरी भारत के नगरों की यात्रा करते ह्वेनसांग ने हर्षवर्द्धन की राजधानी कान्यकुब्ज में भी प्रवेश किया, जिसके दरबार का सजीव वर्णन मिलता है। उसने श्रावस्ती, कपिलवस्तु लुंबिनी, रामग्राम तथा कुशीनगर की यात्रा समाप्त की। इस चीनी यात्री ने कुशीनगर का निम्न रूप में वर्णन किया है। उसका कथन है कि नगर के अवशेष देख पड़ते हैं। ईंट का प्रयोग इमारतों के लिए किया गया है। कुशीनारा की उत्तर-पूर्व दिशा में स्तूप बनाया गया था। उसी के समीप में ईंट का बना बड़ा विहार था, जिसमें तथागत की प्रतिमा स्थापित थी। यह बीस फुट ऊँचा रहा होगा। उसने लिखा है कि विहार के पार्श्व में दूसरे स्तूप के अवशेष देख पड़े, जहाँ बोधिसत्व ने राजा को उपदेश दिया था। इस तरह ह्वेनसांग ने कुशीनारा के अनेक स्तूपों एवं विहारों का विवरण उपस्थित किया है।

चीनी यात्री ने सारनाथ की यात्रा की, जहाँ भगवान बुद्ध ने प्रथम धर्मवक्त्र परिवर्तन किया था। इस स्थान को छोड़ कर वैशाली तथा पाटलिपुत्र होते ह्वेनसांग नालंदा पहुँचा, जहाँ महाविहार में अध्ययन-अध्यापन का कार्य हो रहा था। उस यात्री ने नालंदा के अंतर्राष्ट्रीय महाविहार का सुंदर तथा सटीक वर्णन किया है। उस भू-भाग में दस विशाल महाविहार थे, जहाँ दस सहस्र विद्यार्थी-

गण विद्याभ्यास करते थे । कई मास तक ह्वेनसांग ने क्षीलभद्र से दर्शन शास्त्र का अभ्यास किया । महायान दर्शन का अध्ययन कर उसने चंपा तथा पूर्व में ताअलिपि में एक वर्ष व्यतीत किया । वहाँ से जलमार्ग का अनुगमन न कर वह स्थलमार्ग से उड़ीसा होते कांचीपुरम् पहुँचा । वह सिंहल न जा सका, इस कारण उसने पश्चिम भारत होकर भरीच तथा बलमी की यात्रा की । चीनी यात्री की पिपासा शांत नहीं हुई, अतएव ज्ञानलाभ के वह लिए पुनः नालंदा आया । असम के राजा भास्कर वर्मन के निमंत्रण पर असम गया । उसने हर्षवर्द्धन द्वारा आयोजित प्रयाग तथा कन्नौज की सभाओं में भाग लिया था । वर्षा के दो मास व्यतीत कर वह पंजाब की ओर चला तथा जालंधर और तक्षशिला में निवास कर स्वदेश लौटा । ह्वेनसांग ने पंजाब में नगरहार नामक विहार का उल्लेख किया है । इस प्रकार भारत-भ्रमण कर मध्य एशिया होते शारकंद, बोरबारा, खोतान एवं कूचा आदि स्थानों को पार कर चीन वापस गया ।

ह्वेनसांग का अधिक समय मगध के भू-भाग में व्यतीत हुआ । अतएव, उसके यात्रा-विवरण में राजगृह तथा नालंदा का अधिक विवरण पाया जाता है । उसने राजगृह के सप्तीप के स्तूपों का विशेषतया वर्णन किया है । उसने पर्वत पर स्थित ईंट के बने बिहार का उल्लेख किया है, जहाँ तथागत रहा करते थे । इस प्रकार के वर्णन से मगध में स्थित स्तूप एवं बिहार का सजीव विवरण मिलता है ।

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण का समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय, तो प्रकट होता है कि उसने छह हजार विहारों का वर्णन किया है । विहारों की रचना वास्तुकला की दृष्टि से उच्च कोटि की थी । भवनों का विन्यास कलात्मक ढंग से किया गया था । बिहार प्रदेश में नालंदा के भू-भाग का अधिक विवरण मिलता है । नालंदा का महाविहार अतिशय विशाल था, जहाँ के सघन कुंजों तथा उपवनो में ह्वेनसांग का मन रमना था । प्रधान विहार में सात कक्ष थे । तीन सौ बड़े कमरे व्याख्यान देने के लिए निर्मित थे । सबसे बड़ा विहार २०३ फुट लंबा तथा १६८ फुट चौड़ा था । विहार की कोठरियाँ भी ९ × १२ वर्ग-फुट क्षेत्रफल में बनी थी ।

नालंदा से पूर्व बलभि का बौद्ध महाविहार पश्चिमी भारत (काठियावाड़) भी प्रसिद्ध रहा । बलभि के विहार शासको द्वारा निर्मित हुए थे । उस प्रदेश में विहारों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती गई । वहाँ सौ से अधिक विहार थे, जिनमें ६०० से अधिक विद्यार्थी रहते रहे । यही रह कर

गुणमति तथा स्थिरमति ने बौद्ध धर्मग्रंथों की रचना की, जिनका समाज में विशेष आदर था। नालंदा की भाँति बलभि भी महाविहार का काम करता था। बलभि के आचार्यों को अतिशय प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इस विश्वविद्यालय को धनीमानी व्यक्तियों द्वारा आर्थिक सहायता मिलती थी। इसके अभ्युदय में मैत्रक नरेशो ने योगदान दिया था। ह्वेनसांग ने विक्रमशिला अंतिचक, जिला भागलपुर, (बिहार प्रदेश) का भी विशद् वर्णन किया है। धर्मपाल द्वारा जो विहार बने, सभी सुदृढ दीवार के थे। सभी पाल राजाओं ने समय-समय पर विक्रमशिला विहार को दान दिया था। इस महाविहार में दूर-दूर से विद्यार्थी गण ज्ञानपिपासा को शांत करने आते रहे। सैकड़ों आचार्य अध्यापन में लगे थे और सुव्यवस्था के लिए अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की गई थी।

ओदंतपुरी (विहार, जिला पटना) का विहार भी अभ्युदयशील रहा। इस विहार में सौ भिक्षु रहा करते थे। पालनरेशो ने इस विहार के सवर्द्धन में पूरी सहायता की थी। यहाँ पर ग्रंथों का आगार था, जिसे वस्तियार खिलजी ने नष्ट कर दिया।



संघ की आर्थिक दशा

गत अध्याय में विहारों के दान संबंधी अभिक्रियाओं की चर्चा की गई है। बौद्ध समाज में आश्रम का विधान न था, अतएव दो प्रकार से व्यक्तियों का बैठवारा था।

(१) भिक्षु—जो संसार से विरक्त होकर विहार में रहने लगा। उसकी आयु की कोई सीमा न थी। छोटी या बड़ी अवस्था का भिक्षु धर्म-कार्य में लग जाता तथा विहार में निवास कर विद्योपार्जन करता अथवा उद्देश दिया करता था। भिक्षु के विषय में गौतम बुद्ध ने निर्देश दिया था कि यदि भिक्षु चाहे, तो गाँव में रहे या नगर के पड़ोस (विहार) में बसे। वह भिक्षा माँग कर भोजन करे तथा गाँव के उपासकों (गृहस्थों) का निमंत्रण स्वीकार किया करे। चुल्लवग्ग (७, ३, १५) में वर्णन आता है कि गृहस्थों द्वारा प्रदत्त चीथरे (चीवर) को वस्त्र के रूप में प्रयोग करे। वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे जीवन व्यतीत करे, किन्तु उपासकों (गृहस्थों) के साथ न रहे। भिक्षु के लिए नियम था कि वह ज्ञानेन्द्रियों पर सयम रखे और सभी सासारिक विषयों के प्रति अनासक्त रहे।

(२) उपासक गृहस्थ—बौद्ध समाज का दूसरा उपविभाग उपासकों का था, जिनके यहाँ भिक्षा माँगने भिक्षु आया करते थे। बौद्ध मत में उपासक भी बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण लेता था। उनके दिए हुए फटे वस्त्र (चीवर) पर भिक्षुगण निर्वाह करते थे। ऐसा कहा गया है कि उनके घरों में भिक्षुओं का आना शालीनतापूर्वक होनी चाहिए तथा यह शीघ्र ही जान लेना चाहिए कि वह भिक्षा दे सकता है या नहीं। बुद्ध ने साधक जीवन का आदर्श भी प्रस्तुत किया था कि उपासकों के यहाँ भिक्षा माँगते समय पात्र मात्र ही दिखलायी पड़ना चाहिए।

चुल्लवग्ग में जिस रूप में भिक्षु, भिक्षाटन तथा भिक्षा देने वाले गृहस्थों का वर्णन है, उससे प्रकट होता है कि उपासक, (गृहस्थ) का भी महत्वपूर्ण स्थान

था। ससार में आसक्त थे। समाज में संमान था तथा बौद्ध भिक्षु नियमित रूप से शिष्ट व्यवहार सहित गाँव में प्रवेश करता था। ब्राह्मण मत के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) में बौद्ध धर्म में नाथु तथा उपासक (गृहस्थ) दो ही वर्ग समाज में स्थित था। बुद्ध गृहस्थों को सदाचार के मार्गगामी बनाने का उपदेश देते रहे। वे गृहस्थों की सभाओं में भाषण देते। महामंगल की कामना सभी उपासकों के जीवन में अभ्युदय प्रदान करने के लिए थी।

विहार के निवासी भिक्षुओं के लिए निम्न चार प्रकार की आवश्यकताएँ थी :—

- (१) भोजन का प्रबध,
- (२) वस्त्र की प्राप्ति,
- (३) औषधि की व्यवस्था और
- (४) पठन-पाठन के लिए धर्म-ग्रन्थ।

भिक्षुगण ब्राह्मण धर्म के संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों के सदृश भिक्षा माँग कर काम चलाते थे। महावग्ग तथा चुल्लवग्ग में ऐसे विवरण भी पड़े हैं कि बुद्ध ने भिक्षुओं का भिक्षा मागने का समुचित माग बतलाया। भिक्षा माँग कर उन्हें विहार में निवास करने का आदेश था। विहारों में स्नान की सुव्यवस्था थी। अतएव, स्नानागार बने थे। उन्हें तीन प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करना पड़ता, जिन्हें चीवर कहते थे, (अ) मधाटी (ब) अंतरवासक (स) उत्तरासग तथा मधाटी लुगी थी। अंतरवासक कमीजनुमा बनियाइन की तरह उपयोग में लाया जाता था। विहार में रुग्ण भिक्षु के लिए दवा का भी प्रबध करना आवश्यक था। बौद्ध विहारों में प्रवेश करने वाले श्रमण की शिक्षा का प्रबध करना नितांत आवश्यक समझा गया, ताकि वह विद्वान होकर धर्मोपदेश कर सकें। इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय विहार के प्रमुख भिक्षु को यह प्रतीत होने लगा कि उपासकों से भिक्षुगण का अधिक संपर्क न होना चाहिए। अतः, इस प्रकार की भिक्षावृत्ति को समाप्त करने के लिए विहार में सभी वस्तुओं का प्रबध होने लगा। उपासक भिक्षा न देकर दान देने लगे। उस अग्रहार भूमि की आय या अन्न अथवा नकद द्रव्य को इन कार्यों के निमित्त व्यय किया जाता था। गुहालेखों में इस प्रकार के दान का विस्तृत विवरण मिलता है। अशोककाल से मध्ययुग (१२०० ई०) तक के

लेखों में विविध ढंग से दान का वर्णन किया गया है। उनमें कुछ प्रमुख लेख निम्न नाम से उल्लिखित हैं—

- (१) बराबर—बरावर पहाड़ी, गया, बिहार
- (२) नासिक—महाराष्ट्र
- (३) कालें—पूना के समीप
- (४) जूनार—बही
- (५) सांची लेख—विदिशा, मध्यप्रदेश
- (६) अजता—आंध्र प्रदेश
- (७) इजोरा—औरंगाबाद, आंध्र प्रदेश
- (८) हाथीगुम्फा—उदयगिरि, भुवनेश्वर, उड़ीसा
- (९) कंहेरी—बंबई के समीप
- (१०) नालदा ताम्रपत्र—नालंदा, पटना, बिहार
- (११) सारनाथ लेख—गहड़वाल लेख (कुमारदेवी द्वारा)
- (१२) कमौली ताम्रपत्र—राजघाट, काशी

इन अभिलेखों में ग्रामदान का अधिक वर्णन है, जिसकी आय विहार के भिक्षुओं की उपयोगी सामग्री में व्यय की जाती थी। विहार में भिक्षुओं की संख्या बढ़ती गई और उस परिस्थिति में दान का कार्य पीछे न पड़ा। राजा तथा धनीगणों गृहस्थ दान करते ही रहे। संघ को आर्थिक कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता। इस दान से भिक्षुओं को ग्राम में जाने की आवश्यकता न रही। भिक्षा माँगने के कार्य को निरुत्साहित किया गया।

गृहादान से भिक्षुओं के निवासस्थान का प्रश्न सरल हो गया। दानलेखों में किसी-न-किसी कार्य का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसके अनुसार कार्य किया जाता था। इस प्रकार विहार के दान

- (अ) अनुत्पादक (वृद्धिहीन) तथा
- (ब) उत्पादक

श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं। भूमिकर की निश्चित राशि होती थी। उसे ग्रहण कर निश्चित कार्य में व्यय करते रहे। दूसरे वर्ग में नकद द्रव्य तथा उन पशुओं के दान को रखा जायगा, जिसकी आय सर्वदा वृद्धि पर थी। नकद पैसे को श्रेणी बैंक में रखकर सूद लेते तथा पशुधन से दधिघृत की प्राप्ति होती थी। कभी-कभी नकद द्रव्य को विहार की मरम्मत के लिए व्यय करते थे। मध्य युग से विहार में शिक्षा-निमित्त धन की आवश्यकता प्रमुख हो गई। बौद्ध महाविहारों में हजार आचार्य तथा सहस्र भिक्षुगण रहा करते थे।

अतः उनके व्यय के लिए केवल अग्रहार से ही काम न चलता, बल्कि उपासक भी विद्यालयों को पैसे देते रहें। जातको मे ऐसा वर्णन आता है कि धनी लोगों के लड़के तक्षशिला या काशी में शिक्षा ग्रहण करते थे। नालंदा में भी स्थात उपासक शिक्षा ग्रहण कर वापस चले जाते। ह्वेनसांग ने नालंदा में दो सौ ग्रामभान का वर्णन किया है।

नालंदा ताम्रपत्र में पालवंशी राजा देवपाल द्वारा प्रदत्त ग्रामों का उल्लेख है, जिन्हे जावानरेश बालपुत्र देव के आग्रह पर उसने दान दिया था। उसी ताम्रपत्र में भिक्षुओं के लिए भोजन, वस्त्र, आसन तथा औषधि का उल्लेख है (ए० इ० भा० २०, पृष्ठ ४४)

चातुर्विंशाय भिक्षुसंघस्य वलि चरु सत्र चीवरि पिंड पात शयनासन ग्नान प्रभ्यय भेषज्याद्यर्थं धर्मरत्नस्य लेखनाद्यर्थं विहारस्य खंड स्फुट समाधानार्थं शासनी कृत्य प्रतिपादित।

इसमें विस्तृत वर्णन है कि भोजन (सत्र) वस्त्र (चीवर) शयनासन (रहने का आसन) दवा (भेषज) तथा धर्मग्रंथ-लेखन के लिए दान दिया गया था। उस समय विद्यालाभ के लिए पांडुलिपियों की नकल कर ही पढ़ने का माधन एकत्रित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त विहार की मरम्मत (खडस्फुट समाधान) के लिए भी ग्राम की आय को व्यय किया जाता था। इस प्रकार लेखों में वर्णित विषयों का अनुशीलन इसे प्रमाणित करता है कि भिक्षुगण विहार से बाहर न जाकर सारा कार्य उही स्थान पर करते थे। इस तरह भिक्षाटन का कार्य समाप्त हो गया। चौथी सदी के बौद्ध चीनी यात्री फाहियान ने लिखा है कि मथुरा विहार में सघ के भोजन, पान तथा वस्त्र का प्रबंध था। आगनुक भिक्षुओं के प्रति स्थानीय भिक्षु समान प्रदर्शित करते थे। योग्यतानुसार रहने का स्थान दिया जाता तथा यथानियम व्यवहार किया जाता था। बौद्ध गृहस्थ सघ सेवा के लिए दान देते थे और शारीरिक श्रम से भी सघ को लाभ पहुंचाते थे। रोगी भिक्षुओं के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते थे। बौद्ध ग्रंथों में भी ऐसे वर्णन आते हैं, जब गृहस्थ भिक्षु की सेवाशुश्रूषा किया करता था। महावग्ग (६, २२, ३) में उल्लेख है कि सुप्रिया नामक गृहपत्नी ने रोगी की सेवा की। उस युग में लोगों में यह धारणा थी कि सब के अतिथ्य से लोक-परलोक में अभ्युदय मिलता है।

परिशिष्ट ९

गोष्ठी तथा सत्र

शासक मंदिर-निर्माण कर उसके समुचित प्रबंध के लिए एक समिति बनाया करता था, जो मंदिर का प्रबंध सुचारु रूप से कर सके। उस शासन-समिति को 'गोष्ठी' कहते थे। मध्ययुगी लेखों में इस विषय का वर्णन मिलता है। सातवीं सदी के पश्चात् मंदिर की प्रबंध समिति को सारा भार सौंप दिया जाता। उस समिति के सदस्य 'गोष्ठिक' कहे जाते थे। अभिलेखों में निम्न प्रकार का विवरण उपलब्ध है—

(१) तत्सर्व गोष्ठिभिः कुंकुमघूपदीपक पुष्प ध्वजाध्वलायन खंड स्फुरित
समरचनादिषु धर्मोपयोग्य कर्तव्यम् ।

(ए० इ० भा० १९, पृष्ठ ६२)

(२) गोष्ठी जन या गोष्ठिक—प्रबंध समिति का सदस्य ।

(ए० इ० भा० १, पृष्ठ २८२)

कहने का तात्पर्य यह है कि शासक मंदिरों में पूजन सामग्री—गंध-पुष्प-दीप तथा मंदिर की मरम्मत (समरचना) के लिए पर्याप्त दान देना रहा। इसका प्रबंध समिति (गोष्ठी) के सदस्य किया करते थे। मथुरा के लेख में उन समस्त लोगों (गोष्ठीजन) को संबोधित कर कहा गया है कि मंदिर का समुचित प्रबंध करना चाहिए। उनका कर्तव्य था कि मंदिर की संपत्ति (भूमिदान या द्रव्यदान) की देखभाल करे। भूमिदान की दशा में भूमिकर की वसूली उन्हीं को करनी पड़ती थी। द्रव्य को श्रेणी बैंक में रखकर सूद का प्रयोग करते रहे। इतना ही नहीं, उनको यह भी निश्चित करना पड़ता कि आय का कौन-सा अंश किस कार्य में व्यय किया जाए। अभिलेख का वर्णन पठनीय है

(३) गोष्ठिक समुदाय समन्वितेन शेष जनानां वसतां साधुभिः गोष्ठिकैः
साराकार्यं ।

(ए० इ० भा० ११, पृष्ठ ५२)

वहमान लेख में पूजाविधि का भी वर्णन है । पूजन-सामग्री एकत्रित कर प्रबंध समिति (गोष्ठी) अन्य कार्यों को भी देखती थी । उसी राजवंश के दूसरे लेख में समान रूप से बातों की चर्चा की गई है ।

(४) यथोद्दिष्ट स्थित्या गोष्ठिकैः सद्धि. स्वत. परतश्च निर्व्वह कर्त्तव्य
ऐते च भागा यथोद्दिष्ट स्थित्या गोष्ठिकैः कल्पयितव्या ।

(ए० इ० भा० १, पृष्ठ १८८)

उस प्रबंध समिति (गोष्ठी) के सदस्यों की संख्या के विषय में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती । मथुरा के एक लेख (ए० इ० भा० १, पृष्ठ २९२) में ग्यारह सदस्यों की गोष्ठी का वर्णन मिलता है, किंतु मेवार के लेख में सात सदस्यों के नाम उल्लिखित हैं । उसमें हूण जाति के एक व्यक्ति का नाम भी वर्णित है—

(५) हूणाश्च कृषु राजोन्यः सर्वदेवापि गोष्ठिक ।

(ए० इ० भा० ५८, पृष्ठ १६१)

इसलिए यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत होगा कि गोष्ठी की सदस्यता ब्राह्मण तथा पुरोहित तक ही सीमित न थी, बल्कि अन्य लोग भी प्रबंध समिति के सदस्य (गोष्ठिक) हो सकते थे, जो मंदिर को दान दिया करते थे । यहाँ तक कि विदेशी हूण जाति के लोग भी सदस्य चुने गए थे । किसी समय योग्य व्यक्ति के ऊपर अकेले मारा बोझ डाल दिया जाता था । राजपुताना के लेख में (ए० इ० भा० ३, पृष्ठ २६४) प्रमुदितदेव के मठ का सारा कार्य शिवाचार्य नामक व्यक्ति को सौंपा गया था, जिसने बड़ी योग्यता के साथ उसका संपादन किया था । इस लेख में गोष्ठी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, क्योंकि समिति का गठन नहीं हो पाया था । अकेले शिवाचार्य सक्षम थे । वह मठ का संपूर्ण अधिकार रखते थे । इस तरह का विवरण प्रतिहार राजा महेंद्रपाल के लेख में मिलता है । हरिश्चर मठधीश दुर्गा मंदिर का प्रबंधक था । (ए० इ० भा० १४, पृष्ठ १७७) ।

दशपुर चातुर्वेद्य हरिषेस्वर मठ सवध्यमान श्री वटयक्षिणी देव्यै शासन-
त्वेन प्रतिपादितः ।

इस प्रकार के कई लेखों में एक योग्य व्यक्ति के हाथों मंदिर का प्रबंध सौंपने का वर्णन आया है । निम्न पंक्ति में लाट देश (गुजरात) से आए हुए पाशुपत साधु को प्रबंधक निश्चित करने का उल्लेख है—

लाटान्वय. पाशुपत तपस्वी श्री रुद्रराशि बिघिवत् व्यधताम् ।

स्थानस्य रक्षा विधिमस्य तावत् यावत् मिसिते भुवनानि शंभुः ॥

(ए० इ० भा० २, पृष्ठ १३, पद्य ३१)

परमारनरेश भोज की प्रशस्ति में (तिलकवाड़ा दानपत्र) एक साधु की निबुक्ति का उल्लेख है, जो शिवमंदिर का सारा प्रबंध न्यासी के रूप में देखता था । (ओरियेंटल कांफरेन्स, पूना १९१९, पृष्ठ २१९) कल्हण ने राजतरंगिणी में मंदिर के प्रबंधक का उल्लेख किया है । वह व्यक्ति नायक चार वेदों का ज्ञाता था और दो शिवमंदिरों का शासक था । (राजतरंग ५/१५९) मध्ययुगीन लेख में शिवमंदिर से संबद्ध अध्ययन-कक्ष के निर्माण का वर्णन है । राजपुताना में इस प्रकार के विवरण मिलते हैं । तात्पर्य यह है कि मंदिर के समस्त प्रबंध का भार गोष्ठी पर रहता था, किंतु आपत्तकाल में एक व्यक्ति ही सारा कार्य करता रहा ।

उत्तर गुप्तकालीन प्रशस्तियों में एक विशेष संस्था का उल्लेख मिलता है, जिसे 'सत्र' कहा गया है । इस स्थान पर विद्यार्थी, सत्र की स्थापना साधु निधन व्यक्ति को बिना मूल्य भोजन वितरण किया जाता था । दानपत्रों में इस सत्र का उल्लेख विभिन्न रूप में पाया जाता है—

- (१) धर्मसत्र—गुप्तलेखों में
- (२) सत्र—मध्ययुगीन अभिलेखों में
- (३) अन्नसत्र—राजपुताने के दानपत्रों में ।

गुप्तनरेश कुमारगुप्त प्रथम के भिलसद लेख में निम्न प्रकार का उल्लेख है—

प्रासादाग्रभिरूप गुणवर भक्षणं धर्मसत्रं यथावत् ।

नौवीं से बारहवीं सदी तक के अभिलेखों में यह शब्द वलि तथा चरु के साथ उल्लिखित मिलता है । दान की संपत्ति पूजा (वलि) अर्चा (चरु) तथा भोजन (सत्र) के वितरण निमित्त व्यय की जाती थी —

वलिचरु नैवेद्य सत्रोपकरण हेतो पृथग्दत्तः ।

(ए० इ० भा० ११, पृष्ठ १९९)

असमनरेश बल्लभदेव के एक लेख में स्पष्टतया वर्णन आता है कि महादेव मंदिर में सत्र की स्थापना हुई थी—

भक्त शाला (= सत्र) क्षुधार्थानां महादेवस्य संनिधौ ।

(ए० इ० भा० ५, पृष्ठ १८)

जितना दान किया जाता था, उसका एक भाग सत्र के लिए पृथक् कर दिया जाता, ताकि भोजन-वितरण में कठिनाई न आ सके । मध्यप्रदेश के कलचुरि लेख में ऐसा ही उल्लेख है—

एसां भागास्त्रयः सत्रे खंड स्फुटित संस्कृतौ

उस स्थान में स्वादिष्ट भोजन देने का उल्लेख किया गया है—

मिष्ठान्न पान संपन्ना सर्व सत्री ।

अन्य राजवंशों के लेखों में (प्रतिहार एवं चाहमान लेख) ऐसा ही वर्णन उपलब्ध है—

सततमुचितं वृत्तिः कल्पयित्वा सत्रम् ।

(ए० इ० भा० १३, पृष्ठ २९०)

पालनरेश देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र लेख में यह वर्णित है कि बलिचरु के साथ 'सत्र' के लिए भी ग्रामदान दिया गया था । सत्र में स्वादिष्ट भोजन मिलता था—

चातुर्दिशाय भिक्षु सघश्य बलिचरु सत्र

चीवर शासनी कृत्य

प्रतिपादित (ए० इ० भा० १७)

धृतदर्शिमः व्यजनं भिक्षुभ्य चतुर्भ्यो नित्यं तोय सत्रे विभक्त विमलं भिक्षुसघाय इत्तम । वही ।

उसी स्थान से प्राप्त विपुल श्री मित्र का लेख यह बतलाता है कि सत्र में ही उमने चार प्रतिमाएँ दान की थी—

येन भ्रमत्यविरतं प्रतिमाश्चम

सत्रेषु पर्वणि समर्पयतिस्म यश्च

(ए० इ० भा० २१, पृष्ठ ९९)

चाहमान राजा के लेख में सत्र-स्थापना का विवरण है, जिसे शासक ने राजमार्ग—(मभर से सोभनाथ) पर निर्मित किया था । मध्ययुगी लेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मंदिर या शिक्षा संस्था के साथ सत्र स्थापित करने की परिपाटी थी । डॉ० आचार्य ने इस प्रकार की इमारत का वर्णन किया है (डॉ० आचार्य—डिक्शनरी ऑफ हिंदू आर्किटेक्चर, पृष्ठ ६१५) ।

अजनेरी लेख में व्यापारी वर्ग द्वारा सत्र-स्थापना का विवरण है (का० इ० भा० ४, पृष्ठ १५०), मंदिर की प्रबंध समिति को सत्र का कार्य देखना पड़ता था । मध्ययुग में वाराणसी के प्रत्येक मंदिर में सत्र की स्थापना हुई थी, जिसे आजकल 'छत्र' कहा जाता है ।

मंदिरों की आर्थिक व्यवस्था

मानव ने वास्तु का आरंभ किस काल में किया, यह जान लेना कठिन काम है। वास्तु बनाने के उपादानों की विविधता अवश्य दर्शनीय होती है तथा उसके परिज्ञान से स्थापत्य के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रायः संसार में लोकोपयोगिता की ओर जनता का विशेष ध्यान रहता है। वस्तुओं की उपयोगिता के कारण ही लोकप्रियता बढ़ती है। मूर्तियों के धार्मिक तथा रसात्मक उपयोगों के निमित्त मंदिर का निर्माण अवश्यभावी हो गया। अतएव, प्रस्तर तथा ईंट का उपयोग कर मंदिरों की रचना होने लगी। विविध द्रव्यों के संमिश्रण से मंदिरों की जुड़ाई दृढ़ की गई और गहराई तक खोद कर नींव भरते रहे। मंदिर का वास्तु सदा साधारण जन के आवास से भिन्न होता था, अपितु उस द्वारा वातावरण प्रभावित हो जाता था।

संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि मंदिर के स्थापत्य एवं शिल्प में जीवन के प्रति अनास्था न होकर गहरी आस्था रहती थी। शिल्पी परंपरागत भावों का आश्रय लेकर मंदिर की योजना तैयार करता, जिसमें अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करता था, न कि नाम की ख्याति के लिए। यही कारण है कि रचयिता का नाम अज्ञात है। मंदिर-निर्माण केवल आध्यात्मिक साधना तथा धार्मिक भावना का मूर्तरूप ही न था, बल्कि सामाजिक जीवन का केंद्र भी था।

आध्यात्मिक विषयों की चर्चा न कर मंदिरों की आर्थिक व्यवस्था पर विचार करना उचित होगा। मंदिर-निर्माण के लिए राजाओं, धनी-मानी व्यक्तियों अथवा सामान्य जन द्वारा दान दिया जाता था अथवा स्थानीय जनता से विशेष प्रकार का कर या ऋण लेकर भी मंदिर-निर्माण में सहायता पहुँचायी जाती थी। इस प्रकार मंदिर में प्रचुर धन इकट्ठा हो जाता, जिस द्रव्य से सारे कार्य संपन्न किए जाते थे। मंदिरों से संबद्ध अनेक धार्मिक कृत्यों में जनता का सहयोग रहता तथा मंदिर के दान का व्यय भी उन कर्मों में होना अनिवार्य था। मंदिर के निर्माता शिल्पी को दैनिक कार्यों के निमित्त धन दिया जाता,

ताकि वह अपनी आर्थिक दशा ठीक कर रचना में लग जाता। यद्यपि उस निर्माण में शिल्पी आय की कामना न करता, तथापि उसके दैनिक जीवन की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक थी। मंदिरों में पुजारी का कार्य सबसे प्रधान माना गया है। पूजाकार्य तथा रागभोग के लिए धन संग्रह करना प्रशंसनीय कार्य था। मूर्ति के अंगराग तथा वस्त्राभूषण का भी प्रबंध करना पुजारी का कर्तव्य था। इस कारण धन की माँग जनता से की जाती, जो धन सामग्री के रूप में मिला करता था। कभी मंदिर की आय को महाजन को ऋण के रूप में दे दिया जाता, जिसके सूद से दैनिक कार्य संपन्न होते रहे।

मंदिरों के प्रबंध में कीर्तन का महत्वपूर्ण स्थान न था। उपासकों की धार्मिक भावना को जागृत तथा भगवान के अलौकिक एवं आध्यात्मिक गुणों पर ध्यान आकर्षित करने के निमित्त मंदिरों में गान (कीर्तन) का आयोजन किया जाता था। साधारण जनता को देवो-देवताओं के दिव्य कार्यों का दिग्दर्शन कराना भी पुजारी का काम था। अतएव, कथावाचक तथा कीर्तन करने वाले मंदिरों के वैतनिक कार्यकर्त्ता बनाए जाते, ताकि उन्हें समय-समय पर कार्यरत किया जा सके। यही कारण था कि उत्तरी भारत के मंदिरों में जनता के एकत्रित होने तथा कीर्तन करने का स्थान सुनिश्चित किया गया। सभामंडप तथा नटमंडप (नृत्य-कक्ष) उन्हीं कार्यों के लिए निर्मित किए गए। भुवनेश्वर के मंदिरों के विकास में नटमंडप को कालांतर में जोड़ा गया। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर उसका ज्वलंत उदाहरण है। खजुराहो जैसी में भी जगमोहन सभामंडप का काम करता था। उस कार्य की पूर्ति के लिए नर्तकियों तथा देवदासियों की नियुक्ति की जाती थी। संगीतज्ञ भी यदा-वदा निमंत्रण पर कार्य करते रहे। वाराणसी के मंदिरों में ऐसी परंपरा है कि अमृत तिथि पर गायिकाएँ स्वयं मंदिर के इष्टदेव के समुख गान किया करती हैं।

मंदिरों में संबद्ध कार्यों में अनेक ध्यवित्तियों की जीविका चलती थी। मंदिरों में पूजार्थ में पुष्प, दीप, धूप, गंध आदि वस्तुएँ समीप में ही बिकती हैं। उपासक पूजा-निमित्त उनका क्रय करते हैं तथा देवता को अर्पित करते हैं। उत्सवों, पर्वों तथा विशेष तिथियों पर मंदिरों में जनसमुद्र उमड़ पड़ता है तथा सभी पुष्पमाला, धूप, दीप लेकर प्रतिमा पर चढ़ाते हैं। इस तरह पुष्प आदि के विक्रेता पर्याप्त संख्या में धनोर्गर्जन करते हैं। कभी-कभी तो मंदिरों के समीप मेले भी लगाए जाते हैं। गंडकी तथा गंगा नदियों के संगम पर हरिहर

क्षेत्र का मेला उसका एक उदाहरण है। महाशिवरात्रि अथवा एकादशी की पुण्य तिथियों पर भी मेले लगते हैं। व्यापारीगण उन अवसरों पर सामग्रियों के विक्रय से अनगिनत पैसे प्राप्त कर अपनी आय की वृद्धि करते हैं। यद्यपि इन कार्यों का सीधा संबंध मंदिरों से नहीं है, तथापि उसी से संबद्ध विविध कार्यकलापों द्वारा जनसाधारण का मनोविनोद तथा व्यापारियों का द्रव्य-वर्जन होता है। इस प्रकार मंदिरों से संबद्ध आर्थिक कार्यों के दो पहलू हो सकते हैं—

(१) देवी-देवता-संबंधी पूजन-व्यय और

(२) मंदिरों से संबद्ध गौण आर्थिक कार्य।

प्रथम श्रेणी में पूजन-व्यय के साथ कीर्तन, संगीत, नृत्य आदि की गणना करना स्वाभाविक है। इसमें सहायता करनेवाले वेतनभोगी होने के कारण मंदिरों के कर्मचारी समझे जाते हैं। पूजा-सायग्री का क्रय भी उसी में संमिलित किया जाता है। अन्य कार्य द्वितीय श्रेणी में वर्णित हो चुके हैं। मंदिरों की अर्थसंबंधी चर्चा के प्रसंग में 'सत्र' की कार्य-पद्धति से मंदिरों की आर्थिक स्थिति पर बोझ पड़ता है। इसकी परंपरा कहाँ से आरंभ हुई तथा किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मंदिरों से संबद्ध किया गया, यह एक-रहस्यपूर्ण विषय है। इसका विवरण अगले पृष्ठों में दिया जायगा। मध्य युग में मंदिरों को दान में धन तथा भूमि भी दी गई। इस प्रकार धन एवं वैभव के सग्रह से पुजारी का प्रभुत्व बढ़ता गया और वह कई मंदिरों का स्वामी बन बैठा।



परिशिष्ट ११

मध्ययुगी लेखों में मंदिर-निर्माण की चर्चा

भारत के मंदिरों का निर्माण गुप्तकाल से प्रारंभ हो गया था, परंतु तत्कालीन लेखों में इसकी चर्चा बहुत कम है। छठी शती के पश्चात् भारत के अभिलेखों में इस विषय की वार्ता अधिक मिलती है। धार्मिक कार्यों में मंदिर-निर्माण एक पुण्यतम कार्य था, जिसका विवरण वैष्णव तंत्र में उपलब्ध है। मध्ययुग में वैष्णव एवं शैव मत का प्रचार हुआ, परंतु वैष्णव जनता मंदिर-निर्माण में अग्रसर थी। इसी कारण पांचरात्र संहिता में मंदिर-निर्माण तथा देवपूजन का वर्णन किया गया है। उस ग्रंथ में चार पाद हैं—

- (१) ज्ञान,
- (२) योग,
- (३) क्रिया (मंदिर-निर्माण) तथा
- (४) चर्या (दैनिक धार्मिक कार्य)।

क्रिया तथा चर्या के प्रभाव से मध्ययुगी समाज के धार्मिक कृत्य होते रहे। मंदिर को 'आलय' कहा गया है, जिसे प्रतिमा-पूजन का संबन्ध था। यह (आलय) ससार के स्थापत्य का उदाहरण मात्र न था। इसे मानव के शरीर-सदृश निर्मित करते थे। अतएव, धार्मिक जनता मंदिर निर्माण कर उस सस्था को दान देती थी। इस भावना के प्रसार के कारण मध्ययुग (७००-१२०० ई०) के अभिलेखों में अत्यधिक चर्चा की गई है, जिससे राजा तथा प्रजा के कार्यों की जानकारी हो जाती है और मंदिर उनकी धार्मिक भावना को व्यक्त करते हैं। ब्राह्मण, बौद्ध या जैन धर्मावलंबियों ने दान देकर धार्मिक कार्य को आगे बढ़ाया। गहड़वालनरेशों के अभिलेखों एवं दानपत्रों में आदिकेशव के मंदिर-निर्माण का विवरण पाया जाता है। गंगा वरुण के संगम पर काशी में आदिकेशव का मंदिर निर्मित हुआ था। गुर्जर प्रतिहार नरेश भोजदेव ने भगवान विष्णु का मंदिर अपने अंतःपुर में बनवाया था—

राजातेन स्वदेविना यशः पुण्यामि वृद्धये अन्तःपुर पुरनाम्ना व्यद्याधि
नरकद्वीपः ।

(ए० इ० भा० १८, पृष्ठ ११०)

उसी परिवार के राजा बाउक ने भी शिवमंदिर का निर्माण किया था—

पुष्करणी कारितायेन त्रेता तीर्थे च पतनं
सिद्धेश्वरो महादेव कारितस्तु म मंदिरः ।

(वही, पृष्ठ ९६, श्लोक २०)

मध्य भारत के शामक चंदेल राजाओं तथा उनके मंत्रियों द्वारा मंदिर-निर्माण की चर्चा अभिलेखों में मिलती है। उस समय धार्मिक सहिष्णुता के कारण राजा भगवान विष्णु के साथ शिवमंदिर का भी निर्माण करता रहा, जिस कारण समस्त प्रजा प्रसन्न रहती थी—

प्रसादो वैष्णवस्तेननिमित्तोन्तर्ध्वन्हृहरिम् । ।

नीलकण्ठाधिवासम्

(ए० इ० भा० पृष्ठ १२८)

चंदेलों के खजुराहो लेख में निमित्त मंदिरों का सुंदर वर्णन दिया गया है। उससे यह जानकारी हो जाती है कि राजा ने दैत्यों के शत्रु विष्णु भगवान के आलय को अत्यंत भव्य रूप से तैयार कराया, जो हिमालय के समान ऊँचा था। उसके स्वर्णकलश से आसमान चमकता था और पार्श्व में अनेक तोरण शोभायमान थे—

तेनात च्यारु चामीकर कलस लसद्वेनाम धाम व्यधायि
भ्राजिष्णु प्रांश वंश ध्वज पटला दौलितां भोजव्दम्
वैत्यारातेस्तुषार क्षितिधर शिखर स्वद्विवद्विष्णु रागा ।
दुष्टे यात्रासु यत्र त्रिदिव वसतयो विस्मयन्ते समेता

(ए० इ० भा० १, पृष्ठ १२९)

मध्यप्रदेश के भू-भाग में कलचुरिनरेशों का कार्य किसी से पीछे न रहा। ११ वीं सदी में कई स्थानों पर उन्होंने शिवमंदिर का निर्माण कराया। कैलाश के सदृश शिव का मंदिर सफेद चमकता था।

सुधांशुधवल तत्र घूर्जटो धामनिर्मितम्
निर्मित मंदिरं रम्यं कुमार कोट पत्तने ।

(ए० इ० भा० २६, पृ० २६२ श्लोक ३३ एवं ३६)

मेराघाट प्रशस्ति में विवरण मिलता है कि कलचुरि रानी अल्हण देवी ने पशुपति शिव के मंदिर-निर्माण निमित्त आज्ञा प्रदान की थी—

अकारयन्मंदिरमिन्दु मौलेरिदम्भठेना अब्भुतभूमिकेन
सहामुना श्री नरसिंहदेव प्रसूरसाबल्हणदेव्युबारा ।

(वही, भा० २, पृ० १२३)

राजपुताना के चाहमान नरेशों ने भी मंदिर-निर्माण करा कर भूमि दान में दी थी ।

गुरोराज्ञामयं प्राप्यः प्रतिष्ठासोः शिवालयम्
यथा प्रारब्ध कार्यणामंगीकृत भरोभवत् ।

(ए० इ० भा० २, पृष्ठ १२३, श्लोक ३७)

इतना ही नहीं, राजा जनता से चंदा लेकर भी पुण्यकार्य में लग जाता था । चाहमाननरेश हर्ष के विषय में कहा गया है कि उसने राजकीय धन के अतिरिक्त सर्वसाधारण से द्रव्य ग्रहण कर मंदिर-निर्माण किया था । उस द्रव्य को लेख में “धम्मिवर्त्तः” शब्द से व्यक्त किया गया है । हर्ष ने जनता के द्रव्य से मंदिर का निर्माण किया था, जैसा निम्न पंक्ति से प्रकट होता है—

आसीद्यो लब्ध जन्मा भवतरणधिया सुबन्धु
स्तेनेवं धम्मिवर्त्तः सुघटित विकटं कारितं हर्षं हम्मयम् ।

(वही, श्लोक ३९)

राजपुताने के नंदलई अभिलेख में मंदिर-निर्माण के व्यय का व्योरा दिया गया है । उसमें वर्णन आता है कि ‘भिवदेश्वर शिव’ के मंदिर-निर्माण में ३३० द्रव्य (चांदी का सिक्का) ईंट-प्रभृति के लिए व्यय किया गया था । यद्यपि संपूर्ण मंदिर-निर्माण के लिए यह राशि पर्याप्त न थी, किंतु किसी एक मंडप के निमित्त व्यय करना उचित प्रतीत होता है ।

श्री भिनदेश्वर देवस्य मंडप कारावनीयः अक्षसामलायनीय कर्तव्या पाषाण
इटकयां घटित चहूटापने द्र (= द्रम) ३३० लागे ।

(ए० इ० भा० ११, पृ० ४८)

मालवा के परमार राजाओं ने भी मंदिर-निर्माण कर भूमि दान में दी थी । मंदिर के लिए कर (हाटक) वसूल किया जाता था, ताकि भगवान की पूजा विधिवत् हो सके । पनहेरा अभिलेखों में परमार-नरेशों द्वारा मंदिर तैयार करने का विवरण है । धनिक नामक राजा ने उज्जैन में महाकाल देव के समीप घनेश्वर शिव का मंदिर बनवाया । दूसरे राजा मडलिक ने भी मंडलेश्वर भगवान का मंदिर तैयार किया था—

श्री महाकालदेवस्य निकटे हिमपांडुरं
श्री घनेश्वर इत्युच्यते कीर्त्तं न यस्य राजते ।

(ए० इ० भा० २१, पृष्ठ ४७)

प्रासादमयं माणेर्यं शिव एव करोति यः

(वही)

परमार राजा सिद्धराज के विषय में उल्लेख आया है कि उसने भी मंडलेश्वर शिव का आलय निर्मित कराया था, जो अत्यंत मध्य था—

रुचिरंमिमं उदार कारितं धर्मधाम त्रिदश गृहमिहं
श्री मंडलेश्वरस्य येन ।

(ए० इ० भा० ११, श्लोक ६६)

बंगाल के शासक पाल तथा सेननरेशों के विषय में भी ऐसी ही बातें उल्लिखित हैं। पालसम्राट् धर्मपाल ने नर-नारायण के मंदिर को ग्राम दान में दिए थे—

सुभरथल्यां देवकुलान् कारित सत्र प्रतिष्ठापित भगवानन्न नारस्यण
मट्टारकाय ।

(ए० इ० भा० ४, पृष्ठ २५०)

इससे अधिक नारायणपाल ने गर्व के साथ अपने को सहस्र शिवमंदिरों का निर्माता कहा है—

महाराजाधिराज श्री नारायणपालदेवेन स्वयं कारित सहस्रायतनस्य ।

(इ० ए० भा० १५, पृष्ठ ३०६)

इस वंश की विशेषता यह थी कि शासक बौद्धधर्म के अनुयायी थे। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र पर बौद्ध चक्र (धर्मचक्र) का चिह्न है तथा राजा परमसीगन पदवी से विभूषित है। उसी ने वैष्णवमंदिर का निर्माण कर दान दिया था। संभवतः यह धार्मिक सहिष्णुता का प्रभाव था कि बौद्ध शासक ने ब्राह्मण मंदिर को दान दिया। पाल के उत्तराधिकारी सेन राजा स्वयं शैव थे। अतएव, उनके द्वारा शिवमंदिर का निर्माण सगत है। देवपारा प्रशस्ति में विजय सेन द्वारा श्री पद्ममनेश्वर के मंदिर-निर्माण की चर्चा है। उस मंदिर का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

आलम्बस्तभ्यमेकं त्रिभुवनस्यैक शशं गिरीणां

स प्रद्युम्नेश्वरस्य व्यधित बसुमति वासवः सौधमुच्चै ।

(ए० इ० भा० १, पृ० ३१०)

सीलीमपुर लेख में भी (राजशाही, बंगाल) अमरनाथ स्वामी के मंदिर-निर्माण का सुंदर वर्णन मिलता है। इस भव्य मंदिर के शिरे पर कलश स्थित था तथा मंदिर के साथ सत्र की भी व्यवस्था की गई थी।

(ए० इ० भा० १३, पृष्ठ २९०)

उड़ीसा के मंदिर के विषय में भी ऐसी ही बातें ज्ञात हैं। उड़ीसा के गगवंशी नरेशों के शासन काल में इमारतें अधिक तरुणा में बनी थीं।

लिंगराज मंदिर के जगमोहन की दीवार पर एक लेख खुदा है, जिसमें वर्णन है कि राजा अनंत वर्मन चोड गंग (ई० स० १०७८-११५० ई०) ने मंदिर में दीपदान किया था। इससे प्रकट होता है कि लिंगराज मंदिर का निर्माण हो गया था। मंदिर में जो स्मारक लेख मिले हैं, उनसे मंदिर-निर्माण की तिथि का ज्ञान हो जाता है। सर्वप्रथम 'स्वप्नेश्वर' का मंदिर बना, जिसका निर्माण गंगराज अनंग-भीम तृतीय ने किया था। उसी की पुत्री चंद्रादेवी ने अनंत बामुदेव का मंदिर (१२७८ ई०) तैयार कराया। उड़ीसा में वैष्णवमत के प्रचार के पश्चात् कई मंदिर बनाए गए। लिंगराज में हरिहर की मूर्ति उसका ज्वलंत उदाहरण है।

मध्ययुगी अभिलेखों के अतिरिक्त विदेशी यात्रियों का विवरण इस बात की पुष्टि करता है कि मध्ययुग के शासकों ने मंदिरों का निर्माण किया था। सातवीं सदी का चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में अनेक मंदिरों तथा मठों को देखा था (वाटरस भा० २, पृष्ठ १८४६)। इस काल के मुसलमान यात्रियों ने स्पष्ट लिखा है कि वाराणसी तथा मथुरा में अनेक मंदिर बने थे, जिन्हें इस्लामी सेना ने नष्ट कर दिया (इलियट हिस्ट्री, भा० २)। कल्हण ने भी कश्मीर में ललितादित्य द्वारा निर्मित मंदिरों का उल्लेख किया है (राजतरंगिणी, तरंग ५)। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि उत्तरी भारत के अधिक मंदिर नष्ट कर दिए गए। किंतु, दक्षिण में उनकी पर्याप्त संख्या है।

मंदिर-निर्माण की चर्चा के अतिरिक्त देवालयों की मरम्मत (संस्कार) का भी विवरण लेखों में भरा पड़ा है। उनमें 'खंड स्फुट संस्कार' शब्दों का प्रयोग इस बात को प्रमाणित करता है कि शासक मंदिरों का जीर्णोद्धार भी पुण्यकार्य मानता था। अतएव, भूमिदान करने समय इसका (संस्कार) स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता, ताकि भूमिकर से यह कार्य संपन्न हो सके।

खंड स्फुट देवगृह जगता समरचनार्थ (इ० ए० भा० १४, पृष्ठ १६०)।

खंड स्फुटित व च हिवपतित संस्कारार्थम् (ए० इ० भा० १३, पृष्ठ ११५)

ऐषा भागास्त्रमः सत्रे खंड स्फुटित संस्कृतौ (ए० इ० भा० ३, पृष्ठ १६४)।

अवेत वराह स्वामिनो देवकृते खंड स्फुट प्रति संस्कार करणाय (ए० इ०

भा० १५, पृष्ठ १४२०)।

खंड स्फुटित संस्कारार्थ (का० इ० इ०, भा० ४, पृष्ठ १५०) ।

ऐसे अनेक उद्धरण उपस्थित किये जा सकने हैं, जिनके अध्ययन से यह प्रकट होता है कि मंदिर-निर्माण के अतिरिक्त देवालये का संस्कार (मरम्मत) भी धार्मिक कार्य माना जाता रहा । राजा, धनी तथा जनपाधारण इन कार्यों से यश एवं पुण्य लाभ करते रहे ।

परिशिष्ट १२

प्रधान भिक्षु तथा मठाधीश की परंपरा

प्राचीन भारत के स्मृति-ग्रंथों में द्विजमात्र को ब्राह्मण आचार्य के घर यानी गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने का विधान है। दान भूमि अग्रहार ग्राम में ब्राह्मण गुरु के निवास का समुचित प्रबंध था। गुरुकुल को राजा तथा अन्य धनी व्यक्ति दान दिया करते थे। इसके साथ साथ शिक्षा की अभिवृद्धि के लिए राजा किसी सस्था की भी स्थापना करता था। इस प्रकार की शिक्षा-सस्थाओं के नाम लेखों में भरे पड़े हैं। पूर्वी भारत में नालंदा, विक्रमशिला, सोमपुर, जगदल आदि शिक्षा-केन्द्रों के नाम विख्यात थे (हिस्ट्री आफ बंगाल, भा० १)। ग्यारहवीं सदी के कश्मीर में मठ शिक्षा-केन्द्र के लिए सुप्रसिद्ध थे। एक शिलालेख में (ए० इ० भा० २, पृष्ठ ७) रानी अल्हण देवी ने मठ के साथ अध्ययन-कक्ष की भी स्थापना की थी। उत्तर तथा दक्षिण भारत के अभिलेखों में अनेक उल्लेख मिलता है कि राजा ने शिक्षा सस्था के लिए दान दिया। विक्रमादित्य षष्ठ की रानी ने नगर के महाजन के पास धन को जमा कर दिया, जिसकी आय से वैदिक शिक्षा का कार्य संपन्न किया जाता था (ए० इ० भा० २०, पृ० ६७) शिवमंदिर के मठ से संबंधित सत्र तथा महाविद्यालय में धनी लोगों ने दान दिया।

दान देने की परंपरा बौद्ध भिक्षुओं के भिक्षाटन को रोकने का एक मार्ग था, जिसके कारण भिक्षु साधु सस्था (मठ) में रह कर सारा कार्य करने लगे। उन्हें नगर में जाने की आवश्यकता न रही। बुद्ध ने अपने उपदेश में भिक्षा माँगते समय शालीनता की बातें कही थीं। विहार में रहने वाले भिक्षु गाँवों में भिक्षा माँगने नित्य जाया करते थे। इसी कारण नगर से आठ-दस किलोमीटर दूर पर विहार तैयार किए गए थे, ताकि भिक्षा माँगने में कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। समयांतर में इस प्रक्रिया में दोष आने लगे। भिक्षावृत्ति में शनैः शनैः बुराईयाँ आने लगीं। बौद्ध मत में भिक्षुगण की संख्या बढ़ने लगी। इनका कार्य ब्राह्मणमत के संन्यासियों के सदृश न रहा। हजारों की संख्या में भिक्षु भिक्षुणी एक साथ निवास करते तथा सामाजिक बुराईयाँ

का विहार केंद्र बनना गया। मध्य युग के दानपत्रों की संख्या पर विचार करने से प्रकट होता है कि समाज में इस भिक्षावृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ। व्यक्तिविशेष ने भिक्षा न देकर संस्था को दान दिया गया, जिसकी आय से सभी कार्य संपन्न होने लगे। 'सत्र' की स्थापना के विषय में कहा जा चुका है। भूमिदान के अतिरिक्त नकद द्रव्य देने का भी वर्णन लेखों में मिलता है। वह धन कार्यविशेष के लिए खर्च किया जाता था। दानपत्र अभिलेख में विशिष्ट उल्लेख किया गया है कि शिक्षा संस्था में ब्राह्मण भोजन (सत्र का स्थान) तथा भिक्षुओं की आवश्यकताओं के लिए धन व्यय किया जाय। उत्तरी भारत के लेखों में 'सत्र' स्थापना के अनेक उदाहरण मिलते हैं (ए० इ० भा० ११ पृष्ठ १९२, भा० १३ पृष्ठ २९०, भा० ११ पृष्ठ ९९)।

मध्य युग की बौद्ध संस्थाओं को अनेक ग्राम दान में दिए गए थे। ह्वेनसांग ने लिखा है कि नालंदा महाविहार को दो सौ ग्राम दान में मिले थे। इस तरह के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। बौद्ध मत के तीमरे यान मंत्रयान में महासुख की कल्पना आई, जो शाक्तमत से मिलती है। इस कारण शाक्त तथा मंत्र या तंत्रयान में विभेद जाता रहा। शिव-शक्ति के मिलन की भावना सर्वत्र फैल गई। इस दार्शनिक विचार का लौकिक रूप बौद्धों के गुह्य समाज में पाते हैं। अतः, शाक्तमत की प्रधानता के कारण सभी विहार के निवासी प्रमुख भिक्षुगण आध्यात्मिक तथा शैक्षिक विषयों को छोड़ सामाजिक विषयों में लीन हो गए। विहार को दान दी गई अग्रहार भूमि को उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया। यद्यपि पहले से ही उन व्यक्तियों को भूमि का प्रबंध करना था और मठ के संबंध में सारा कार्य-भार उन लोगों के सिर पर था। किंतु, कालांतर में स्थिति बदल गई। व्यक्तिगत पद का लाभ उठाकर समस्त धन (भूमि या नकद) को अपने हाथ में कर विहार (मठ) के स्वामी बन बैठे। मठ की प्रबंध समिति के प्रमुख पदाधिकारी होने के नाते सभी स्थानों तथा लोगों अथवा भिक्षुओं पर उनका दबदबा था। अतएव, स्वामी बन जाने पर किसी रूप में विरोध न हो सका। इस कार्य में शताब्दियां लग गईं। बौद्ध महाविहार मुसलमानों के हाथों नष्ट कर दिए गए, परंतु उनसे संबद्ध संपत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। प्रधान अधिकारी उसे अपनी संपत्ति मानकर (नाममात्र का प्रबंधक कहला कर) मठाधीश के रूप में कार्य करने लगा। वही बौद्ध कार्यपद्धति ब्राह्मण साधुओं के लिए लाभकारी सिद्ध हुई। तंत्रयान, शाक्तमत या शैवमत ऐसा मिश्रित धर्म बन गया, जिसमें विभेद करना कठिन हो गया। शैव साधु तथा तंत्रयानी भिक्षुओं में अंतर जाता रहा। आज भी प्रा०—२३

नेपाल में शैव तथा बौद्ध सभी आगस की पूजा-पद्धति में समानता रखते हैं।

मठ का प्रमुख मठाधीश या महंथ कहलाया। बोधगया के महंथ भी उसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। अधिकतर शिक्षा विद्यालयों में भिक्षुगण के भोजनादि का प्रबंध था। सत्र की स्थापना हो चुकी थी, उसी रीति से मठ भी काम करने लगे। मठाधीश संस्कृत पाठशाला में ब्रह्मचारियों को शिक्षा देता है। सत्र में साधुगण भोजन पाते तथा निवास करते हैं। बिहार प्रदेश का नाम ही बौद्ध विहारों के कारण पड़ा। इसलिए मठों की संख्या इस भू-भाग में अधिक है। वही प्रणाली मंदिरों के सत्रध में भी काम करती रही। मंदिर में दान देना स्वर्गप्राप्ति का मार्ग था। मंदिर का प्रधान पुजारी सारी संपत्ति का स्वामी है तथा पूजन आदि का प्रबंध करता है। मंदिर के महंथ तथा मठ के महंथ या मठाधीश में कोई अंतर नहीं है। शिक्षा के लिए दान या मंदिर के देवता के लिए दान भूमि का स्वामी महंथ ही समझा जाता है। महंथ शब्द महंत का अपभ्रंश है। उसका अर्थ है (मह् + जच्) किसी पद का मुख्याधिष्ठाता। महंथ या मठाधीश एक ही भाव के दो समानार्थक शब्द हैं। भारत में बौद्ध परंपरा के दोष मध्ययुग के पश्चात् स्रष्ट हो गए। वर्तमान काल में मठाधीश (महंथ) शैवमतानुयायी माने जाते हैं; क्योंकि तत्रयान शैव (शाक्त) मत में विलीन हो गया। शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त कर मठों की स्थापना की। उस विचारधारा के कारण समस्त प्राचीन विहार यानी मठ शैवमतानुयायियों के अधिकार में आ गए।



प्राचीन इमारतों की तालिका

भारत में पुरातन्त्र विभाग के कार्यों के प्रसंग में जो खोज होती रही, उससे इमारतों (Monument and Structural Buildings) का पता लगता रहा। जितनी इमारतों का परिज्ञान हुआ है, उनको दो विभागों में बाँटा जा सकता है —

(अ) पर्वतों को खोद कर (Excavated) इमारतें तैयार की गई थी, जिन्हें गुहा का नाम दिया गया है। गुहा को (१) विहार (२) चैत्य का नामकरण कार्यों के अनुसार किया गया है। उनकी अभी तक पर्याप्त रूप से सुरक्षा हो सकी है। बबई के समीप एलिफेन्टा नामक गुहा को पुर्तगाली लोगों ने थोड़ा नुकसान पहुँचाया था।

(ब) वे इमारतें जो विभिन्न प्रकार की सामग्रियों (मिट्टी, ईंट, प्रस्तर लकड़ी) को जोड़कर (Structural form) बनायी गईं। उनमें प्राचीन स्तूप, मध्यकालीन विहार तथा मंदिरों की गणना होती है। इन इमारतों की दशा बहुत अच्छी नहीं है। भौगोलिक परिस्थिति के कारण जलवायु का हानिकारक प्रभाव पड़ता रहा है। महाबलिपुरम् का तट मंदिर (Shore temple) सामुद्रिक हवा के कारण नष्ट हो रहा है। वास्तविक स्वरूप का अनुमान करना कठिन है। कश्मीर के मार्तण्ड मंदिर का खाका तथा कोणार्क सूर्यमंदिर की योजना पूर्णतः (समझना कठिन है) दृष्टिगत नहीं है। दूसरा प्रमुख कारण यह था कि इस्लामी आक्रमणों के कारण इमारतें नष्ट होती गईं। उसका प्रभाव उत्तरी भाग में अधिक हुआ। इस कारण भारत के उत्तरी भाग में प्राचीन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं। दक्षिण भारत के मंदिर सुरक्षित हैं। ईंट-प्रस्तर जोड़ कर जो विहार बनाए गए थे, सभी प्रायः मलबे के भीतर से निकाले गए हैं। तक्षशिला, सारनाथ, सोमपुर तथा नालंदा विहारों के नाम लिए जा सकते हैं। समतल भूमि पर निर्मित स्तूप भी राजनैतिक कारणों से भग्न अवस्था में देखे जाते हैं। धर्मराजिका स्तूप (सारनाथ) के कुछ अवशेष प्रकाश में आए हैं। उसी स्थान पर धमेक स्तूप, आज भी स्थित है।

भारत में दो प्रकार की इमारतें बनने का धार्मिक कारण था । वैदिक-कालीन इमारतें तो प्रकाश में नहीं आई हैं, अतएव उनके संबंध में कहना कठिन है । बौद्धयुग के आरंभ में भिक्षुओं के स्थायी निवास के लिए पर्वत खोदकर गुहा बनाए गए, जहाँ भिक्षु अध्ययन-अध्यापन करता तथा समीप के ग्रामों में भिक्षा मांग कर वापस चला जाता था । नगर से दूर शांत वातावरण के लिए गुहा उपयुक्त थे । लेकिन, यह सदा के लिए उपयोगी न रह सका । गुप्तकाल से समतल भूमि पर निवास के लिए विहार निर्मित हुए । नालंदा के महाविहार के भग्न होने पर भी उसके नमूने दीख पड़ते हैं । मध्ययुग के शासक इमारतों की मरम्मत के लिए धन देते रहे । अतएव, दानपत्रों में खंडस्फुट समरचनार्थ वाक्य का प्रयोग हुआ है । कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल से मध्ययुग तक जितनी इमारतें बनी या खोदी गईं, उनका ज्ञान किमी-न-किसी अंश में है । अतएव पाठकों की जानकारी के लिए उनकी तालिका उपस्थित की जा रही है—

नाम	स्थान
अंकोरवट मंदिर	कंबुजदेश
अवेरा मंदिर	विदिसा, मध्य प्रदेश
अर्जुन रथ	महावलिपुरम्, तामिलनाडु
अम्रनाथ मंदिर	थाना, बंबई
अमृतेश्वर	अहमदनगर, आंध्र प्रदेश
अवंतिस्वामी मंदिर	कश्मीर
अशलगढ़ मंदिर	राजस्थान
आदिनाथ मंदिर	दिलवारा, राजस्थान
आश्चर्य विहार	कूचा, मध्य एशिया
ओसिया जैनमंदिर	जोधपुर, राजस्थान
उदयगिरी गुहा मंदिर	विदिसा, मध्य प्रदेश
उदयेश्वर मंदिर	उदयपुर, राजस्थान
ऋषभदेव मंदिर	जोधपुर
एकाग्रनाथ मंदिर	कांची, तामिलनाडु
एकलिंग महादेव	उदयपुर, राजस्थान
ऐरावतेश्वर	दारासुरम्, मैसूर
ऐहोल मंदिर	बीजापुर, मैसूर

कडर मंदिर	काठियावाड़
कलसन मंदिर	जावा, द्वीप
कंदरिया महादेव	खजुराहो, मध्य प्रदेश
कांगरा मंदिर	उत्तर प्रदेश
कारंगनाथ मंदिर	त्रिचनापल्ली, तामिलनाडु
कामाक्षी मंदिर	कांची, तामिलनाडु
कालेश्वर मंदिर	हैदराबाद, आंध्र प्रदेश
कालिका मंदिर	चित्तोडगढ़ राजस्थान
काशी विश्वनाथ	बीजापुरम्, आंध्र प्रदेश
काशी विश्वेश्वर	लुकडी, मैसूर
कुंभकोतम्	केरल
कुरुवट्टी मंदिर	घारवार, मैसूर
कृष्णमंदिर	पाटना, नेपाल
कृष्णमंडप	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
केदारेश्वर मंदिर	मैसूर
केशवमंदिर	सोमनाथपुर, मैसूर
केशवमंदिर	मैसूर
केशवनारायण	अमरकंटक, मध्य प्रदेश
केदारनाथ	कागड़ा, उत्तर प्रदेश
कोमेलीपुरम्	तामिलनाडु
कोटेश्वर मंदिर	पथरी, राजस्थान
खंबा बाबा (ध्वंस)	विदिसा, मध्य प्रदेश
गडग मंदिर	मैसूर
गणेश रथ	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
गलगनाथ	बीजापुर
गोप मंदिर	काठियावाड़
गोपीनाथ	बृंदावन
गोमती बिहार	खोतान, मध्य एशिया
गोविंद देवी	बृंदावन
गोडेश्वर मंदिर	नासिक, महाराष्ट्र
चनुर्भुज मंदिर	खजुराहो, मध्य प्रदेश

चंद्रनाथ मंदिर	केरल
चन्नकेशव मंदिर	मैसूर
चिदंबरम् मंदिर	केरल
चेना मंदिर	बेलूर, बंगाल
चैतन्य मंदिर	गुहापारा, बंगाल
चैमुख मंदिर	काठियावाड़
चौमुखी मंदिर	जोधपुर
चौसठ योगिनी मंदिर	भरोघाट, जबलपुर
चौसठ योगिनी	ललितपुर, उत्तर प्रदेश
चौसठ योगिनी	खजुराहो, मध्य प्रदेश
जगदबा मंदिर	उदयपुर, राजस्थान
जंबूलिंग मंदिर	बीजापुर, मैसूर
जंबूकेश्वर मंदिर	श्रीरंगम् (त्रिची)
बागेश्वर मंदिर	जोधपुर
जीबनाथ मंदिर	खजुराहो, मध्य प्रदेश
जुगलकिशोर मंदिर	वृंदावन, उत्तर प्रदेश
जैनमंदिर	बीजापुर
जैनमंदिर (लोकिगुंडी)	घारवार
डामर मंदिर	झालरापटन, राजस्थान
डोडा वासप्पा मंदिर	उत्तर मैसूर
सटमंदिर	महाबलपुरम्, तामिलनाडु
ताडपत्री	तामिलनाडु
त्रिपरियार मंदिर	त्रिचूर
त्रिविक्रमगलम्	केरल
तिरुवेनकट स्वामी	वहीं
तुलजा लेण	जूनार, पूना
तेलकुची	मानभूमि, बिहार
तेजपाल	आबू पर्वत, राजस्थान
तेली का मंदिर	ग्वालियर
त्रैलोकेश्वर	पट्टादकल, मैसूर
दिमल मंदिर	गुजरात
दिलवाड़ा मंदिर	गुजरात

दुर्गामंदिर	अलमोड़ा
देवी जगदंबा	खजुराहो, मध्य प्रदेश
देवी दुर्गा मंदिर	नेपाल
दैत्य सुंदर	बरार, आंध्र प्रदेश
द्रौपदी रथ	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
धर्मराज मंडप	वही
धर्मराज रथ	वही
नकुल-सहदेव रथ	वही
नवलखा मंदिर	काठियावाड़
नटराजमंदिर	चिदवरम्, अरकाट, तामिलनाडु
नरसिंह मंदिर	एरण, सागर, मध्य प्रदेश
नाथनाथ मंदिर	हैदराबाद, आंध्र प्रदेश
नीलकण्ठेश्वर मंदिर	ग्वालियर
वही	खानदेश
नीलकण्ठेश्वर महादेव	जोधपुर
नेमिनाथ मंदिर	आबू, राजस्थान
वही	कुंभारिया, राजस्थान
पङ्कथन मंदिर	कश्मीर
पंचपांडव	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
पतन का शिवमंदिर	कश्मीर
पद्मनाभ स्वामी	त्रिवेंद्रम्, केरल
परशुरामेश्वरम्	गुड्डिमलम्
परिहासपुर	श्रीनगर, कश्मीर
पहाडपुर मंदिर	राजशाही, बंगाल
पशुपतिनाथ	नेपाल
पाटलेश्वर	रोवा, मध्य प्रदेश
पापनाथ	बीजापुर
पार्श्वनाथ	कुंभारिया, राजस्थान
वही	खजुराहो, मध्य प्रदेश
वही	आबू, पर्वत
पिपलिया	बिहिसा, मध्य प्रदेश
पीपलादेवी	जोधपुर
पेंगन	बर्मा

बेहलारा	बांकुड़ा, बंगाल
बोधनाथ	नेपाल
भीमेश्वर मंदिर	गजाम, उड़ीसा
मच्छेन्द्रनाथ मंदिर	नर्मदा तट, मध्य प्रदेश
मदनमोहन	वृंदावन, उत्तर प्रदेश
मनकेश्वर मंदिर	नासिक, महाराष्ट्र
मल्लिकार्जुन मंदिर	बीजापुर
महाकूटेश्वर मंदिर	वादासी
महादेव मंदिर	कुलुघाटी, काश्मीर
वही	हैदराबाद
महादेव मंदिर	थाना, बंबई
वही	नासिक महाराष्ट्र
महावीर मंदिर	ओमिया, राजस्थान
महिषासुर मंडप	महावलिपुरम्, तामिलनाडु
महेश्वर मंदिर	खानदेश
मृत्युंजय मंदिर	खजुराहो, मध्यप्रदेश
मातंगेश्वर मंदिर	कांची, तामिलनाडु
मार्तण्ड मंदिर	कश्मीर
मानकेश्वर	नासिक, महाराष्ट्र
मीनाक्षी मंदिर	मदुरै, तामिलनाडु
मुक्तेश्वर मंदिर	कांची, तामिलनाडु
वही	धारवाड़
वही	चंददामपुर, मैसूर
मेगुती	ऐहोल, मैसूर
मुखलिंगेश्वर मंदिर	गजाम, उड़ीसा
राधावल्लभ मंदिर	वृंदावन उत्तर प्रदेश
रामानुज मंडप	महावलिपुरम्
रामेश्वर गुहा	अजता, आंध्र प्रदेश
रागेश्वर मंदिर	तामिलनाडु
रुद्रमल्ल मंदिर	गुजरात
लक्ष्मीदेवी मंदिर	मैसूर
लक्ष्मण मंदिर	सिरपुट

बंददेबल	रामपुर, मध्य प्रदेश
बदरीनाथ मंदिर	कांगड़ा, उत्तर प्रदेश
बराह मंडप	महाबलिपुरम्
बराहमंदिर	एरण, मध्य प्रदेश
बही	कडवार, गुजरात
बराकर मंदिर	बर्दवान, बंगाल
बृहदेश्वर मंदिर	तंजौर
ब्रह्मा मंदिर	खजुराहो मध्य प्रदेश
वामन मंदिर	वही
बानगढ़ मंदिर	कश्मीर
विठ्ठलदेव मंदिर	भुवनेश्वर, उड़ीसा
वही	हम्पी
विजयेश्वर मंदिर	मैसूर
विजयालय	तामिलनाडु
विमलशाह मंदिर	दिलवाड़ा, राजस्थान
विराटेश्वर मंदिर	रीवा, मध्य प्रदेश
विरुपाक्ष मंदिर	बीजापुर
विरंजापुरम्, मंदिर	तामिलनाडु
विलेश्वर मंदिर	काठियावाड़
विश्वनाथ मंदिर	रीवा, मध्य प्रदेश
वही	खजुराहो, मध्य प्रदेश
विष्णु मंदिर	बाकुड़ा, बंगाल
वही	बरार, आंध्र प्रदेश
वही	एरण, मध्य प्रदेश
बुचेश्वर मंदिर	मैसूर
बेलोर मंदिर	तामिलनाडु
बैकुंठ परमल्लमंदिर	काची, तामिलनाडु
वैजनाथ मंदिर	कांगड़ा, उत्तर प्रदेश
वैजनाथ ,,	रीवा, मध्य प्रदेश
धोरोबुद्धर (स्तूप)	जावा द्वीप
संगेश्वर मंदिर	बीजापुर, मैसूर
सच्चिदा माता	जोधपुर

सचदेवालिया मंदिर
 सतधारा
 सहस्रवद्ध गुफा
 सासबहू का मंदिर
 स्वयंभूनाथ
 सिद्धेश्वर मंदिर
 सिद्धेश्वर
 सिंहचलम्
 श्रीर गम्
 सुंदरेश्वर मंदिर
 सुमेश्वर मंदिर
 सूर्यमंदिर
 वही
 सुगढ सूर्यमंदिर
 सोनारी स्तम्भ
 सोमनाथ मंदिर
 सोमेश्वर मंदिर
 सोमेश्वर मंदिर
 शंकराचार्य मंदिर
 शचीद्रम् मंदिर
 हजाराराम मंदिर
 हरिहर मंदिर
 होयसलेश्वर मंदिर

बर्दवान, बंगाल
 सांची, मध्य प्रदेश
 तुयेनह्वाग, मध्य एशिया
 ग्वालियर
 नेपाल
 धारवार
 बाकुड़ा, बंगाल
 वाल्टेयर, आंध्र प्रदेश
 त्रिची, तामिलनाडु
 मदुरै, तामिलनाडु
 बीजापुर
 ओसिया, राजस्थान
 बरौदा
 मधेरा, गुजरात
 सांची (मध्य प्रदेश)
 गुजरात
 धारवार
 जोधपुर
 कश्मीर
 केरल
 विजयनगर, हुम्पी
 ओसिया, राजस्थान
 हेलविद, मैसूर



हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली

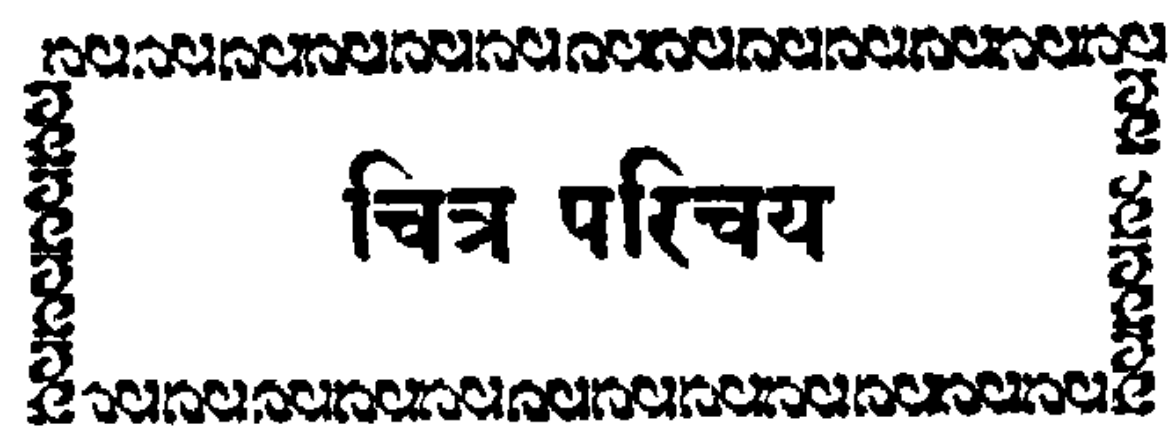
अग्रभाग	Ecceade
अंगशिखर	Miniature Tower
अंड	Spherical part of Stupa
अंतराल	Antichamber
अतिमानवीय	Super Human
अधिष्ठान	Base
अर्द्धमंडप	Hall before Shrine
अर्द्धस्तंभ	Pilaster
अर्द्धवृत्ताकार	Apsidal
अधिरचना	Super Structure
अयथार्थ गुहा	False Cave
अश्वनालाकार	Horse-shoe Shape
अष्टभद्र	Stellate or Star Shape
अष्टदिक्पाल	Guardians of 8 Directions
आदमकद	Life-size
आदर्श रचना	Pattern
आधारभूत	Basal
आमलकशिला	Amalaka
आयताकार	Oblong
आर्यक	Worshipful
उरुशृंग	Half Turret
एकाक्षम	Monolithic
कलसी	Finial
कणाक्षम	Granite

कक्ष	Zone
कपोत	Cornice
कोटर	Socket
कोठरी	Cell
कुंड	Ornamental Arch
खराद	Lathe
खांचा	Chases
खेमा	Tubernacle
गलियारा	Vestibule, Corridor
गढना	Moulding
गुंबद	Dome
गूढ मंडप	Vestibule
गृहशिखर	Gable
गोपुरम्	Monumental gateway
ठोस पाद	Stereobate
ड्योढी	Porch
डंडा	Shaft
ढलाई	Moulding
चंक्रम	Walking Place of the Buddha
चित्रवल्लरी	Frieze
चेतिय	Stupa
चैत्य	Hall with Stupa
छत्र	Buddhist Umbrella
जगमोहन	Audience Hall
जयस्तम्भ	Tower of Victory
जरदोजी	Cloister
जैविक	Biological
ताल	Recess
तारा आकार	Stellate
तारा प्रकार	Cruciform
त्रिरथ	Structure having three pilasters
तोरण	Gateway
दगोवा	Stupa

देवल	Temple
दासा	Stylobate
दीर्घा	Gallery
दीवारगौर	Bracket
द्वारमंडप	Porch
धातु-गर्भ	Relic Chamber
नटमंडप	Dancing Hall
नंदीमंडप	Pavellion over Sacred Bull
नतोदर	Concave
निधानपात्र	Recepticle
निम्न उद्भूत	Base Relief
न्यासी	Trustee
नवग्रह	Nine planets
पैगोडा	Tall structure in several stories
पट्टी	Band
परिष्कृत	Sophisticated
परिरेखा	Contour
पक्ति	Tier
पंचायतन	Five Shrines
प्रक्षेपण	Projection
प्रदक्षिणा-पथ	Ambulatory
प्रकारम्	Open Court-yard
पाद	Foot of Temple
पाया	Pier
पार्थिव	Temporal
प्राकृत आकार	Life-size
पादांग अथवा बंडेरी	Architrave
पार्श्ववीथी	Aisles
पीठिका	Pedestal
पुरावशेष	Artifact
पुष्पासन	Torus
पुश्ता	Buttress
पूर्णकलश	Pot and foliaze

बत्सा	Shaft
व्यास	Gryphone
बलिमंडा	Hall (Chalukyan)
बहिर्रेखा	Out line
बुर्ज	Tower
बेलनाकार	Cylinder
भद्र	Flat face of Shikhar
भट्टवृत्ति	Maintenance
भित्तिचित्र	Fresco or Mural Painting
भित्तिस्तंभ	Pilaster
भोगमंडप	Worthiful hall
मठ	Monastery
मंडप	Pillared Chamber
मध्यबीथी	Nave
मानवाकृति	Anthropomorphic form
मीनार	Tower
मुंडेरा	Parapet
मूलभाव	Key note
मूलरूप	Prototype
मेघि	Terrace
मेहरावदार	Vaulted
यष्टि—बौद्ध	Shaft, Stick Pole
यक्ष	Semi—divine being
रचना	Composition
रथ	Monolithic shrine
रथ	Projection of temple
राहपग	Central projection
रेखा	Curvilinear portion of Shikhar
रूपरेखा	Out line-Design
रेखा देवल	Towered Sanctuary
लबी धारी	Fluted design
बलभि	Gable form
विमान	Tower over Shrine

विहार (मठ)	Cloister
वेदिका	Railing of Stupa
शबकक्ष	Arched Roof
शंकुरूप	Conical
शादूल	Gryphone
शिखर	Tower
शिरस	Capital
शुंजाकार	Pyramidal
शृंग	Cupola
शृंग	Quarter Sikhar
श्रेणी	Guild
शोभायात्रा	Pageant
संग्रहित	Composite
संघाराम	Monastery
स्तंभावलि	Colonaded
स्तूप	Tumulus
स्तूपिका	Finial
सप्तरथ	Structure with Seven Pilasters
सभामंडप	Assembly Hall
समाधि	Shrine
स्मारक	Relic
समाकृति	Configuration
सलिलातर	Recesses
स्वस्तिकाकार	Cruciform
सामना	Facade
शिखात	Finial
सिंहस्तंभ	Lion Pillar
सुच्याकार	Pyramidal
सूची	Cross Bar
हरमिका	Flat roof of Stupa



चित्र परिचय

चित्र-परिचय

फलक १ तथा फलक २

दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सूत में भगवान बुद्ध के जीवन की अंतिम घटनाओं का विशद् वर्णन मिलता है। उसमें चार विभिन्न बातों पर जोर दिया गया है—

- (१) भगवान बुद्ध तथा आनंद का वार्तालाप,
- (२) कुशीनारा के मरुतो का आगमन
- (३) आनंद तथा अनिरुद्ध के वथनोपकथन और
- (४) निर्वाण, दाह-संस्कार तथा भस्म का बंटबारा।

भगवान बुद्ध कुशीनारा पहुँच कर आनंद से वार्तालाप करने लगे तथा आनंद के पूछने पर उन्होंने चक्रवर्ती राजाओं के दाह-संस्कार के विषय में बतलाया। बुद्ध ने बतलाया कि चक्रवर्ती के मरने पर शव को नए वस्त्र में लपेट कर ऊनी कपड़ से ढँक देते हैं। इस प्रकार पचास बार नए वस्त्र में उस मृत शरीर को लपेटते चले जाते हैं। तत्पश्चात् चक्रवर्ती राजा के शव को लोहे के तेल भरे बर्तन में डुबो देते हैं। दाह-संस्कार के निमित्त सुगंधित द्रव्यों सहित लकड़ी की चिता बना कर जलाते हैं। उस महान राजा के अंतिम अवशेष (राख) को चौराहे पर स्मारक बनाकर सुरक्षित रखते हैं। आनंद को भगवान ने बतलाया कि इसी तरह तथागत के भस्म का भी प्रबंध करना चाहिए। इन बातों को सुन कर तथा भगवान के परिनिर्वाण की घटना को सोच कर आनंद अत्यंत दुखी हुए। उन्होंने समीप के विहार में जा कर सभी बातें कह सुनायीं। विहार के भिक्षुगण मृत्यु या निर्वाण को अवश्यभावी समझ कर पारस्परिक रूप में समझाने लगे। बुद्ध ने आनंद को शरीर के नष्ट होने की बातें बतलायी तथा दुखी न होने को कहा। कहने लगे कि आनंद तुम्हें सभी भिक्षु-भिक्षुणी को उपदेश देना चाहिए। भारत के प्रसिद्ध स्थानों—चंपा, राजगीर, श्रावस्ती, सावेत, कोशांबी तथा वाराणसी में कहीं तथागत का परिनिर्वाण होगा। प्रश्न यह था कि कौन तथागत के अवशेष का स्वागत कर सकेगा तथा उसकी प्रतिष्ठा करेगा ?

महासुदासन नाम के सम्राट् की प्रसिद्ध नगरी कुशीनारा थी । अतः, इसी स्थान को परिनिर्वाण का स्थान चुना गया ।

आनंद ने कुशीनारा जाकर मल्लों को रात्रि में भगवान के निर्वाण होने की घटना की जानकारी दी । उन्होंने मल्लों की सभा में जाकर यह बतलाया और सभी बाल-बच्चे, स्त्री-पुरुष तथागत के समीप आए । इतनी बड़ी संख्या में लोगो ने भगवान का दर्शन करना चाहा । आनंद ने एक परिवार के पश्चात् दूसरे, तीसरे परिवार को बुद्ध के संमुख उपस्थित किया । सभी ने उनकी बंदना की । भगवान ने उपदेश किया और कहा कि कोई मन की शंका हो, तो प्रश्न करो । सभी चुप रहे । बारंबार पूछने पर किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया, तो आनंद ने बतलाया कि सभी को तथागत में पूरी आस्था है । उपदेशो में विश्वास है । भगवान ने अंत में कहा—शरीर नश्वर है तथा इसके तत्त्व विनष्ट हो जाते हैं । सभी को निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए ।

तथागत की मृत्यु के अवसर पर भयंकर आवाज हुई, पृथ्वी डोलने लगी तथा बिजली कड़कने लगी । आनंद ने अनिरुद्ध से पूछा, क्या होना चाहिए ? अनिरुद्ध ने विहार के भिक्षुगण को शांत किया । रोने के लिए मना किया । रुदन से तथागत की आत्मा को दुःख होगा, ऐसी बातें अनिरुद्ध से कह सुनायी । परिनिर्वाण के पश्चात् पूरी रात आनंद तथा अनिरुद्ध धार्मिक प्रवचन करते रहे । सुबह कुशीनारा के मल्ल की सभा में इस घटना को सुनाया गया । वे लोग सुगंधित सामग्री, पुष्प लेकर सालवन में गए, जहाँ तथागत मृत्युशय्या पर पड़े थे । सभी ने श्रद्धांजलि अर्पित की । सुगंधी, माला तथा संगीत के साथ दूसरे दिन शव का दाह-संस्कार किया गया । महान चक्रवर्ती की मृत्यु के समान मंत्रों का पाठ, संगीत, प्रदर्शन और सजावट आदि संपन्न कर शव को जलाया । महापरिनिर्वाण सूक्त में कहा गया है कि दक्षिण दिशा से शव को ले जाने पर चिता में आग जल न सकी । अनिरुद्ध के कहने पर उत्तर तथा पूर्वी मार्ग से तथागत के शव को ले जाने एवं भिक्षु महाकस्यप की उपस्थिति से चिता जल उठी । इससे पूर्व भगवान ने जैसा बतलाया था, उसी प्रकार वस्त्रों से लपेट कर तेल में रख कर दाह-संस्कार किया गया ।

बुद्ध के अंतिम अवशेष को मल्लो ने कुशीनारा के सभामंडप में सात दिनों तक पूजा-प्रतिष्ठा की । उस अवधि में खुशियाँ मनाते रहे तथा श्रद्धांजलि

अर्पित करते रहे । इस घटना की खबर राजगीर पहुँची । मगध के सम्राट अजातशत्रु ने कुशीनारा के मल्लों के पास मंदेश भेजा कि भगवान् क्षत्रिय थे, वह भी क्षत्रिय हैं । अतएव, अवशेष का भाग अजातशत्रु को भी मिलना चाहिए । उसी प्रकार लिच्छवि तथा अन्य शासकों ने भी कुशीनारा के मल्लों के पास एक ही तरह की खबर भिजवायी । उनके नाम हैं—

- (१) राजगीर का अजातशत्रु,
- (२) वैशाली के लिच्छवि,
- (३) कपिलवस्तु के शाक्य,
- (४) अलकपुत्र के बुलि,
- (५) रामग्राम के कोलिया,
- (६) वेददीप के ब्राह्मण,
- (७) पावा के मल्ल और
- (८) पिप्पलिवन के मौरिय ।

सभी शासकों का दावा था कि बुद्ध के अंतिम अवशेष उसे मिलना चाहिए । इसी कारण समस्त राजघरानों में झगड़ा खड़ा हो गया । इस झगड़े का प्रदर्शन साची के पश्चिमी तथा दक्षिणी तोरण की बंडेरियों पर किया गया है । फलक १ के मध्य में कुशीनारा का राजमहल है, जिस पर अन्य राजाओं ने सेना के साथ आक्रमण कर युद्ध आरंभ कर दिया है । बायी तथा दाहिनी ओर निचले भाग में हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सैनिक तीर चला रहे हैं और महल के ऊपरी भाग से भी उत्तर में तीर फेंका जा रहा है । इसी फलक के ऊपरी भाग में हाथियों के सिर पर छोटा बाक्स रखा है, जिस पर छत्र दीख पड़ता है । यानी बाक्स किसी चक्रवर्ती नरेश या महान व्यक्ति से संबंध रखता है । छत्रधारण किए पीलवान जा रहा है । इसका भाव यह है कि भस्म के लिए आठ शासकों में जो झगड़ा खड़ा हुआ था, वह शांत हो गया । उसका आठ भागों में बँटबारा हो गया । हाथी उसी भस्मपात्र को लेकर जा रहे हैं । उस पात्र को चँवर से हवा की जा रही है । जिस प्रकार राजा हाथी पर चलते हैं, तो छत्र तथा चँवर लिए नौकर रहते हैं, उसी भाव को लेकर महान योगी तथागत के भस्मपात्र को छत्र के नीचे तथा चँवर सहित पीलवान ले जा रहा है । पहले फलक तथा दूसरे फलक का एक साथ ही अध्ययन करना चाहिए । फलक दो के बायी ओर कुशीनारा का राजमहल है तथा उसी के दाहिने वृक्ष (बोधिवृक्ष) की आकृति बनी है । वृक्ष भगवान् बुद्ध का प्रतीक है । उसकी स्थिति यह बतलाती है कि कुशीनारा में

तथागत का निर्वाण हुआ, जिसकी राख (शरिर) के लिए युद्ध आरंभ हो गया था। इसके निचले भाग में भी अश्व, हाथी और पैदल सेनानी दीख पड़ते हैं। ऊपरी भाग में हाथियों के सिर पर छत्र चँवर सहित भस्मपात्र दिखलायी पड़ता है। चक्रवर्ती बुद्ध के अवशेष की जो कथा महापरिनिर्वाण सूत में कही गई है, उसी का प्रत्यक्ष प्रदर्शन इन फलकों में किया गया है। ऐसा प्रदर्शन अन्यत्र नहीं मिलता।

विद्वानों का मत है कि दक्षिणी तोरण पर पहले भस्मपात्र के युद्ध का प्रदर्शन किया गया था। जिस कलाकार ने उसे खोदा, वह पश्चिमी तोरण के प्रदर्शन के समय मौजूद न था। दक्षिणी तोरण की बंडेरियों पर सैनिकों में जीवनशक्ति तथा बल का संचार जात होता है। पश्चिमी तोरण पर सैनिकों के चेहरों पर नारीत्व भाव प्रकट हो रहे हैं। उनमें बल, तेज तथा उत्साह का अभाव-सा है। तात्पर्य यह है कि दोनों तोरण विभिन्न समय पर तथा विभिन्न हाथों द्वारा खोदे गए थे। इन फलकों में युद्ध तथा शानि के वातावरण दिखलाए गए हैं।

फलक ३

महापरिनिर्वाण सूत में जिन आठ शासकों ने तथागत के अवशेष (भस्म) के लिए दावा किया था, उनमें वैशाली के लिच्छवि का भी नामोल्लेख है। इनका कथन था कि भगवान् बुद्ध क्षत्रिय थे तथा लिच्छवि क्षत्रिय है, अतएव शव के भस्म का भाग उन्हें मिलना चाहिए। जैसा फलक एक तथा दो में दिखलाया गया है, शासकों को उसका भाग मिला। सभी ने उस भस्मपात्र के ऊपर स्मारक स्तूप बनवाया। वैशाली में भी स्तूप बना, ऐसी धारणा है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने वर्णन किया है कि उन सभी स्तूपों को अशोक ने खुदवा डाला और उनमें से धातु के कुछ अंश को लेकर चौरासी हजार स्तूप बनवाए। ह्वेनसांग ने वैशाली स्तूप के विषय में लिखा था कि वह राजा विशाल के गढ़ (दुर्ग) से उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित था। डॉ० अलतेकश ने उसी आधार पर एक टीले की खुदाई करायी, जिसके भीतर अवशेष की डिबिया मिली। फलक तीन में डिबिया के दोनों भाग स्पष्ट हैं। एक में राख अल्प मात्रा में (नाममात्र) प्राप्त हुआ है। उसके परीक्षण (कारबन १४ डेटिंग) के लिए न भेजा जा सका; क्योंकि अल्पमात्रा में वह कार्य संभव न था। परंतु उस अवशेष को तथागत के मूल राख का अंश मानने में संदेह नहीं किया जा सकता।

फलक ४

बुद्ध की धातु को डिविया में रखकर स्तूप बनाए गए थे। चीनी यात्री के कथनानुसार अशोक ने उनका अल्प अंश ग्रहण कर हजारों स्तूपों का निर्माण किया था। उसके पश्चात् जितने स्तूप बनाए गए, सभी में धातु का भाग है, यह संदेहात्मक है। वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। अभिलेखों में वर्णन आता है, परंतु वह विवादास्पद विषय हैं। फलक चार के मध्य में सांची का स्तूप है। परंतु, कालांतर में उपासकों ने मनीषी स्तूप बनाना आरंभ किया, जो मुख्य स्तूप के चारों तरफ बनाए जाते थे। इनमें भी मध्य स्तूप के चारों तरफ स्तूपाकार बनावट छोटे चबूतरों पर बनी दीख पड़ती है। सभी मनीषी या पूजास्तूप (Votive Stupa) हैं। इसका अर्थ यह है कि उपासक मनोवांछित फल प्राप्ति के लिए पूजास्तूप बनाने लगे। ब्राह्मण मतों में भी इसका अनुकरण किया गया और शिवमंदिर के मण्डप में हजारों निगमूर्तियाँ स्थापित दृष्टिगत होती हैं।

फलक ५

इस चित्र में सांची के तोरण का वास्तविक रूप दिखनाया गया है। यह विदित है कि तोरण के चार विभाग थे—

- (१) स्तंभ (Pillar post)
- (२) अयथार्थ शीर्ष (False Capital)
- (३) बंडेरियाँ (Architrava) और
- (४) चक्र तथा त्रिरत्न की आकृतियाँ।

तोरण के स्तंभ उत्तर-मौर्यकालीन माने जाते हैं; क्योंकि मौर्य स्तंभ सदा एकाक्षर गोलाकार एवं लेप सहित (Polished) होता था। जैसा सारनाथ तथा कोशाबी या चपारन के स्तंभ। सांची तोरण के समीप में ही अशोकस्तंभ भी स्थित है, जिसके परीक्षण से सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। चौमहल स्तंभ शुंगकाल से प्रारंभ हुआ तथा सांची के समीप में खबा बाबा (विदिता, बेसनगर गरुड़स्तंभ) का स्तंभ कोणयुक्त है (गोलाकार नहीं)। इस स्तंभ की आकृति से उसकी तिथि ज्ञात हो जाती है। सांची के तोरण ईसापूर्व द्वितीय शती में निर्मित हुए और वह भी एक साथ नहीं। स्तंभ से बेष्टनी का कोई लगाव नहीं है, जिसके देखने से यह धारणा हो जाती है कि तोरण वेदिका के बाद बनाए गए थे। प्रत्येक तोरण खुदाई के कारण कई उपविभाग में बँटा है। उत्तरी तोरण के पूर्वी स्तंभ तथा पश्चिमी स्तंभ पर भिन्न-भिन्न

चित्र प्रदर्शित है। प्रत्येक स्तंभ चार खंडों में विभाजित है, जिनमें बुद्ध के जीवन की पृथक्-पृथक् घटनाओं को गहराई में खोदा गया है। यदि प्रस्तर-खंड को कागज मान लें, तो पूरे प्रदर्शन गोल मोड़कर चीरक (Scroll) बनाया जा सकता है। इसी कारण इन स्तंभ-प्रदर्शनों को 'चरण चित्र' कहा गया है। पूर्वी स्तंभ में निम्न चार प्रदर्शन हैं। नीचे से ऊपर की ओर—

- (१) तुषितस्वर्ग में आमोद-प्रमोद,
- (२) राजकीय समारोह, पूजा निमित्त यात्रा,
- (३) जेतवन का दृश्य और
- (४) बोधिवृक्ष का पूजा।

पश्चिमी स्तंभ पर देखिए नीचे से ऊपर—

- (१) सादा प्रस्तर,
- (२) बुद्ध शाक्यों को उपदेश दे रहे हैं। मध्य में बुद्ध (बोधिवृक्ष के रूप) बैठे हैं तथा चारों तरफ शाक्य लोग गोलाई में बैठकर प्रवचन सुन रहे हैं,
- (३) बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण—प्रतीक अश्व के रूप में बुद्ध और
- (४) संकिसा का चमत्कार।

इसे ध्यानपूर्वक देखने से प्रदर्शित चित्र के मध्य सीढ़ी दीख पड़ती है। दोनों तरफ (ऊपर एवं नीचे) वृक्ष की आकृतियाँ हैं यानी बुद्ध ऊपर तुषित स्वर्ग में मायादेवी को आर्यसत्य की शिक्षा देने गए थे। वहाँ से संकिसा (जिना फरुखावाद, उत्तर प्रदेश) सीढ़ी से उतरे। नीचे भी वृक्ष है, जो प्रतीकात्मक बुद्ध का प्रदर्शन है। ऊपरी भाग में देवतागण खड़े हैं तथा निचले भाग में मनुष्य, जिससे देवलोक तथा मृत्युलोक की कल्पना की जाती है। भरहुत में इस प्रदर्शन में वृक्ष के स्थान पर बुद्ध के पदचिह्न खुदे हैं।

वृक्ष का चमत्कार			संकिसा का अवतरण
जेतवन			महाभिनिष्क्रमण
राजकीय समारोह			शाक्यों को उपदेश
आमोद			सादा
पूर्वी स्तंभ		पश्चिमी स्तंभ	

स्तंभों की चौकियों (Abacus) पर पीलवान सहित चार हस्तियों की आकृतियाँ बनी है। उनसे संबद्ध निचली बंडेरी के निम्न भाग में शालभंजिका की आकृतियाँ दीख पड़ती है। ऐसी छोटी शालभंजिका ऊपरी बंडेरियों के मध्य यानी बंडेरियों के बीच खाली जगहों में भी बनी हैं। इसे अयथार्थ शीर्ष कहते हैं। यह कल्पना अशोक के स्तंभों से ली गई, जिनमें जानवर को शीर्ष पर स्थान दिया गया है—

रमपुरवा—बैल

लौरिया—सिंह

सारनाथ—चार सिंह पीठ-से-पीठ जुड़े।

यही कल्पना साची के तोरण पर दीख पड़ती है। पीठ-से-पीठ जुड़े चार हाथी, चार सिंह या चार बौने खुदे हैं। यही अपने सिरे पर तीन बक्र बंडेरियों को उठाए हुए हैं। प्रत्येक बंडेरी के मध्य में स्तंभ की सीध में अयथार्थ शीर्ष प्रस्तर रखे गए हैं। इस कारण बंडेरियाँ पृथक् हो जाती हैं। तीन बंडेरियों की समस्त ऊँचाई २६ फुट है। बंडेरियों के बीच खाली जगहों में हाथियों तथा घोड़ों पर सवार मनुष्य बने हैं। बंडेरियों के कुंडाकार सिरों पर हाथी या शेर की मूर्तियाँ खड़ी हैं।

तीन बंडेरियों पर नीचे में ऊपर निम्न प्रदर्शन देखे जाते हैं—

(१) बेसंतर जातक, इसके निचले भाग में राजा महज से निकल रहा है। ऊपर केवल रथ लौट रहा है यानी जंगल में बेसंतर को छोड़ सवारी का रथ लौटा लिया गया।

(२) मानुषी बुद्ध—इनकी संख्या सात है तथा बोधिवृक्ष तथा स्तूप से यह संख्या पूरी होती है।

(३) बोधिवृक्ष तथा स्तूप (मानुषी बुद्ध)।

तोरण के पूर्वी भाग में बने अयथार्थ शीर्ष में बुद्ध के जन्म का प्रदर्शन है। इसमें गजलक्ष्मी का दृश्य खोदा गया है। इसी तरह पश्चिमी भाग के शीर्षों पर चक्र की आकृति से बुद्ध के प्रथम धर्मचक्र परिवर्तन की घटना बतलायी गई है। सबसे ऊपरी भाग में चक्र तथा त्रिरत्न बनाया गया है। साची के प्रत्येक तोरण की यह प्रक्रिया है। उन पर पृथक्-पृथक् घटनाएँ प्रदर्शित हैं।

उत्तरी तोरण की बंडेरियाँ

सामने का माथा

१. मानुषी बुद्ध

२. बोधिवृक्ष तथा स्तूप

३. बेसंतर जातक

पीछे का माथा

१. पङ्क्त जातक

२. सुजाना की भेंट

३. बेसंतर जातक का शेष भाग

अन्य बंड़ेरियों पर भी ऐसी ही घटनाएँ खुदी हैं। जैसे महाभिनिष्क्रमण, अशोक की यात्रा, पशुओं द्वारा बुद्धपूजा और रामग्राम का स्तूप आदि प्रदर्शन दीख पड़ते हैं।

फलक ६

जैसा कहा गया है कि सांची-तोरण की बंड़ेरियों पर नाना प्रकार के प्रदर्शन हैं। इस चित्र में पशुओं द्वारा बुद्ध की पूजा दिखलायी गई है। सांची का प्रदर्शन हीनयान मत से संबंध रखता है, अतएव यह प्रतीकात्मक है। इसी वृक्ष की आकृति बनी है। बोधिवृक्ष भगवान् बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति का बोधक है। बायी ओर तालाब में कमलपुष्प खिले दिखलाए गए हैं। उसमें हाथी भी खड़े हैं। वहाँ से चल कर मध्य भाग में वृक्ष के चारों तरफ जानवर एकत्रित हैं यानी पूजा कर रहे हैं। हाथी सूढ़ उठाए बुद्ध को माला अर्पित कर रहे हैं। यह चित्र पश्चिमी तोरण पर खुदा है।

फलक ७

हीनयान मत में जातकों का प्रदर्शन बौद्धकला का प्रमुख अंग माना गया है। शुंगकालीन जितनी कलात्मक कृतियाँ हैं, उनमें प्रतीकात्मक स्वरूप प्रधानतया दीख पड़ता है। जातक कथाओं में षड्दंत जातक भी एक प्रमुख कथानक है। इस फलक पर छदत हाथी का रूप स्थान-स्थान पर दिखाया गया है, जिसके कारण कहानी में गतिशीलता प्रकट होती है। मुख्य पात्र को कई स्थानों पर एक ही रूप में दिखाना। किसी जन्म में बुद्ध छह दाँतों वाला हाथी था। वह हिमालय में दो रानियों महासुभद्रा तथा चुल्लसुभद्रा के साथ रहा करता था। चुल्लसुभद्रा सौत से प्रेम करने के कारण पति से द्वेष करने लगी। उसने ऐसी प्रार्थना की कि अगले जन्म में वह काशीराज की रानी के रूप में पैदा हो, ताकि बोधिसत्व से बदला ले सके। ऐसा ही हुआ। राजा से उसने छह दाँतों को कटवाने को कहा। ऐसा ही हुआ। जब व्याधा हाथी के दाँत ले आया, तो रानी बेहोश हो गई। सांची तोरण पर मानसरोवर में खड़ा षड्दंत हाथी (बायी ओर) दिखाया गया है। वहाँ कमल खिले हैं। हाथी के सिरे पर छत्र है तथा मध्य में वृक्ष। यह बुद्ध का प्रतीक है। षड्दंत बोधिसत्व है। वह सरोवर से बाहर निकल कर पेड़ के समीप (दाहिनी ओर) खड़ा है। पेड़ की आड़ में शिकारी वाण चला रहा है। यहाँ तक प्रदर्शन है। दाँत काटना

या चुरलसुभद्रा के पास ले जाना प्रदर्शित नहीं है। अजता के भित्तिचित्र में टोकरी में छह दाँत रखे हैं, जिन्हें देख रानी बेहोश हो जाती है।

फलक ८

सांची के उत्तरी तोरण की तीनो बडेरियो पर चित्रो को प्रदर्शित किया गया है। ऊपर से नीचे बडेरियो पर तीन बटनाएँ खुदी हैं—

(१) षड्दंत जातक,

(२) सुजाता की भेंट तथा (३) मार-विजय।

यह प्रदर्शन बोधगया से संबद्ध है। सिद्धार्थ गौतम राजगीर त्याग कर ऊरुबेला (गया के समीप) नामक स्थान पर तपस्या करने लगे। वहाँ पाँच साधुओं के साथ निराहार तपस्या करते, गौतम को यह समझ पड़ा कि हठयोग से ज्ञान की प्राप्ति न होगी। अतएव, ऊरुबेला को छोड़ निरजना (वर्तमान फलगु नदी, गया) के किनारे आम्रवृक्ष के नीचे बैठ गए। उस दिन (जिस दिन ज्ञान प्राप्त हुआ यानी संबोधि मिली) ऊरुबेला गाँव के मुखिया की पुत्री सुजाता ने गौतम के सामने खीर (क्षीरोदन) का पात्र रखा। यह कहा जाता है कि सुजाता को बर था कि वृक्ष देवता को खीर खिलाने से संतान की उत्पत्ति होगी। मुखिया की दासी ने गौतम को वृक्ष के नीचे देख सुजाता को खबर दी कि वृक्षदेवता प्रकट हुए हैं। अतएव, सुजाता ने खीर अर्पित की। बुद्ध ने उसे ग्रहण किया और नदी पार पीपल-वृक्ष (जो बोधिवृक्ष कहलाया) के नीचे जा बैठे। वही ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी घटना का विस्तृत प्रदर्शन मध्य बडेरी पर किया गया है। खुदे चित्र की बायीं तरफ बुद्ध (वृक्ष के रूप में) बैठे हैं तथा सुजाता भोजनपात्र एवं जल लेकर समीप में खड़ी है। दाहिनी ओर मार-विजय का प्रदर्शन है। मार यानी विषय-वासनाओं ने गौतम को आक्रांत करना चाहा तथा मार के राजा ने गौतम को आदर्श मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न किया। अंत में गौतम ने इस मार की सेना (विषय-वासनाओं) को परास्त कर ज्ञान की प्राप्ति की। ज्ञान के कारण बुद्ध नाम पड़ा। दाहिनी ओर मार के राजा तथा सेना का सजीव प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है।

फलक ९ (माया का सपना)

बुद्ध के चार चमत्कारों में माया के सपने (यानी बुद्ध का जन्म) की भी गणना होती है। पौराणिक कथाओं की तरह बोधिसत्व तुषित स्वर्ग में आमोद-प्रमोद कर रहे थे। अप्सराएँ नाच रही थीं। सब ने उनसे संसार में आने

के लिए आग्रह किया। भविष्यवाणी हुई कि बोधिसत्व सफेद हाथी के रूप में गौतम की माता माया देवी (शाक्यवंशी राजा शुद्धोधन की पत्नी) के गर्भ में अवतरित होंगे। यह कथा भरहुत वेष्टनी के फलक पर प्रदर्शित है। माया देवी पलंग पर सोयी है। दासियाँ भी अचेत हैं। माया ने हाथी का सपना देखा। ऊपरी भाग में हाथी की आकृति उस भविष्यवाणी का बोधक है। गोलार्ध के ऊपर ब्राह्मी में 'भगवतो रुकदन्त' (भगवान पैदा हुए) लिखा है। रु का अर्थ है—आवाज करना। अमरावती में इसी हाथी को रथ पर बैठा कर प्रदर्शित किया गया है यानी वह श्रेष्ठ हाथी है। सांची के तोरण पर कपिलवस्तु के महल का भी दृश्य है।

फलक १० (सिद्धार्थ का जन्म)

सांची के तोरण पर गौतम बुद्ध के जन्म का प्रदर्शन कई प्रकार से किया गया है। फलक ९ में माया देवी का सपना इसी प्रसंग में प्रदर्शित है। इस चित्र में माया देवी कमलपुष्प पर खड़ी है। दो परिचारिकाएँ समुख हैं। चारों तरफ कमल खिले हैं।

फलक ११

अमरावती उष्णीस पर यह चित्र महाभिनिष्क्रमण की घटना को व्यक्त करता है। यह प्रदर्शन इसवी सन् पहली शती का है, जिस समय अमरावती पर महायान का प्रभाव पड़ चुका था। इसमें बुद्ध की प्रतिमा बनायी गई। घोड़े पर राजकुमार गौतम सवार होकर कपिलवस्तु को छोड़, जंगल को जा रहे हैं। उस राजकुमार के साथ कई व्यक्ति दिखलए गए हैं। कपिलवस्तु त्यागने की घटना को महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।

फलक १२

सांची तोरण के चौपहल स्तंभ पर अनेक घटनाएँ प्रदर्शित की गई हैं। इस चित्र में चक्र पा धर्मचक्र की पूजा का प्रदर्शन है। नीचे रथ पर सवार राजा प्रसेनजीत पूजा हेतु जा रहा है। रथ के आगे अन्य राजकीय पदाधिकारी जाते दीख पड़ते हैं। इस स्थान की परिक्रमा कर दाहिने किनारे पूजास्थान पर प्रवेश करने का मार्ग दीख पड़ता है।

फलक १३

भरहुत वेष्टनी की फलक पर अनेक घटनाएँ प्रदर्शित हैं। इस चित्र में तीन बातों को दिखलाया गया है। सर्वप्रथम श्रावस्ती का श्रेष्ठी (सेठ) अनाथपीडिक ने जेत नामक राजा से भूमि माँगी, जिससे आगाम (कुटिया) बनाने की इच्छा थी। राजगीर में अनाथपीडिक ने भगवान को श्रावस्ती आने

का निमंत्रण दिया था, तो उत्तर मिला कि आराम बनने के पश्चात् तथागत वहाँ जाएँगे। इसी कारण श्रेष्ठी ने जेत से भूमि खरीदी। उस भूमि का मूल्य उतना ही था, जितना सिक्का उस क्षेत्र को ढँक ले। यही कारण है कि बैलगाड़ी से सिक्का (कार्पापण) को उतार कर जमीन पर फैलाया जा रहा है। दायी ओर नीचे कुटिया बनी दीख पड़ती है। बाएँ ऊपर की ओर अनाथपीडिक जलपात्र लिए उस आराम (कुटिया) को दान कर रहा है। गोलाई के नीचे सादे प्रस्तर पर ब्राह्मी में लिखा है—

जेतवन अनाथपीडिको वेति कोटि संथतेन केता

भगवान् निमंत्रण स्वीकार कर अनेक भिक्षुओं के साथ श्रावस्ती पधारे और उन्होंने उसी आराम में निवास किया। फलक पर कलाविद ने जेतवन विहार का दृश्य खोदा है तथा अनाथपीडिक की बातें व्यक्त की हैं।

फलक १४

यह चित्र सांची तोरण के चौपहल स्तम्भ पर खुदा है। भगवान् बुद्ध के चार गौड चमत्कारों में से सकिसा का अवतरण एक चमत्कार माना गया है। बुद्ध तुषित स्वर्ग में अपनी माता माया देवी को धर्मोपदेश देने गए तथा वहाँ से मृत्युलोक में आए। उसी का प्रदर्शन है। देवलोक तथा ससार दोनों चित्र के मध्य में सीढ़ी के ऊपर एवं निचले भाग में दिखलाए गए हैं। बोधिवृक्ष बुद्ध का प्रतीक होने के कारण तथागत की स्थिति का द्योतक है। ऊपर देवता तथा नीचे मनुष्य अञ्जलिमुद्रा में दीख पड़ते हैं। सीढ़ी से नीचे उतरने का भाव व्यक्त हो रहा है।

ईसवी-पूर्व शती में भरहुत वेष्टनी पर सीढ़ी के ऊपर नीचे वृक्ष के स्थान पर 'पदचिन्ह' खुदे हैं। ब्राह्मणधर्म में 'विष्णुपद' की पूजा की जाती है तथा गया में 'विष्णुपद' नामक मन्दिर है। संभवतः ब्राह्मण मत से पदचिन्ह बौद्ध मत में लिया गया होगा। बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति के विस्तार होने पर देव-प्रतिमाएँ बनीं तथा 'पदचिन्ह' भी बनाया गया। जावा में इस प्रकार के पदचिन्ह की पूजा होती है। सुवर्णद्वीप में पूर्णवर्मा नामक राजा के पदचिन्ह की भी पूजा होती रही। इसका कारण यह था कि राजा दैवी शक्ति (Divine king) सहित जन्म लेता है। अतएव, दरबार में 'चरणपादुका' रखी जाती है। वोजेल ने विचार प्रकट किया है कि पदचिन्ह प्रभुता का प्रतीक माना जाता था, इस कारण राजा लोगों पर शासन करता है।

फलक १५

बौद्ध जातकों में वेसंतर नामक जातक का कथानक अत्यंत रोचक है। इससे समाजवाद तथा जनतंत्र की भावना व्यक्त होती है। पूर्वी पंजाब का राजा वेसंतर बहुत बड़ा दानो शासक था। उसके पास एक हस्ति था, जिसे यह बर मिला था कि वह जानवर जिस स्थान पर जाएगा, वहीं घनघोर वृष्टि होगी। एक बार उड़ीसा में अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ा। उड़ीसा से ब्राह्मणों ने वेसंतर के पास आकर निवेदन किया और हाथी को माँगा। दयालु राजा ने उसे दे दिया। इस कार्य का जनता ने विरोध किया और राजा महल छोड़ राज्य त्याग कर जंगल में चला गया। सांची के तोरण पर विस्तृत रूप से सारी कथा प्रदर्शित है। किंतु, इस फलक पर संक्षेप रूप में उस कथानक को दिखलाया गया है। अमरावती के उष्णीस पर यह खुदा है। इसमें राजा ब्राह्मण को हाथी दान करते दिखलाई पड़ता है। हाथी सुसज्जन है। सूंड के पास राजा खड़ा है तथा समीप में ब्राह्मण दीख पड़ता है। मध्य एशिया में इसी तरह का संक्षिप्त प्रदर्शन मिला है।

फलक १६

भरहुत के फलकों पर जातको का प्रदर्शन मिलता है। यहाँ भी महाकपि जातक का दृश्य दिखलाया गया है। काशीराज ब्रह्मदत्त की रानी को एक भल्लाह ने सुंदर फल भेंट किया। रानी ने उसे चखा और अत्यंत प्रसन्न हुई। उनके मन में यह कुविचार उत्पन्न हुआ कि जो जानवर इस फल को खाता होगा, उसका मांसल हृदय कितना मीठा होगा। इसीलिए उसने राजा से आग्रह किया कि उस फल के चखने वाले जानवर का हृदय निकाल कर मँगाया जाए। ब्रह्मदत्त ने ऐसी आज्ञा प्रसारित की और सैनिक नदी के बहाव की विपरीत दिशा में फलवृक्ष की खोज में चल पड़े। एक स्थान पर वही फल दीख पड़ा। बंदरो का झुंड उसे खा रहा था। बंदरों में महाकपि बोधिसत्व के रूप में वर्तमान थे। उन्होंने सारी वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त कर नदी पर अपने शरीर का पुल बना दिया, ताकि सारे बंदर इस पार से नदी उस पार चले जाएँ और राजा की सेना उन्हें मार न सके। इस चित्र में वही कथा खुदी है। ऊपरी भाग में नदी के दोनों किनारों पर वृक्ष हैं। महाकपि ने शरीर फैलाकर पुल बना दिया है और बंदर महाकपि की पीठ से होकर भाग रहे हैं। निचले भाग में बैठा बंदर (महाकपि) राजा के प्रतिनिधि को समझा रहा है कि हिंसा नहीं करनी चाहिए। उससे ऊपर दो व्यक्ति चादर फैलाए

फल को एकत्रित कर रहे हैं, ब्रह्मदत्त यह सभी सुन कर अहिंसावादी हो गया । फलक के ऊपरी भाग में सादे प्रस्तर पर ब्राह्मी में लेख अंकित है ।

फलक १७

सांची तोरण के चौपहल भाग पर ये दो प्रदर्शन हीनयान मत से संबंधित हैं । नीचे बोधिवृक्ष की पूजा हो रही है । ऊपरी भाग में वृक्ष तथा चारों तरफ मनुष्य एकत्रित हैं । कोने में विद्याघर हैं । इसमें ऊपर वेदिका का आकार खुदा है, जिसकी उत्तर दिशा में बहती नदी दीख पड़ती है । दोनों तरफ वृक्ष हैं तथा बंदर दृष्टिगोचर होते हैं । मानव उस लीला (महाकपि) को देख रहा है । संभवतः यह काशीराज ब्रह्मदत्त के सैनिक हैं । फलक सोलह का संक्षिप्त रूप यहाँ वर्तमान है । इस प्रदर्शन के बाएँ कोने में महाकपि का बृहत् शरीर (नदी इस पार तथा उस पार) देखा जा सकता है ।

फलक १८

फलक के इस प्रदर्शन में षड्दंत जातक का कथानक खोदा गया है । सांची की बड़ेरी पर इसे भी दिखलाया गया है, जिसका छोटा रूप भरहुत की बेष्टनी पर देखने है । इस गोलाकार खुदाई के ऊपर 'षड्दंत जातकम्' वाक्य ब्राह्मी में अंकित है । अतएव, इसे छह दाँत वाले हाथी की कथा समझते हैं । इस कथा का वर्णन बौद्ध ग्रंथों में एक-सा नहीं मिलता । ह्वेनसांग ने इसे सारनाथ से संबद्ध किया है । इस चित्र में पिछले हाथी के छह दाँत ज्ञात होते हैं । उसके आगे व्याघ्र दाँत लिए खड़ा है । बोधिसत्व ने व्याघ्र से कहा था कि मृत्यु के पश्चात् तुम दाँत को आरी से काट लेना । शिकारी ने वैसा ही किया और ब्रह्मदत्त की रानी के सामने ले गया ।

फलक १९

सांची तोरण के स्तंभ पर यह दृश्य दिखलाया गया है कि बुद्ध को (बोध-वृक्ष के रूप में) बानर के प्रमुख नायक भगवान को पात्र भर कर मधु अर्पित कर रहा है । दो बंदर हैं तथा अन्य नर-नारी पूजा कर रहे हैं ।

फलक २०

भगवान बुद्ध अलौकिक व्यक्ति थे । अतएव, सभी के वर थे । पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता सभी उनकी पूजा करते थे । इस प्रदर्शन में भरहुत के स्तंभ पर

इलापट्टा नामक नागराज द्वारा पूजा का दृश्य है। इस दृश्य में नाग को तीन रूपों में दर्शाया गया है—

- (१) जानवर नाग के रूप में (वृक्ष के समीप में),
- (२) मिश्रित रूप (नाग + मनुष्य) ऊपरी भाग में सिर मनुष्य का। पैर का भाग नाग का है।

(३) मानवरूप में नागराज—बोधिवृक्ष के दाहिने नागराज तथा रानी वृक्ष की पूजा कर रहे हैं। व्यक्ति के सिरे पर नागछत्र वर्तमान है। वही नागराज है।

विद्वानों का मत है कि नाग की स्थिति जनार्णमत में स्वीकृत थी। बौद्ध मत में मुचलिंद नाग (बोधगया में) तथा इलापट्टा नाग (भरहुत में) प्रदर्शित हैं। यानी नाग की कल्पना बुद्धमत में भी की गई।

फलक २१

इस फलक में भरहुत-वेदिका तथा तोरण का स्वरूप प्रदर्शित है। इसमें वेदिका के चारों भाग स्पष्ट हैं—

- (१) आलंबन,
- (२) स्तंभ,
- (३) सूची और
- (४) उष्णीस।

इन सभी पर अधिकतर जातकों का प्रदर्शन है। तोरण भी साची से मिलता है। वेष्टनी की खुदाई इसकी विशेषता है।

फलक २२

साची के मुख्य स्तूप का चित्र। स्तूप के अंड के निचले भाग में मेधि दीख पड़ती है। ऊपर हरमिका तथा छत्र है। चारों तोरण की स्थिति भी स्पष्ट है। साथ में अशोक का स्तंभ स्थित है, जिसके शीर्ष पर चार सिंह तथा सबसे ऊपर धर्मचक्र की आकृति है। स्तूप की वेदिका अनलंकृत है। इसके देखने से सारी विस्तृत योजना समझ में आ जाती है। प्रदक्षिणा-पथ से मेधि तक पहुँचने के लिए सीढ़ी बनी है। मेधि तथा वेदिका की बनावट में अधिक अंतर नहीं है। यह स्तूप पहाड़ी पर स्थित है। इसी के समीप अन्य गौड स्तूप, मंदिर तथा बिहार बनाए गए थे।

फलक २३

इस चित्र में अमरावती स्तूप का प्रदर्शन है। यह संगमरमर का बना था। अब तो इसके अवशेष वहाँ नहीं हैं, किंतु मद्रास संग्रहालय में टुकड़ों को जोड़ कर

पूरा आकार तैयार किया गया । इसकी विशेषता यह है कि अमरावती स्तूप का प्रत्येक भाग अलंकृत है । ऊपर हरमिका तथा छत्र दीख पड़ते हैं । उससे नीचे खुदाई का भाग स्पष्ट है । अंड का अलंकरण अमरावती को छोड़ कर अन्यत्र नहीं मिलता । अंड का निचला भाग बुद्ध की प्रतिमाओं से भरा पड़ा है । मेघिका का ऊपरा प्रदक्षिणा मार्ग भी वेष्टनी से घिरा है, जिसमें चार दिशाओं में पाँच-पाँच आयक स्तंभ दीख पड़ते हैं । आयकस्तंभ के सामने बाहरी फाटक है । लेकिन, निचले प्रदक्षिणा-पथ की तरह स्तूप का चबूतरा प्रतीकों तथा मूर्तियों से भरा पड़ा है । इसमें सांची की तरह तोरण नहीं है । परंतु, बहिर्मार्ग बना है । उस रास्ते से घुसते ही उपासक बुद्धमूर्ति को देखता है । आयकस्तंभ के पार्श्व में सीढ़ियाँ बनी हैं । इसमें ऊपरी तथा निचले प्रदक्षिणा मार्ग से दर्शक बृंद परिक्रमा करते समय भव्य एवं सुंदर प्रदर्शनों को देखकर विभोर हो जाता है । अमरावती की खुदाई अद्वितीय है ।

फलक २४

सारनाथ में घमेक स्तूप आज भी दर्शकों को बौद्ध स्तूप की विशालता की याद दिलाता है । छोटे चबूतरे पर ईंट का बना स्तूप है । निचले भाग में चौथी सदी में प्रस्तर का आवरण लगाया गया, जिस पर विभिन्न तरह की खुदाई है । इसमें स्तूप की विशिष्टताओं का अभाव है । अतएव, सांची और अमरावती के सामने इसे स्तूप की मजा नहीं दी जा सकती । हरमिका, छत्र और वेष्टनी का अभाव है ।

फलक २५

नालंदा का मुख्य स्तूप विहारों की पंक्ति को पश्चिम-दक्षिण दिशा में स्थित है । इसका कई बार संस्कार किया गया था । बाहरी सीढ़ी ऊपरी स्तर को बतला रही है । बायीं ओर के आकार पूजास्तूप है, जो खुदाई से निकले हैं । सभी मलवे में बंद थे । सभी को देखने से नालंदास्तूप का भग्नावशेष क्रमिक वृद्धि की याद दिलाता है । उसके मूलरूप का अनुमान नहीं लगाया जा सकता ।

फलक २६

भारतवर्ष के इमारतों में मौर्य युगी गुफाएँ प्राचीनतम मानी हुई हैं । अशोक बौद्धधर्म का मानने वाला था, इस कारण धर्मप्रचार के लिए उसने अनेक कार्य किए । स्तूप का निर्माण भी उसका महत्वपूर्ण कार्य था । उसने अनेक धर्मशासन प्रस्तर तथा स्तंभ पर खुदवाए । बौद्ध तीर्थों की यात्रा की । सांची,

सारनाथ तथा कौशांबी के लेखों में उसने संघ में विभेद डालने वालों को दंड का आदेश दिया है। इससे पता चलता है कि संघ की स्थापना हो गई थी। आश्चर्य तो यह है कि उस सम्राट ने भिक्षुओं के लिए बिहार का निर्माण न किया। गया जिला (बिहार प्रदेश) में बेला रेलवे स्टेशन के समीप बराबर की पहाड़ियाँ हैं, उसमें अशोक ने आजीविक साधुओं के लिए गुहा खुदवायी। उस स्थान का चुनाव इस कारण किया गया कि गया की सख्त पहाड़ियाँ गुहा के लिए उपयोगी थीं। उस गुहा पर लेख खुदा है, जिसमें राज्याभिषेक के १२ वें वर्ष में गुहा-निर्माण का वर्णन मिलता है। तीसरी गुहा १९ वें वर्ष में निर्मित हुई यानी ईसा-पूर्व २५१ वर्ष में खोदी गई थी —

लाजा पियदशि एकुननी
सतिवसाभिसितेन जलधो
मे ह्यं कुभा
सुपियं खलतिक पवतसि दिना ।

अशोक ने पहले लेख में आजीविक भ्रम का उल्लेख किया है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए गुहादान न होने पर भी यह गुफा वास्तुकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह लोमश ऋषि गुहा के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय कलाविद् ग्राम की झोपड़ी के अनुकरण पर गुहा की योजना तैयार करते थे। इस गुहा का द्वार प्रायः अर्द्धगोलाकार है। गोलाई के नीचे प्रस्तर के छोटे शहतीर दीख पड़ते हैं। झोपड़ी के देखने से इसकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। झोपड़ी के बाँस लंबे तथा चौड़े आकार में रहते हैं, जिन पर फूस बाँधा जाता है। यह गोलाई के नीचे प्रस्तर ढाँचा की याद दिलाते हैं कि अंदर की झोपड़ी गोलाई में है। वास्तव में अंदर पहुँचने पर छत गोलाई में बनी है, जिस रूप में झोपड़ी का ऊपरी भाग होता है। अंदर के लघु मौर्य स्तंभ से मिलते हैं। बाहर की ओर दरवाजे के ऊपर मध्य में स्तूप की आकृति है तथा हाथी पंक्तिबद्ध होकर खड़े हैं। उससे ऊपर जालीदार बातायन बना है। इस प्रकार लोमश ऋषि गुहा ग्रामीण झोपड़ी के आकार का प्रस्तर (में वास्तविक) स्वरूप संमुख उपस्थित करता है। तात्पर्य यह है कि ग्रामीण इमारतों की परिकल्पना पर ही प्रस्तर में इमारतें गुहा आदि तैयार की गईं।

फनक २७

मौर्य युग के पश्चात् जो भी बौद्ध इमारतें बनी, वे पश्चिमी भारत के सह्याद्रि पर्वत में खोदी गईं; क्योंकि स्थानीय काले ठोस प्रस्तर गुहा आदि के

लिए उपयोगी था। उसमें स्थायी निवासस्थान बन सका। फलक में पर्वत के माथे को सुंदर बना कर गुहा खोदने का कार्य दिखलायी पड़ता है। एक ही स्थान पर पहाड़ी के निचले भाग से खुदाई शुरू कर शनैः-शनैः गहराई में चले जाते थे। गुहा-निर्माण के पश्चात् माथे को अलंकृत करना आवश्यक था। उसी को देख कर दूर से भिक्षु वहाँ पहुँच सकते थे। अन्यथा गुहाद्वार का दिखलायी पड़ना संभव न था। माथे को किस रूप से अलंकृत करें, यह भी प्रश्न था। उस समय के संगतराशों के विचार में विविध कल्पनाएँ न थी। गुहा के सिरोभाग की खुदाई झोपड़ी की नकल पर थी। वही अर्द्ध गोलाकार रूप द्वार के ऊपर हवा के लिए परमोपयोगी था। उस वातायन की बनावट को ही स्थापत्य में अपनाया और माथे को वातायन के आकार में काट कर सुंदर रूप दिया। यह माथा पूना के समीप भाजा गुहा का है। इसमें गुहा का द्वार सामने है। ऊपरी भाग में लोमश ऋषि गुहा के द्वार सदृश अर्द्ध गोलाकार सिरा बना है। इस द्वार के पार्श्व में पर्वत के माथे को खोदकर अनेक वातायन बने हैं। कही-कही वेष्टनी का रूप भी दीख पड़ता है।

फलक २८

बौद्धधर्म की वृद्धि के साथ भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी। अतः, उनके स्थायी निवास के लिए पर्वतों में गुहाएँ खोदी गईं। पर्वत में खुदे भिक्षु-निवास को 'विहार' कहते थे। पश्चिमी पर्वतमाला में अनेक विहार खोदे गए। फलक में नासिक का गुहा दिखलायी पड़ता है।

महाराष्ट्र प्रदेश में नासिक नगर से दस किलोमीटर दूर पहाड़ में गुफाएँ खुदी हैं, जो स्थानीय भाषा में 'पांडलेन' बही जाती हैं। पश्चिम भारत में सर्वप्रथम भाजा में गुफाएँ बनीं, जिनके पश्चात् नासिक में। भाजा गुहा के स्तंभ सदे है। सर्वप्रथम ग्रामीण आंगन तथा कमरों को ध्यान में रखकर विहार तैयार किए गए थे। फलक में गुहा के द्वार तथा स्तंभसहित बरामदा दीखा पड़ता है। द्वार से घुस कर अंदर ढँका आंगन है। ऊपर पर्वत की छत है। आसमान दीख नहीं सकता। आंगन के चारों तरफ कोठरियाँ (Cells) बनी हैं, जिनमें भिक्षु रहा करते थे। नासिक गुहा की विशेषता स्तंभों का अलंकरण है। विहार के बरामदे में कई स्तंभ खड़े हैं। प्रत्येक के मूल में सीढ़ीनुमा कटान है। उसके ऊपर कलशनुमा बनावट है। स्तंभ कलश के मुख में स्थित दीख पड़ता है। बरामदा ऊँचाई पर बनाया गया है, जिस तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ हैं। ऊपर माथा वेष्टनी के रूप में कटा है।

अशोककालीन स्तंभ एकादम तथा चिकने पालिशदार मोल प्रस्तर के बनते थे । किंतु, कालांतर में स्तंभ कोणयुक्त बनने लगे । पालिश (लेप) का नाम तक न था । किंतु, कुछ अलंकरण प्रारंभ हो गया । नासिक में स्तंभ-अलंकरण का आरंभ हुआ । स्तंभ की पीठिका पर कलश की आकृति है, जिसे घट-आधार कहते हैं ।

फलक २६

जैसा कहा गया है, गुहा-निर्माण में पर्वत के माथा की खुदाई अनिवार्य थी । दूर से ही दर्शक को आकृष्ट करना था । पूना के समीप कोनदने गुहा का माथा दिखलाया गया है, जो वातायन आकार से सुसज्जित है । यह हीन-मान युग की कल्पना थी । उस काल में प्रतीक का ही प्रमुख स्थान था । किसी प्रकार की मूर्ति खोदी नहीं जा सकती थी । अतएव, हीनयान स्थापत्य में चैत्य के वातायन को गुहा के माथे पर खोद कर सारी परिस्थिति को सुंदर बनाया जाता । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । उसे सुंदरता से प्रेम है । भिक्षुगण भी गुहा को सजाते थे । पर्वत के माथे को खोदकर वातावरण रसमय हो जाता तथा सुख का अनुभव करते रहे । इस फलक में गुहा की बाहरी दीवार को सुंदर बनाने की प्रक्रिया दीख पड़ती है ।

फलक ३०

आंध्र प्रदेश के औरंगाबाद नामक स्थान से सौ किलोमीटर पर अजंता ग्राम के समीप तीस गुफाएँ अर्द्ध वृत्ताकार पहाड़ी में खुदी हैं । नीचे नदी बहती है । पुरातत्व विभाग ने गुफाओं के निरीक्षण के लिए सुंदर मार्ग बना दिया है । यों तो गुफाएँ क्रम से नहीं खोदी गई थीं । गुहा संख्या ९ का काल पहली गुहा से पूर्व का है । परंतु, स्थिति के अनुसार (जिस क्रम में दर्शक देखने लगता है) सर्वप्रथम गुहा को पहली गुफा कहते हैं । इसी प्रकार क्रम से दो, तीन, चार आदि । वर्तमान फलक में पहली गुहा का भीतरी बरामदा दीख पड़ता है । स्तंभसहित बरामदे में कोठरियों के प्रवेशद्वार बने हैं, जिनसे कोठरी के अंदर घुस जाते हैं । इन स्तंभों की बनावट नासिक से भी परिष्कृत है । चौपहल, आठकोण, सोलह आदि-आदि रूप के स्तंभ कटे हैं । ऊपरी भाग में ब्रंकेट हैं, जिनमें वामन-आकृति बनी है या जानवर के चित्र हैं । ब्रंकेट पूर्ण रूप से खुदे हैं । ऐसी खुदाई अन्यत्र दीख नहीं पड़ती । गुहाओं के स्तंभों का विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया जाए, तो पता चलता है कि आज के स्तंभ सादे (अनलंकृत) हैं । नासिक में सीढ़ीनुमा कटाव तथा

घट आधार है। उसके पश्चात् अजंता के स्तंभ अधिक अलंकृत हैं। सिरे पर ब्रैकेट की खुदाई दर्शनीय है। एक स्तंभ के सिरे पर चार हिरन खुदे हैं। जिनका चार शरीर हैं, किंतु सिर एक ही है, बरामदे की छत चित्रों से अलंकृत है।

फलक ३१

बौद्ध गुफाओं का अनुकरण ब्राह्मण स्थापत्य में भी किया गया। औरंगाबाद के समीप तीस किलोमीटर दूर एलोरा नामक गुफाएँ हैं। जहाँ बौद्ध-बीच में ब्राह्मण तथा अत मे जैन गुफाएँ एक सीध से खुदी हैं। फलक मे एलोरा की गुहा संख्या २९ का भीतरी दृश्य दिखलाया गया है। इसे सीता का नहान या डुमर लेन (गुहा) कहते हैं। भगवान राम का इससे कोई संबंध नहीं है या सीता की आकृति भी नहीं है। यह शैव गुफा है। एलिफेंटा की तरह भीतरी बरामदे की दीवार पर शिव के अलौकिक कार्यों का प्रदर्शन है। मध्यवीथी के संमुख शिवलिंग स्थापित है। पार्श्ववीथी के चारो तरफ दावार खुदी है जिसमें शिव नटराज, शिव लकुलीश, उमामहेश्वर और गंगावतरण आदि पौराणिक कथानक प्रदर्शित है। वर्तमान फलक में शिवपार्वती खड़ी है। कल्याण सुंदरमूर्ति का प्रदर्शन है। सामने स्तंभ नीचे चौपहल है। ऊपर अनेक कोण बन गए हैं। शीर्ष पर तर्कियानुमा आकार बनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि बौद्ध विहार के परिवर्तित रूप को ब्राह्मणों ने अपनाया। महायान विहार में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की जाती तथा बरामदे की ताख में अन्य प्रतिमाएँ खुदी दीख पड़ती हैं। ब्राह्मण स्थापत्य कला में महायान गुफा का अनुकरण किया गया। मध्य में शिवलिंग स्थापित कर चारों तरफ प्रदक्षिणापथ के पार्श्व में ताख पर ब्राह्मण देवी-देवताओं के स्वरूप को प्रदर्शित किया गया। आठवीं सदी से इस प्रकार का अनुकरण दक्षिण में होने लगा। एलोरा गुफाएँ राष्ट्रकूट शासन में तैयार की गई थी।

फलक ३२

एलोरा में जितने बौद्ध विहार हैं उनमें गुहा संख्या १२ तथा १३ कई मंजिल के हैं। बारह गुफाओं में ग्यारह विहार (भिक्षु के निवास-स्थान) हैं। संख्या ५ विहार बहुत अधिक गहराई में खोदा गया है, जो ११७ फुट गहरा और करीब १० फुट चौड़ा है। परंतु, विहार संख्या १२ तीन मंजिल का है, जिसके सामने बहुत बड़ा आंगन है। विहार की बाहरी दीवार सर्वथा सादी है तथा संयम रीति से निर्मित है। विहार के भीतर दीवार नाना प्रकार से खुदी हैं, और गहराई में खुदी है। पहली मंजिल का बरामदा ११२

फुट लंबा है। भीतरी भाग स्तंभावलि से तीन बौधियों में विभाजित है। मुख्य कक्ष ३५ फुट तथा १५ फुट क्षेत्रफल में विस्तृत है। इसमें १२ कोठरियाँ हैं। बुद्धप्रतिमा के निमित्त केंद्रीय देवतागृह २३ × १५ फुट के विस्तार में बना है। दूसरी मंजिल का बड़ा कक्ष ११२ फुट लंबा तथा ७२ फुट गहरा है। पाँच स्तंभ पंक्तियों के कारण यह पाँच बौधियों में विभाजित हो गया है। तीसरी मंजिल में छत को आठ स्तंभ संभाल रहे हैं। एक किनारे देवगृह निर्मित है। इस मठ के स्तंभ साधारण रीति के हैं। महायान विहारों में जिस प्रकार का अलंकरण अजंता में देख पड़ता है, वह एलोरा में अनुपस्थित है। फलक में वही तीन मंजिल का मठ है, जो अपनी तरह का एकाकी मालूम पड़ता है। मंजिल के बायी ओर ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं।

फलक ३३

जैसा कहा गया है, विहार के मुख्य कक्ष के सामने केंद्रीय देवगृह (Shrine) बना है, जिसमें बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सातवीं सदी के पश्चात् चैत्य तथा विहार (मठ) का समिश्रण हो गया। पूजास्थान विहार के केंद्रीय स्थान में स्थिर किया गया। फलक में एलोरा की तीन ताल के विहार का केंद्रीय भाग देख पड़ता है। सामने बुद्धप्रतिमा धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा में आसीन है दाहिनी ओर सातमानुषी बुद्ध की मनुष्य के रूप में अवतरित बुद्धमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो ऊँचे चबूतरे पर खोदी गई हैं। इससे बुद्धप्रतिमा की प्रतिष्ठा तथा विहार देवता का स्थान ज्ञात हो जाता है।

फलक ३४

साहित्य में भगवान् बुद्ध के आठ चमत्कारों का वर्णन मिलता है, जिसका प्रदर्शन कला में देख पड़ता है। निम्न चार प्रमुख चमत्कार हैं—

- (१) जन्म,
- (२) ज्ञान,
- (३) धर्मचक्र परिवर्तन और
- (४) महापरिनिर्वाण।

गौड़ चमत्कारों में वैशाली का महाप्रदर्शन सबसे महत्वपूर्ण है। भगवान् ने एक ही क्षण में अनेक स्वरूप धारण कर लिया, यही प्रदर्शित किया गया है। यह अजंता गुहा संख्या १ में भित्तिचित्र की दशा में दिखाया गया है। सारनाथ कला शैली में प्रस्तर पर खुदा है। फलक पर चार पंक्तियों में एक सदृश चित्र बने हैं। सिर के चारों तरफ प्रभामंडल है, अतएव यह चित्र साधारण

व्यक्ति का न होकर अलौकिक देवता बुद्ध का है। यद्यपि दर्शकों के लिए यह पहली गुहा (विहार) है, किंतु भित्तिचित्र की विशिष्टता के आधार पर पाँचवीं सदी में यह चित्र तैयार किया गया होगा। महायान मत के प्रभाव के कारण ही भित्तिचित्रों में बुद्ध को स्थान मिल पाया। कहा जाता है कि वैशाली के छह साधुओं ने बुद्ध की श्रेष्ठता का विरोध किया। उनका कथन था कि बिना चमत्कार देखे वे उनकी वरीयता पर संदेह करेंगे। इस कारण बुद्ध ने हवा में कुद कर महाप्रदर्शन दिखलाया था।

फलक ३५

अजंता गुहा के भित्तिचित्रों को कई श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

- (१) धार्मिक चित्र (बौद्धमत-संबंधी),
- (२) सामाजिक प्रदर्शन,
- (३) ऐतिहासिक वार्ता का चित्रण और
- (४) आलंकारिक चित्र।

वर्तमान फलक पर चैत्य संख्या १९ की दीवार पर चित्रित जानवरों का झुंड दिखाया गया है। अजंता में अधिकतर विहार संख्या १, २, १६ तथा १७ चित्रित हैं। किंतु, चैत्य संख्या १९ में भी भित्तिचित्र हैं। अनेक प्रकार के चित्रों में बुद्ध तथा यशोधरा एवं राहुल उल्लेखनीय हैं। चैत्य की मध्यवीथी की छत पर हाथियों के झुंड का चित्र लीचा गया है, जो आलंकारिक हैं। चैत्य के भित्तिचित्र अजंता की विशेषता हैं।

फलक ३६

संसार के चित्रों में अजंता के भित्तिचित्र सुप्रसिद्ध हैं। विहार में रहने वाले भिक्षुओं ने दीवार तथा छत को चित्रों से सजाया था। उन भित्तिचित्रों के देखने से नाना प्रकार के चित्रों में बनस्पति तथा पशु-जीवन का परिज्ञान हो जाता है। चित्रकार को विभिन्न पुष्पों का ज्ञान था, जिसका प्रमाण वर्तमान फलक में मिलता है। गुहा संख्या १ की छत को सुंदर वर्गाकार चित्रों द्वारा सुसज्जित किया गया है। इसमें अनेक प्रकार के पुष्प तथा फल के चित्र हैं। हाथी का भी चित्र है। कई मिथुन आकृतियाँ चित्रित हैं। इनमें पुष्पों का चयन तथा रंगीन चित्रण उच्च कोटि की कुशलता का द्योतक है। पुष्पलता दर्शनीय तथा मोहक हैं।

फलक ३७

बौद्ध कला में जातक प्रदर्शन की बहुलता है। गौतम बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन के अतिरिक्त पूर्वजन्म की कथाओं (जात = जन्म; क = कथा) की तक्षण,

मूर्ति तथा चित्रकला में दिखलाया गया है। हीनयान युग में तो प्रतीक के अतिरिक्त जातक प्रदर्शन ही प्रमुखता रखता है। अजंता के भित्तिचित्रों में भी अनेक जातको को चित्रित किया गया है। वर्तमान फलक पर 'महाजनक' जातक का चित्र है। महाजनक नामक नवयुवक राजा संसार से विरक्त होकर साधु बनना चाहता था। इसी को गुहा संख्या १ के कई चित्रों के दिलहा (Panels) पर प्रदर्शित देखते हैं। पहले दिलहा पर राजा की माता शिवलि महाजनक को समझा रही है कि संसार को न त्यागो। दूसरे में कई सौ नर्तकियाँ राजा से आसक्ति पैदा करने का प्रयत्न कर रही हैं। तीसरे प्रदर्शन में राजा-रानी बैठ कर विवाद कर रहे हैं। महाजनक अपने विचार पर पक्का है। उस इरादे को रानी तक पहुँचा रहा है। विचारों में हेरफेर होते न देख रानी विरक्ति के विरोध में बातें कर रही है। इस फलक में राजा-रानी बैठे हैं। सिर पर ताज है। गले में हार पहने है। हाथ उठा कर अपने संकल्प (संसार-त्याग) की उद्योगिता को स्वीकार करना चाहता है। दाहिनी ओर रानी विवाद में उलझी है। हाथ उठा कर राजा के संकल्प को अस्वीकार कर रही है। दोनों के चेहरे पर मलिनता है। उदासी छाई है। राजा की पीठ पर एक सुंदर युवती आभूषण धारण किए खड़ी है। कोने में राजमाता शिवलि का चित्र है। इस प्रकार चित्रकार महाजनक जातक का कई दिलहों (Panels) में सजीव प्रदर्शन किया है। अजंता के चित्रों की यही विशेषता है।

फलक ३८

हीनयान की बौद्ध कला में जातक प्रदर्शन की प्रमुखता के विषय में कहा गया है। विस्वंतर जातक एक प्रधान कथानक है, जिसका प्रदर्शन सांची-तोरण तथा अमरावती में किया गया है। अजंता भित्तिचित्र में भी इसका चित्रण है। कथानक में वर्णन आता है कि दान के कारण विस्वंतर को मारा कष्ट उठाना पड़ा, जैसा हरिश्चंद्र की पौराणिक कथा से सब बातें विदित हैं। विस्वंतर महल से रथ पर सवार हो जंगल को गया। इसका कारण यह था कि उसके पिता संजय के पास एक सफेद हाथी था। वह जहाँ बही भी जाता, वृष्टि हो जाती थी। विस्वंतर ने इसे ब्राह्मणों को दान कर दिया। उसके पिता संजय को बुरा मालूम हुआ। प्रजा ने भी इसका विरोध किया। राजा को राज्य त्यागना पड़ा। जंगल में ब्राह्मणों ने उसकी पत्नी तथा बच्चों को माँग लिया और विस्वंतर ने उन्हें दान कर दिया। इंद्र को यह देख आश्चर्य हुआ और उसने चाहा कि विस्वंतर का राज्य मिल जाए। इस

फलक में स्वर्ग से इंद्रदेवता पृथ्वी पर उतर रहे हैं और साथ में अप्सराएं भी हैं। इस रंगीन भित्तिचित्र में सफेद बादल दिखलाए गए हैं। उसी मार्ग से इंद्र उतर रहा है। सिर पर ताज है तथा गले, बांह में आभूषण हैं। दाहिनी ओर अप्सरा हैं।

फलक ३९

भगवान बुद्ध ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् सर्वत्र भ्रमण कर उपदेश देते रहे। वर्षावास में अनेक भिक्षु साथ में रहा करते थे, किंतु उनमें आनंद नामक भिक्षु सबसे प्रमुख था, जिसकी सलाह से भगवान अनेक निर्णय लेते रहे। महा-प्रजापति को संघ में प्रवेश कराने की आज्ञा आनंद के कहने से बुद्ध ने दी। यानी आनंद बुद्ध के मानस का काम करते थे। महावग्ग में बुद्ध तथा आनंद की वार्ता का विशेष विवरण मिलता है। इस फलक में बुद्ध आसन पर बैठे हैं। उनके सिर के चारों तरफ प्रभाभङ्गल दीख पड़ता है। उनके हाथ व्याख्यान-मुद्रा में हैं। आनंद संमुख खड़े हैं। चीवर धारण किए हैं। चेहरे से व्यग्रता टपकती है।

फलक ४०

अजंता के भित्तिचित्रों में सामाजिक चित्रों का भी प्रदर्शन है। शृंगारिक विषयों को भी दिखलाया गया है। आश्चर्यमय प्रश्न होता है कि मठों में भिक्षुओं के निवासस्थान में सांसारिक विषयों का प्रदर्शन क्यों कर किया गया? इसका एक ही उत्तर है कि कलाकारों ने बुद्ध के जीवन की प्रत्येक दशा को चित्र में दिखलाया है। बुद्ध राजकुमार के रूप में महल में स्त्री के साथ रहा करते थे। उसी का चित्रण इस फलक पर है। महल के भीतर राजा रानी के साथ आलिंगन-मुद्रा में हैं तथा दासियाँ आसपास बैठी हैं। बायी ओर वस्त्रालंकार से सुसज्जित रानी छत्र के नीचे बैठी है। कुछ लोग इसे विस्वंतर तथा उसका रानी माद्री का चित्रण समझते हैं। बायी ओर ऊपर दो स्त्रियाँ महल में झाँक रही हैं। यह राजमहल का दृश्य है। तात्पर्य यह है कि अजंता चित्रों में सामाजिक, शृंगारिक तथा प्रमोद की बातें भी प्रदर्शित हैं। यानी मठों की दीवारों को नाना प्रकार से सजाया गया था।

फलक ४१

ईसा-पूर्व सदियों में गुहा-निर्माण का कार्य आरंभ हुआ और दो प्रकार की गुहाएँ खोदी गईं—

(१) चैत्य-पूजास्थान और

(२) विहार-निवासस्थान यानी मठ ।

बौद्ध भिक्षुओं की संख्या बढ़ने से विहार तैयार किए गए । उन सभी के पूजानिमित्त स्थान को निश्चित करना भी आवश्यक था । अतएव, पठ के समीप में 'चैत्य' खोदे गए हैं । उनका मूलरूप ग्राम की झोपड़ी से निकल किया गया । वर्तमान फलक में चैत्य का दृश्य है, जो पूना के समीप भाजा नामक ग्राम के पार्श्व में है । कठोर पर्वत की तलहटी से शिलाखंड खोद कर गुफाएँ बनायी गईं । चूँकि यह पूजा का स्थान था, अतएव किसी प्रतीक का रहना परमावश्यक था । हीनयान के चार प्रतीकों का शुंगकाल में स्थान दिया गया—

(१) हाथी—जन्म का प्रतीक,

(२) वृक्ष—ज्ञान का प्रतीक,

(३) चक्र—उपदेश का प्रतीक और

(४) स्तूप—निर्वाण का प्रतीक ।

अशोक ने चौरासी हजार स्तूप बनवाकर स्तूप पूजा का प्रचार किया । उसी परंपरा में चैत्य में भी स्तूप बनाए गए थे । यह भी समझते हैं कि पर्वत में स्तूप आकार बनना सरल था, अतः स्थापत्यकला में स्तूप को ले लिया गया । वर्तमान फलक में सामने स्तूप का आकार है । पार्श्व में सादे (अनलंकृत) स्तंभ हैं, जो ऊपरी भाग को सहारा दे रहे हैं । मेहराबदार भाग में लकड़ी की पंखलियाँ बनाई गई हैं, जो झोपड़ी के ऊपरी कड़ियों की याद दिलाती हैं । उसी ढाँचे पर फूस रखकर झोपड़ी बनती रही । यहाँ लकड़ी की कड़ियाँ बाहर की ओर निकली हैं । ये गोलाई में रखी गई हैं, क्योंकि चैत्य का ऊपरी भाग अर्द्धगोलाकार बनाया जाता था । स्तूप के संमुख रिक्तस्थान (स्तंभों के मध्य में) पुजारी के लिए है । उसे मध्यवीथी कहते हैं । स्तंभावलि तथा पर्वत की दीवार के मध्यस्थ भाग को पार्श्ववीथी कहते हैं । उसे प्रदक्षिणापथ भी कहा जा सकता है । आश्चर्य यह है कि स्तंभ प्रस्तर के होकर अर्द्धगोलाकार छत में लकड़ी का क्यों प्रयोग किया गया ? लकड़ी का छत में प्रयोग उस गुहा की प्राचीनता का द्योतक है । स्तंभों का भीतरी मोड़ भी प्राचीनता की बातें बतलाता है । ब्राउन का मत है कि छत के भाग को सर्वप्रथम तैयार कर उसी क्रम से नीचे उतरते थे । माथे को सुशोभित करने के कार्य को प्राथमिकता दी जाती थी । इसमें छत का अभाव है ।

फलक ४२ तथा ४३

भाजा के समीप वेदसा नामक स्थान पर दूसरा चैत्य मंडप बने हैं, जो भाजा से कुछ विकसित रूप प्रकट करते हैं। स्तूप का निचला भाग चबूतरे का रूप बतलाता है। उसके ऊपर बेष्टनी का आकार खोदा गया है, जिसके ऊपर अंड है तथा हरमिका चौकोर है। शीर्ष पर सीढ़ीनुमा कटान ऊपर की ओर बढ़ा होता गया है। अथ खुद भाग स्तम्भ आदि भाजा से चैत्य से मिलते-जुलते हैं। बराबर पर्वत में खुशी लोमश ऋषि गुहा का सिरोभाग मेहराबदार वातायन का स्वरूप लेकर पर्वत के माथे पर खोदा जाने लगा। वेदसा चैत्य मंडप के बाहर दक्षिण पश्चिम भाग में छोटी कोठरियाँ बनाई गई हैं, जो बिहार का काम करती थी। उनके माथे पर चैत्य वानायननुमा बहुत आकार खुदे हैं, जो पर्वत के सिरे को सुंदर बनाते हैं तथा दूर से दर्शकों को आकृष्ट करते हैं। फलक ४३ में कोठरियाँ तथा सामने के शिखाखंड में वातायननुमा आकार दीख पड़ते हैं।

फलक ४४ तथा ४५

हीनयान स्थापत्य कला में चैत्यों का प्रधान स्थान है। चैत्यों की खुदाई में कुशलता का परिचय मिलता है। पर्वत के माथे को सुंदर बना वनस्पति को हटा कर उभरे हुए तरीके से वातायन बने हैं। उस सुसज्जित भाग के मध्य चैत्य-निर्माण का कार्य आरंभ किया जाता था। फलक ४४ में कोनदने चैत्य का माथा तथा सिरोभाग खोदा गया है। फलक ४५ में चैत्यद्वार का दृश्य है। मुख्य द्वार से ऊपरी भाग में रोगनी तथा वायु के प्रवेश के लिए अर्द्धगोलाकार जालीनुमा खुदाई करते थे। बाहरी भाग अश्वनालाकार था, जिसमें झोपड़ी के ढाँचे की कड़ियों को प्रस्तर का रूप दे दिया गया है। बाँस का ढाँचा स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। चूँकि झोपड़ी के अनुकरण पर चैत्य बने थे, अतएव प्रवेश-द्वार के ऊपरी भाग में कड़ियों के स्थान वैसे ही प्रस्तर में बनावट आवश्यक समझी गई। उसी को वातायन कहने लगे। प्रस्तर के सामने पहाड़ काट कर नीचे वेदिका तथा ऊपर वातायन का रूप तैयार किया जाता था। पश्चिमी घाट में स्थित चैत्य स्थानों में ऐसी ही बनावट सर्वत्र दीख पड़ती है। वेदसा से आरंभ होकर समस्त गुहा-निर्माण-कार्य में वातायन का रूप सुंदरता के लिए खोदा गया था, अन्यथा माथे पर उनका कोई प्रयोजन न था।

फलक ४६

महाराष्ट्र में नासिक की पहाड़ियों को काट कर गूहाएँ बनी हैं, जिन्हें स्थानीय जनता पांडुलेन कहती है। माथे पर चैत्य वातायन को देख कर तुरंत

कहा जाता है कि अमुक गुहा चैत्य मंडप है। फलक में नासिक के एक चैत्य का बाहरी दृश्य है। तलहटी में द्वार बना है। उसके ऊपर वेष्टनी का आकार खोद कर तैयार किया गया है। माथे पर चैत्य वातायन है, जिसमें जाली नहीं दीख पड़ती। खुला भाग है। हवा तथा रोशनी के लिए पर्वत के माथे पर वातायननुमा आकार बने हैं।

फलक ४७ तथा ४८

हीनमान चैत्य ढपो में पूना के समीप कालें की गुहाएँ उत्तम यानी श्रेष्ठतर समझ जाती हैं। बंबई-पूना रेलवे मार्ग में मल्लबली स्टेशन से ३ किलोमीटर पश्चिम ओर पहाड़ी के सिरे पर कालें की गुहाएँ बनी हैं। यों तो सभी चैत्य मंडप ऊँची पहाड़ी पर तैयार किए गए थे, किंतु कालें सैकड़ों फीट ऊँची चोटी पर स्थित है। चैत्य-निर्माण के क्रम में इसे श्रेष्ठतर इसलिए कहा जाता है कि अलंकरण की मात्रा अधिक है तथा खुदाई मनोरम है। भाजा वेदसा के चैत्य स्तंभ सादे थे, जिसमें घट का आरंभ नासिक में हुआ। कालें में घटपीठ के अतिरिक्त स्तंभशीर्ष भी पूर्णरूपेण अलंकृत है। फलक ४७ के मध्य में स्तूप वर्तमान है, जिसके चबूतरे पर अड (मेघिसहित) तथा सीढ़ी-नुमा हरमिका है। ऊपरी भाग में लकड़ी का छत्र है। मंडप का ऊपरी भाग अर्द्धगोलाकार है, जिसमें लकड़ी का ढाँचा है। स्तंभ के आधार में घट का आकार है, जिससे स्तंभ निकलता दीख पड़ता है। शीर्ष के तीन विभाग हैं, जो अशोक स्तंभ के विभाजन के समान हैं—

- (१) उलटा कमलपुष्प की बनावट,
- (२) सीढ़ीनुमा चौकी (आधार) और
- (३) शीर्षस्थ दंपतिसहित चार जानवर की आकृतियाँ।

अशोक के कमलपुष्प की तरह पखुड़ियाँ नहीं हैं, किंतु लहरदार कटान है। उससे उलटे पुष्प का अनुमान लगाया जाता है। चौकी पर जानवर की आकृतियाँ हैं, जिनकी पीठ पर मिथुन बंठे हैं।

कुछ लोगों का अनुमान है कि स्तूप-पूजा को देखने के लिए राजा-रानी (दंपति) का चित्र मौजूद है। उनका चित्र जानवरों की पीठ पर खोदा गया है तथा सब की आँखें स्तूप की ओर हैं। फलक ४८ में उसी चैत्य के एक भाग का विस्तृत दृश्य है। जानवरों में हाथी, वृषभ तथा अश्व देखे जाते हैं। मध्य-बीथी के सामने हाथी है तथा पार्श्वबीथी की ओर अश्व या बैल हैं। इस फलक में स्तूप के पीछे स्तंभों को सादा रूप (अनलंकृत) दिखलायी पड़ता है।

उनमें बटआधार तथा शीर्षस्थ खुदाई आदि आलंकारिक बनावट का अभाव है। संभवतः कलाकारों ने उन स्तंभों की उपयोगिता न समझी तथा स्तूप के पीछे रहने से दर्शकों की आँखों से ओझल भी थे। फलक ४८ में मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी का स्थान स्पष्ट दिखलायी पड़ता है।

फलक ४९

इस फलक में काले चैत्य के बरामदे का दृश्य है। पर्वत काट कर सिंह-स्तंभ बनाकर एक मुख्य प्रवेशमार्ग बनाया गया होगा, जो नष्ट हो गया है। उसके ध्वंस स्तंभ खड़े हैं। बाहरी द्वार के समुख ही चैत्य मंडप के तीन प्रवेश-द्वार बने हैं। ये द्वार एक बरामदे में खुलते हैं, जिसकी ऊँचाई पचास फीट है। फलक में चैत्य मंडप की मध्यवीथी में प्रवेश करने का द्वार दीख पड़ता है। मंडप की बाहरी दीवार तथा पार्श्व की लंबवत् दीवार पूरी तरह से खुदी है। मंडप के बिचले द्वार के सिरोभाग पर अर्द्धगोलाकार बनावट है, जिसके ऊपर विशाल चैत्य वातायन है। बाहरी दीवार पर वेष्टनी की भी बनावट दीख पड़ती है। नीचे की ताख में वाई ओर दंपति की मूर्तियाँ बनी हैं। उनका स्थूल तथा अनुपातरहित आकार ईसवी-पूर्व की तक्षण कला की याद दिलाता है। पैरों तथा हाथों में आभूषण वन-जात्रियों के सदृश है। बरामदे के दोनों पार्श्व की दीवार पर चैत्य वातायननुमा आकार खुदे हैं तथा निचले भाग में दाहिनी ओर हाथी दृष्टिगत हो रहे हैं। इन खुदी आकृतियों के ऊपर बुद्ध की मूर्ति बनी दीख पड़ती है। इसे देखने से पता चलता है कि यह पीछे खोदा गया था। इनके लिए चैत्य की मूल योजना में स्थान न था। हीनयान चैत्य मंडप में प्रतिमा की स्थिति कल्पना के बाहर है। परंतु, महायान कलाकारों ने इनको महायान चैत्य का रूढ़ि देने के लिए बाहरी दीवार पर बुद्धमूर्ति को यत्रतत्र खोद कर केवल इच्छापूर्ति की थी। फलक में बाहरी बरामदे में विशाल वातायन, दंपति की मूर्तियाँ तथा हाथियों की आकृतियाँ देखने योग्य हैं।

फलक ५०

अजंता गुहा-निर्माण में चैत्य मंडप तथा विहार को यदा कदा तैयार किया गया। सभी एक व्यक्ति के द्वारा तथा एक समय में तैयार नहीं किए गए थे। अजंता में चैत्य की बनावट सर्वाधिक उत्तम अवस्था में दीख पड़ती है। नासिक, वेदसा तथा काले में जो अलंकरण आरंभ हुए, उनका सर्वोत्कृष्ट नमूना अजंता में देख सकते हैं। इस स्थान का बड़ा ही महत्त्व था, अतः हीनयान तथा महायान कलाकारों का ध्यान वहाँ गया। हीनयान के दो चैत्य (संख्या ९ तथा

१०) बनाए गए, जिनके भीतरी भाग में केवल स्तूप का आकार बना है। भाजा, पितलखोरा कोनदने, नापिक, वेडसा तथा काले में सर्वत्र चैत्य मंडप में स्तूप बने हैं। वर्तमान फलक में अजंता का चैत्य संख्या ९ का बाहरी अलंकृत भाग दिखलाया गया है। इसमें विशेषता यह है कि चैत्यद्वार के सामने चार स्तंभों सहित ड्योढ़ी बनी है। सभी स्तंभ अलंकृत हैं। ऊपरी भाग में चैत्य-वातायन अर्द्धगोलाकार रूप में बना है। इस गुहा के माथे की विचित्र अवस्था है। भीतरी स्तूप की स्थिति यह बतलाती है कि यह हीनयान चैत्य है, किंतु पार्श्ववर्ती दीवार पर बुद्ध की बैठी या खड़ी प्रतिमा पर्वत काट कर बनायी गई है। देखने से पता चलता है कि मूल योजना में इनके लिए कोई स्थान न था। कालांतर में महायान कलाकारों ने इतनी अधिक बुद्धमूर्ति खोद कर महायान चैत्य का रूप बनाने का प्रयत्न किया। फलक की दाहिनी ओर बुद्धप्रतिमाएँ खुदी दिखलायी पड़ती हैं।

फलक ५१

अजंता महायान कलाकारों ने चैत्य मंडप तैयार किया, जिसमें स्तूप के साथ बुद्धप्रतिमा बनायी गई। फलक में अजंता गुहा १९ चैत्य मंडप है। चैत्य शैलोत्कीर्ण बौद्ध वास्तुकला में सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करता है। यह ईसवी सन् पाँचवीं सदी की कृति है। मध्य में स्तूप की कल्पना मात्र को लेकर निर्माण-कार्य किया गया। अन्यथा स्तूप की बनावट सर्वथा भिन्न है। अंदर के स्तंभों के आकार तथा रचना गुहा संख्या १ के समान है। डाटदार छत में बनी पत्थर की पसलियाँ लकड़ी के कड़ियों की याद दिलाती हैं। स्तंभों के शीर्ष में बुद्ध की आसीन प्रतिमा उकेरी गई है। छज्जों के कोष्ठों में भी बुद्ध-मूर्ति है तथा पशु एवं मनुष्य की आकृतियों से युक्त है। स्तूप के ऊपरी ढोल के आकार के निचले भाग में बुद्धप्रतिमा खड़ी है। मुकुट के स्थान पर हरमिका बढ़ती गई है, जिसमें तीन छत्रावलि हैं। इस प्रकार महायान स्थापत्य में स्तंभों का अलंकरण तथा शीर्ष एवं स्तूप में बुद्धप्रतिमा की प्रतिष्ठा विशेष उल्लेखनीय है।

फलक ५२

अजंता गुहा संख्या १९ की बाहरी दीवार की खुदाई स्पष्टतया महायान की देन है। इसमें चैत्यद्वार की पार्श्ववर्ती दीवार पर बुद्धमूर्तियों को नाना रूप में खुदाई की गई है। प्रायः सभी उकेरी गई हैं।

फलक ५३

इस फलक में अजंता की गुहा संख्या २६ का दृश्य दिखलाया गया है। यह भी महायान चैत्य मंडप का भीतरी दृश्य उपस्थित करता है। मध्य में स्तूप बना है। चबूतरे को काट कर संभसहित ताख में बुद्ध की बैठी मूर्ति है। ऊपर ढोलनुमा अड है। सबसे ऊपर हरमिका। डाटदार छत की प्रस्तर की पसलियाँ दीख पड़ती हैं। स्तंभों का अलंकरण अद्वितीय है। मेहराब के नीचे चारों तरफ फलक में बुद्धप्रतिमा उकेरी गई हैं। स्तंभ के शीर्ष में भी नाना प्रकार के अलंकरण हैं।

फलक ५४

आंध्र प्रदेश में औरंगाबाद से तीस किलोमीटर दूरी पर एलोरा की गुफाएँ स्थित हैं। इस स्थान पर बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन लोगों ने गुफाएँ खुदवायी, किंतु तीनों में बौद्धों ने सर्वप्रथम उस स्थान पर कार्य प्रारंभ किया था। एलोरा में जितनी गुफाएँ बनी हैं उनमें गुहा संख्या १० चैत्यमंडप है, शेष विहार हैं। इसे विश्वकर्मा गुहा कहते हैं; क्योंकि कलात्मक दृष्टि से यह कला में सिरमौर है। कलाकारों की कुशलता की चोटी देखने को मिलती है। यों तो हीनयान मत में चैत्य मंडप तथा विहार पृथक्-पृथक् बने थे। चैत्य मंडप में स्तूपाकार दीख पड़ता है। महायान मत के अभ्युदय के पश्चात् बुद्धप्रतिमा सहित चैत्य में स्तूप खोदे गए। वर्तमान फलक में स्तूप से संबद्ध बैठी बुद्ध-प्रतिमा दिखलाई गई है। यानी गुहा संख्या १० महायान चैत्य मंडप था।

पाँचवीं सदी के पश्चात् चैत्य तथा विहार एक ही स्थल पर संयुक्त रूप में बनाए गए। कोनार्क तथा पितलखोरा में भी हीनयान के ऐसे उदाहरण मिलते हैं। एलोरा का यह चैत्य मंडप मठ से जुड़ा है यानी विहार तथा चैत्य संयुक्त रूप में बनाए गए। यह चैत्य मंडप अजंता के चैत्य के समकालीन है, परंतु इसमें अलंकरण की प्रचुरता नहीं है। एलोरा की गुहा क्षेत्रफल में ८५ फुट × ४४ फुट × ३४ फुट विस्तृत है। इस प्रकार विश्वकर्मा चैत्य मंडप विकसित स्वरूप उपस्थित करता है।

विश्वकर्मा चैत्य मंडप काष्ठ की इमारत का अनुकरण है। लकड़ी की कड़ियों के स्थान पर मेहराब में प्रस्तर की पसलियाँ बनी हैं। फलक के ऊपरी भाग में प्रस्तर की कड़ियाँ दीख पड़ती हैं। यह चैत्य ऊँचे चबूतरे पर स्थित दीख पड़ता है, जिसमें सिंह की आकृतियाँ बनी हैं। इसके बरामदे में स्तंभों का आधार सादे प्रस्तर का आधा है। भाग वर्गाकार है। पाया का ऊपरी भाग अनलं-

कृत है। इन स्तंभों के सिरे पर पूरे भाग में चित्रवत्सरी दीख पड़ती है, जिसमें चलते हाथी, अश्व, हिरन एवं घुड़सवार की आकृतियाँ बनी हैं। इसका तात्पर्य यह था कि सभी पशु या मनुष्य बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए लालायित थे।

चैत्य मंडप के स्तंभों द्वारा मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी पृथक् हो जाती है। मध्यवीथी में स्तूप स्थित है, जिसकी तिथि सातवीं सदी मानते हैं। स्तूप का चबूतरा चारों तरफ से अलंकृत है। मंडप के मुख्य प्रवेशद्वार के संमुख प्रलंपाद आसन में बुद्धप्रतिमा है, जो धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा में बैठी है। दोनों पार्श्व में बोधिसत्व परिचायक के रूप में खूदे हैं। चबूतरे को गहराई में खोद कर बुद्धप्रतिमा बनायी गई है। यह मूर्ति बोधिवृक्ष के नीचे उकेरी है। बायी ओर मंत्रेय तथा दाहिनी ओर पद्मपाणि अवलोकितेश्वर खड़े दिखलायी पड़ते हैं। सिरे के भाग पर आठ मालाधारी गधर्व की आकृतियाँ खुदी हैं। शिल्पकार ने मुख्य मंडप में इस प्रकार चैत्य वातायन तैयार किया है कि भगवान बुद्ध के चेहरे पर सीधी सूर्य-किरणें पड़ती हैं, जिससे देवता का चेहरा चमकता है। ऐसी प्रतिमा के संमुख भिक्षुगण स्तूप की पूजा किया करते थे। फलक में बुद्ध-प्रतिमा के सिरोभाग से ऊपर अङ्ग दिखलायी पड़ता है, जिस पर लहरदार प्रस्तर की हरमिका दिखलायी पड़ती है।

फलक ५५

बंबई के समीप कृष्णगिरि (कंहेरी) नामक पर्वतमाला है, जिसमें बौद्ध कलाकारों ने सी से भी अधिक गुहाएँ खोदीं। विक्टोरिया स्टेशन से बोरीवली नामक रेलवे स्टेशन से कुछ दूरी पर गुफाएँ स्थित हैं। कंहेरी की गुफाएँ हीनयान का अवनति अवस्था के द्योतक हैं। फलक में चैत्य मंडप दीख पड़ता है, जिसके मध्य में सादा स्तूपाकार है। मध्यवीथी के बाएँ-दाएँ कुछ स्तंभ अलंकृत हैं, जिनके आधार में घट बना है तथा शीर्ष में उल्टा पुष्प, चौकी एवं शीर्षस्थ जानवरों की आकृतियाँ हैं। स्तंभों के देखने से कार्य का अधूरापन समझ में आ जाता है। कितने स्तंभों में कुछ भी अलंकरण नहीं है।

फलक ५६

इस फलक में गुफा की दीवार पर खूदे चित्र दीख पड़ते हैं। कंहेरी गुफा संख्या ९० में भगवान बुद्ध के चमत्कार को दिखलाया गया है। श्रावस्ती के महाप्रदर्शन का चित्रण अजंता गुफा में भी है। यहाँ प्रस्तर को अव्यवस्थित ढंग से काट कर बुद्ध की खड़ी या बैठी मूर्तियाँ बनायी गई हैं। फलक के मध्य में बुद्ध प्रलंपाद आसन में बैठे हैं। धर्मचक्र-परिवर्तन मुद्रा है तथा बोधिसत्व

परिचायक के रूप में खड़े हैं। अन्य प्रतिमाएँ भी चोवर सहित बनी हैं तथा हाथ विभिन्न मुद्रा में दीख पड़ते हैं।

फलक ५७

केंद्रीय सरकार के पुरातत्व विभाग ने नालंदा की खुदाई कर महाविहार के अवशेषों को संमुख उपस्थित किया है। उस प्रकाश में लोगों ने महाविहार को विश्वविद्यालय का नामकरण किया, जहाँ दस हजार विद्यार्थीगण अध्ययन करते थे। अध्यापक भी हजार की संख्या में थे। खुदाई से दो प्रमुख इमारतों का पता चला है। पश्चिमी भाग में स्तूपों तथा मंदिरों की पत्तियाँ हैं तथा पूर्वी दिशा में विहार के भग्नावशेष लगातार देखे जा सकते हैं। फलक में उन विहारों का दृश्य है। फलक की दाहिनी ओर महाविहार के आँगन तथा कोठरियाँ भग्न अवस्था में हैं। कोठरी की लंबाई-चौड़ाई स्पष्ट है। आँगन में बरामदे का स्थान चारों तरफ दिखलायी पड़ता है। इस प्रकार नालंदा महाविहार की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है।

फलक ५८

सातवीं सदी के पश्चात् दक्षिण भारत में स्थापत्य कला अधिक विकसित हुई। एक ही स्थान पर अनेक धर्मों के लोग गुहा-निर्माण करने लगे। एलोरा ऐसा स्थान है, जहाँ गुहाएँ नानारूप में बनी हैं। यों तो बौद्ध लोगों ने अपना कार्य सबसे पहले आरंभ किया था, पर ब्राह्मण या जैन कलाकार उनसे पीछे न रहें। एलोरा की गुहाएँ निम्न प्रकार हैं—

- (१) गुहा संख्या १-१२ (बौद्ध),
- (२) गुहा संख्या १३-२९ (ब्राह्मण) और
- (३) गुहा संख्या ३०-३४ (जैन)।

वर्तमान फलक में ब्राह्मण गुहा का चित्र दीख पड़ता है। आठवीं सदी के पश्चात् राष्ट्रकूट-राजाओं ने इनका निर्माण किया था। गुहा संख्या १५ की दीवार पर अंकित लेख से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग इस गुहा के निर्माण के पश्चात् एलोरा आया था। एलोरा की ब्राह्मण गुहाओं में गुहा संख्या १५ तथा १६ विशेष उल्लेखनीय हैं। पंद्रहवीं गुहा 'वशावतार गुहा' नाम से प्रसिद्ध है। परंतु, इसमें प्रधानतया शिव के नाना जलौकिक कार्यों का प्रदर्शन है—

- (१) उमामहेश्वर प्रदर्शन,
- (२) अर्द्धनारीश्वर प्रदर्शन,
- (३) अंधकामुरवध मूर्ति,

- (४) कल्याण सुंदर मूर्ति,
- (५) गंगाधर मूर्ति और
- (६) त्रिपुरांतकवध मूर्ति ।

शिव प्रतिमाओं के संमुख इसका दशावतार नाम सार्थक नहीं प्रतीत होता । संभवतः विष्णु भगवान के कुछ अवतारों—

- (अ) शेषशायी विष्णु,
- (ब) वराहमूर्ति,
- (स) त्रिविक्रम प्रतिमा और
- (द) नृसिंह अवतार

के प्रदर्शन के कारण उसे 'दशावतार गुहा' कहा जाता है ।

फलक में एलोरा की सोलहवीं गुफा का चित्रण है, जिसे 'कैलाशनाथ मंदिर' का नाम दिया गया है । ब्राह्मण गुफाओं की खुदाई बौद्ध गुहाओं के अनुकरण पर की गई थी । किंतु, सोलहवीं गुफा स्थापत्य कला में अद्वितीय है । इसकी योजना पर्वत के शिखर काट कर की गई । यो तो गुफाएँ पर्वत की तलहटी से चट्टान काट कर बनायी गई हैं, पर कैलाशनाथ की कल्पना विचित्र थी । कलाकारों ने मानसपटल पर सारी कल्पना रख कर खुदाई शुरू की । इसमें द्राविड़ शैली तथा आर्य शैली का संमिश्रण है । गुफा का अध्ययन यह बतलाता है कि भीतरी भाग को आँख से ओझल करने के लिए प्रस्तर का एक परदा खड़ा कर दिया गया है, जो देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत है ।

वर्तमान फलक में मंदिर के अंदर की बनावट दीख पड़ती है । एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर अपना सानी नहीं रखता । इसे 'रंगमहल' कहते हैं । मुख्य मंदिर का दृश्य है । ऊँचे चबूतरे पर कैलाशमंदिर का मुख्य मंडप स्थित है । उसमें दो ड्योढ़ियाँ बनी हैं । यह ५७ फुट × ५५ फुट क्षेत्रफल में विस्तृत है । देवालय के भीतर सोलह अलंकृत स्तंभ छत को संभाले हैं । गर्भगृह की छत में नटराज शिव की प्रतिमा खुदी है । महामंडप के भित्तिस्तंभ चित्रवल्ली सहित सुशोभित हैं । देवगृह के बाहरी भाग में प्रदक्षिणा-पथ बना है । ऊपर जाने के लिए उत्तर तथा दक्षिण से दो सीढ़ियाँ बनी हैं, जिसके पार्श्व में रामायण तथा महाभारत की कथाएँ खुदी हैं । रावण कैलाश को सिर पर धारण किए है । अतएव इसे कैलाशनाथ का नाम दिया गया है । फलक में महामंडप

तथा मुख्य देवालय दीख पड़ता है। बायीं ओर कीर्तिस्तंभ है। निचले भाग में पंक्तियों में जानवरों की आकृतियाँ खुदी हैं।

फलक ५९

एलोरा के बीच की गुफाएँ ब्राह्मणधर्म से संबंध रखती हैं। फलक में एलोरा की गुहा संख्या १४ की भीतरी दीवार पर कई चित्र खुदे हैं। बाईं ओर के फलक (Panel) पर विष्णु तथा उनकी भार्या श्री (विष्णु को दो पत्नियाँ हैं—सरस्वती तथा श्री) यानी लक्ष्मी की आकृतियाँ खुदी हैं। विष्णु चतुर्भुज है। एक हाथ से श्री को पकड़े हैं। बाएँ पैर के समीप लक्ष्मी है। दाहिना अर्द्ध पर्यंक आसन में है। पार्श्व में चार परिचारिकाएँ हैं, जिनके सिर पर जटा मुकुट दीक्ष पड़ता है। दो के हाथ में चेंचरी है। तीसरे हाथ में कलश दिखलायी पड़ता है। चौदहवीं गुहा आठवीं सदी में खोदी गई थी, जिसका तात्पर्य यह है कि दक्षिण भारत में मध्ययुग में ब्राह्मण गुफाएँ तैयार की गईं। उन्हें बौद्ध गुफा के अनुकरण पर खोदा गया था।

फलक ६०

एलोरा के कैलाशमंदिर के भीतरी भाग में ऐसी इमारतें बनी हैं, जिन्होंने स्वतंत्र रूप में मंदिर का रूप धारण कर लिया है। कैलाश गुहा संख्या १६ के परदे के मध्य द्वार मार्ग से अंदर जाने पर बायीं ओर बरामदा है। उसके बीच से ऊपर जाने का मार्ग है। बरामदे के ऊपरी भाग में सुंदर मंदिर बना है, जो 'लंकेश्वर मंदिर' कहा जाता है। लंकेश्वर मंदिर तो ऊँचे चबूतरे पर है, किंतु उसके पार्श्व में प्रस्तर के खुदे फलक दीख पड़ते हैं। बायीं ओर की दीवार पर विष्णु के नृसिंह अवतार की प्रतिमा है, जो फलक में दिखलायी पड़ती है। मानवाकार शरीर, किंतु सिंह का चेहरा। देवता का मुँह खुला है। भयावह चेहरा है। क्रोध टपक रहा है। डरावनी आँखें हैं। चतुर्भुज प्रतिमा है। ऊपरी बाएँ हाथ में शंख वर्तमान है। नृसिंह की गोद में हिरण्यकश्यप राक्षस दिखलाया गया है। दाहिने हाथ में तलवार है। बघनख से नृसिंह ने राक्षस के पेट को चीर दिया और अंतर्द्वियाँ बाहर दीखती हैं। पार्श्व में नारदजी हैं तथा दो स्त्रियों की वामन आकृति है। नृसिंह के दाहिने प्रह्लाद खड़ा है। सारे कथानक को शिल्पी ने सजीवता के साथ प्रस्तर में खोदा है।

फलक ६१ तथा ६२

एलोरा की गुहा संख्या १४ में अनेक देवी-देवताओं के चित्रण हैं। प्रस्तर काट कर दीवारों के फलक पर मूर्तियाँ उकेरी गई हैं। चौदहवीं गुहा

आठवीं सदी में निर्मित हुई। इस गुहा के मध्य में बारह स्तंभ छत को सँभाले हैं। मुख्य मंडप के बायीं तथा दाहिनी पार्श्ववर्ती दीवार अनेक फलकों (Pane's) में विभक्त हैं और सुंदर अलंकृत भित्तिस्तंभों से पृथक् की जाती हैं। दाहिनी दीवार के दूसरे फलक पर शिव की रावणानुग्रह मूर्ति खोदी गई है। उसमें दशानन (रावण) हाथों से कैलाश पर्वत को उठाए है, जिस पर शिव-पार्वती बैठे हैं। शिव की प्रतिमा चतुर्भुजी है। दो हाथों से पार्वती को पकड़े हैं; ताकि कैलाश के हिलने का उनको भय न हो। शिव का एक हाथ विस्मय-मुद्रा में है। पार्श्व में चार परिवारक दीख पड़ते हैं। इस कारण चौदहवीं गुहा 'रावण की खाई' भी कही जाती है।

फलक ६२ में सप्तमातृका की आकृतियाँ हैं। एलोरा की ब्राह्मण गुफाओं संख्या १४, १६ तथा २२ में सप्त मातृकाओं को स्थान दिया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

- (१) ब्रह्माणि,
- (२) माहेश्वरी,
- (३) कीमारी,
- (४) वैष्णवी,
- (५) वाराही,
- (६) ऐंद्री और
- (७) चामुंडा।

गुहा १६ तथा २२ में उनकी संख्या ८ तक दीख पड़ती है, किंतु साहित्य में सप्तमातृका ही उल्लिखित है तथा समाज में आज भी पूजित होती है। एलोरा गुहा संख्या १४ में दाहिनी ओर उनकी संख्या ७ ही है। वहाँ साथ में वीरभद्र (शिव) गणेश तथा काल की भी कल्पित मूर्ति है। वर्तमान फलक में सुखासन में बैठी मातृकाएँ गोद में बच्चा लिए हैं, जो माता के भाव का द्योतक है। फलक के निचले भाग में सात मातृकाओं के पतियों (देवताओं) के वाहन (चिह्न) की आकृति खुदी है। उससे मातृका का नामकरण सरल हो जाता है अन्यथा सभी की बनावट, वस्त्र आदि एक-से हैं। निम्न श्लोक द्वारा उनके वाहन का नामोल्लेख हो जाता है—

प्रेतसंस्थातु चामुंडा वाराही महिषासना
ऐंद्री वज्र समाख्या, वैष्णवी गरुडासना
माहेश्वरी वृषाख्या, कीमारी शिखि वाहना

लक्ष्मी पूजासना देवी, ईश्वरी वृषबाहना
ब्राह्मी हंस समारूढ़ा सर्वाभरण भूषिता ।

फलक ६३

भारतवर्ष में वैष्णवमत के प्रचार के कारण भक्तिभावना का विकास हुआ । हीनयान के चैत्यो में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा स्तूप के साथ खोदी गई । अजंता के विहार संख्या १९ और २६ तथा एलोरा के विश्वकर्मा गुहा में बुद्ध-मूर्ति की स्थापना दोस्त पड़ती है । एलोरा में विहार तथा चैत्य की समीक्षा और गुहा ११ तथा १२ में गुहा के मध्यकक्ष में बुद्धमूर्ति की प्रतिष्ठा वर्णित है । तात्पर्य यह है कि पूजास्थान की आवश्यकता के कारण बौद्ध गुहा में बुद्ध तथा ब्राह्मण गुफाओं में शिव की प्रतिमाएँ खोदी गई । एलिफेंटा तथा एलोरा कैलाशनाथ मंदिर उसके उदाहरण हैं । बौद्ध चैत्यों के युग के पश्चात् हिंदू तथा जैन धार्मिक जनता ने मंदिरों का निर्माण किया । विष्णु तथा शिव के हिंदू मंदिरों में तथा जैन देवालयों में तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की गई । धार्मिक भावना के साथ भारत के मंदिर तथा शिल्प भारतीय प्रतिभा की उपज है । मंदिर के स्थापत्य तथा शिल्प में धार्मिक भाव का संचार होता है । इस विचार को शिल्पियों ने मूर्तरूप दिया और मंदिर-निर्माण में आध्यात्मिक भावना तथा साधना का स्पष्टीकरण किया ।

मंदिर का वास्तु साधारण जन के आवास से भिन्न था । चैत्य में स्थित राख (शरिर) को धातुगर्भ कहते थे । अतएव, हिंदू मंदिरों में प्रतिमा-स्थान को गर्भगृह कहा गया । वर्तमान फलक में सांची पर्वत पर निर्मित गुप्त मंदिर का मुख्य कक्ष (गर्भगृह) तथा सामने स्तंभों सहित बरामदा है । इसे गुप्त शासन के आरंभ में बनाया गया था । गुप्त मंदिर की विशेषता यह है कि ऊँचे चबूतरे पर मंदिर का निर्माण होता था । वहाँ तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनती थीं । प्रारंभिक दशा में चिपटी छत बनती रही । गर्भगृह में द्वार रहता, जिसके द्वारा उपासक प्रतिमा-पूजन के लिए प्रवेश करता था । मंदिर के स्तंभ अलंकृत होते थे । इन सभी लक्षणों को इस चित्र में पाते हैं । सांची के मुख्य स्तूप के पार्श्व में यह मंदिर स्थित है ।

फलक ६४

मंदिरों में शिखर सहित गर्भगृह का निर्माण गुप्त स्थापत्य का विकसित रूप है । प्रारंभ में छतें चिपटी थीं, किंतु उस पर चारों तरफ दीवार बनी, जो क्रमशः ऊपर की ओर घटती गई । एक स्थान पर चारों तरफ

का आकार मिल जाता है। पूरे आकार को 'शिखर' कहने लगे। फलक पर झाँसी के देवगढ़ मंदिर का अवशेष दीख पड़ता है। छत के ऊपर टूटा हुआ शिखर है। इसमें चार द्वार बने हैं। मुख्य द्वार संमुख है। दाहिनी ओर मंदिर की बाहरी ताख पर देवप्रतिमा स्थित है। मंदिर के चारों तरफ चबूतरे पर प्रदक्षिणा-मार्ग है।

फलक ६५

बौद्धधर्म के चार प्रधान तीर्थों में बोधगया दूसरा प्रसिद्ध स्थल है, जहाँ कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ को दिव्य ज्ञान (सबोधि) मिला। यह घटना गया के समीप घटित हुई थी, जिसके कारण वह स्थान बोधगया तथा वृक्ष बोधिवृक्ष कहलाया (जिसके नीचे ज्ञान मिला था)। पुरातत्त्व के अन्वेषण से मंदिर के चतुष्कोण का आकार सामने आया, जो लगभग १६० फुट ऊँचा है। केंद्रीय शिखर के चारों कोण एक स्थान पर नहीं मिलते हैं। ऊपरी भाग समतल है, जिस पर आभलक शिला दीख पड़ती है। आश्चर्य यह है कि स्तूप की तरह पार्श्व में अनेक छोटे स्तूप चारों तरफ बने हैं। चारों कोने पर ऊपरी भाग में बुर्ज बने हैं, जो मुख्य शिखर के संक्षिप्त रूप हैं। विशालता के कारण यह मंदिर दूर तक दिखलायी पड़ता है। इस मंदिर के चारों तरफ वेष्टनी बनी थी, जिसके अवशेष देखे जा सकते हैं। मंदिर की बाहरी दीवार की ताख पर बौद्धमत की अनेक मूर्तियाँ स्थित की गई हैं। चारों तरफ फैले स्तूप तथा सुंदर मूर्तियों को देख कर जनसमुदाय चकित हो जाता है।

फलक ६६

उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर 'मंदिरों का नगर' कहा जाता है। जितने मंदिर विद्यमान हैं, उससे अधिक ध्वंस हो गए हैं। उत्तरी भारत में मंदिरों के विकास में दो शैलियाँ काम करती रहीं। पूर्वी भाग में 'उड़ीसा शैली' की प्रधानता थी। उस पद्धति में जो लक्षण विकसित हुए, उनका आरंभ तथा संपूर्णता भुवनेश्वर के मंदिरों में देखी जाती है—

- (१) समतल भूमि पर मंदिर का निर्माण,
- (२) परकोटा,
- (३) गर्भगृह पर विशाल शिखर,
- (४) सभामंडप,
- (५) भोगकक्ष और
- (६) नटमंडप।

इन सभी लक्षणों की संपूर्णता क्रमशः पुष्पित तथा फलवती हुई । वर्तमान फलक में परशुरामेश्वर मंदिर का चित्र है । इसमें गर्भगृह पर शिखर है, जो रेखा द्वारा अलंकृत है । मंदिर को देखने से प्रकट होता है कि समयांतर में सभामंडप जोड़ दिया गया है । दोनों की बनावट एक साथ नहीं हुई थी ।

फलक ६७

भुवनेश्वर का मुक्तेश्वर मंदिर कालांतर में बनाया गया । इसमें परकोटा दीख पड़ता है । गर्भगृह पर शिखर तथा बड़ी आमलक शिला एवं कलश स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहे हैं । सभामंडप का शिखर नीचा है तथा भोगमंडप का शिखर मुख्य शिखर से छोटा है । समीप में अन्य कई छोटे-छोटे पूजा निमित्त मंदिरनुमा आकार बने हैं । उड़ीसा के मंदिरों में मुक्तेश्वर मंदिर ही ऐसा देवालय है, जिसके अंदर की दीवार अलंकृत है ।

फलक ६८

यद्यपि उड़ीसा के भुवनेश्वर नगर में अनेक प्रकार के मंदिर हैं, तथापि वास्तुकला की दृष्टि से उनमें समानता है । ये आर्य यानी उत्तरी भारत के नागर शैली के सर्वोत्तम नमूने हैं । ७ वीं सदी से आरंभ हो कर ग्यारहवीं सदी तक चरम सीमा पर पहुँच गया । संक्षेप में उड़ीसा के सभी मंदिरों की रूप-रेखा एक-सी है । परशुरामेश्वर मंदिर से आरंभ होकर राजारानी मंदिर में उसका विकसित रूप पाते हैं । राजारानी मंदिर मध्य भारत के खजुराहो मंदिर के सदृश है, जिसके देवल तथा शिखर में समानता है । मंदिर में गर्भगृह पर शिखर तथा जगमोहन (सभाकक्ष) पार्श्व में ही स्थित है । इसकी बनावट में अन्य उड़ीसा मंदिर से कुछ भिन्नता है । यद्यपि देवल की योजना वर्गाकार थी, परंतु बाहर तथा भीतर ताख की स्थिति के कारण देखने से गोलाकार दीख पड़ता है । फलक पर राजारानी मंदिर की संपूर्ण बनावट को स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है ।

फलक ६९

भुवनेश्वर में मंदिरों की सुंदरता तथा छटा सभी को आकर्षित करती है । आठ हजार मंदिरों में केवल कई सौ शेष रह गए हैं । फलक में लिंगराज मंदिर का दृश्य है, जिसमें चारों कक्ष वर्तमान हैं । देवल के ऊपरी भाग में शिखर है । पूर्वी भारत के मंदिरों में लिंगराज सर्वोत्कृष्ट है । यह विशाल प्रांगण में बना है । इसके विमान की ऊँचाई १२७ फुट है । कई कक्ष बने हैं, जहाँ

सीढ़ियों से प्रवेश करते हैं। मूलरूप में गर्भगृह तथा जगमोहन बना था। नट-मंडप बीच में है तथा भोगकक्ष कालांतर में जोड़ा गया था। इस मंदिर में विभिन्न कक्ष एक सीध में नहीं हैं। केंद्रस्थ मंदिर के पार्श्व में अनेक छोटे मंदिर बने दीख पड़ते हैं। मंदिर के शिखर के ऊपर विशाल आमलक शिला है तथा सबसे ऊपर कलश बना है। यह मंदिर उड़ीसा की स्थापत्य कला की अमूल्य निधि है।

फलक ७०

उड़ीसा की स्थापत्यकला की सबसे बड़ी उपलब्धि कोणार्क सूर्यमंदिर है, जो पुरी से बत्तीस किलोमीटर दूर स्थित है। फलक में उस मंदिर के अवशेष दीख पड़ते हैं। देवल तथा शिखर, जो २०० फुट ऊँचा था, गिर गया है। वह रथ की शकल में बना है; क्योंकि सूर्य सदा रथ पर भ्रमण करते हैं। फलक में मंदिर के चबूतरे के भाग पर रथ के पहिए देखे जा सकते हैं। उनकी संख्या बारह हैं। मंदिर के नटमंडप तथा भोगकक्ष दिखलायी पड़ते हैं, जो अंतराल से पृथक् हैं। इसके बाहरी दीवार तथा रथ पर शिल्पियों ने शृंगारिक और लोककथाओं के कल्पित अभिप्रायों का प्रयोग किया है। कोणार्क का मंदिर स्थापत्यकला की अनुपम कृति है।

फलक ७१

मध्य प्रदेश की खजुराहो शैली का सर्वोत्तम उदाहरण कंदरिया महादेव का मंदिर है, जो फलक में दिखलायी पड़ता है। चंदेल राजाओं द्वारा ९ वीं से १२ वीं सदी तक जो मंदिर निर्मित हुए हैं, वे नागर शैली के अनुसार तैयार किए गए थे। खजुराहो चंदेल राजधानी होने के कारण मंदिरों का नगर है। मध्य प्रदेश के मंदिरों की विशेषता के कारण तथा खजुराहो के सदृश निर्माण होने से सभी खजुराहो शैली के मंदिर कहे जाते हैं। इसके तीन प्रधान अंग हैं—

- (१) गर्भगृह,
- (२) मंडप या जगमोहन और
- (३) अर्द्धमंडप।

खजुराहो के कंदरिया महादेव मंदिर में विकसित महामंडप भी स्थित है। सभी मंदिर ऊँचे जगतीं पर बने हैं। महामंडप के साथ प्रदक्षिणापथ जुड़ा रहता है। फलक में मंदिर का ऊँचा चबूतरा स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। गर्भगृह के ऊपर शिखर सबसे अधिक ऊँचा है। शेष तीन शिखर क्रमशः छोटे होते गए हैं। मुख्य मीनार के चारों तरफ शिखरनुमा आकार अधिक संख्या में

दीख पड़ते हैं, जिन्हें 'ऊरुशृंग' कहते हैं। यही शैली मध्ययुग तक प्रचलित रही। आजभी यदाकदा खजुराहो शैली के मंदिर बन रहे हैं।

फलक ७२

खजुराहो मंदिर के चबूतरे पर सर्वप्रथम अधिष्ठान है, जिसमें उत्कीर्ण अभिप्रायों का अलंकरण दर्शनीय है। मंदिर के दूसरे भाग या जंघा यानी बाह्य-दीवारें हैं। इनको प्रचुरता से अलंकृत किया गया है। जंघा की तीन पंक्तियों में उत्कीर्ण मूर्तियाँ दीख पड़ती हैं। फलक में खजुराहो के मंदिर की बाहरी ताख तथा गवाक्ष में अतुलनीय सुंदर प्रतिमाएँ खुदी दीख पड़ती हैं। कोई ऐसा मोड़ नहीं है, जिसकी ताख पर मूर्ति खुदी न हो। हममें अधिकतर कामासक्त शृंगारिक मूर्तियों को स्थान दिया गया है। उस समय लोगो को गृह्यतंत्र में अथवा शाक्तमन में विश्वास था कि वामाचार की क्रिया से सहज आनंद प्राप्त होता है। अतएव, इन प्रदर्शनों में अप्सराएँ, सुंदरी नायिकाएँ तथा अन्य आकाश भी शृंगारिक मुद्रा में उत्कीर्ण हैं। फलक में इसी प्रकार की अत्यधिक मूर्तियों को स्थान दिया गया है। कंदरिया महादेव के मंदिर का एक कोना ही दिखलायी पड़ता है।

फलक ७३

वर्त्तमान फलक पर जैन मंदिर का भीतरी दृश्य दिखलायी पड़ता है। भारत में जैन शैली का कोई पृथक् स्थान न था, किंतु ब्राह्मण अथवा बौद्ध स्थापत्य के साथ साथ समान पद्धति पर जैन मंदिर भी बनाए गए थे। उदाहरण के लिए एलोरा में बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन गुफाएँ खोदी गई थी। जैन स्थापत्य में कोई असमानता नहीं है। पृथक् रीति नहीं है। जैन लोगो ने पर्वत पर ही मंदिर बनाना श्रेयरकर समझा। पर्वत शिखरों पर जैन मंदिरों की अधिकता से वे 'मंदिर के नगर' कहलाए। वे जैनियों के तीर्थस्थल हो गए। उन जैन मंदिरों की विशेषता यह है कि सभी चौमुखी बनाए गए थे। चारों दिशाओं से पूजित होने के लिए चार तीर्थंकर की प्रतिमा पीठ-से-पीठ जुड़ी स्थापित की गई। इस कारण मंदिरों में चार द्वार होते थे। राजपुताने के आबू पर्वत के मंदिर उसके उदाहरण हैं। काठियावाड़ में भी 'मंदिर नगर' के नमूने शत्रुंजय तथा गिरनार पर्वतों पर स्थित हैं। १०७ फुट ऊँची शत्रुंजय पहाड़ी पर निर्मित पालिताना के समीप भव्य मंदिर बनाए गए, जिन्हें धार्मिक जैन श्रावकों ने निर्मित किया था। ३५० फुट लंबाई में एक ही स्थान पर कई सौ मंदिर बने हैं। इनमें चार द्वार हैं तथा प्रतिमा के सामने सभाकक्ष दिखलायी

पड़ता है। फलक में आदिनाथ मंदिर का मुख्य द्वार दीख पड़ता है। सामने का कक्ष अलंकृत स्तंभों पर खड़ा है। इन स्तंभों में फूल, पत्तियाँ, गायकों तथा नर्तकी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

फलक ७४

वर्तमान फलक में कश्मीर के मार्तण्ड मंदिर का भग्नावशेष दीख पड़ता है। भौगोलिक स्थिति के कारण कश्मीर स्थापत्य की निजी विशेषता है। आठवीं सदी से ललितादित्य के शासनकाल से कश्मीर में मंदिरों का निर्माण आरंभ हुआ और उसने विशाल मंदिर तैयार कराया। मंदिर विशाल पाषाणखंडों द्वारा निर्मित हैं। मार्तण्ड मंदिर की स्थापत्यकला उच्च कोटि की है। बौद्ध धर्म के लोप हो जाने पर सूर्य का मंदिर बनाया गया होगा। मंदिर के अहाते के मध्य में देवप्रतिमा के लिए स्थान बना है, जिसके चारों तरफ स्तंभावलि सहित बरामदा है।

फलक ७५

दक्षिण में चालुक्यनरेश प्रसिद्ध शासक थे, जिनके काल में मैसूर में अनेक मंदिर बने, जो चालुक्य शैली की इमारतें कहे जाते हैं। इनमें एहोल, पट्टादकल तथा बीजापुर के मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्षिण के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में प्रचलित द्राविड़ और चालुक्य शैली के पीछे समान प्रेरणा थी। एक ही आदर्श से अनुप्राणित थे। इन स्थानों पर मिश्रित शैली को कार्यान्वित किया गया था। प्राचीन गुहा शैली का रूप भी देखने को मिलता है। एहोल के दुर्गामंदिर में चैत्य को हिंदू रूप दे दिया गया है। बादामी में भी प्राचीन गुफा मंदिर बने थे। पहाड़ियों पर स्थित खभेदार मंडप बने हैं।

बादामी से सोलह किलोमीटर दूर पट्टादकल का स्थान है, जहाँ अनेक नागर शैली के मंदिर स्थित हैं। अन्य द्राविड़ पद्धति के मंदिर देखे जा सकते हैं। फलक में पट्टादकल के विरूपाक्ष मंदिर का चित्र है, इसकी स्थापत्यकला पर पल्लव प्रभाव है। संभवतः यहाँ दोनों शैलियों के शिल्पियों ने मिल कर काम किया। मध्यवर्ती देवालय के सामने एक पृथक् मंडप है, जिसमें नंदी की प्रतिमा स्थापित है। मंदिर का वर्गाकार शिखर द्राविड़ शैली का है।

फलक ७६

तामिलनाडु तथा आंध्र प्रदेश के कुछ भागों में मंदिर स्थापत्य की एक विभिन्न शैली का विकास हुआ, जिसे द्राविड़ पद्धति कहते हैं। द्राविड़ शैली के प्राचीन-

तम उदाहरण पल्लव राज्य के प्राचीन नगर मामल्लपुरम् (वर्तमान महाबलिपुरम्) में पाया जाता है। उस युग में दो प्रकार के मंदिर तैयार किए गए।

(१) पर्वत के चट्टान को काट कर और

(२) प्रस्तर के टुकड़ों को जोड़ कर।

पहले प्रकार के स्थापत्य नमूनों को 'रथ' के नाम से पुकारते हैं। वर्तमान फलक में महाबलिपुरम् में चट्टान काट कर एक रथ का चित्र है, जिसे अर्जुन रथ कहते हैं। रथ नामकरण का कारण यह है कि ये मंदिर उन रथों के समान हैं, जिन पर देवता की रथयात्रा संपन्न की जाती थी। एकाक्षर रथ बौद्ध विहारों पर आधारित हैं। रूपरेखा में यह रथ चौकोर है। ऊपर पिरामिड का स्वरूप है। इस फलक में दो मंजिल का रथ है, जिसकी छत ढोलाकार है। किनारे पर ताख हैं। शिला से गढ़े इन मंदिरों की बाहरी दीवार पर नाना आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें देवता की मूर्तियाँ, बानरों अथवा जंगली जानवरों की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। अर्जुन रथ मामल्ल शैली का नमूना उपस्थित करता है। उसके बाईं ओर शोपणीनुमा द्वीपदी रथ बना है। इस प्रकार पांडवों के नाम पर सभी रथों का नामकरण किया गया था।

फलक ७७

महाबलिपुरम् में सात रथ विद्यमान हैं, जिनमें समुद्रतट मंदिर का ढाँचा फलक में दीख पड़ता है। सातवीं सदी के अंत में पल्लवनरेश राजसिंह ने नए प्रकार के मंदिर बनवाए, जो प्रस्तर के टुकड़ों को चुनकर बनाए गए थे। तटमंदिर भी उसी युग का उदाहरण है। मंदिर की योजना का अंदाजा देखने से लग जाता है, परंतु भौगोलिक कारणों से यह मंदिर नष्ट हो रहा है, जिसके अनगिनत प्रस्तर के टुकड़े बिखरे दीख पड़ते हैं। सामने मंदिर का द्वार है। भग्न चाहरदीवारी तथा गर्भगृह के मध्य प्रदक्षिणापथ है। देवालय की बाहरी दीवार पर खुदी सारी आकृतियाँ नष्ट हो रही हैं। शिखर पाँच मंजिल का है तथा शीर्ष पर ढोलनुमा आकार है।

फलक ७८

पल्लवनरेश राजसिंह ने महाबलिपुरम् के अतिरिक्त कांची में भी मंदिरों का निर्माण किया, जो द्राविड़ शैली के सुंदर नमूने हैं। कांची के दो मंदिरों में कैलाशनाथ मंदिर अत्यंत प्रसिद्ध है। इस नगर में आज भी मंदिरों का बाहुल्य है। फलक में कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर का चित्र है। इसमें पल्लव स्थापत्य के सभी अंग विद्यमान हैं। विशेषता यह है कि मुख्य द्वार के ऊपर भी

शिखर का आकार है, जो गोपुरम् का आरंभिक रूप उपस्थित करता है। गर्भगृह के ऊपर शिखर ठोस तथा अधिक विकसित दीख पड़ता है। मंदिर के परकोटे में छोटे कक्ष दीख पड़ते हैं, जिनमें प्रतिमाएँ स्थापित की गई थीं।

फलक ७९

दक्षिण भारत के मैसूर प्रदेश में चालुक्यनरेशों के स्थान को होयसल राजाओं ने ले लिया, जिनका शासन स्थापत्य के लिए भी प्रसिद्ध है। फलक में मैसूर नगर के समीप चालीस किलोमीटर दूर सोमनाथपुर में केशवमंदिर चित्रित है। इसमें तीन शिखरयुक्त गर्भगृह दीख पड़ते हैं, जो कोना-कोना संबद्ध है। इस मंदिर के चारों तरफ प्रदक्षिणा-पथ दीख पड़ता है। मंदिर की जगती नीची है, जिस पर जाने के लिए सामने पाँच सीढ़ियाँ बनी हैं। मुख्य गर्भगृह का द्वार सामने है। जगती का भाग स्थान-स्थान पर कोण-आकार का हो जाता है। बिमान की पूरी ऊँचाई में एक के ऊपर दूसरी-तीसरी श्रेणियाँ दीख पड़ती हैं। उनमें छोटे-छोटे मंदिरों के आकार बने हैं। मंदिर के छज्जों को पूरी तरह खोदा गया है, जिन पट्टियों पर देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

फलक ८०

दक्षिण क्षेत्र में मैसूर के आसपास दो शताब्दियों (ई० स० १२५०-१३००) तक होयसल शासन रहा, जिन्होंने नई कला को प्रोत्साहित किया। उसे होयसल शैली का नाम दिया गया है। ग्यारहवीं सदी में स्थापत्य की जगह उससे संबद्ध मूर्तिकला पर विशेष ध्यान दिया गया। फलक में होयसल शैली के प्रसिद्ध मंदिर होयसलेश्वर का चित्र है। वह हेलविद में तैयार किया गया था। मंदिरों की दीवारों पर अनुपम तथा प्रचुरमात्रा में खुदाई दिखलायी पड़ती है। तक्षण कला की सरलता तथा बारीकी के लिए तत्देशीय प्रस्तर प्रयोग हुआ। मंदिर के चबूतरे को कई पंक्तियों में बाँटा गया है तथा सभी पट्टियाँ प्रचुरता के साथ उत्कीर्ण हैं। इन मंदिरों के कटान के कारण तारे के समान आकार दीख पड़ता है। प्रत्येक मोड़ पर दीवार तराशी गई है, जिसमें मानवमूर्तियों के पट्ट-पर-पट्ट हैं। बाहरी दीवार के तल में उत्कीर्ण पट्टियों में गज सिंह की आकृतियाँ दिखलायी पड़ती हैं। रामायण एवं महाभारत के कथानक भी प्रदर्शित हैं। तक्षण कला का यह अद्भुत नमूना है।

फलक ८१

वर्तमान फलक में एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर का चित्र है। एलोरा की गुफाओं के मध्य में ब्राह्मण गुफाएँ हैं, जिनमें कैलाशनाथ (गुहा संख्या १६) अपनी विशेषता के लिए सर्वप्रसिद्ध है। इसकी बनावट अन्य गुफाओं से भिन्न है। गुफाएँ पर्वत की तलहटी से खोदी जाती रही। किंतु, इस मंदिर की योजना पर्वत के ऊपरी भाग से आरंभ होकर निचले भाग में उत्कीर्ण होती चली आई। मध्य में विशाल चट्टान को रख चारों तरफ तलहटी तक खुदाई संपन्न की गई। तत्पश्चात् मध्य चट्टान को खोद कर कैलाशनाथ का विशाल मंदिर बनाया गया। इसे राष्ट्रकूट राजा कृष्णराय प्रथम के समय में (आठवीं सदी) पूरा किया गया। इस मंदिर के निर्माण का सारा भार संगतराशों पर रहा होगा। उन शिल्पियों ने मंदिर के विभिन्न अंगों को चिह्नित कर पूरा मंदिर तैयार किया। फलक में मंदिर के दो खंड दिखलाये पड़ते हैं। सिंह स्तंभ पार्श्व में खड़ा है। मंदिर के चबूतरे की दीवार पर रामायण तथा महाभारत की कहानियाँ प्रदर्शित हैं।

फलक ८२

नौवीं सदी के पश्चात् दक्षिण भारत में चोल शासन करते रहे। दो सौ वर्षों तक चोल राजाओं ने पल्लव के निर्माण-कार्य को अधिक विकसित किया तथा विशाल मंदिर बनवाया। फलक में तंजौर में स्थित चोलनरेश राजराजा द्वारा निर्मित वृहदेश्वर मंदिर का चित्र है। गर्भगृह के ऊपर १९० फुट ऊँचा शिखर दीख पड़ता है, इस मंदिर के तीन खंड सामने हैं—

- (१) गर्भगृह (विशाल शिखर सहित),
- (२) अर्द्धमंडप तथा
- (३) स्तंभयुक्त सभा कक्ष (सामने है)।

पूर्वी द्वार पर गोपुरम् है। चारों दिशाओं में छोटे-छोटे मंदिर बने हैं। मंदिर की जगती पचास फुट ऊँची है तथा वर्गकार है। इसके शिखर में तेरह खंड हैं, जो नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः छोटे होते जाते हैं। शीर्ष पर एकाक्षर शृंग है।

फलक ८३

तामिलनाडु प्रदेश के तामिल क्षेत्र में मदुरै नामक शहर को राजधानी बना कर पांड्य नरेशों ने बारहवीं सदी में राज्य किया। इनका राज्य कुमारी

अंतरीप तक विस्तृत था। मदुरै का मीनाक्षी मंदिर भारत में सर्वप्रसिद्ध है। इन्हीं के राज्य में स्थित त्रिचनापल्ली से चार किलोमीटर दूर कावेरी नदी के टापू में रंगनाथ भगवान का मंदिर बनाया गया, जो अपनी विशालता के लिए सर्वप्रसिद्ध है। पांड्य लोगों ने मंदिर के समान ही गोपुरम् को भव्य तथा गौरवमय बनाया। फलक में श्रीरंगम् में निमित्त रंगनाथ मंदिर का विशाल गोपुरम् दिखलाया गया है। यह मंदिर अनेक समकेंद्रित परकोटों से घिरा है, जिसमें १३ गोपुरम् बने हैं। यह द्राविड़ शैली का सबसे प्रमुख तथा विशाल गोपुरम् सहित मंदिर है। सामने सात मंजिल का गोपुरम् स्थित है। निचले प्रवेशमार्ग के ऊपर स्तंभयुक्त द्वार दीख पड़ते हैं। प्रत्येक मंजिल की दीवार पर देवी-देवता तथा दिक्पाल की आकृतियाँ बनी हैं।

फलक ८४

तामिल देश का दूसरा विख्यात मंदिर रामेश्वरम् का है, जो छोटे टापू में स्थित है। इसे सेतुबंध रामेश्वर कहते हैं। इसमें दो देवालय हैं, जो एक के भीतर दो या तीन परकोटे से घिरे हैं। बाहरी दीवार प्रायः आठ सौ फुट लंबी तथा करीब सात सौ फुट चौड़ी है। अतएव अंदर का गलियारा भी उसी पैमाने पर बनाया गया था। फलक में रामेश्वरम् मंदिर का अधिक भव्य खंड चार हजार फुट वाला गलियारा दिखलाया गया है। सभी स्तंभ बारह फुट ऊँचे हैं तथा कठोर प्रस्तर (Granite) के बने हैं। समानुपातिक स्तंभ प्रचुर मात्रा में अलंकृत (खुदे) हैं। हजारों कुशल कारीगरों ने इन्हें तैयार किया होगा। प्रत्येक स्तंभ से राजाओं, मंत्रियों या देवताओं की प्रतिमाएँ जुड़ी हैं।

फलक ८५

पिछले पृष्ठों में वृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति की बातें कही गई हैं। नेपाल सदा से भारत का सांस्कृतिक अंग रहा। बौद्ध मत का प्रचार होने पर वहाँ भी स्तूप बनाए गए थे। वर्तमान फलक में नेपाल के स्वयंभूनाथ का स्तूप दिखलाया गया है। समतल भूमि से एक बड़े तथा ऊपरी छोटे चबूतरे पर स्तूप का आरंभ दीख पड़ता है। छोटे चबूतरे से अंड आरंभ होता है, किंतु हरमिका का स्थान विचित्र प्रकार के आकार ने ले लिया है। उस चौकोर बनावट की प्रत्येक दिशा में दो-दो आँखें बनी हैं। उसके ऊपर चौदह सीढ़ीनुमा आकार सभी दिशाओं में बना है, जो क्रमशः ऊपरी भाग में छोटा होता जाता है। संभव है, उससे चौदह भुवन का बोध होता हो। शीर्ष पर छत्र बना है।

फलक ८६

वर्तमान फलक में कंबुजदेश में निर्मित अंकोरवट का चित्र है। भारतीय सस्कृति के विस्तार से दक्षिण-पूर्व एशिया के भूभागों में हिंदू देवताओं के मंदिर बनने लगे। सूर्यवर्मन द्वितीय ने १२ वीं सदी में इस मंदिर का निर्माण किया था। यह मंदिर भगवान् विष्णु के पूजार्थ तैयार किया गया था। देखने से प्रकट होता है कि पूरी इमारत एक टापू के सदृश झील के मध्य निर्मित है। चारों तरफ उसे खाई से घेरा गया है, जो पानी से भरा है। वह परिखा चार किलोमीटर लंबी और ६५० फुट चौड़ी है। फलक में खाई तथा टापू के सदृश मंदिर दीख पड़ता है। इस मंदिर में प्रवेश निमित्त ३६ फुट चौड़ा मार्ग है, जो विशाल गोपुरम् होकर अंदर जाता है। इसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कई समकेन्द्रित आंगन के मध्य में मुख्य मंदिर निर्मित किया गया था। एक आंगन से दूसरा-तीसरा ऊँचा है। सबसे ऊपर बीच के भाग में शिखरयुक्त गर्भगृह दीख पड़ता है। सभी आंगन में बरामदे हैं, जिनके चार कोने पर चार मीनारें खड़ी हैं। सीढ़ियों के द्वारा दीर्घा पर पहुँचते हैं। निचली गैलरी २६५ गज लंबी तथा २२४ गज चौड़ी है। सभी दीर्घा की दीवारें चित्र-बल्लरी से भरी पड़ी है। उन चित्रों में रामायण तथा महाभारत के कथानक प्रदर्शित हैं। विशेषता यह है कि स्थान-स्थान पर मानव एवं पशु-जीवन की स्थितियों को दर्शाया गया है। फलक को देखते ही अंकोरवट की विशालता का परिज्ञान हो जाता है।

फलक ८७

वर्तमान फलक में प्राचीन भारत तथा भारत की भौगोलिक सीमा के बाहर देशों में निर्मित स्तूपों की बनावट को प्रदर्शित किया गया है। फलक में तीन पंक्तियाँ हैं। प्रथम दो में पाँच-पाँच स्तूप हैं तथा तीसरी पंक्ति में चार। इस प्रकार चौदह स्तूपों की शैलियों का प्रदर्शन किया गया है।

पहली पंक्ति में बाएँ से दाएँ —

(१) मानिक्याला स्तूप (पंजाब) ईसा-पूर्व द्वितीय शती में निर्मित हुआ। उसमें निचले चतुर्तरे पर प्रदक्षिणा-मार्ग है। ऊपर मेधि तथा अंड दीख पड़ते हैं।

(२) साची (ईसा-पूर्व पहली सदी) का स्तूप तोरण, वेदिका, मेधि, अंड, हरमिका तथा छत्र स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हैं। इसमें स्तूप का विकास तथा वेष्टनी का आरंभ देखा जा सकता है।

(३) अमरावती स्तूप (तीसरी सदी) में वेष्टनी, आयकस्तंभ तथा अलंकरण । इस प्रकार सांची से अलंकरण एवं आयकस्तंभ की प्रधानता है ।

(४) काले स्तूप—काले (पूना के समीप) चैत्य मंडप में खोदा गया स्तूप । नई बनावट । पृथक् वेष्टनी का अभाव । यों तो मेधि, अंड, हरमिका तथा काष्ठ छत्र वर्तमान हैं ।

(५) छठी सदी में अजंता चैत्य में महायान प्रभाव दीख पड़ता है । पिछले स्तूपों से बुद्धप्रतिमा का कोई संबंध न था । किंतु अजंता के इस गुहा संख्या २६ में भगवान बुद्ध की मूर्ति स्तूप के साथ उकेरी गई है । उत्तरी भारत में केवल महायान स्तूप में बुद्धप्रतिमा जुड़ी मिली है ।

दूसरी पंक्ति में बाएँ से दाएँ—

स्तूपों का अध्ययन यह प्रकट करता है कि विदेशों में स्तूप-परंपरा का स्वागत किया गया । उनके शिल्पियों ने स्तूप का अनुकरण वहाँ के स्थापत्य में किया था ।

(१) दूसरी पंक्ति का पहला स्तूप सिंधप्रदेश के मीरपुर खास में स्थित है । उसका निर्माण छठी शती के आसपास हुआ था । स्तूप की ऊँचाई तथा परकोटे की स्थिति विशेष उल्लेखनीय है ।

(२) यह स्तूप पश्चिमी भारत के सरहदी प्रदेश में स्वात नदी की घाटी में निर्मित हुआ था । इसमें परकोटा है । ऊपरी भाग (प्रदक्षिणा-पथ) तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं । अंड ढोलाकार है तथा सात छत्र हैं ।

(३) ब्राउन का मत है कि सारनाथ (वाराणसी) का धर्मक स्तूप आरंभिक अवस्था में इसी प्रकार का रहा होगा । वह छठी शताब्दी में तैयार हुआ तथा ऊपरी भाग (अंड) में बुद्धप्रतिमा दीख पड़ती है । हरमिका के ऊपर सात छत्र बने हैं ।

(४) यह थुपाराम सिंहलद्वीप के अनुराधपुर में स्थित है । कहा जाता है कि यह मौर्य युग में निर्मित किया गया । इस कारण अंड अनलंकृत (सादा) है ।

(५) दूसरी पंक्ति का पाँचवाँ चित्र जावा द्वीप के प्रसिद्ध स्तूप बोरो-बुद्ध का है । यह सातवीं सदी में निर्मित हुआ, जिसमें निचले चार चबूतरे आयताकार हैं, किंतु ऊपरी तीन गोलाकार दीख पड़ते हैं । सबसे ऊपर स्तूप का आकार बना है । संसार में ऐसा अन्य स्तूप ज्ञात नहीं है ।

तीसरी पंक्ति में बाएँ से दाएँ :

(१) नेपाल के बोधनाथ स्तूप का चित्र है। यह स्वयंभूनाथ के सदृश है। पृथ्वी की सतह से दो चबूतरे हैं, जिस पर स्तूप खड़ा है। मेधि, अंड तथा हरमिका एवं छत्र दर्शनीय हैं और निजी विशेषता रखते हैं। पूर्व मध्य युग से स्तूप विशाल आकार के निर्मित होने लगे। नेपाल के शिल्पियों ने मूल भाव को भारत से ग्रहण कर नया रूप दिया है।

(२) तिब्बत में स्तूप का सर्वथा नया आकार दीख पड़ता है। ऊँचे चौपहल चबूतरे पर समकेंद्रित चार वृत्ताकार पाद बनाए गए, जिन पर अंड तैयार किया गया। उस पर चौदह छत्र संभवतः चौदह भुवन के द्योतक है।

(३) वर्मा में बौद्धमत के प्रचार के पश्चात् कई सदियों तक स्तूपों का स्यात् निर्माण न हो सका। बारहवीं सदी में निर्मित इस स्तूप का विशाल एवं विस्तृत आकार दर्शनीय है। चार आयताकार चबूतरो के ऊपर स्तूप बना है। मेधि, अंड तथा छत्र दीख पड़ते हैं।

(४) तीसरी पंक्ति का अंतिम चित्र थाइलैंड के स्तूप का है, जो चौदहवीं सदी में बनाया गया था। संभवतः वर्मा के स्तूप के आकार में वृद्धि कर इन चबूतरों का जमघट तैयार किया तथा अंड के भाव को ही स्थान दिया। इतने ऊँचे स्तूप-निर्माण का कारण यह था कि दूर से ही उपासको को पूजा-स्थान का परिज्ञान हो जाए। नेपाल तथा वर्मा के स्तूपों की भी वही प्रक्रिया रही होगी। बुद्ध भगवान ससार से विरक्त हो स्वर्ग में निवास करते हैं। इस भावना को ऊँचे स्तूपों से प्रदर्शित करना स्वाभाविक था। हरमिका को स्वर्ग, देवस्थान मानते हैं तथा छत्र उसके चक्रवर्ती स्वरूप (महान योगी, अलौकिक रूप) को बतलाता है। चक्रवर्ती राजा के सिरोभाग पर छत्र रखते थे। वही मूलभाव यहाँ भी काम कर रहा है। महापरिनिर्वाण सूत्र में तथागत को चक्रवर्ती समझ कर ही स्तूप-निर्माण की चर्चा की गई है। भारत में छत्र को इतना बड़ा रूप नहीं दिया गया, जितना लका, वर्मा, नेपाल तथा थाइलैंड के स्तूपों में देखते हैं।



शब्दानुक्रमणिका

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
(अ)			
अंकोरवट	३२१-२३	अयस-	१२५, ३०५
अंगार चैत्य-	८४	अलबेरुनी-	९४, २३२-३३
अड	१७, १८, २५, २७, ३१, ३५, ६३ ७०, ७४, ८१	अलकप्प-	८४
अंड अलंकरण-	३४, ३५, ७२, ७९	अलंबुशा-	५०
अंतराल	२८, २३४	अल्हण देवी-	३४७ ३५२
अबपाली-	९४	अलाउद्दीन खिलजी-	२५६, २८६
अंशुवर्मन-	३१६	अवशेष पात्र-	२२, ३१४
अजता गुहा एवं चित्रण-	१७, ७५, १०३, १११, १४४, १४६, १४८, १५१, १५४, १५६, १६५, १६७	अवशेष पर स्तूप-	१०, ११, २५, ८३
अजातशत्रु-	२४, ३९, ४९, ७७, ८५, ९७	अवशेष निमित्त युद्ध-	१२, १३
अजातशत्रु स्तूप-	२२	अवशेष लेख-	९
अनंत वासुदेव-	२२२, २२८	अवंतिपुर मंदिर-	२५६
अनाथ पीठिक-	४३, ५९, ७८, ८५, ९४, ९७, १२५, १४०, ३०५-६	अवमेष-	५०
अनिमित्त लोचन स्तूप-	६२	अशोक गुहा-	१०, ९९
अनुराधपुर-	३२५	अशोक एव स्तूप-	११, १२, ३७, ५०, ७६, ८५, ३१४ ३३६
अमरावती-	१५, ४९, ७७, १२२, १३३, ३२५	अस्मिकुंभ-	६
अमरावती वेदिका-	१२, १६, ३४, ३५, ४० ४९ ५१	आजीविक गुहा-	१००, १०९, ११० १४०, १४४
अमरावती लेख-	५	आदिकेशव मंदिर-	३४६
अमृत मंथन-	३२२	आदिनाथ मंदिर-	२३६-३७, २४६
अभयमित्र	१२९	आबू पर्वत मंदिर-	२४४-४६
अभिलेखां मे संघ चर्चा-	९६, ९७	आमलक-	२०८
		आयक स्तम्भ-	७१, ७३, ७४, ३२६
		आर्य शिखर-	२०९, २२५ ३१७
		आरोग्य विहार-	९८
		आलमपुर मंदिर-	२६०-६१
		आसन पूजा-	४९
		ओसिया मंदिर-	२४१-४२

शब्द

पृष्ठ

शब्द

पृष्ठ

(इ)

इंद्र सभा—१८०-८१

इलापट्टानाग—५९

(उ)

उड़ीसा शैली—२१९, २३३

उज्जयिनी—६२

उदयगिरि गुहा—६३, १०३, ११०,
११६, १२९, १८३, १९६, २०४

२१३, २२३

ऊरुबेला—८२, ८६

ऊरुशृंग—२३५-३६

उर्वशी—५१

(ऋ)

ऋषभदत्त—११२-१४, १२६, १३६

ऋषभनाथ—२४६

(ए)

एलिफेंटा—१४२, १८१, १९०

एलोरा—४३, १४८, १६२, १८१,
१८२, १८४, १८८, १९०, १९६

ऐरावतेश्वर मंदिर—२७५, २८६

ऐहोल—२५८

(क)

कंदरिया महादेव मंदिर—१९८,
२३७-३८

कनक मुनि स्तूप—४, २३, ४९

कनहेरी गुहा—१४७, १६७-६८

कनहेरी लेख—९९

कनिष्क—७९, ८०, ११४, १२९, २०५

कपिलवस्तु—७९

कर्क—४१३

कल्पित शीर्ष—४०

कलवान ताम्रपत्र—३०३

कल्याण सुंदर मूर्ति—१८९

कश्यप संचाराम—९६, १७२

काकनाड विहार—६२, ९७, १२९

कालिका माता—२४६

काले चैत्य—१७, १५१, १६५, १६६

कालिदास—२३९

काशी विठ्ठेश्वर—२७८

काष्ठ वेष्टनी—७९

किराडु का शिव मंदिर—२५२

कुर्कीहर—३१०

कुडु—२६३-६५

कुवेर—५१

कुभरिया मंदिर—२४४

कुमार देवी—११९, १३३

कुशी नगर—१२, ८४, १७२, ३३२

कृष्णदेव राय—२९०

केदारेश्वर—२२९

केशरी वर्मन—१३४

कैलाशनाथ गुहा (मंदिर)—११७,
१५३, १८०, १८६-८७, २६६,
२६७, २६८, २७०, २८४

कोनदने—१४६

कोणार्क मंदिर—२३०-३१

कोरंगनाथ—२६९

कौशाबी—५७, ६९, ८५

(ख)

खजुराहो शैली—१९८, २१९, २३०,
२३२, २३३, २४७, ३४४

खंडगिरि—१२३

खरपल्लाना—१२३

खारवेल—११०, १७८-७९, २२१

खुस्रू बादशाह—१५५

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
(ग)			
गजपीठ—२४९		चंद्र गुप्त द्वितीय—६३, ९७, ९९, १२९, १३६, १८३, २०६, २१३, २३९, २४०, ३०६	
गजलक्ष्मी—४०		चरणचित्र—६५	
गजसिंह—२२५		चिंदवरम्—२६९, २७३, २९२, २९७	
गंटूर स्तूप—७८		चित्तोरगढ़—२४१	
गंगवाडी—२६९		चित्रो की प्रक्रिया—१५३	
गंगैकोड चोलपुरम्—२७३-७४		चित्र कला (अजंता)—१५३	
गरुड स्तंभ—६३		चुलकोका—५८	
गृधकूट—८५, ८६		चुल्लसुभद्रा—४८, १५९	
गवालियर—१५४		चूडापूजा—४५, ६५	
गुणेश्वर ताम्रपत्र—१३०		चूडामणि वर्मन १३४	
गुप्त मंदिर—२०४		चेतिय—५, ६२, १०४	
गुहा में स्तूप—१०७		चैत्य (गुहा)—५, ७, १८, १९, १०२, १०४, १०७, १११, १६२, १६८	
गुहादान—३३७		चैत्य मंडप—११६, १६२-६३	
गोप मंदिर—२५१		चैत्य में प्रतिमा—१२, २२, १०६ १६२-६३	
गोपिका गुहा—१४४		चैत्य (साहित्य में)—५, ७, १०५	
गोपुरम्—२१९, २६७, २८५-८६, २९२-९३, २९७		चैत्य वातायन—१६५	
गोमती विहार—३२८		चोखंडी—८३	
गोमतेश्वर—२७७		चौथी संगीति—२४	
गोविन्द चन्द्रदेव—११९, १३३		(छ)	
गोष्ठिक—३३९—४१		छत्र—१४, १५, १७, १५, २७, १६६	
गौतमीपुत्र शातकर्णि—१०१, १२६, १४६		छत्रयष्टि—१७, १८, ७५	
(घ)		छत्रयष्टि दान—१२३	
घंटशाला—७०, ७९		छत्र राजत्व का प्रतीक—१९	
घोषिताराम—९७		छद्मंत जातक—१५७	
घोसु डो लेख—१९५		छदक—४०	
(च)		(ज)	
चक्रम पथ—४४-४५		जगदंबा मंदिर—२४७	
चक्रवाक नाग—५१		जगन्नाथ मंदिर—२२८	
चन्न केशव मंदिर—२८१-८२			
चंडीसेन—२५८			

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
जगन्नाथ सभा—१८०-८१		तोरण लेख—२४	
जन्म प्रतीक—४०, ७१		(थ)	
जंबुकेश्वर—२९५		थूप—७, ८	
जयसिंह सिद्धराज—२५३		थुपिका—४	
जगपेट—७०, ७४, ७९		थुपाराम—३२६	
जातक प्रदर्शन—२९, ३०, ३२, ३३, ४५, ५९, १५४-५६		(द)	
जीवक स्तूप—८६		दलाई लामा—३१८	
जीविका राम—९७		दशरथ जातक—५९, १००, १०९, ११०	
जूनार लेख—१७६		दशावतार गुहा—११७	
जेतवन—३५, ३९, ४३, ७८, ३२६		दतिदुर्ग—२६८	
जोगेश्वरी गुहा—११७, १८९, १९०		दारासुरम्—२८६	
(त)		द्वार पंडित—१७५-७६	
तख्त बहाई—३१५		द्राविड रीति—२१३	
तट मंदिर—२६६		देवगढ़ मंदिर—२०९, २१७	
तपोदराम—९७		देवता गृह—२१७	
तरीम कांटा—३२९—३०		देवदत्त—४३, ८५	
तक्षशिला स्तूप—१४, ७७		देवपाल—११९, ३३८	
तिगवा मंदिर—२०८		देवयात्रा—२९२, २९४	
त्रिभुवनेश्वर मंदिर—२२१		देवल—२२३, २२६	
त्रिरत्न—९४-९५, १००		देवराज—१५७, ३२३	
तिरुमल्ल नायक—२९३		(ध)	
तुषित स्वर्ग—४०, ४४, १५६		धनभूति—३०४	
तुयेनह्वांग—३२९		धर्मचक्र—५, ४१, ४२, ६४	
तुरफान—३३१		धर्मपाल—२५, ४२, ८१, ६५७, २६५, ३३४, ३४९	
तेजपाल मंदिर—२४५		धर्मराजिका स्तूप—१५, २३, २५, ७७, ७८, ८०, १५०, २१३, ३१५	
तेली का मंदिर—२०९		धर्मक स्तूप—२३, ८३, २१३	
तेलिकोटा युद्ध—२९१		धातुगर्भ (शरिर)—५, ८, ४९, २०३, २९८-३०३, ३१०	
तोरण—२८, २९, ३५, ५३, ५६, ६८,		(न)	
तोरण अजातशत्रु—४८		नगरट्टन—१३३, १३४	
तोरण प्रसेनजीत—४९			
तोरण अलंकरण—३८			

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
नट मंडप—२२३		पंचभिन्नु (सावु) — ८२	
नटराज मंदिर—२७५, २९७		पंचध्यानी बुद्ध—३१७	
नवलखा मंदिर—२५९		पचायतन मंदिर—२११, २४२	
नह्पान—११२-१४, १२६, १३५, १३६, १४६		परशुरामेश्वर—२२५-२६, २२९	
नागछत्र—५९		परिनिर्वाण—१२, १३, ८४, १६०	
नाग प्रदर्शन—५३		पशुबेडा १५	
नागभट्ट—२४२		पशुपति शिव—१९७	
नागार्जुनी गुहा—७०, ७४, १०९, ११२, १४०, १४३, २३३		पहाड पुर—८१, १३०, २१०, २५७, ३९४	
नाग पूजा—४१		प्रतीक पूजा—१०७	
नागर शैली—२१३, २१५, २२५, २४९		प्रदर्शन जातक—१५२	
नागरी मंदिर—२४१		प्रदक्षिणा पथ—१४, १५, १९, २८, ३०, १५५, १६३, १८७, २०७, २०८, २१७, २३४, २४२, २६७, ६८, २७२, २७८, ३०८.९	
नाचना कुथारा—२०९, २१७		प्रभावती गुप्ता—२१३	
नान्यदेव—३१६		प्रसेन जीत—३२, ४९, १५५, ३०६	
नायनिका—११०		पाटलिपुत्र—२११	
नालंदा महाविहार—२५, ७७, ८१, ८६, १३३, १४२, १४३, १७३-७४, २०९, ३३२-३३, ३५२-५६		पांड्य मंदिर २७५	
नालगिरी—४३, ८५, १५६-५७		पाडुलेन—१११	
नासिक स्तूप—१९		पापनाथ—२५९-६१	
नासिक विहार—११५, १४३, १४७, १६४-६५, १७१		पारिभोगिक स्तूप—१४, ७६, ८५	
नासिक चैत्य—११५, १६९		पालिताना—२५३	
निरंजना—६२		पार्श्वनाथ—५९, २४४	
नेमिनाथ—२४४-४५		पार्श्ववीथी—१६३	
नेवार जाति—३१६		पाशुपतमत—२२१	
(प)		पिट्टादकल—२५८	
पगोडा—७१		पितलखोरा—१२, १४३, १४६, १६४, १६७	
पटिक—१२५, २०३		पिपला माता मंदिर—२४३	
पद्मनाभ मंदिर—२९४, २९८		पीपरावा स्तूप—९, ११, १४, २३, ६६, ३०१	

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
पुलकेशिन—१५५		बिलेश्वर मंदिर—१५३	
पुलमावि—७३, ११५, १२७		बुद्ध के प्रतीक—११, १७, ३७-३८, ४२, ४४	
पुष्पदत्त (विहार)—९८		बुद्ध के चमत्कार—४४	
पूजा गृह—८१, १४८		बुद्ध चक्रवर्ती - २२, ७५-७६	
पूजा प्रकार—१३१		बुधगुप्त—१२९	
पूजा प्रदर्शन—६७		बुधमित्र—१२९, १७४	
पूजा स्तूप—२३, २७, ६२, ७७, ८१, १५०, ३१०		बुधरक्षित—३०५	
पेगन मंदिर—२५८		बेदसा—१४६	
पेरुमल्ल मंदिर—२६७		बेस नगर—१९५	
(फ)		बेविलान समाधि—६	
फलक प्रदर्शन—६९		बेष्टनी—३१, ३२, ४२, ४३,	
फाहियान—३२९-३४		बैराट मंदिर—२४१	
(ब)		बैकुंठ पेरुमल्ल—२६६	
वन चेतिय—८		बौद्ध तीर्थ—७९, २०९	
बराबर पहाड़ी—१०९, १४०, १४३-४४		बोधगया—१२, १६, २३, ५२, ५४, ८२, १५५, २१०, २१२	
बनभि महाविहार—३३४		बोध गुप्त—१६०	
बहुल तारा—२५८		बोधनाथ—३१६	
बृहदेश्वर मंदिर—२७१-७४		बोधिवृक्ष—४१	
ब्रह्मदत्त (काशीराज)—४७, ५९, ८१, १५६, १५८		बोधिसत्त्व—४७, ४८, १५२, १५५, १५६	
ब्रह्मा मंदिर १९६		बोरोबुद्ध—३२४-२५	
बाउक—२४०		(भ)	
बानगठ मंदिर—२५६		भट्टिप्रोलु—७०, ७३, ७९, ३०२	
बाघ गुहा—१४७, १५१, १६०-६१		भरहुत.वेदिका—१३, १६, २३, २७, ५७	
बारह राशिया—५५, ६१		भरहुत स्तूप—२३, २७	
बालपुत्रदेव- ११९, १३१-३२, १७४, ३२३, ३३८,		भरहुत प्रदर्शन—४७, ५१, ५३, ५७	
बिधुर पंडित—१५६		भस्म पात्र—६, ११ १२, १९, २७, ४९, ६३, ७५, ७६ ८०, ८३, १२५, २०३, ३०१-२	
बिबिसार—८५, ९४			
बिमल शाही मंदिर—२४५			
बिरुपाक्ष मंदिर—२८४			

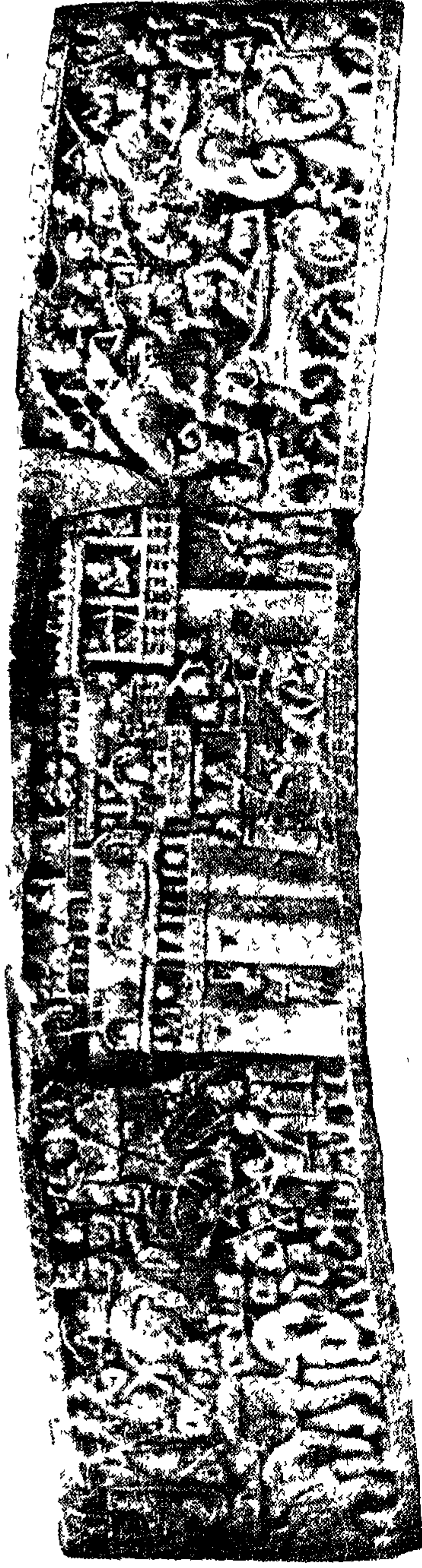
शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
भाजा स्तूप—१२, १९		गहेन्द्रपाल—२६३, ३४०	
भाजा गुहा—१३९, १४३, १४५, १५१, १६४, १६९		मंडनिकाए—२८२	
भाव नगर—२५२		मंडोवर—२४९	
भास्कर वर्मन—३३३		मंदसोर लेख—२४०	
भितरगाव मंदिर—२१७		मंदिर (परकोटा)—२३४	
भीमदेव सोलंकी—२४५		मंदिर शिखर—१९९	
भुवनेश्वर मंदिर—१५४, २०८, २१६, २२०-२१, २२४, २५८		मंदिर (मानवदेही)—१९९, २००	
भेडाघाट—२६०		मंदिर विद्वत परिषद—२०१	
भोज परमार—३४१		मंदिर शिक्षा केन्द्र—२०२	
भोज प्रशस्ति—२४०		मृगशव—८२	
भोग मंडप—२२२-२३		मातृदेवी—८	
(म)		मार्तंड मंदिर—२५१, २५६	
रुथुरा स्तूप ९, ६२		मातंगेश्वर मंदिर—२६८	
सनियार मठ—७७		मानसगेवर—४८	
मनीती स्तूप—२६, ८३		मानिक्याला स्तूप—७९, ८०, १५०	
मलिक काफूर—२९१		मानुषी बुद्ध—३०, ५८-५९, ६४, ३०६	
मस्करिन—९५		मामल्लपुरम्—२६५	
महमूद गजनी—२४८, २५३		माया का सपना—४०, ४४, ५१, ७१, ७२, ७८, १५६, ३०६, १११	
महाकपि जातक—४६, १५७-५८		मारविजय—४०, ६५, १५५, १६०	
महा चैत्य—१२८		मालवा शैली—६६	
महा प्रदर्शन—४३		मीनाक्षी मंदिर—२९१-९२, २९६	
महापरिनिर्वाण—४२, ४९, ७६		मीरपुर खास स्तूप—८०, २११	
महाबलिपुरम्—१४२, १८१, १९५, २६४-६५		मिलिद—३०१	
महाबोधि मंदिर—२११		मिथकेशी—५०	
महाभिनिष्क्रमण—४०, ६५, ७२, ७५		मुचलिद—५९	
महायान विहार—१४७, १६२-६३		मूलगघकुटी—७७-७८	
महाविहार—८०		मेघि—१४, १७, १९, २०, १६६	
महासुभद्रा—४८		मेहरौली—२४०	
महीपाल—१३३		मैत्रेय—८३	
		मोद्गल्यायन—६३	
		मोहनजोदड़ो—२११	

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
(य)		वराह अवतार—१९३, २०६	
यक्ष-यक्षिणी—३२, ३३, ३५, ५१, ५३		वर्षावास—२७, ४३, ४९३	
५४, ५७, ६८, ६९, ७३, २००		वासिठी पुत्र सोमदेव—१०१	
यक्ष पूजा—५३		वामन—१९३	
यज्ञ श्री सातकर्णि—७३, १२८, १४६		वामियान—३३९	
युद्ध प्रदर्शन—३०		वासुदेव शिल्पकार—१९५	
यूप और स्तूप—२२		विक्रमशिला—२५, १७५, ३३४, ३५२	
(र)		विट्ठल मंदिर—२८८	
रथ—२८४		विजय मित्र—३०१	
रंगनाथ मंदिर—२९५		विदिसा मंदिर—१९५	
रंजुवल सोडास—३०२		विदिसा श्रेणी—१६, ३४	
राजगृह स्तूप—२२, ७७, ८५, १४३		विदिसा यक्ष—६९	
राजसिंह पल्लव—२६६—६७		विरुपाक्ष मंदिर—२५६—६१	
राजराजा—२६९		विष्णु षवज—२४०	
राजारानी मंदिर—२१७, २२९		विश्वकर्मा गुहा—१०७, १४९, १६२,	
राजाशिवि—१५५		१७१, १९६, २१६	
राजेन्द्र चोल—२७३		विहार—९८, १०४, १४१	
रामग्राम स्तूप—२३, ४९, ८४		विहार द्वार पंडित—१४२	
रामेश्वर गुहा—१८४, १८७		विहार रथ—२६५	
रामेश्वर मंदिर—२९२, २९६—९७		विहार शिक्षा केन्द्र—१७२, १७३-७४	
राष्ट्रकूट कृष्ण—२६८—६९		वेणुवन—९४	
रेशम मार्ग—३३०		वेदसा—१४३	
(ल)		वीर पुरुषदत्त—१२८	
ललितादित्य—२५६, ३५०		वैदिक (बोधगया, भरहुत, सांची एवं	
लिंगराज मंदिर—२२२, २४४, ३५०		अमरावती)—१५, २३, ३१,	
लिच्छवि स्तूप—२२, २९, ९४		३२, ३४, ३५, ४२, ४३, ४८,	
लेह—३२७		५३, ६३, ७४, ८५, ९६	
लोकगुंडी मंदिर—२७८		वेदिका (पशु-वेडा)—३०	
लोमश-ऋषि गुहा—१४३, १४४		वेदिका (काष्ट)—२७, ३७	
लौरिया स्तूप—८, २१		वेदिका (प्रस्तर)—१६, २७, ३३, ३८	
(व)		वेदिका स्तंभ—३३, ३७	
वज्रासन—४४, ६१, ६५, १०८		वेदिका उष्णीस—३२, ३३, ६९	

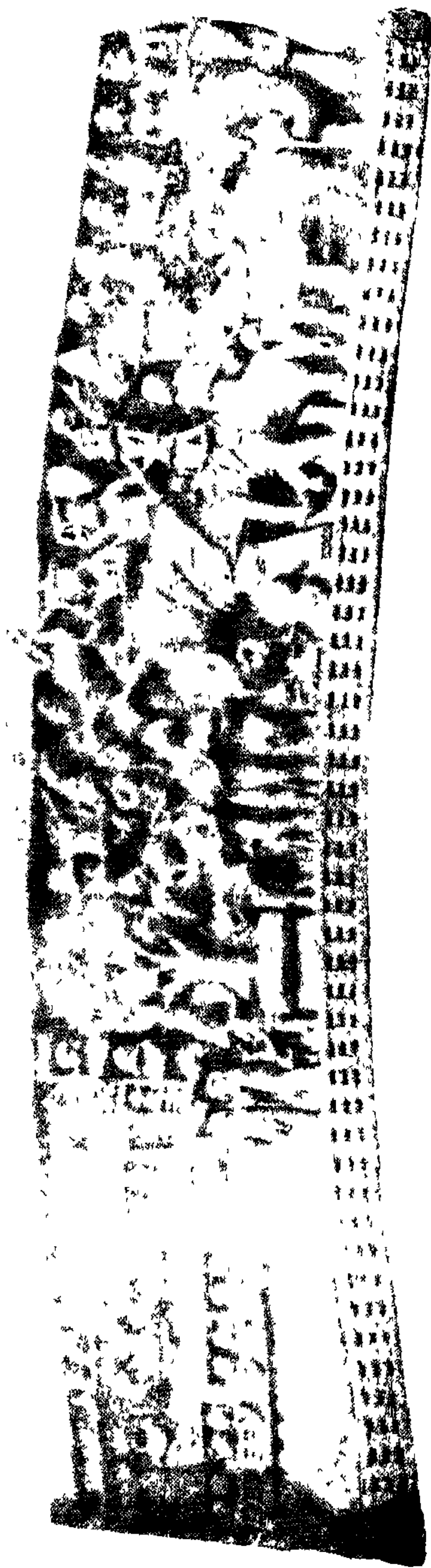
शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
वेदिका अलंकरण—३५—३६, ३८, ६१, ७१		स्तूप का वर्गीकरण—१४, २४, २५, ३६,	
वेसंतर जातक—४६, १५७		स्वयंभूनाथ—७१, ३१६	
बौद्धिक समाधि—६		सांची स्तूप एवं वेदिका—१५, १६, २४, २७, ३१, ४७, ६३	
बौद्धिक प्रणाली एवं बुद्ध—९९		सांची तोरण—१२, १६, १७, १९, २३, २४, ३१, ४०, ४२, ४४, ४८, ५२, ५३, ५९, ६४, ६५, ६७, ६८ ७६	
बौष्णव मत तथा मंदिर—१९७, २०४		सांची मंदिर—२०६	
वैशाली स्तूप—१४, १२		सांची प्रदर्शन—५१	
(स)		सापेक्ष महत्त्व—६६	
सचिय माता मंदिर—२४३		सारनाथ—४१, ७७, १४२	
सत्र की स्थिति—३४१—४२		सातवाहन गुहा—११०, ११४—१५ २५४	
सहस्रबुद्ध गुफा—३२७		सारिपुत्र स्तूप—१४, ६३, ८६	
सहेत महेत—८५, १२३		सालभंजिका—६९	
संकिसा = ४४, ७७		सालसट—१८९	
संधाराम १४९		सिद्धराज परमार—३४९	
समुद्र गुप्त—१२९, २१३, २२१ ३१५, ३२५		सिद्धेश्वर महादेव मंदिर—२२९, २४०, २५८	
स्कंदगुप्त—२५२		सीतामढ़ी—१४३	
स्तूप—४, ५, १०, १४, १९, २३, ३५ २६, २८, ७९		सुजाता—४१, ६२	
स्तूपी या स्तूपिका—२०५, २१७, २६७, २७२		सुंदर बोल २६९	
स्तूप की परंपरा—८, १३, ८१, ३१४,		सुंदरेश्वर मंदिर—२९२	
स्तूप का अर्थ—४, १३, १८, ४२		सुदर्शना—५०	
स्तूप चैत्य—४, ९, १२, १७, २२, २७, १८, ५८		सुदामा गुहा—१३३, १४४	
स्तूप (मनीषी)—१४, २४, २७, ३२५		सोन भंडार—१८०	
स्तूप पूजा—१२, १३, १५, २३, ३०, ३४, ३८, ४२, ४५, ५३, ५८ ७१, १४४		सोमनाथ मंदिर—२४८, ५३	
स्तूप तथा अशोक ११—१२, १५		सोमनाथपुर मंदिर—२५७, २८३	
स्तूप लेख—९, २४, ८०		सोमेश्वर मंदिर—२५९, २७८	
स्तूप अलंकरण—३५, ३६		सोलकी मंदिर—२५०—५१	

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
(श)		(ह)	
शव की वैदिक चर्चा—६, ७, २१		हजारा राम मंदिर—२९०	
शरिर (राख)—५		हंपी के मंदिर—२८८-८९	
शशांक—२२१		हर्ष वर्धन—१९८, ३३२, ३४८	
श्री पर्वत—१२८		हरमिका—१४, १५, १७, १८, १९, २५, ७५, १६६, १६७, ३१६ ३२०	
श्री मां देवता—५८, ७३		हिरण्य स्तूप—८, २७	
श्री रंगम्—२९२		हरिबलस्वामी—८४	
श्रवण कुमार की कथा—१५९		हरिस्वामिनी—९७	
श्रावस्ती—४३, ७७, ९८, १४०, १५५		हरिषेण—१५५	
शिखर का आरंभ—२०८		हरिहर मंदिर—२४२	
शिनकोट (अवशेष)—९		हीनयान गुफाएँ—१३९	
शिवमक सातकर्णी—७३		हुबिष्क—१२३	
शिव लीला—१८९, २७२-७३		ह्वेनसांग—३२९-३४	
शिशुपाल गढ़—२२१		हेलियोडोरस—६३	
शुद्धोवन—७३		होयसलेश्वर मंदिर—२८२-८३	
शेष शायी विष्णु—२०६, २४०			
षडदंत जातिक—१५९, १९९			

फलक १

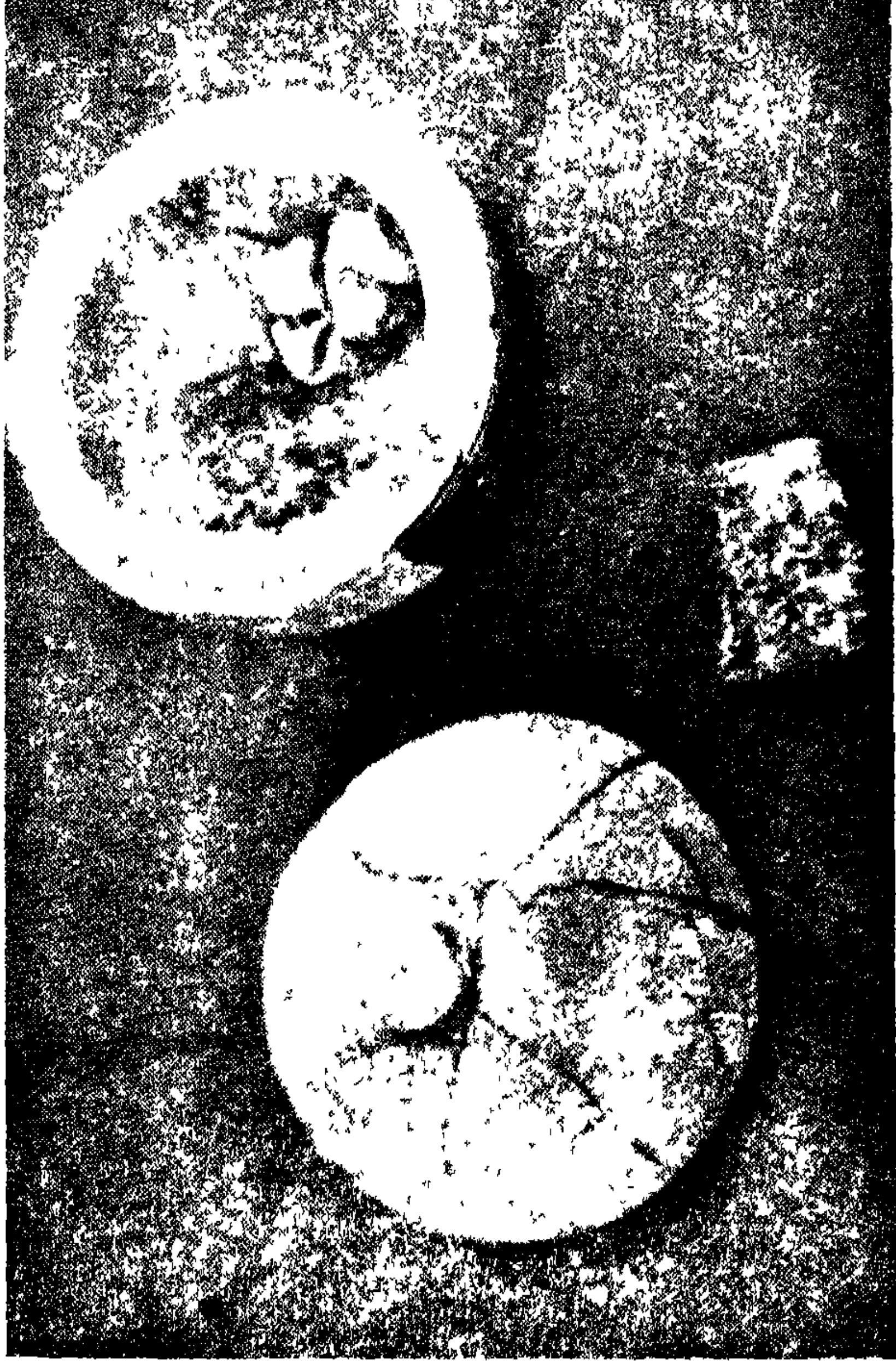


भस्म के लिए युद्ध
(माची के दक्षिणी तोरण की निचलो बडेरी)

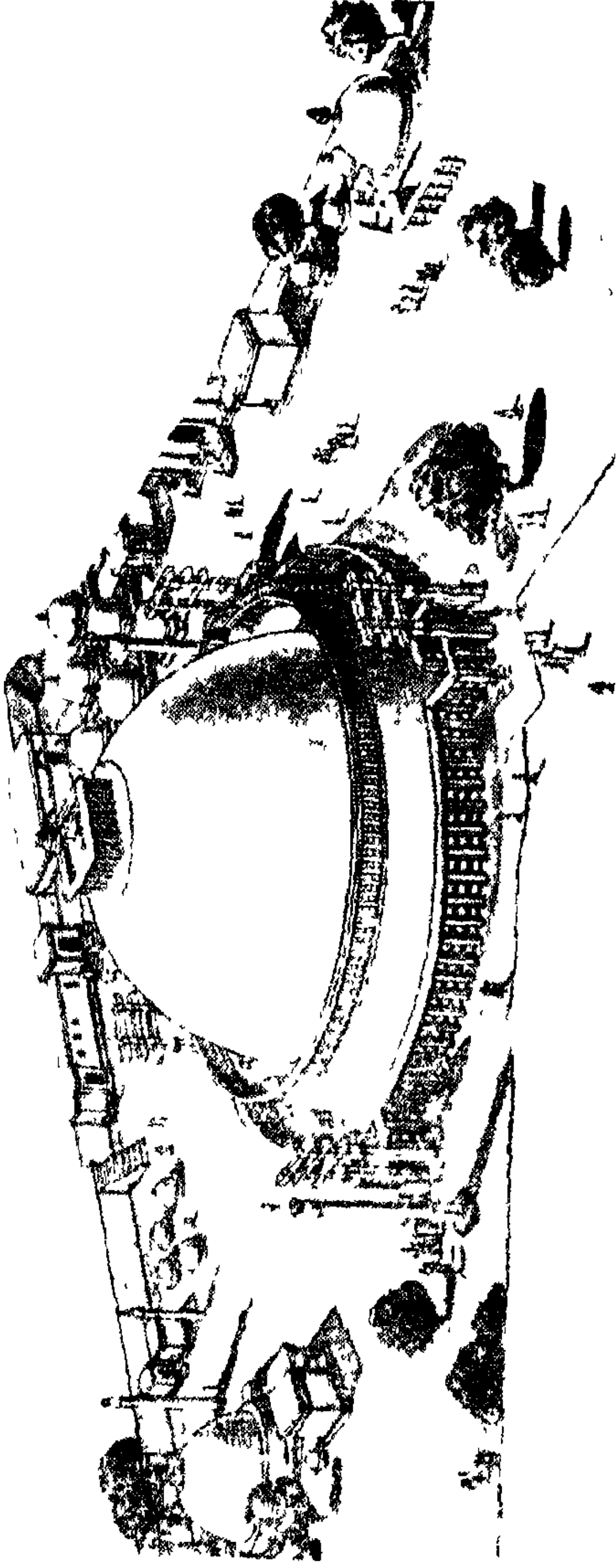


भस्म के लिए युद्ध

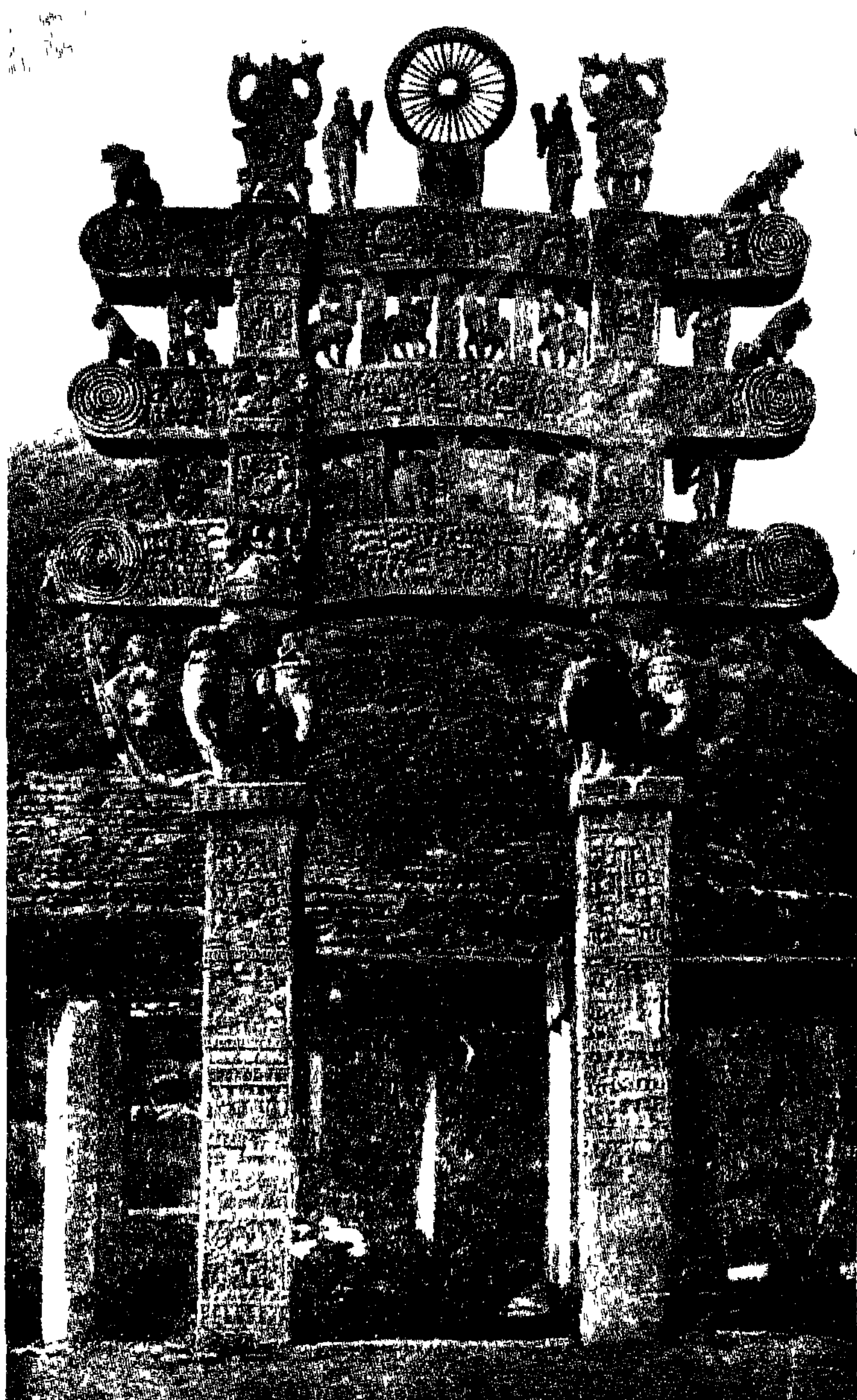
(साची के पश्चिमी तोरण की ऊपरी बंडरी)



बुद्ध का भस्म पात्र (URN)
(वैशाली)



मुख्य स्तूप तथा पार्श्व में पूजा Votive, स्तूप

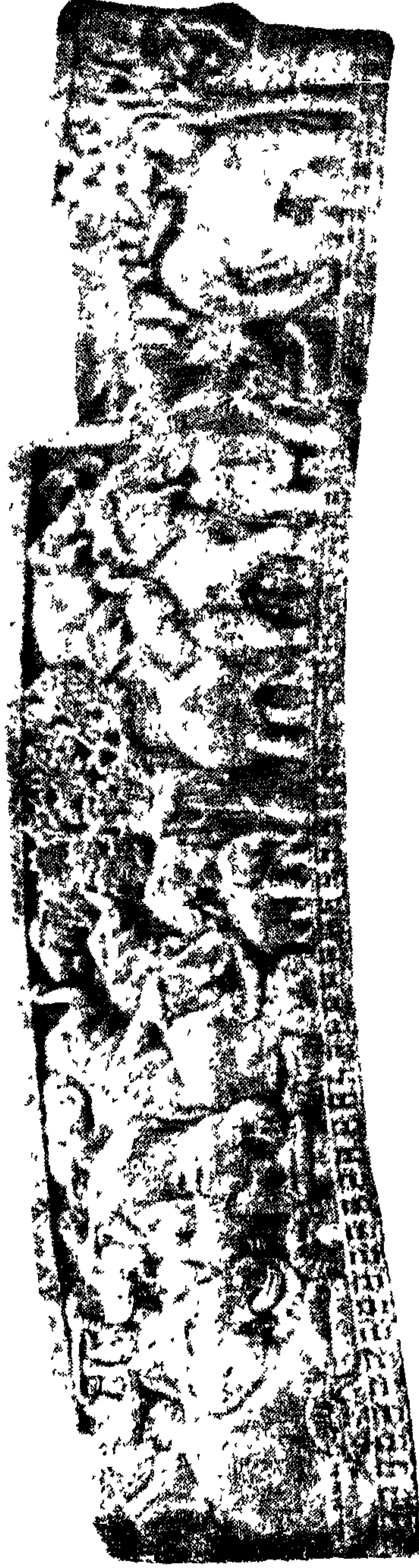


साची तोरण (उत्तरी)



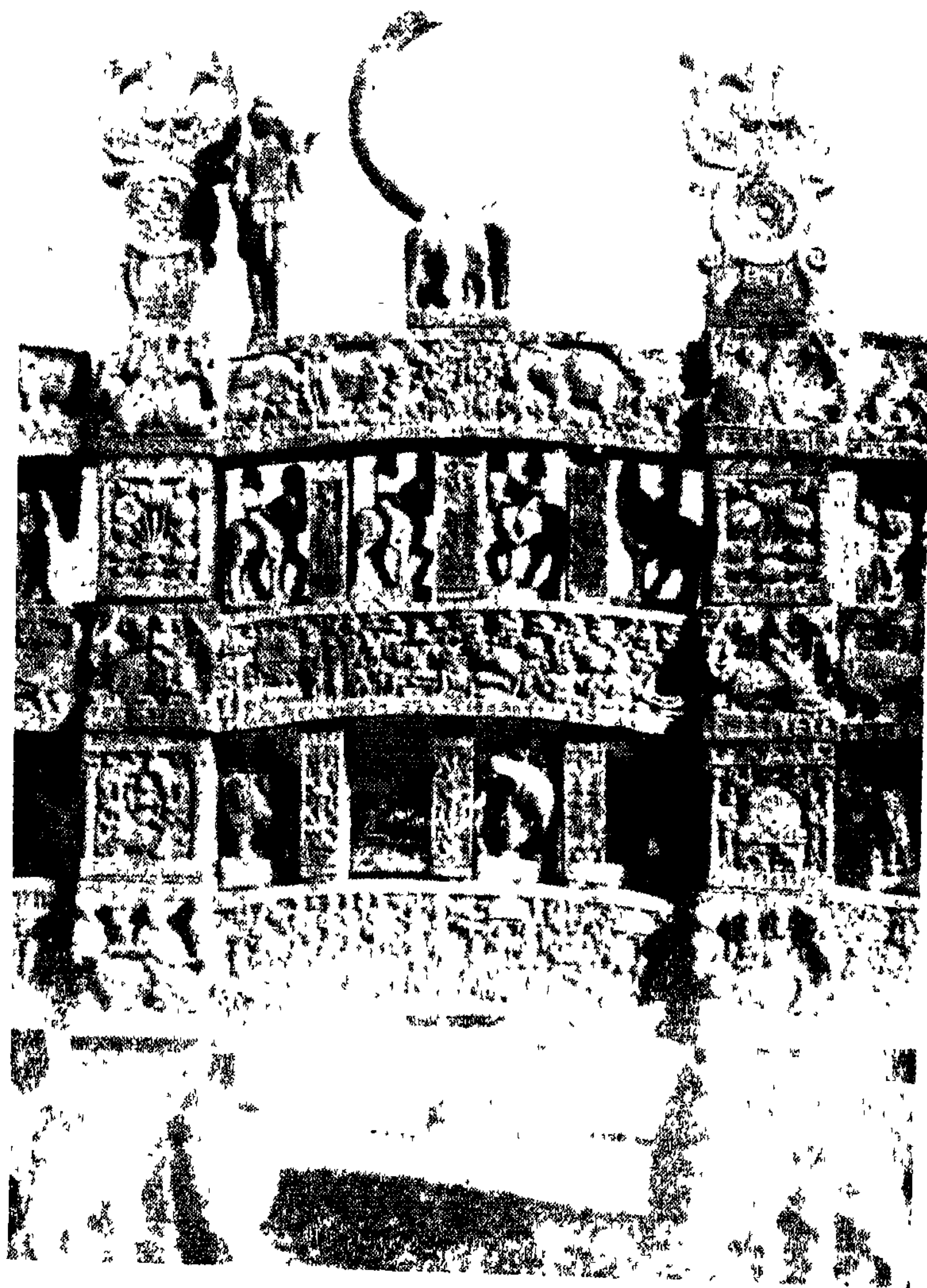
बोधिवृक्ष की पूजा
(पश्चिमी तोंगण की निचली बडेरी, साची)

फलक ७



षडदत्त जातक
(दक्षिणी तोरण की मध्य बडेरी, साची)

कलक द



राष्ट्रीय तोरण की वडेरिया



फलक ९

माया का सपना



फलक १०

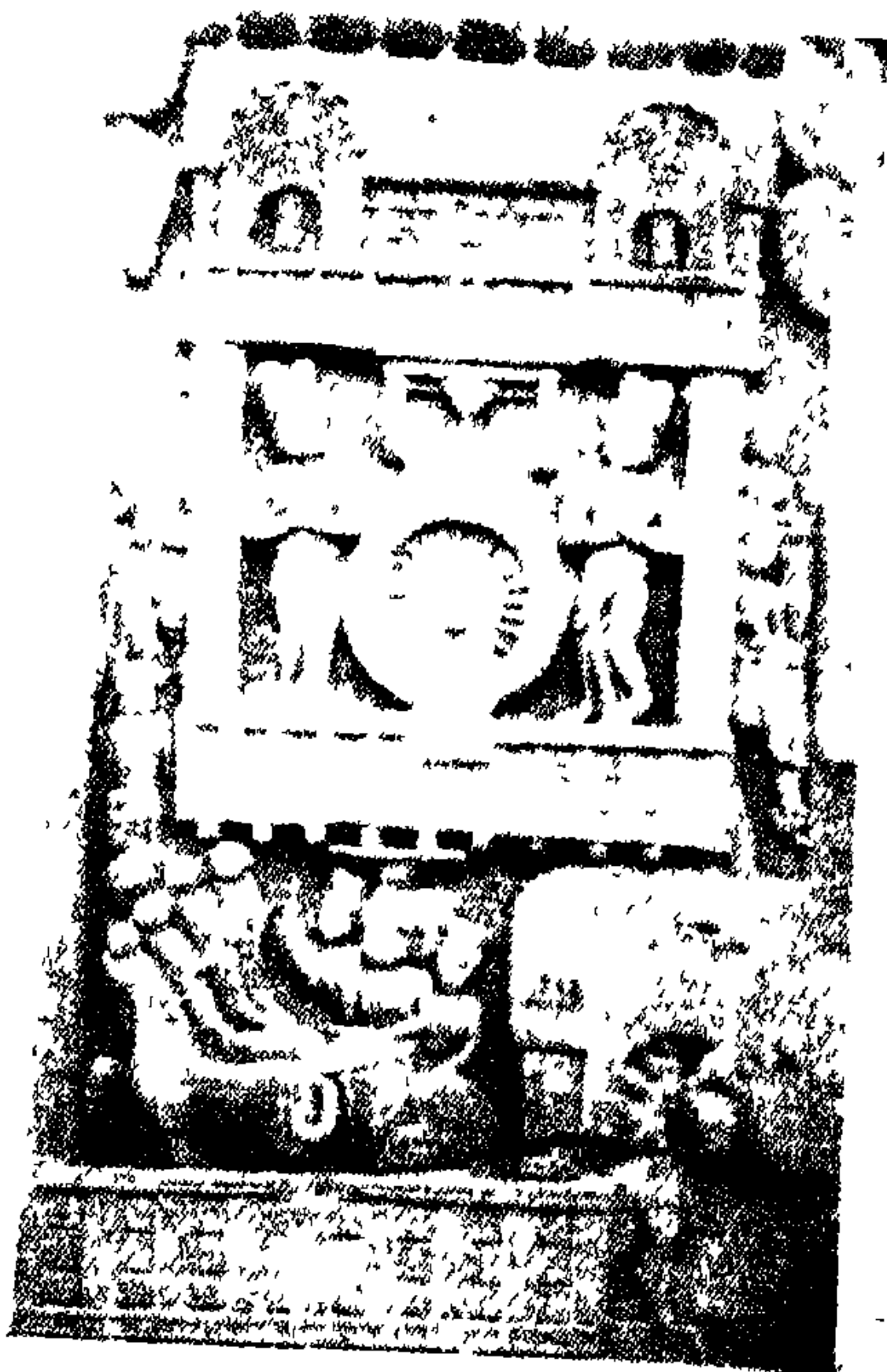
मिद्वार्थ के जन्म सबधी
दृश्य (माया देवी)

फलक ११



अमरावती—महाभिनिर्गमण

फलक १२



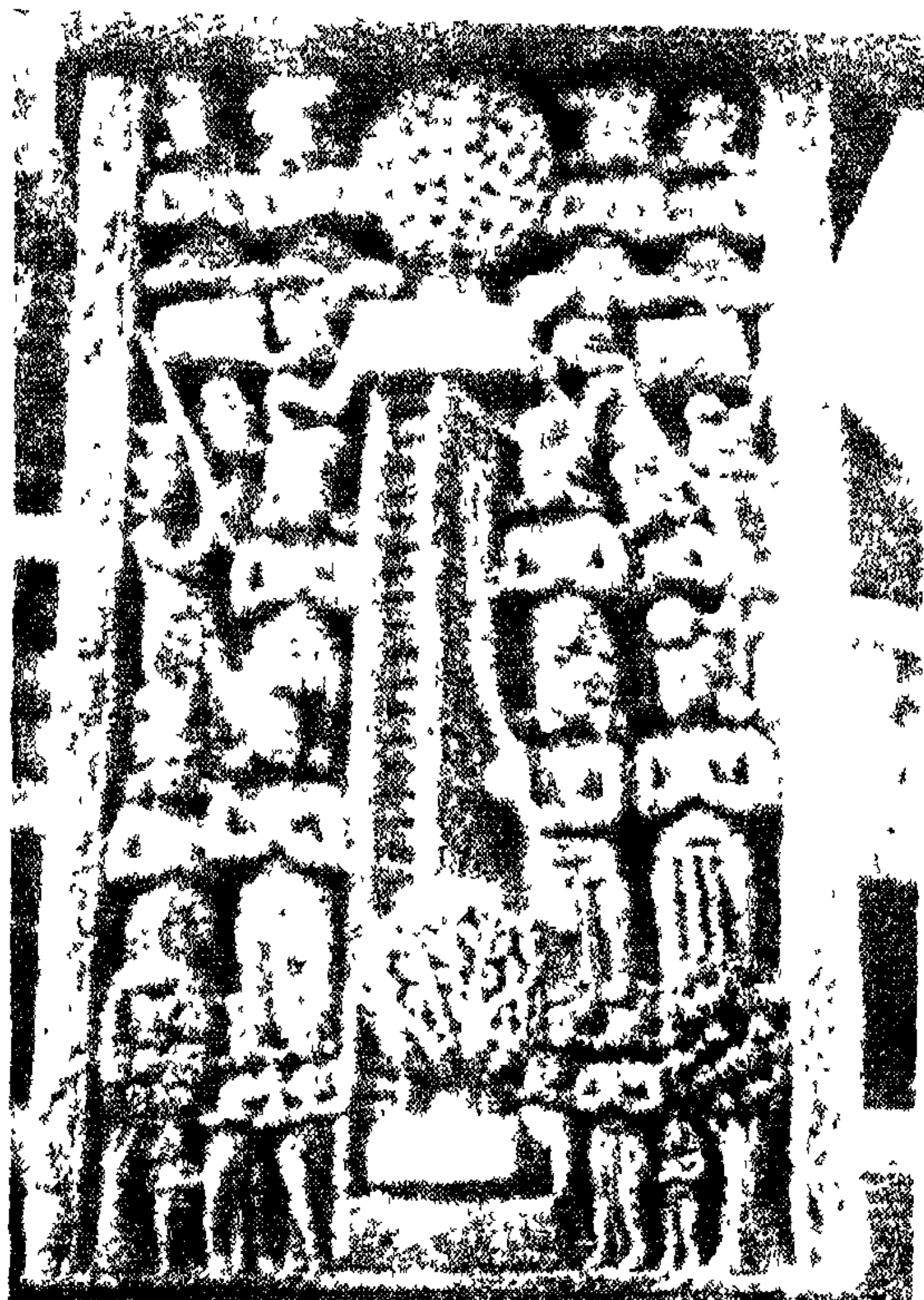
धर्म चक्र-पूजा (प्रमेनजीत द्वारा)

फलक १३



जेतवन विहार का दृश्य

फलक १४



बुद्ध का अवतरण—मकिमा
(मार्ची प्रदर्शन)

फलक १५



अमरावती—वेमतर जातक

फलक १६



महाकवि जातक प्रदर्शन

फलक १७



महाकपि प्रदर्शन

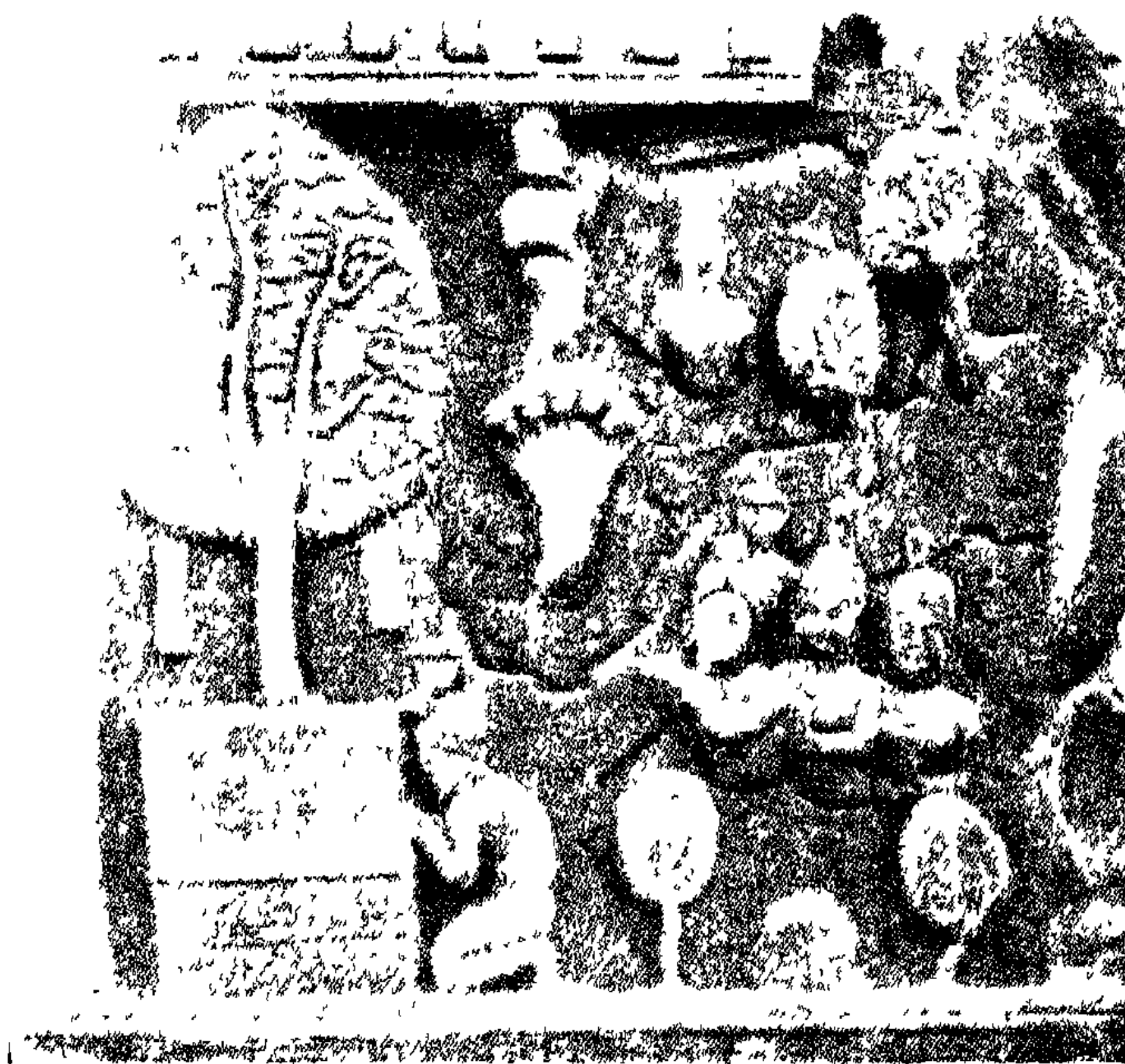
बोधि वृक्ष-पूजा

फलक १९



वानरेंद्र का मधुदान

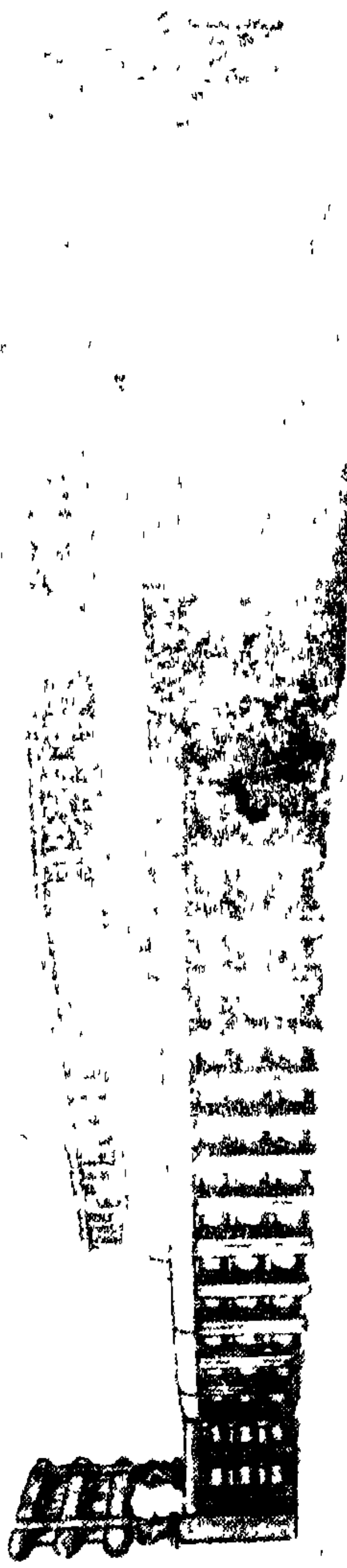
फलक २०



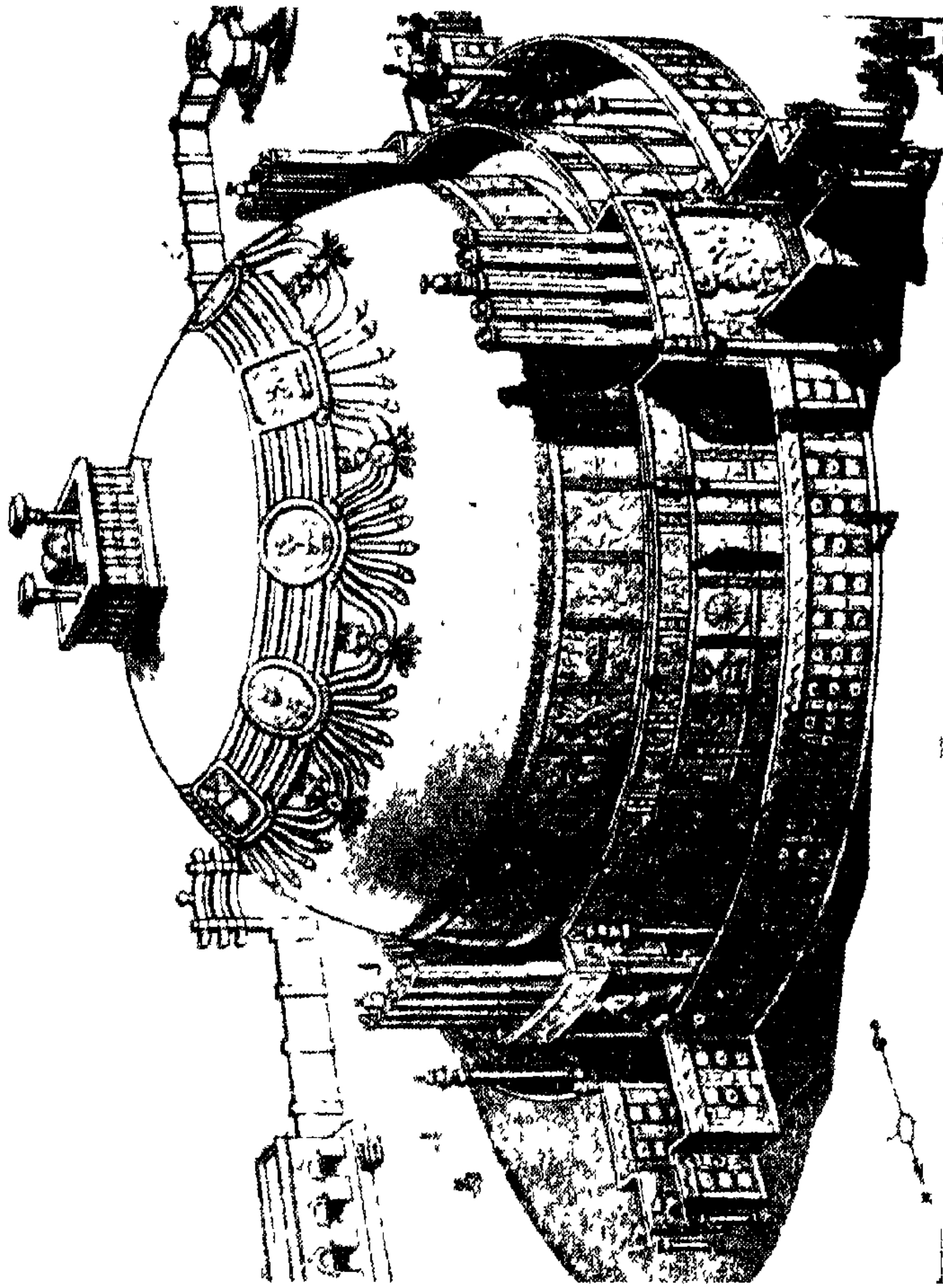
भरहुत प्रदर्शन—इलाष्ट्रानाग



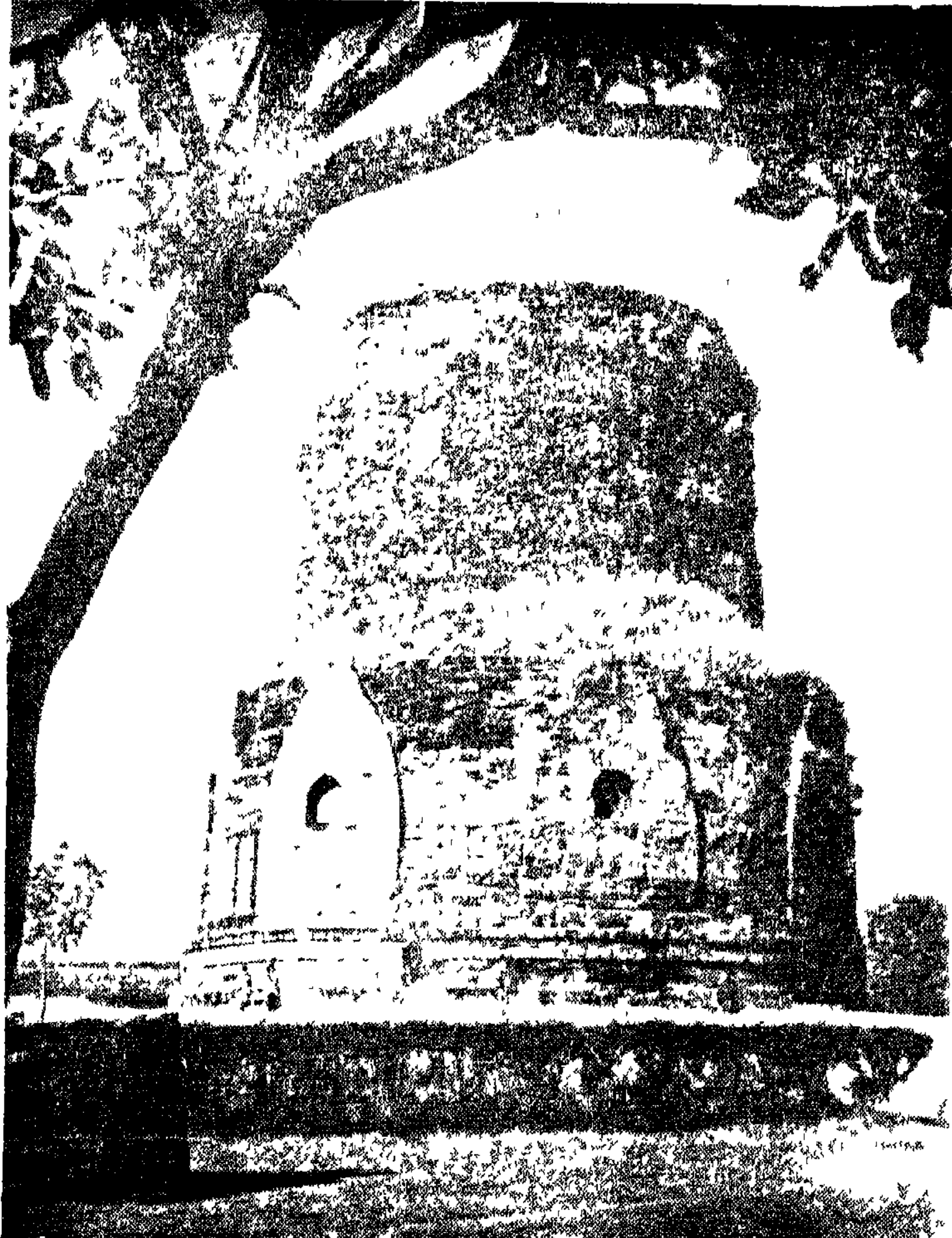
भरहुत-नोरण सहित वेदिका



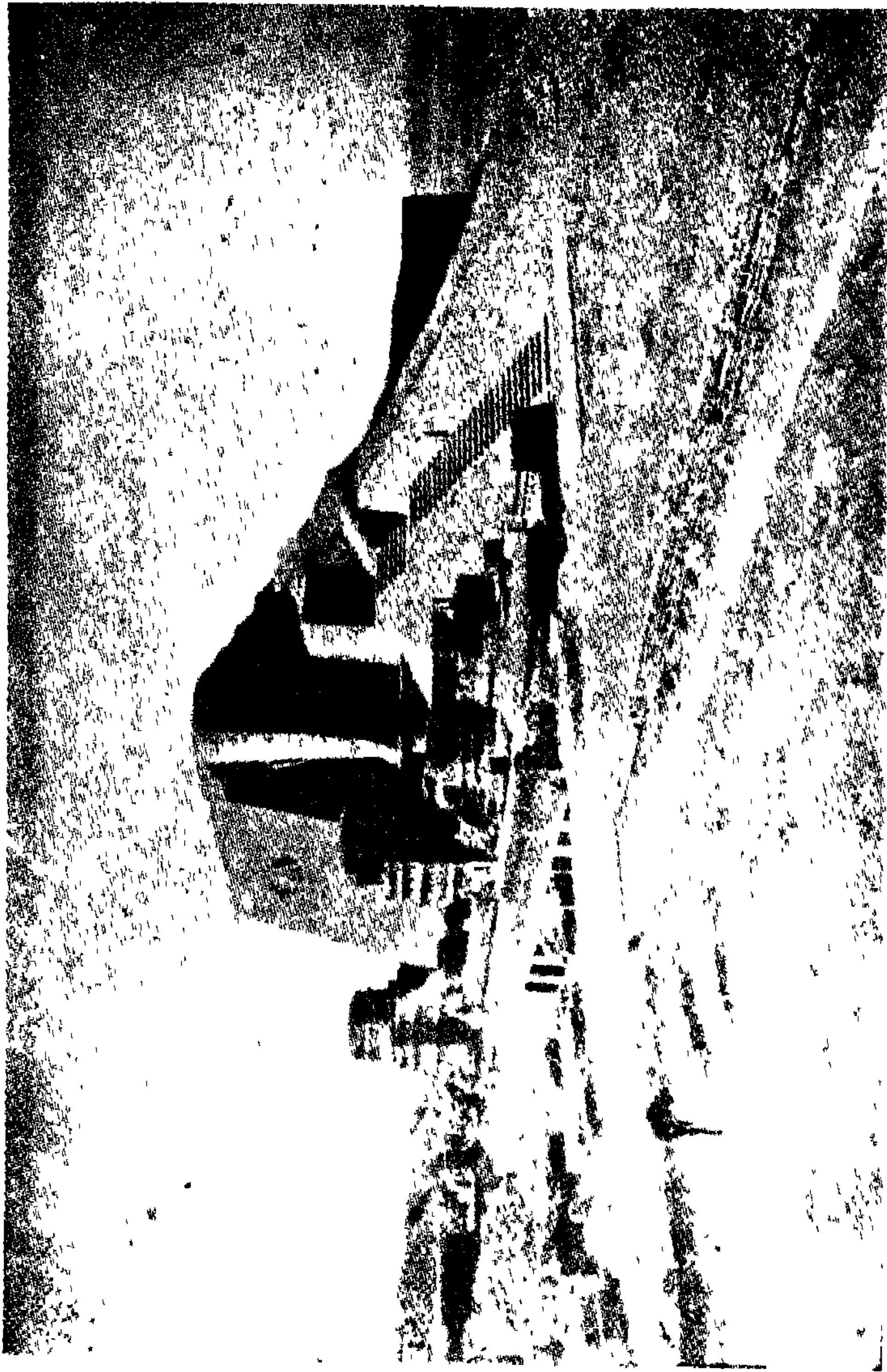
साची मुख्य स्तूप



फलक २४



धमेक स्तूप (सारनाथ)

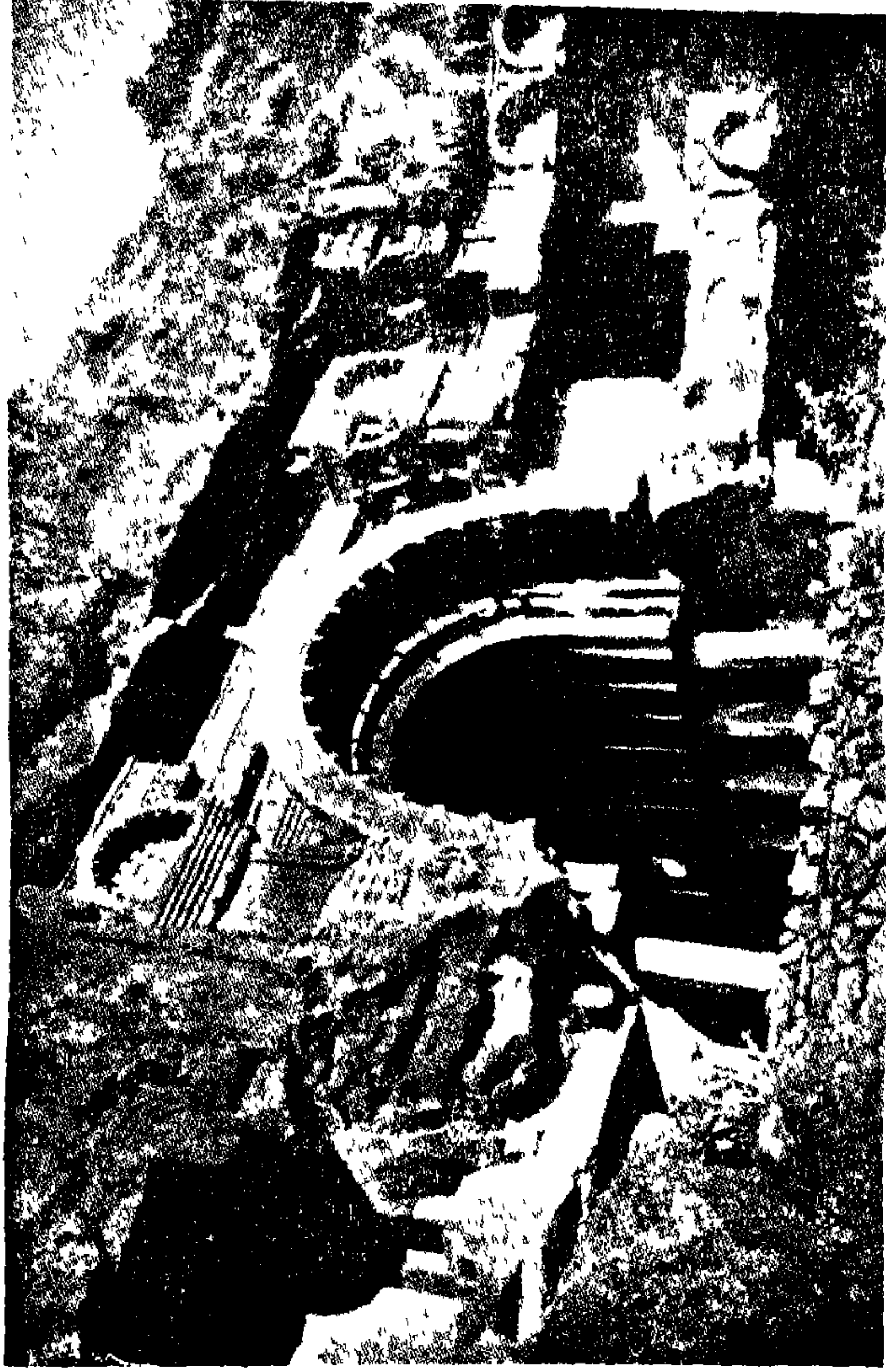


मालदा का मुख्य स्तूप

फलक २६



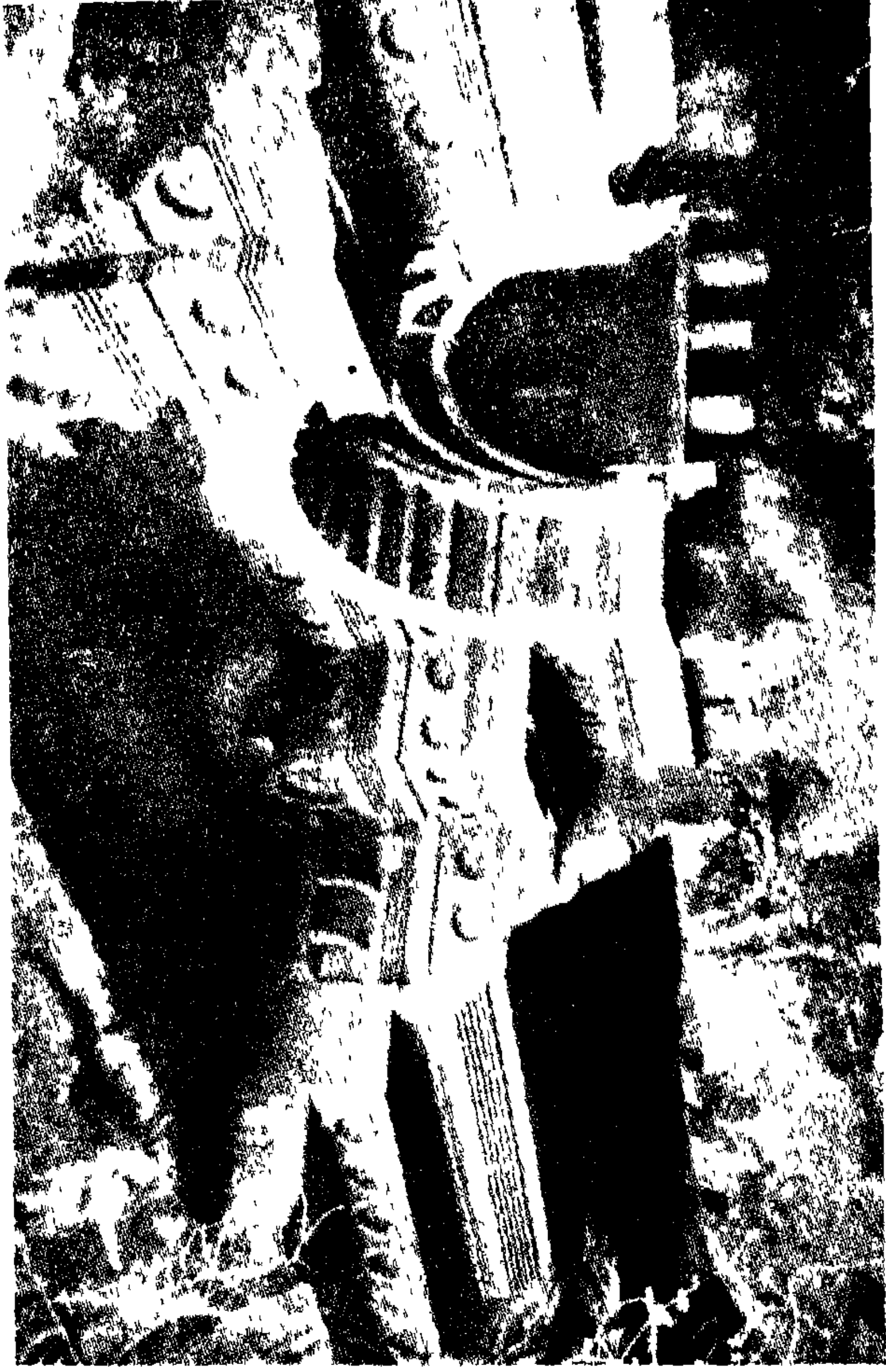
लोमश ऋषि गुहा-बराबर (गया) पर्वत



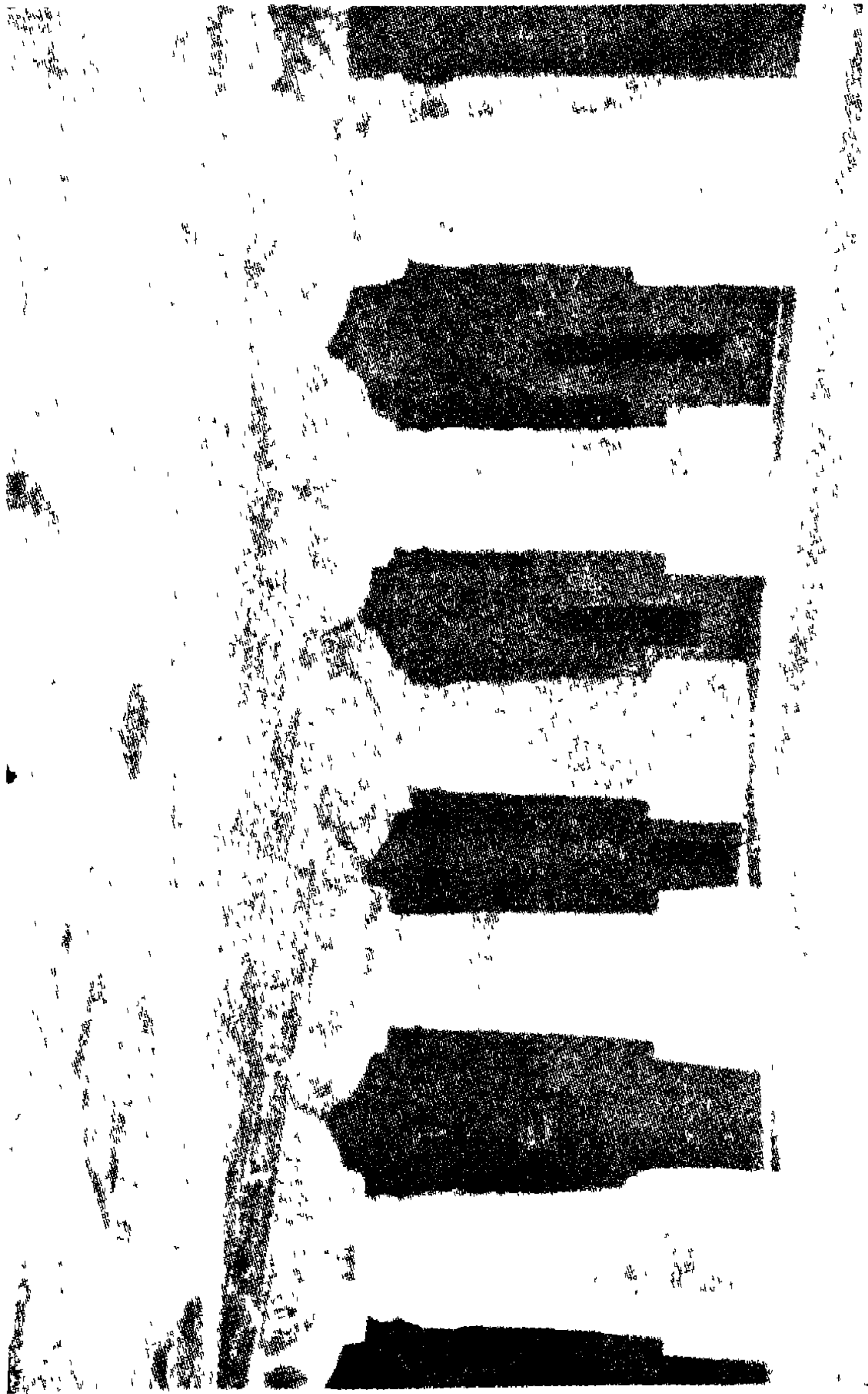
भाजा चैत्य (माथा)



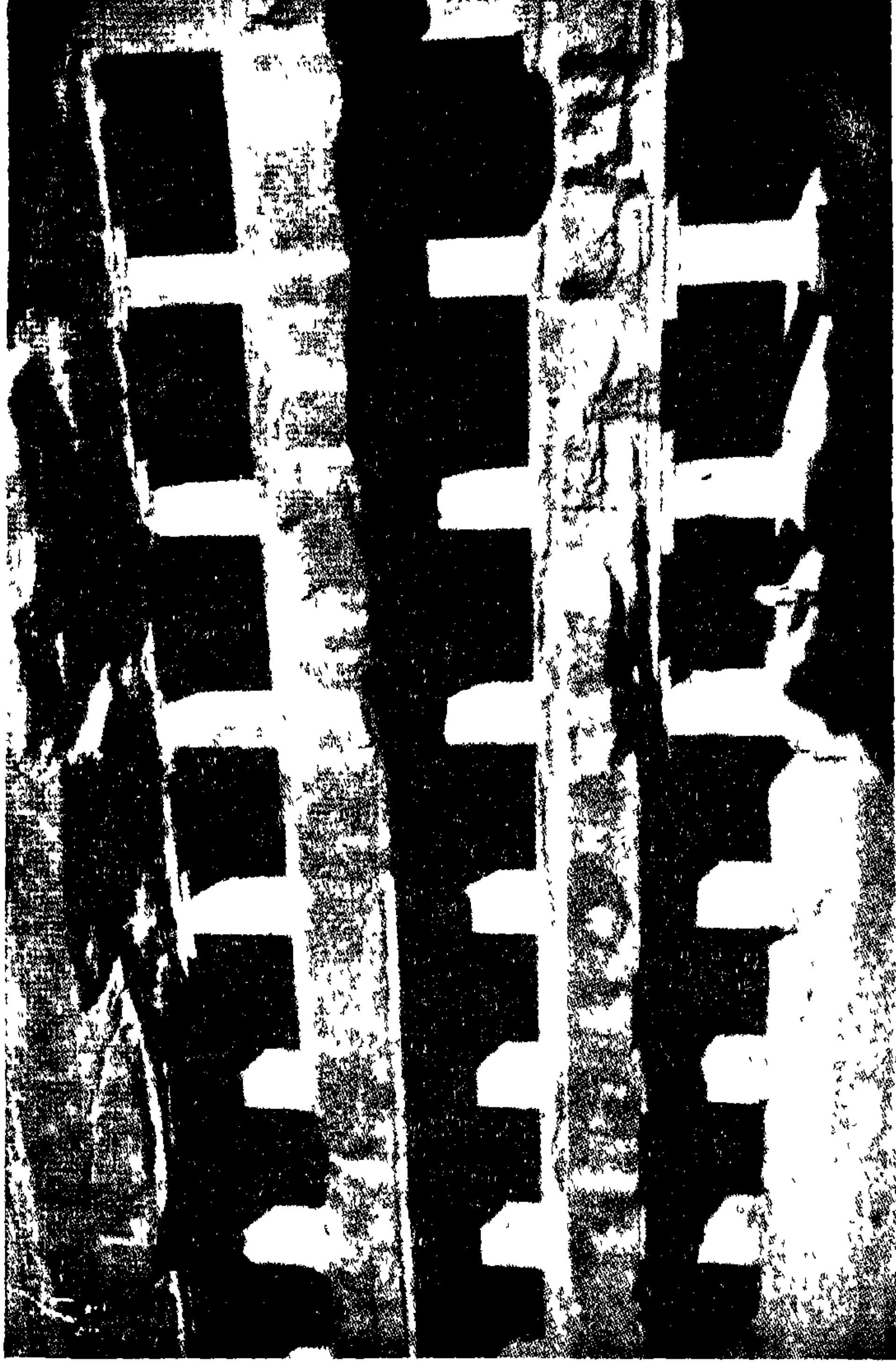
मासिक गुहा (लेण)



कोनदने गुहा (माथा)



अजंता बिहार संख्या १ (बरामदा)





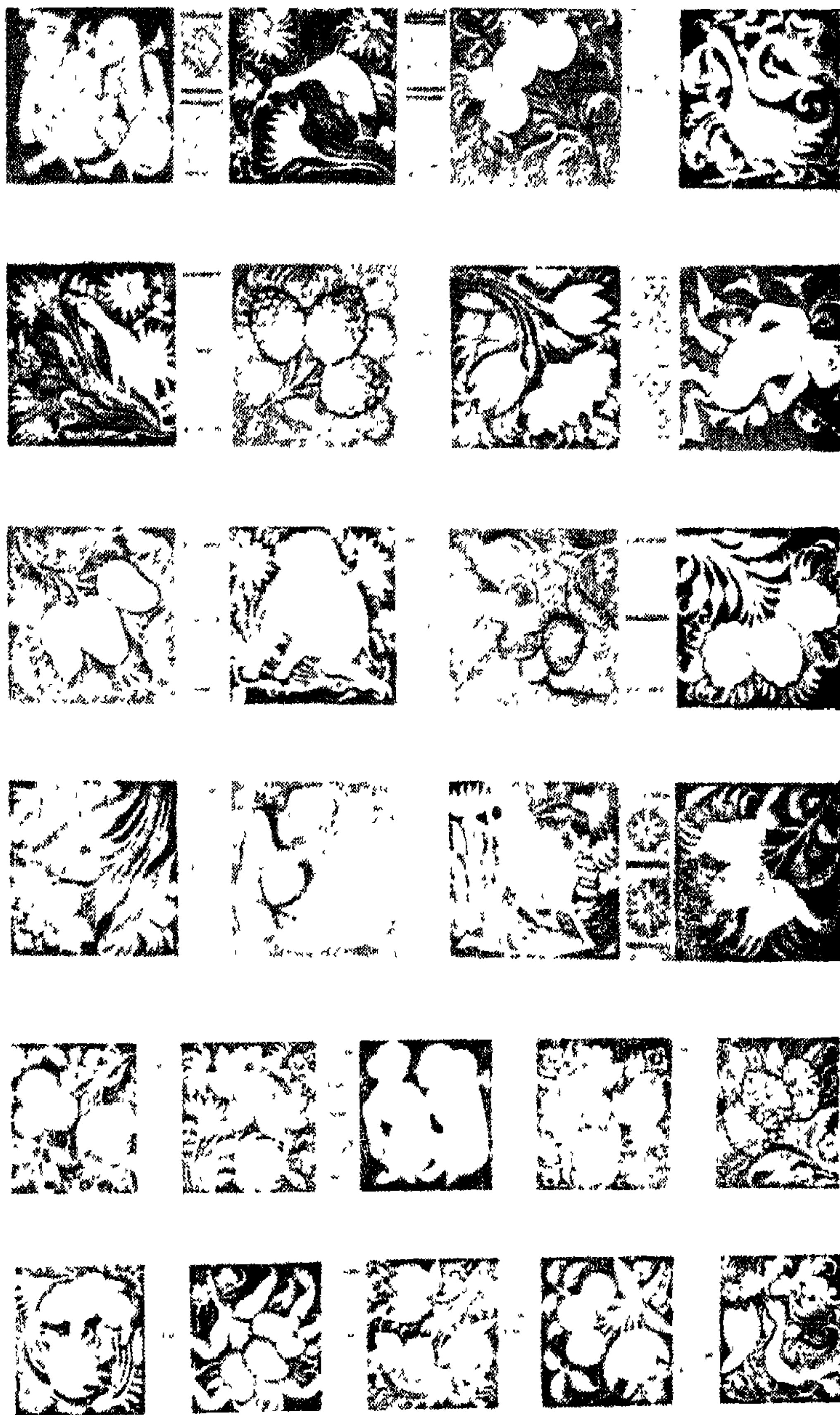


गुहा सख्या १—अजंता भित्ति-चित्र (महाप्रदर्शन)



फलक ३५

अजना भित्ति पर चित्रित हाथियो



फलक ३७



अजता के भित्ति-चित्र गुहा मर्या १
(राजा महाजनक)

फलक ३८



अजना क भित्तिचित्र गुहा मख्या १७
(इद्र का पृथ्वी पर अवतरण)

फलक ३९



अजता गुहा मख्या १७ (बुद्ध तथा आनद)

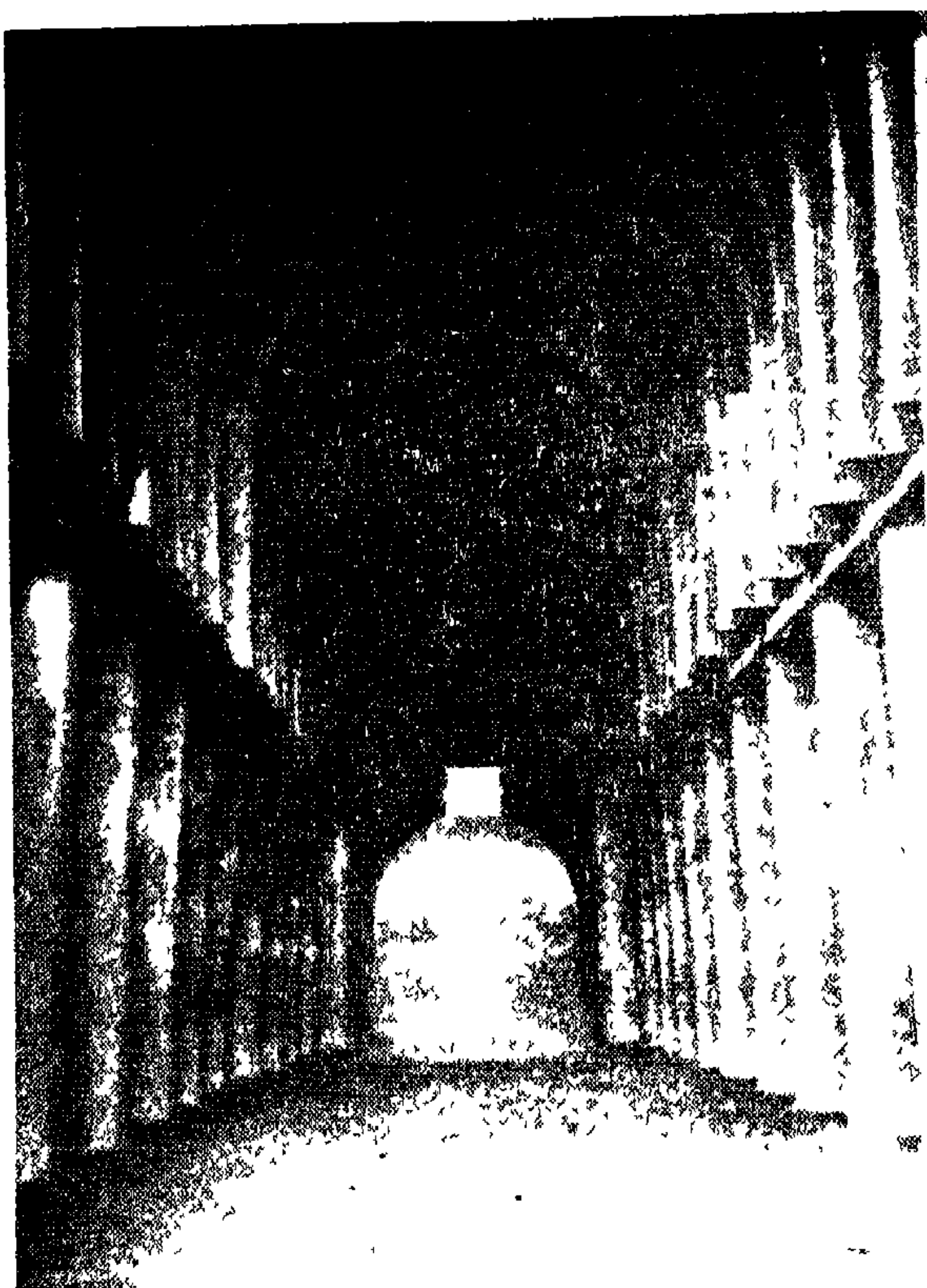
फलक ४०

अज्ञता भित्ति-चित्र

गृहा मर्यादा—१७

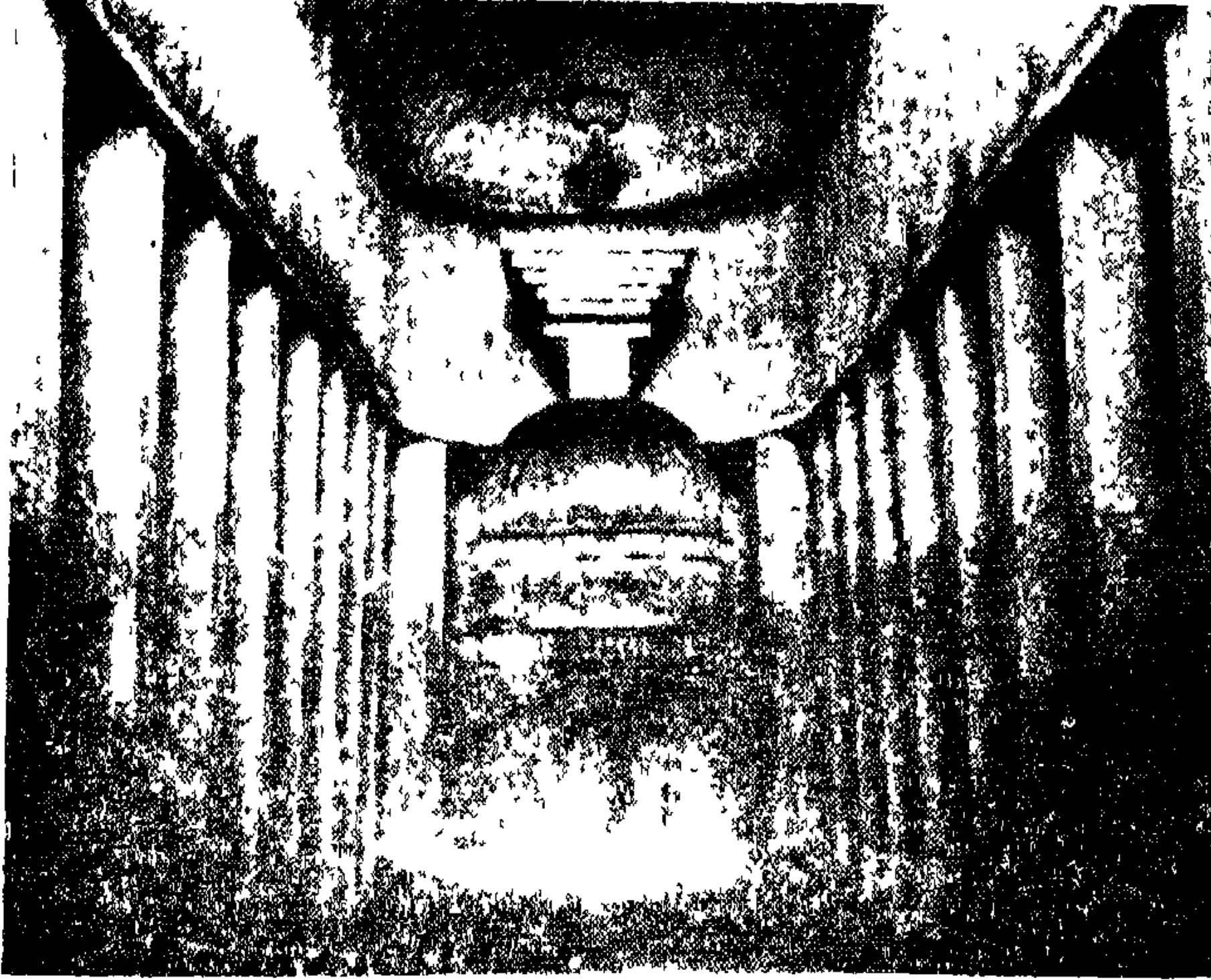


फलक ४१



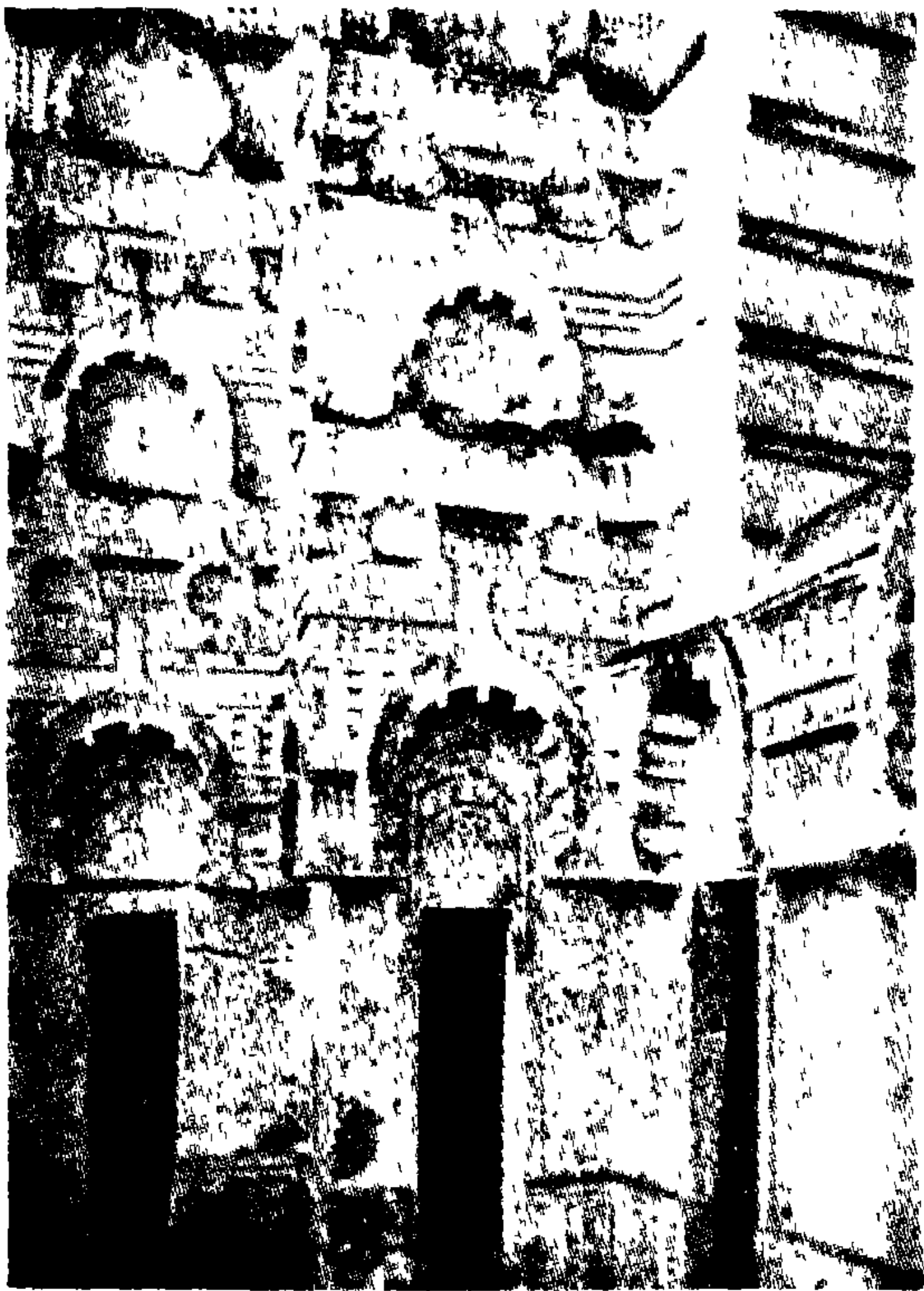
भाजा चैत्य (भीतरी दृश्य)

फलक ४०



वेदमा चैत्य मठ

फलक ४३



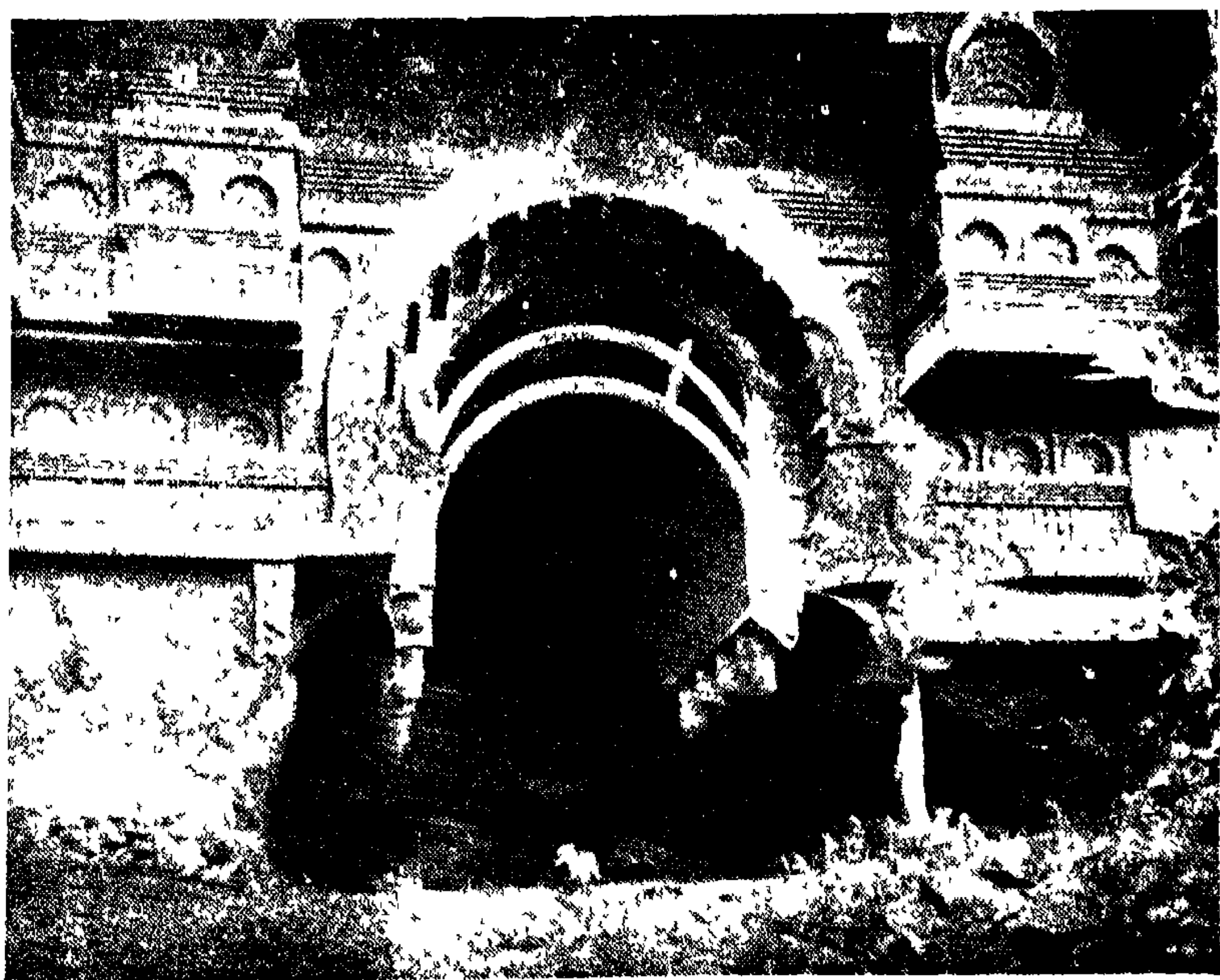
वेदसा चैत्य (दक्षिण पश्चिम किनारा)

फलक ४४



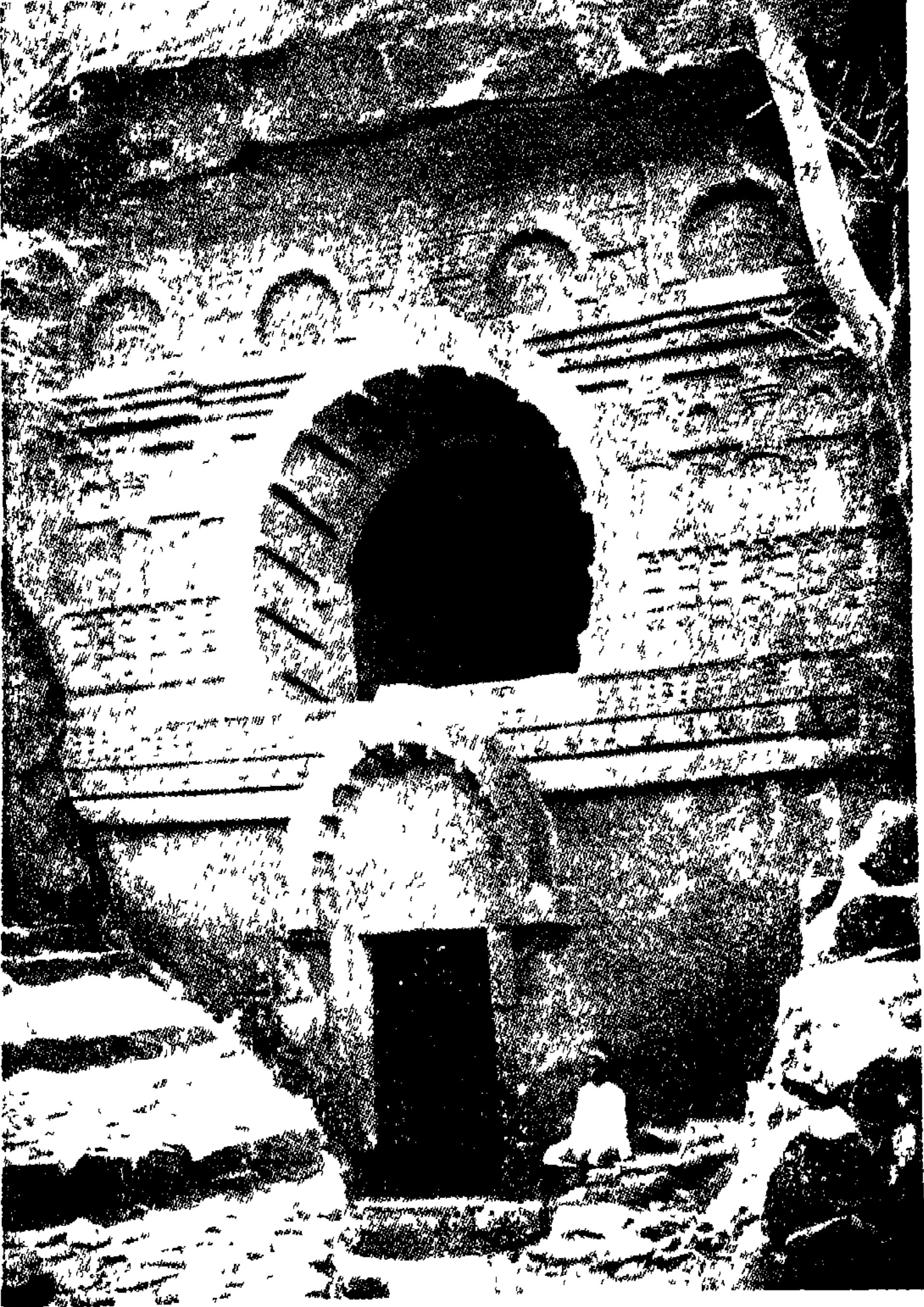
कोनदने गुहा (माथा)

फलक ४५



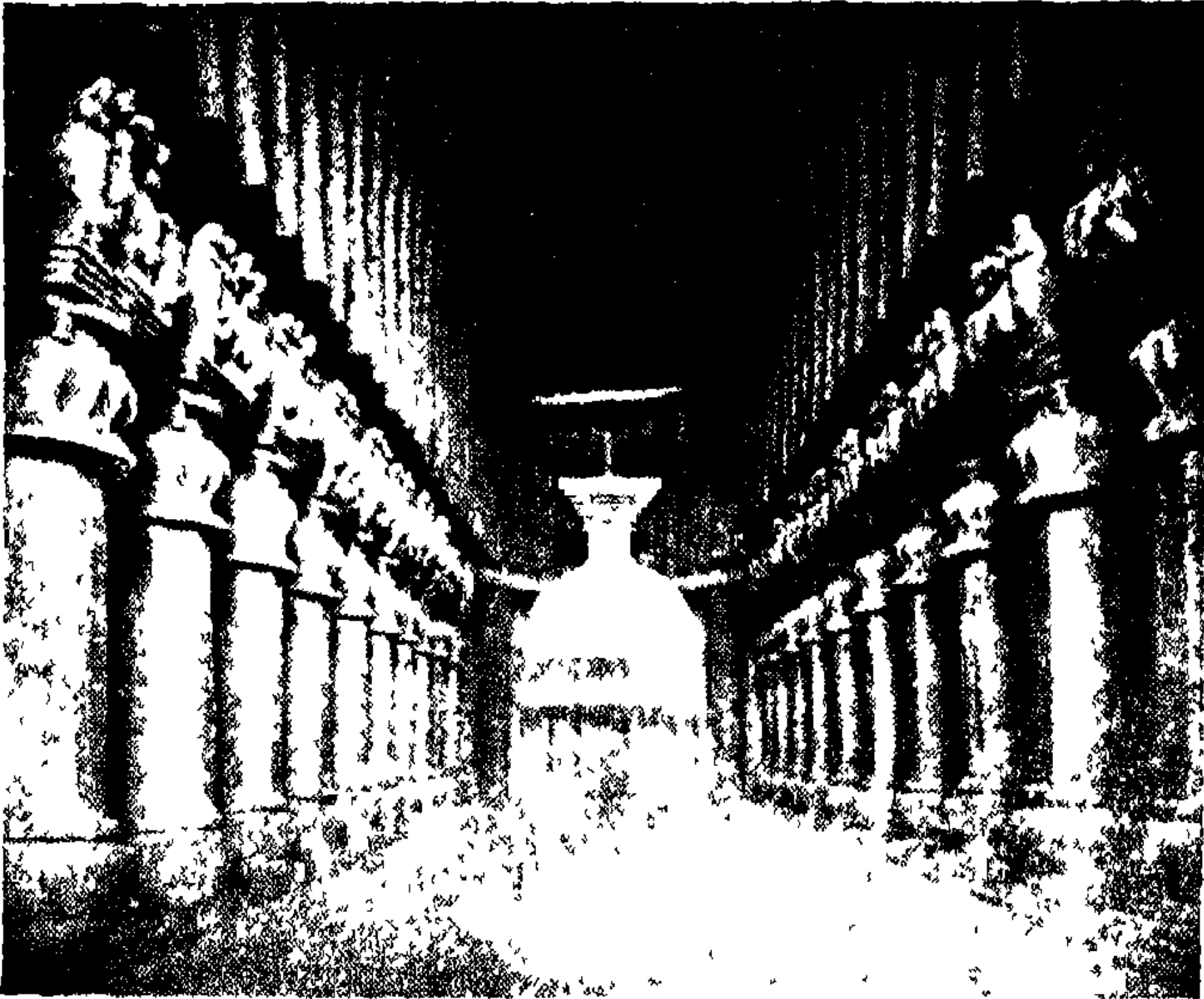
कोनदने चैत्य का द्वार

फलक ४६

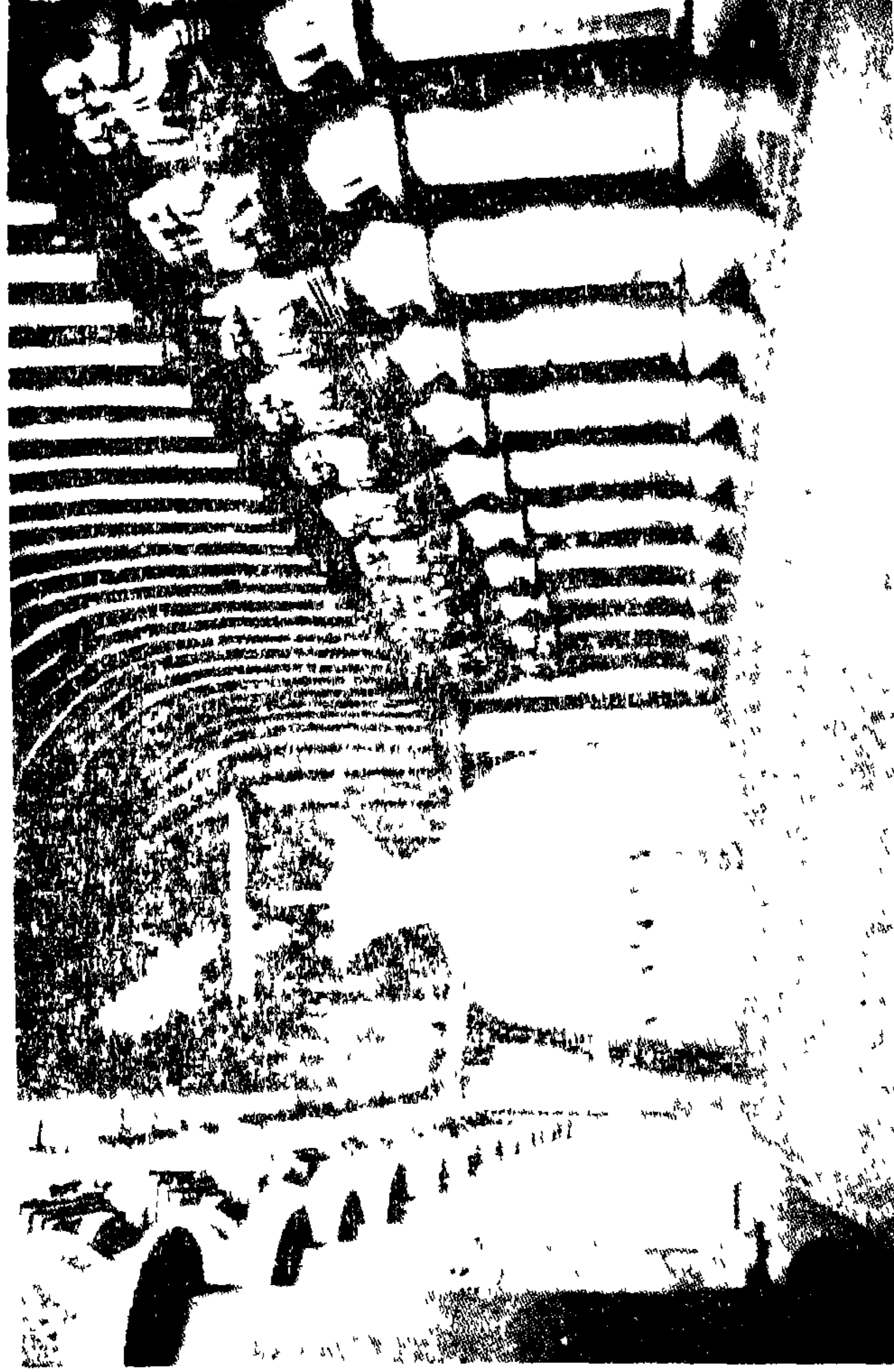


पांडुलेन चैत्य मंडप (नासिक)

फलक ४७



कार्लो चैत्य मंडप



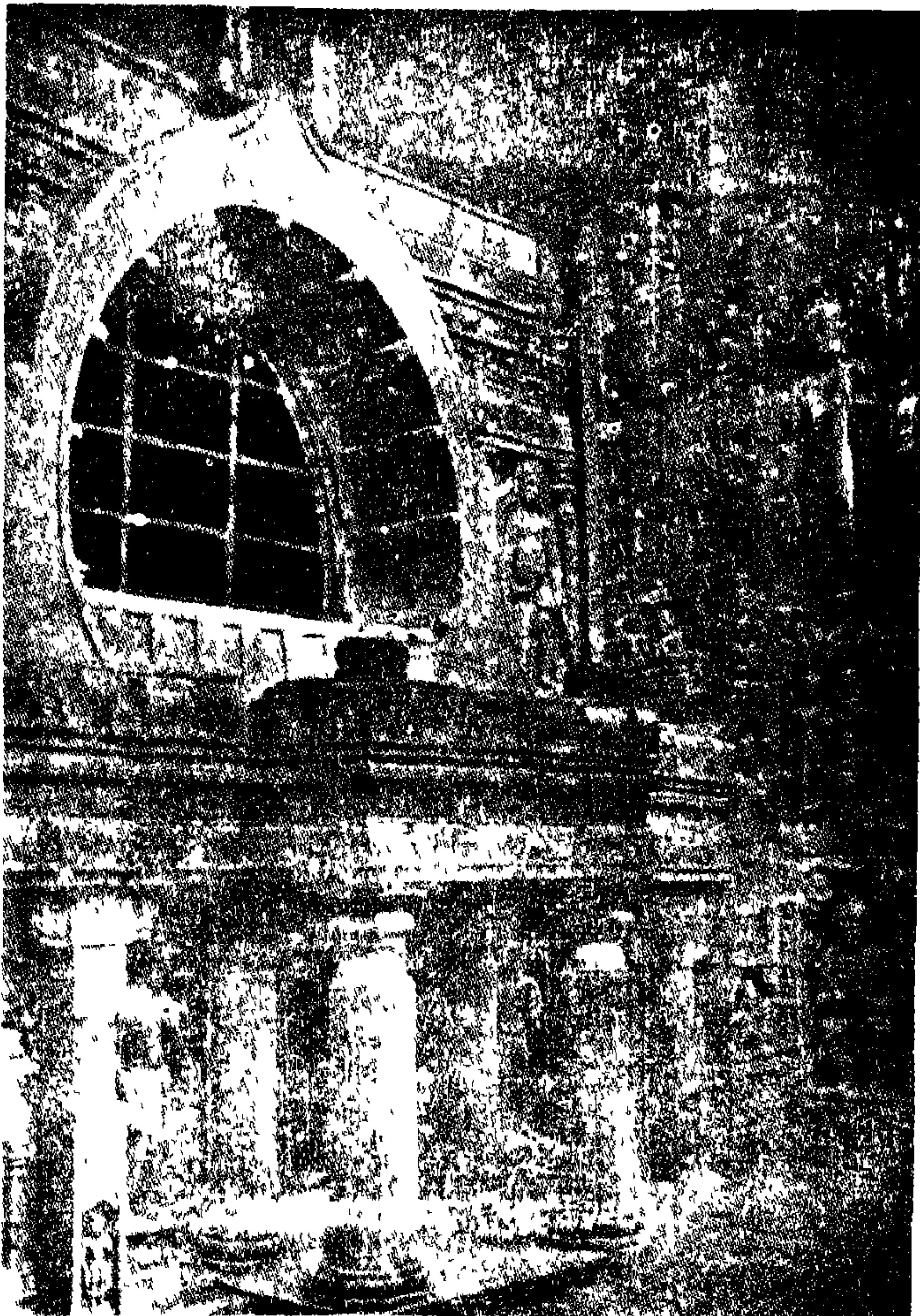
काले चैत्य (भीवरी दृश्य)

फलक ४९



काले चैत्य-वरामदा

फलक ५०



अजन्ता चैत्य वातायन (गुहा मख्या १)

फलक ५१



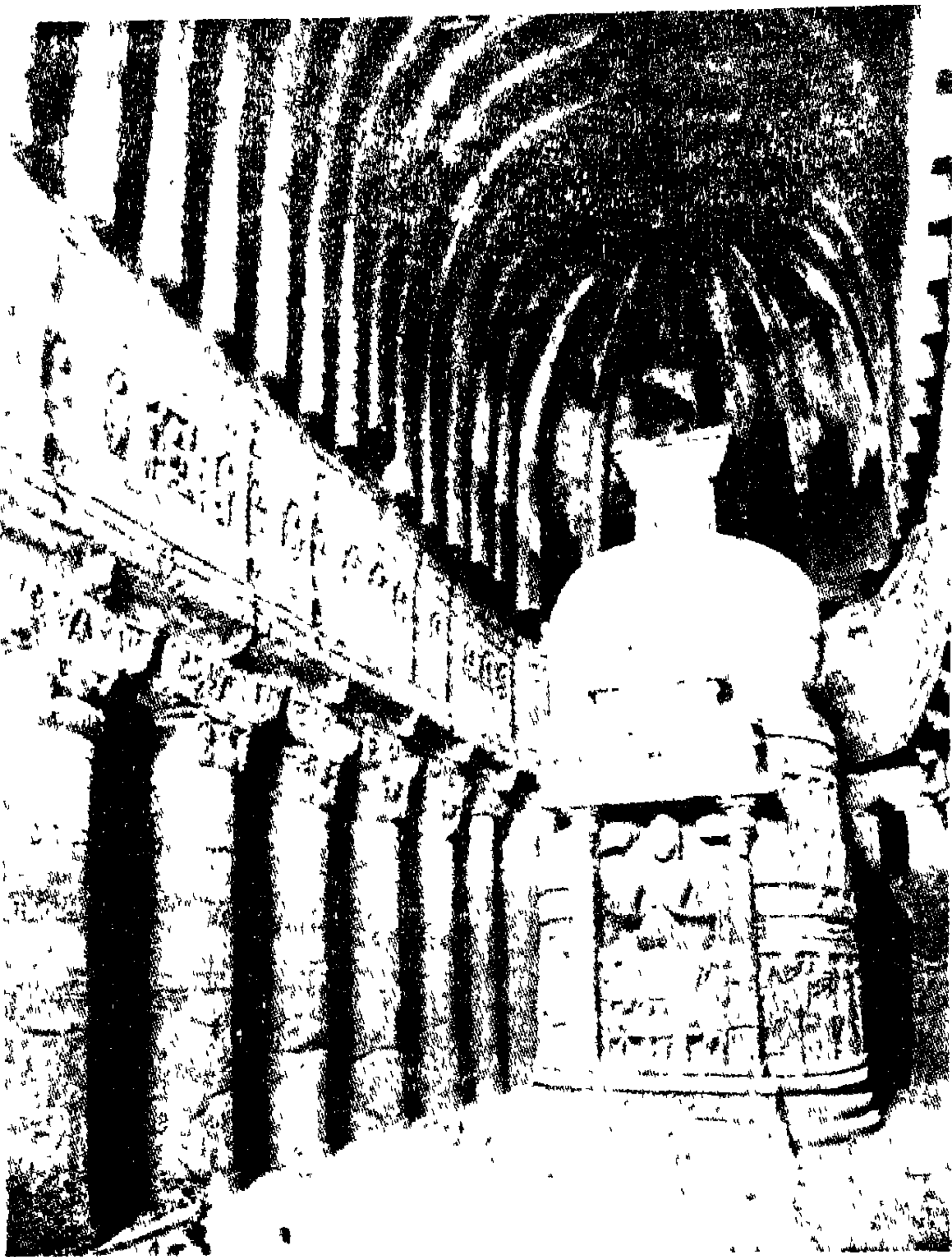
अजंता (गुहा संख्या १०,) चैत्य

फलक ५२



जजना गुहा १९ (समुख भाग)

फलक ५३



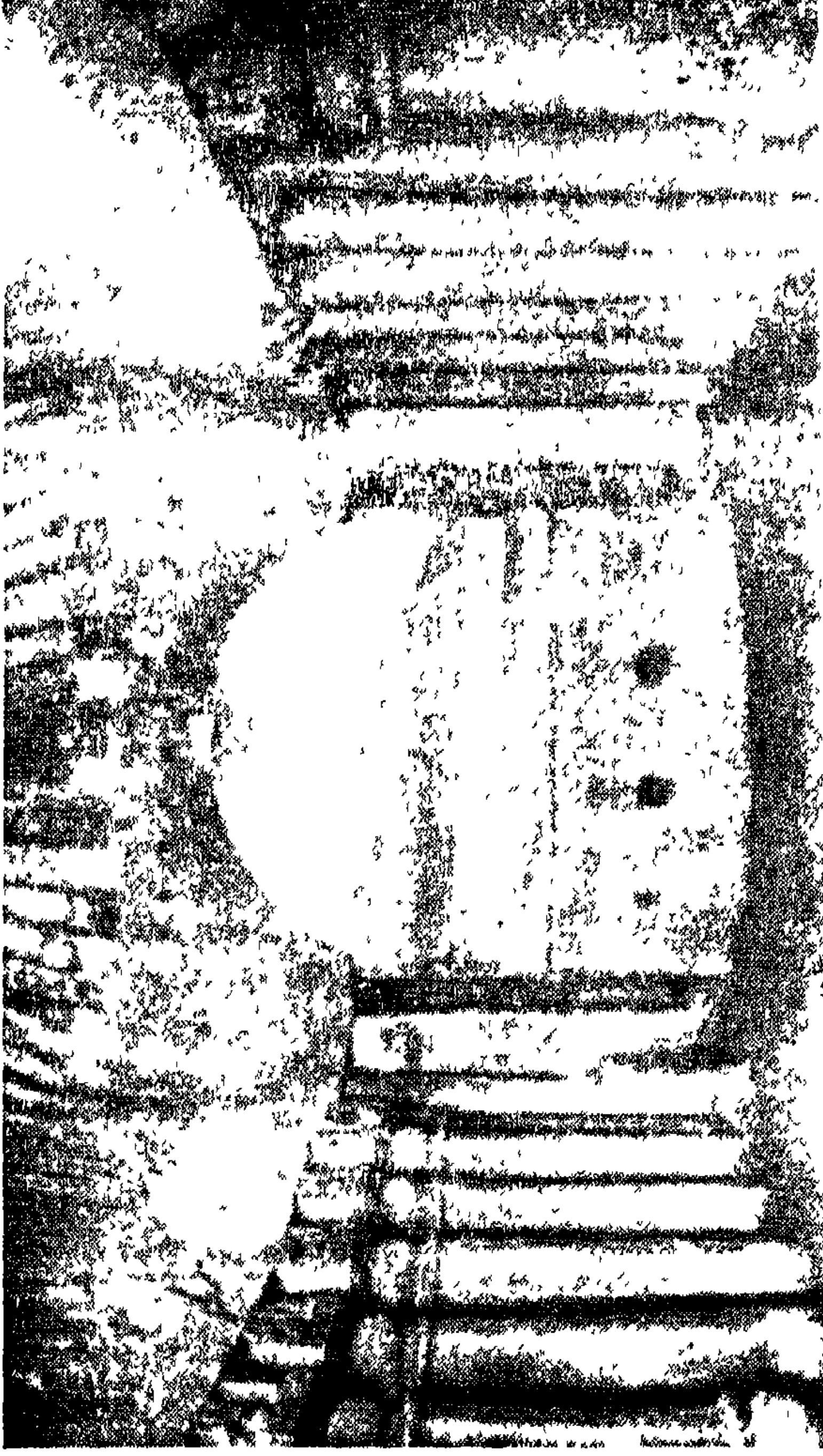
अजंता चैत्य (गुहा संख्या २६)

फलक ५४

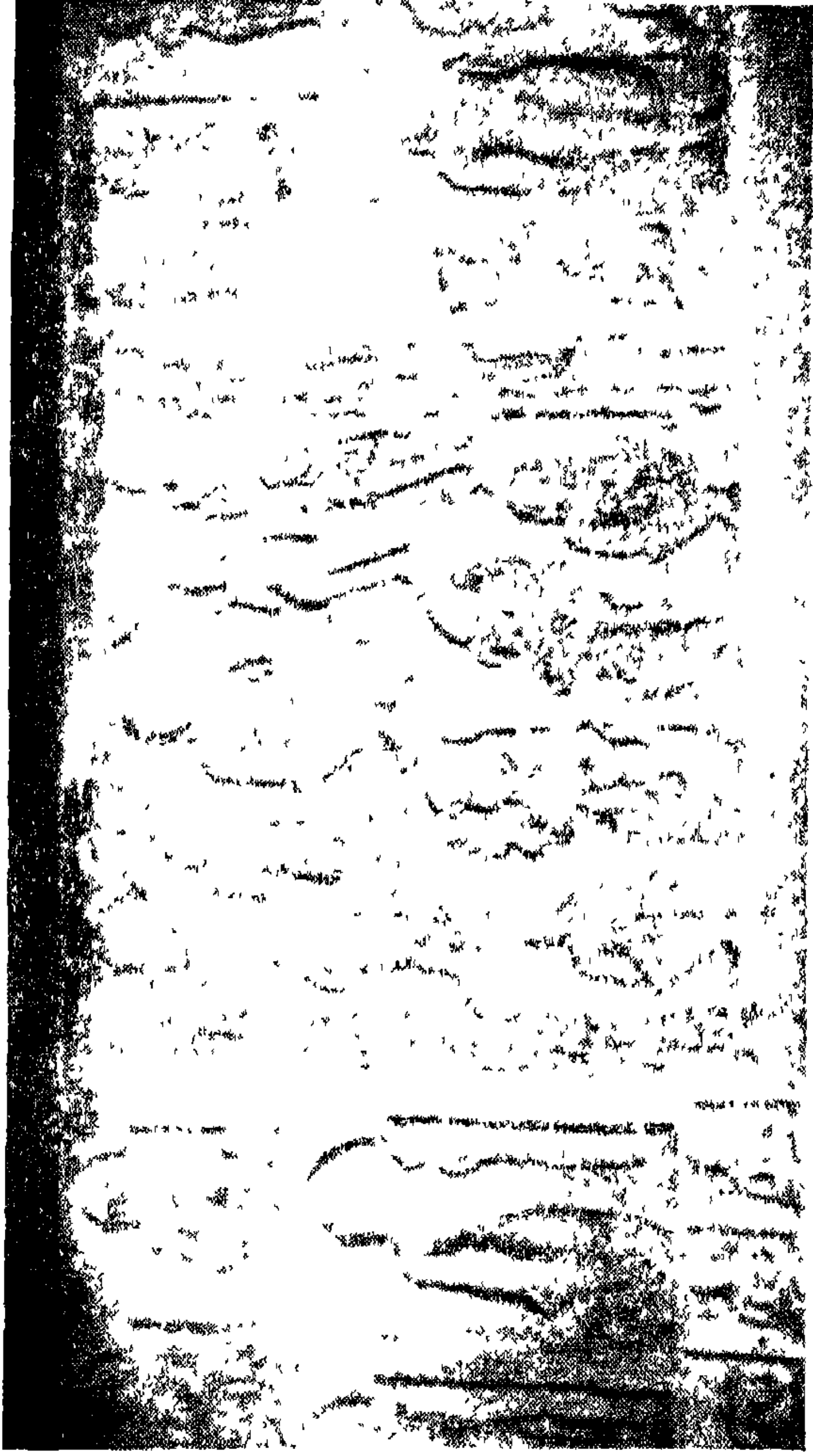


एलोरा चैत्य (भीतरी दृश्य)
गुहा संख्या १० विश्वकर्मा

फलक ५५



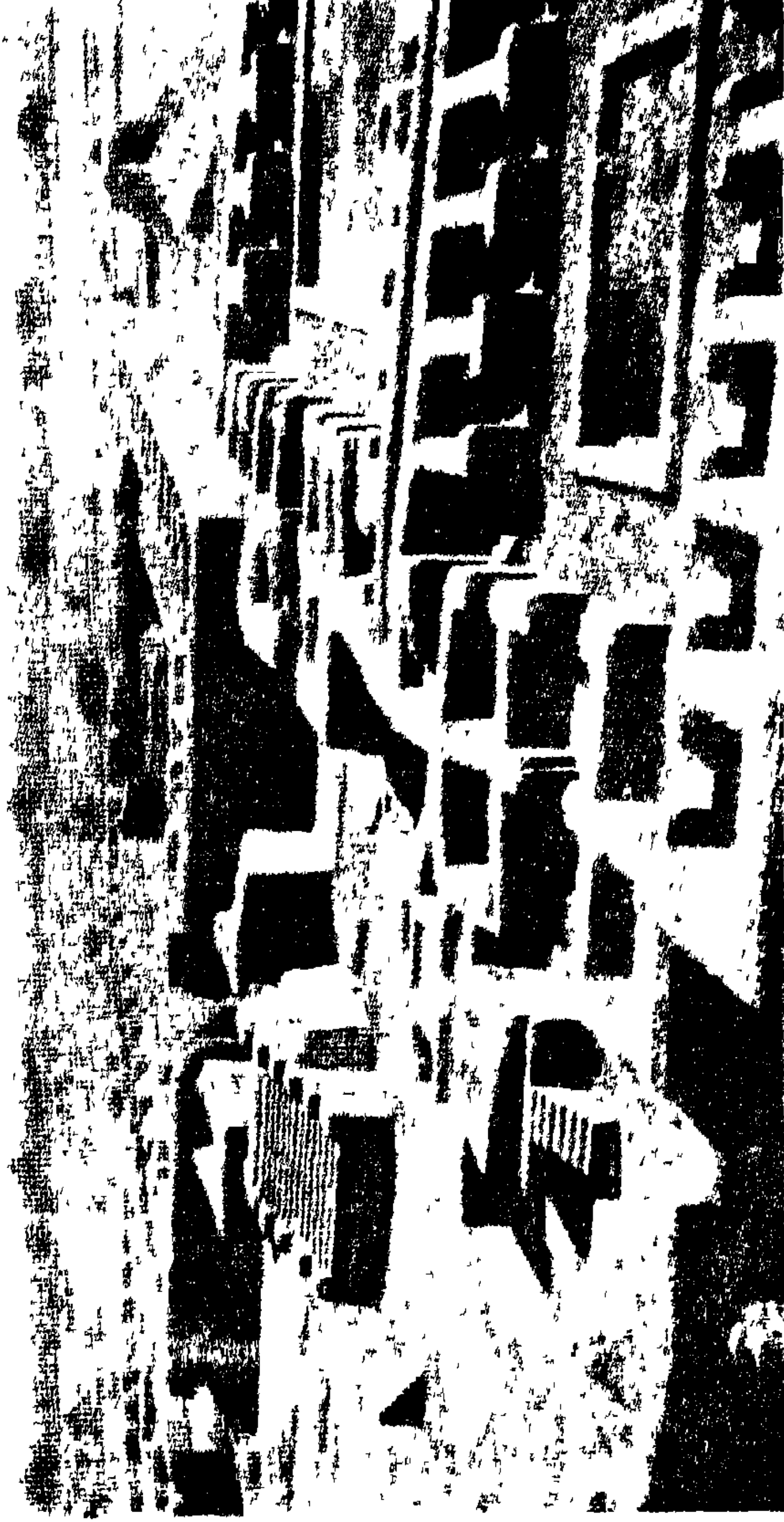
कन्देरी (गुहा सख्या ३) - चैत्य

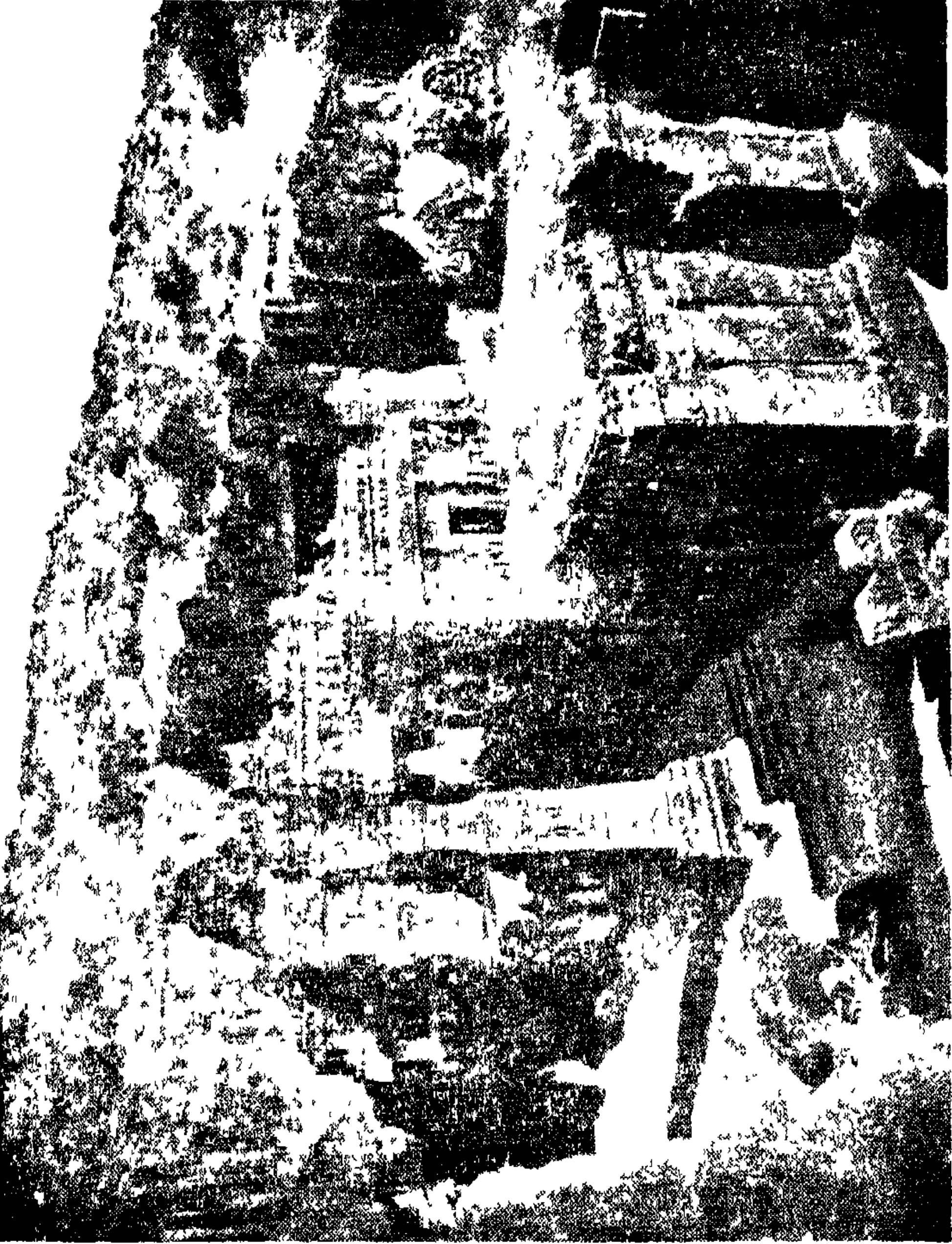


बुद्ध का महाप्रदर्शन (कन्हरी गुहा मध्ये ९०)

फलक ५७

नालंदा महाविहार





फलक ७८

कैलाशनाथ मंदिर का भीमरी दृश्य
(गृह्य मध्या १६)

फलक ५९

एलोरा (गुहा सख्या १४)
विष्णु और लक्ष्मी



फलक ६०



नरमह—एलोरा (लकेडवर)

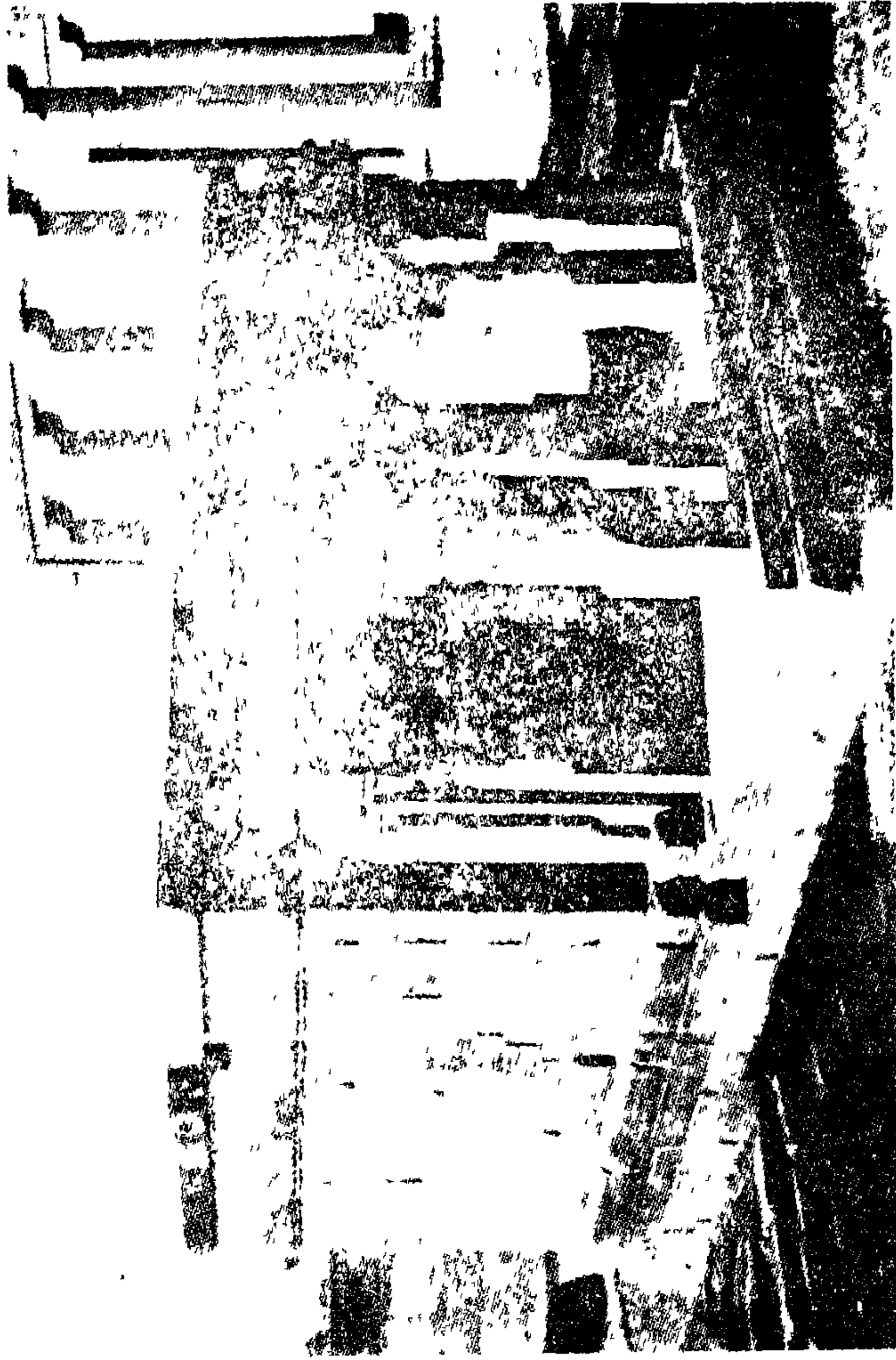
फलक ६१

रावण कैलाश—एलोरा
(गुहा सख्या—१४)





सप्त मातृका—एलोरा (गुहा संख्या २४)



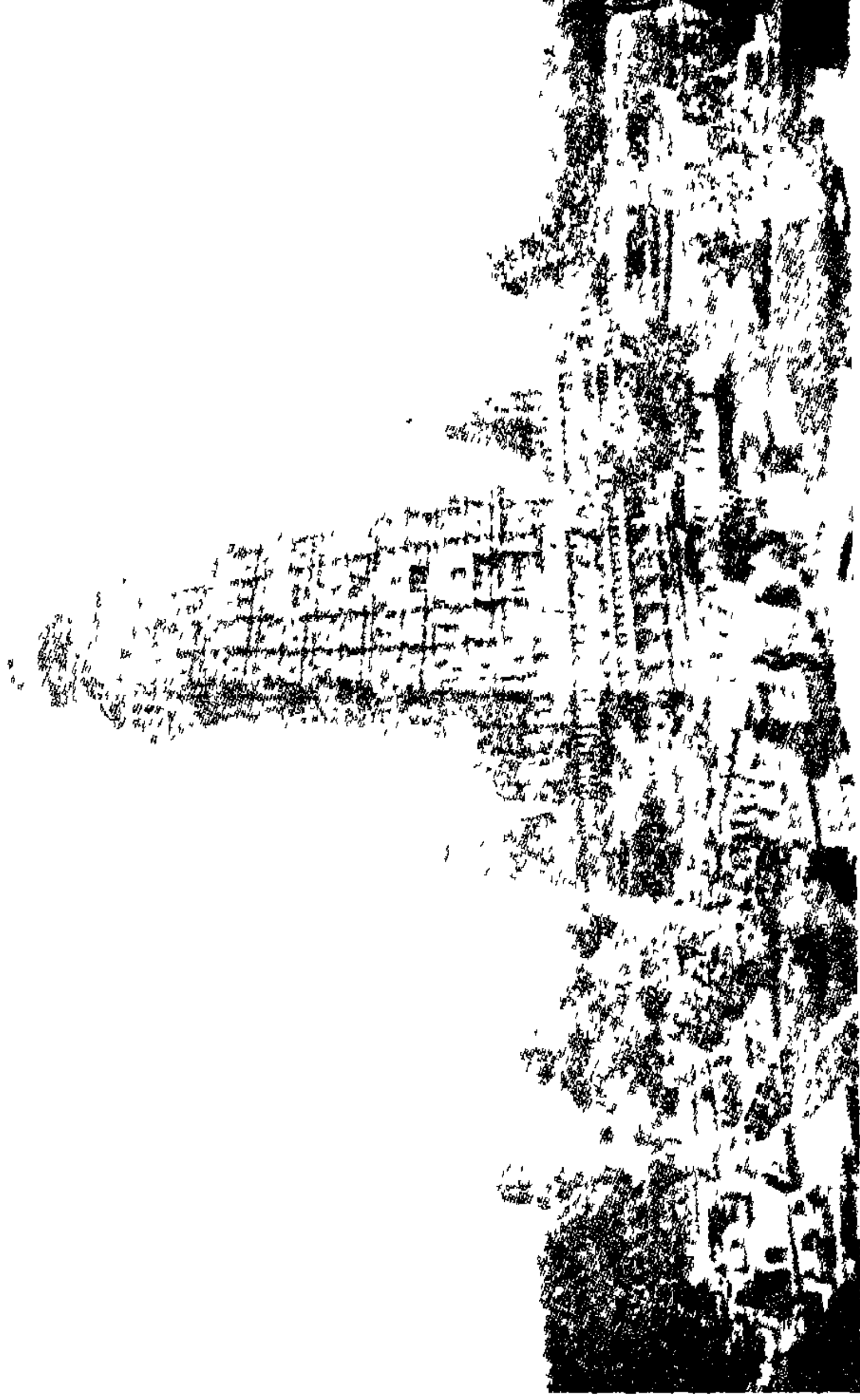
सांची गुप्त मंदिर

फलक ६४



जामी का देवगढ मंदिर

फलक ६५
बोवगया मंदिर

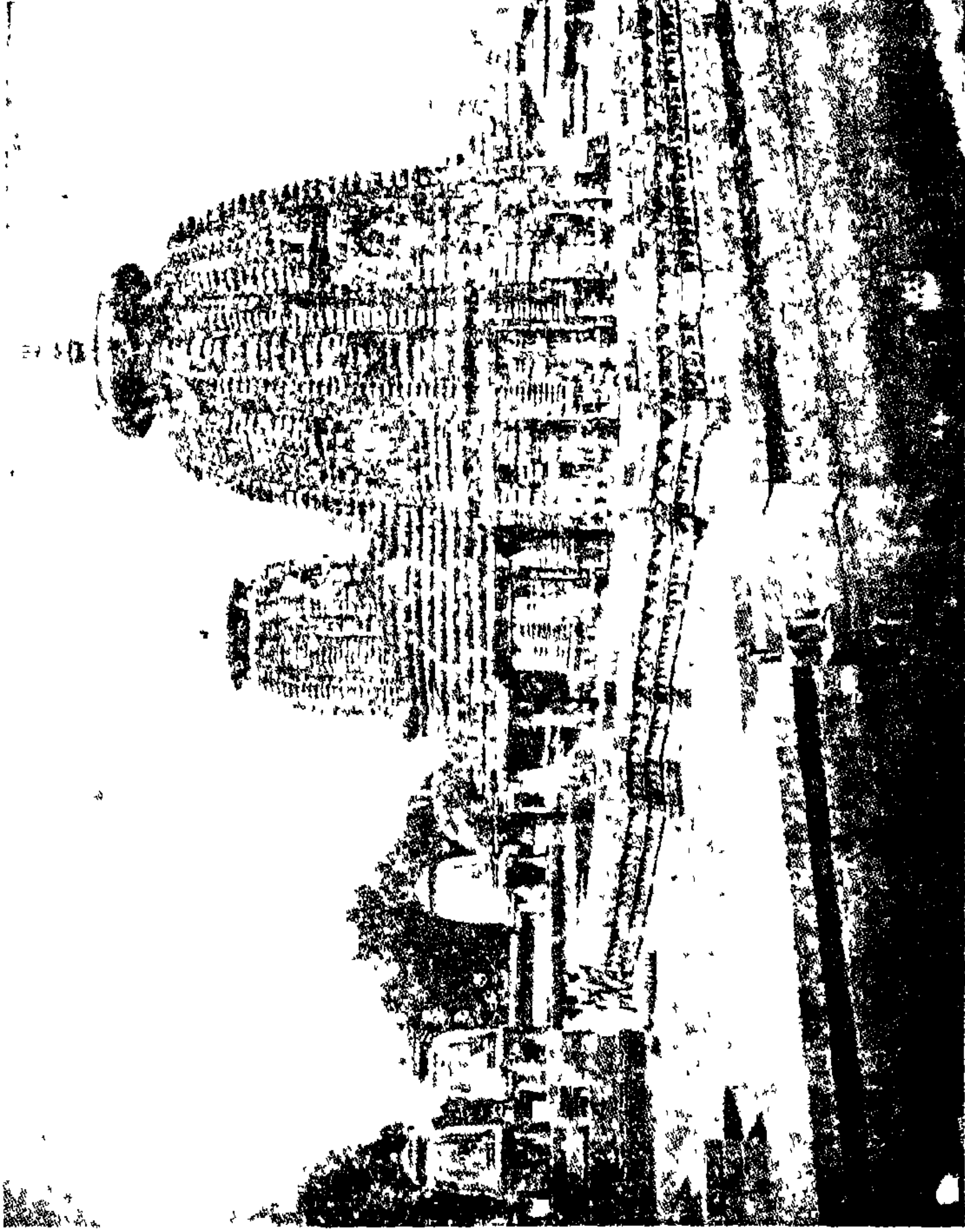


फलक ६६

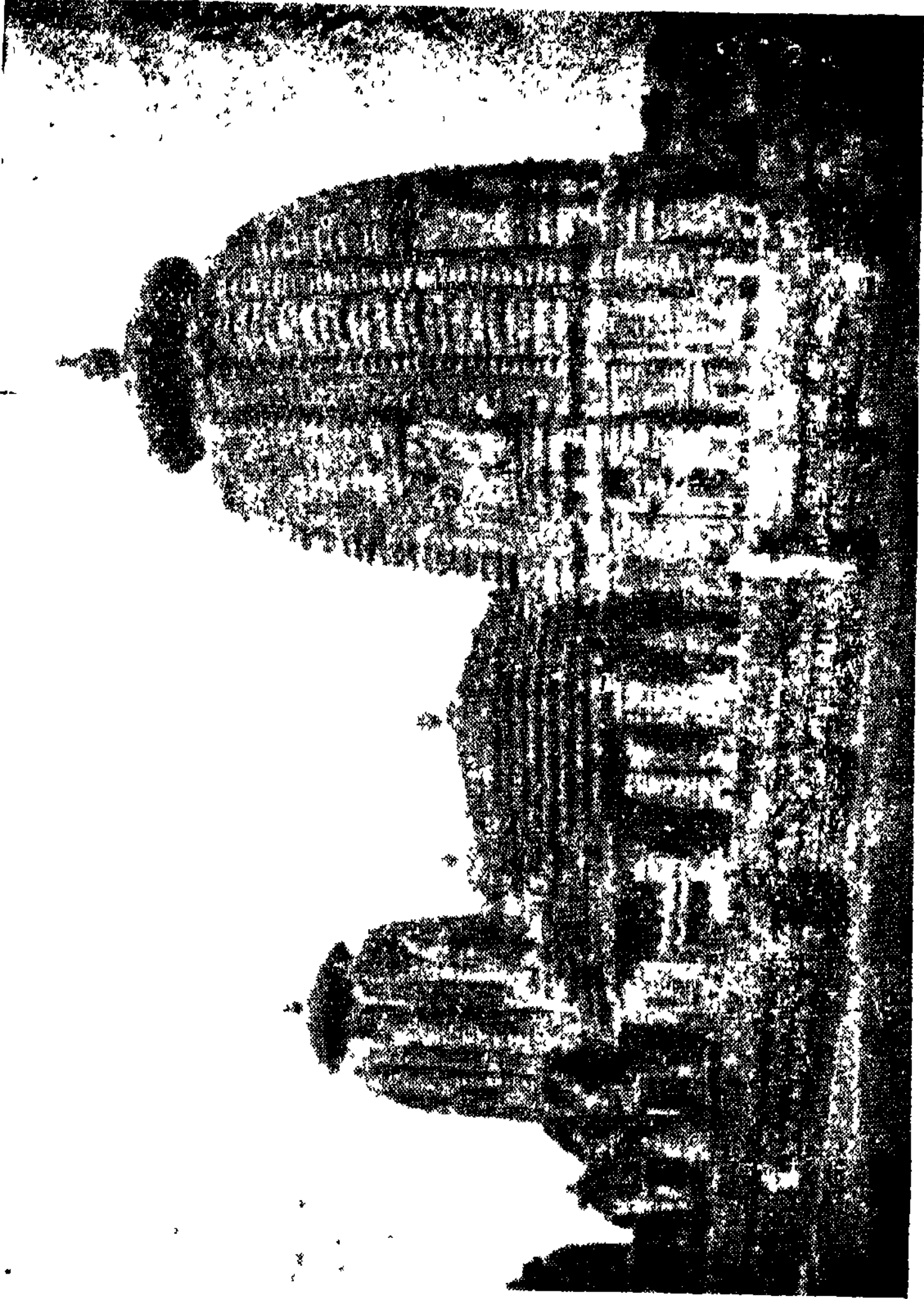
परशुरामेश्वर मंदिर—भुवनेश्वर



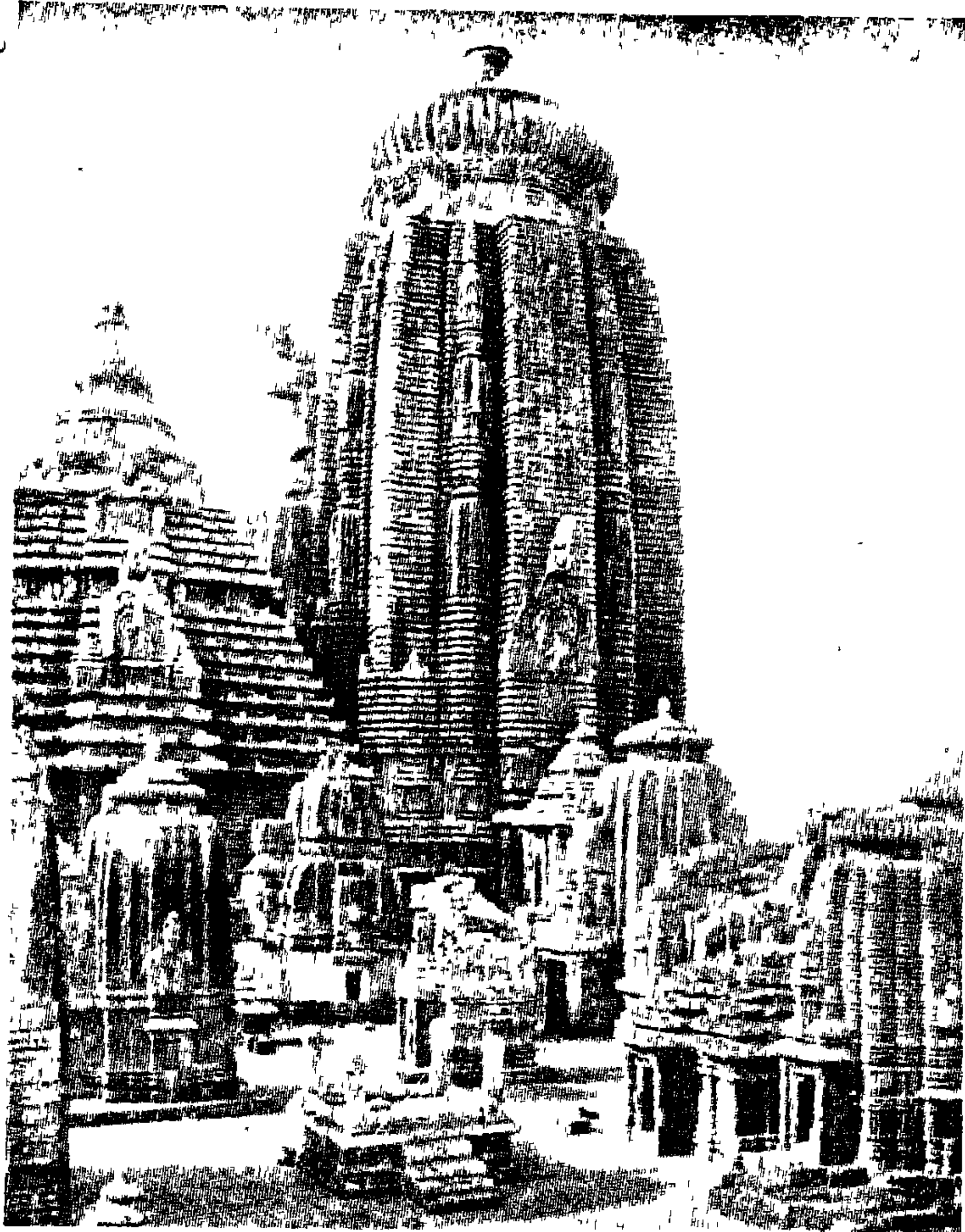
फलक ६७
मुक्तेश्वर मंदिर — भुवनेश्वर



कवक ६८
राजारानी मंदिर—
भुवनेश्वर



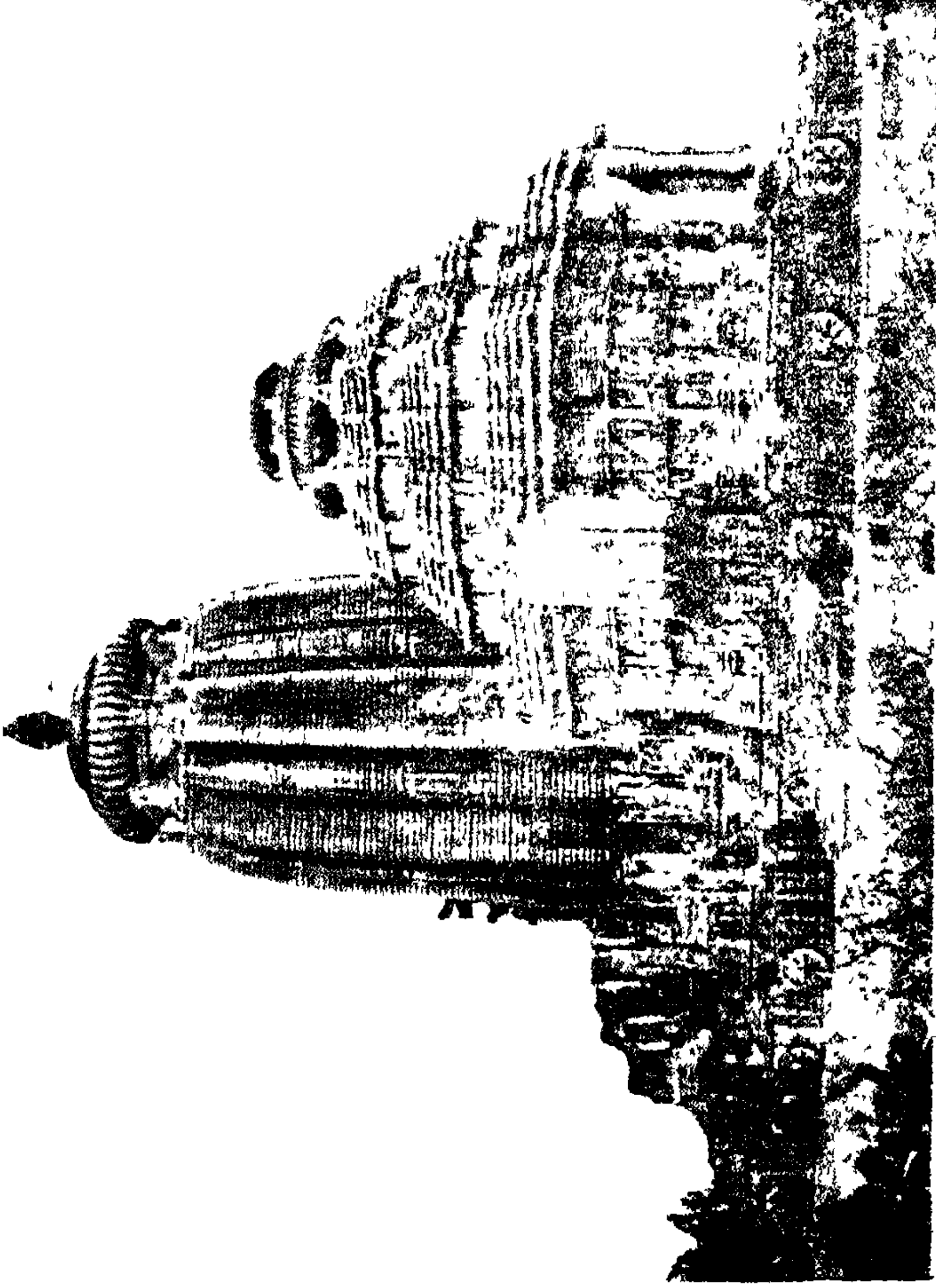
फलक ६९



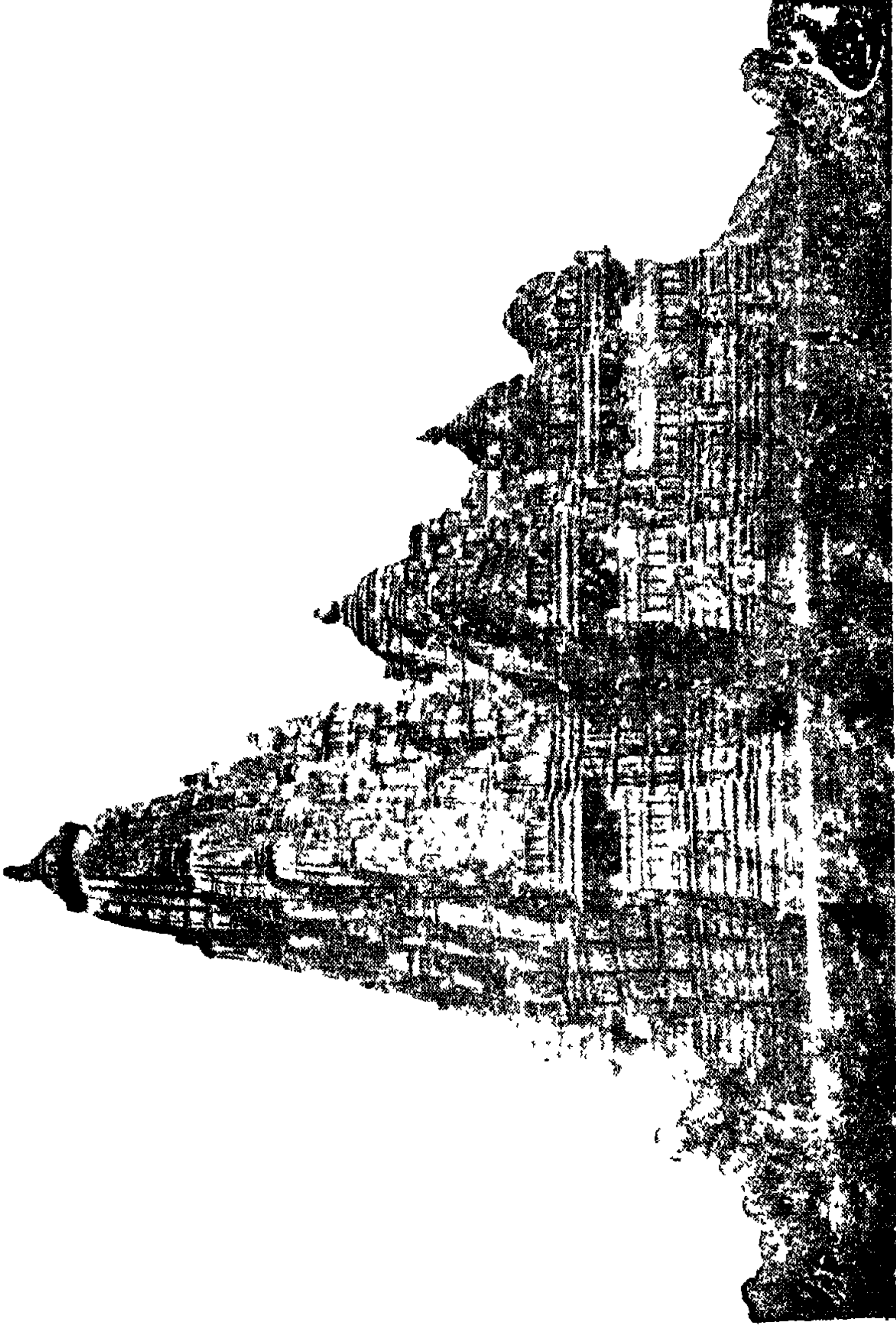
लिंगराज मंदिर—भुवनेश्वर

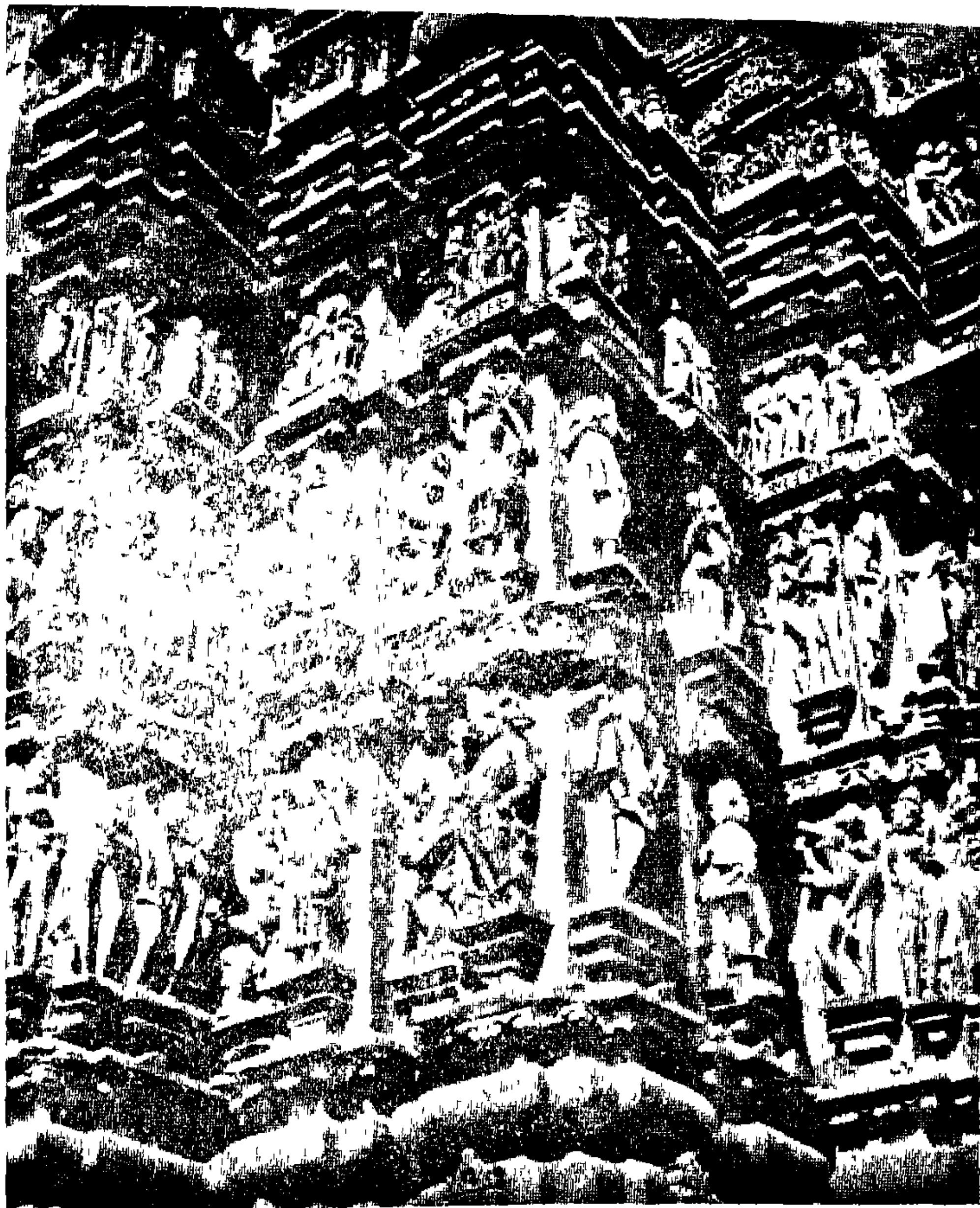
फलक ७०

मूर्ध मंदिर—कोणाई (उडोसा)

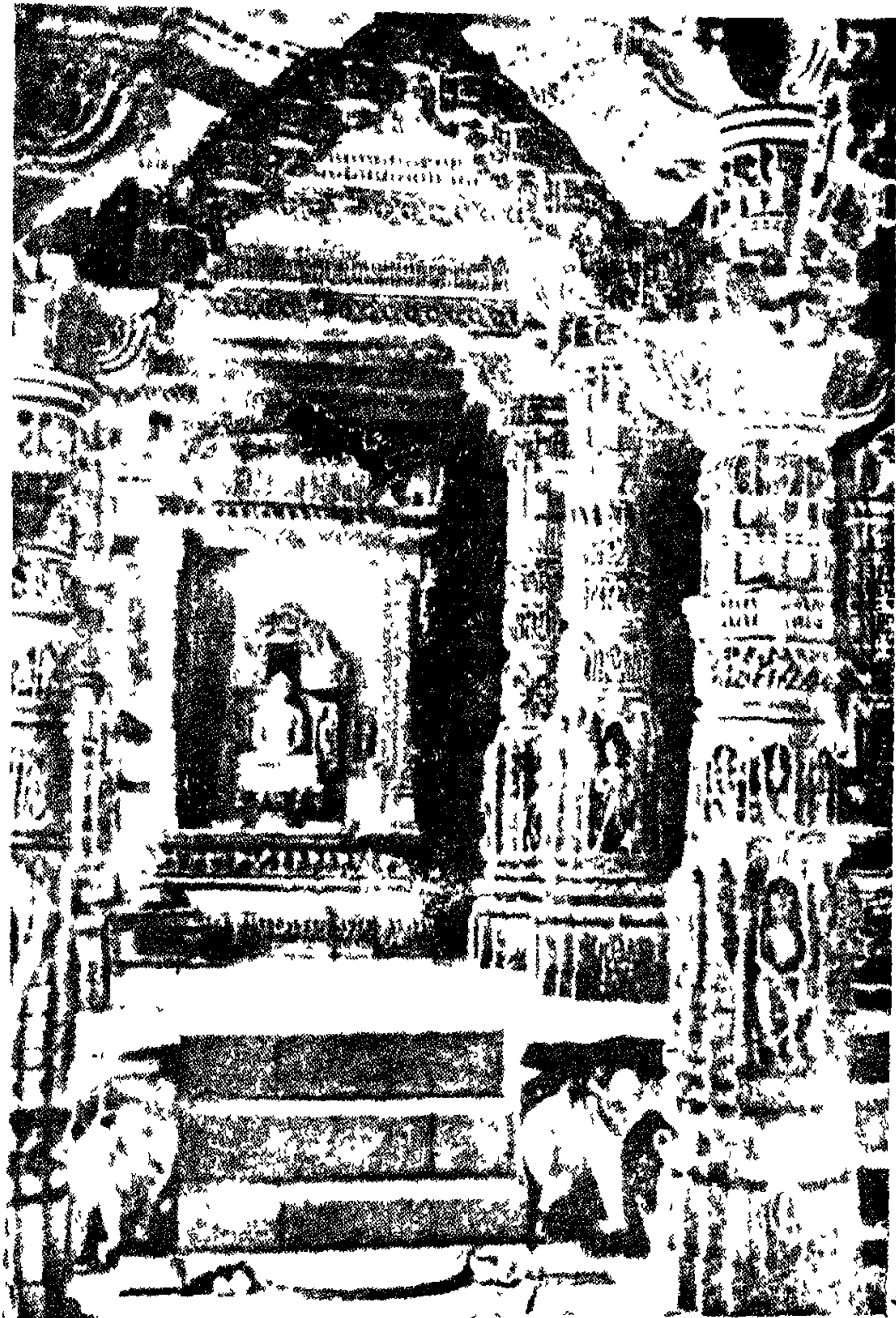


कलक ७१
कदरिया महादेव
मंदिर—खजुराहो





खजुराहो मंदिर—उत्कीर्ण बाहरी दीवार



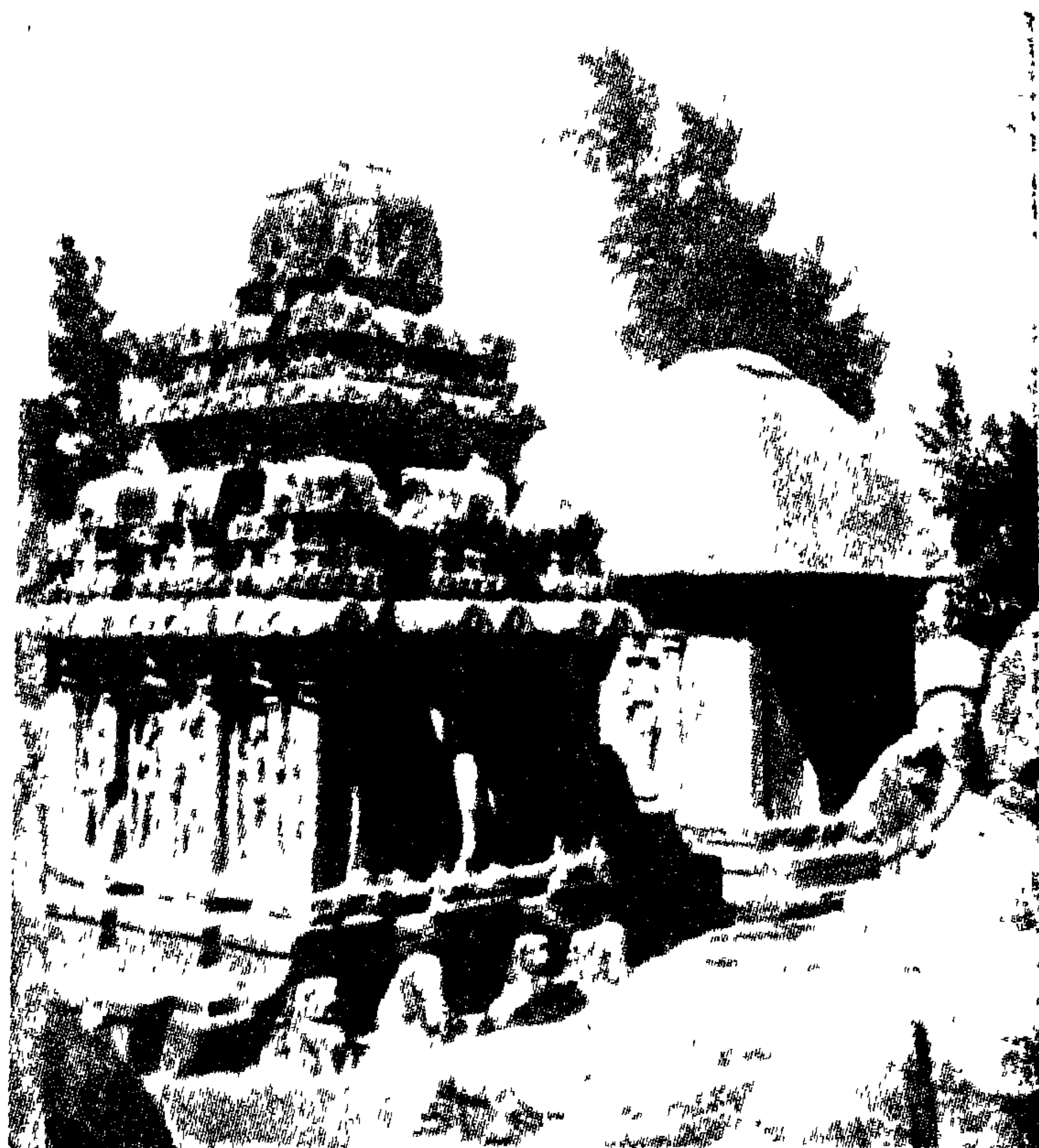
पालिताना का जैन मंदिर (भीतरी दृश्य) काठियावाड

फलक ७४

मार्तण्ड मंदिर--काशमीर

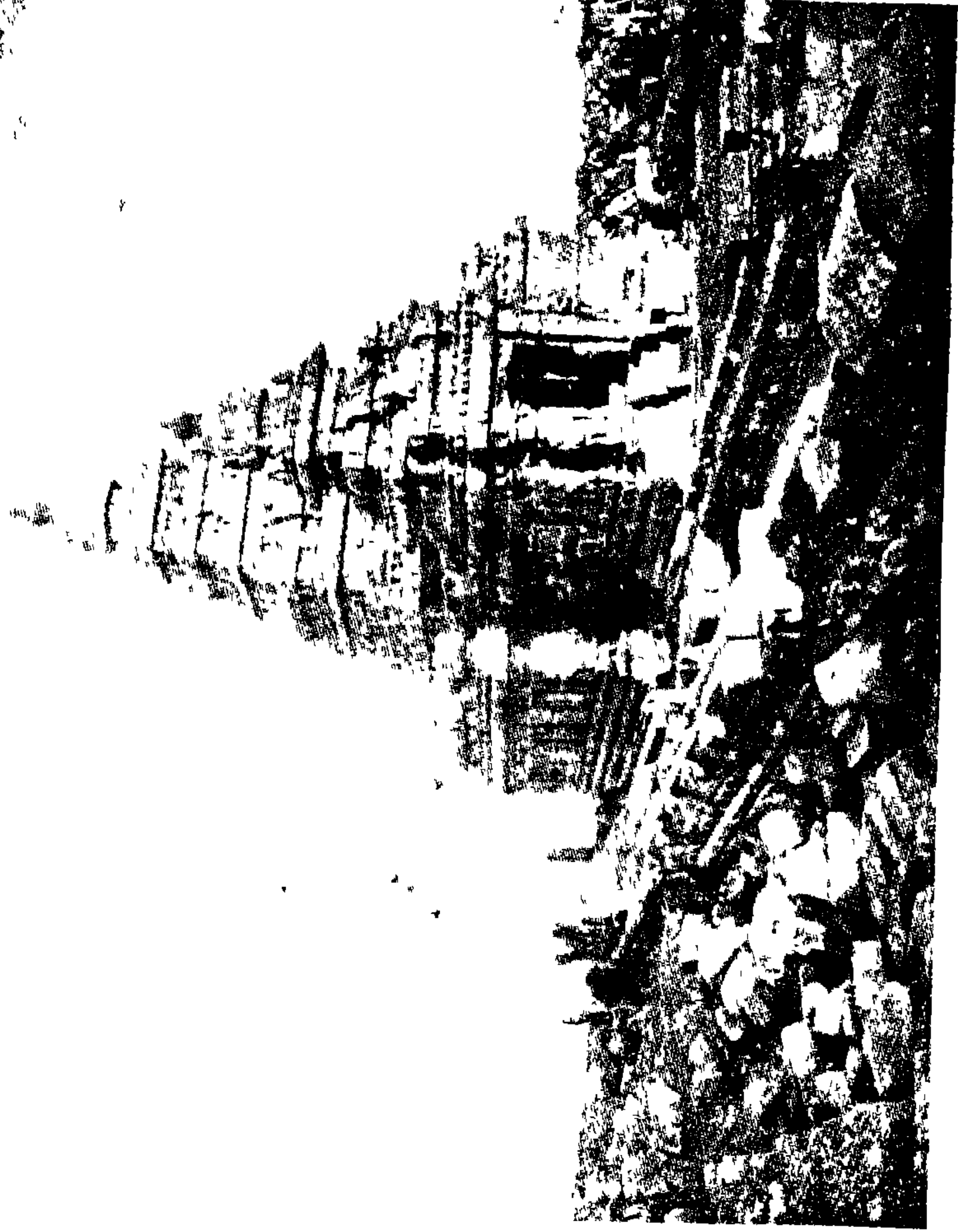


फलक ७५



महाबलिपुरम्—अर्जुन रथ एव द्रौपदी रथ

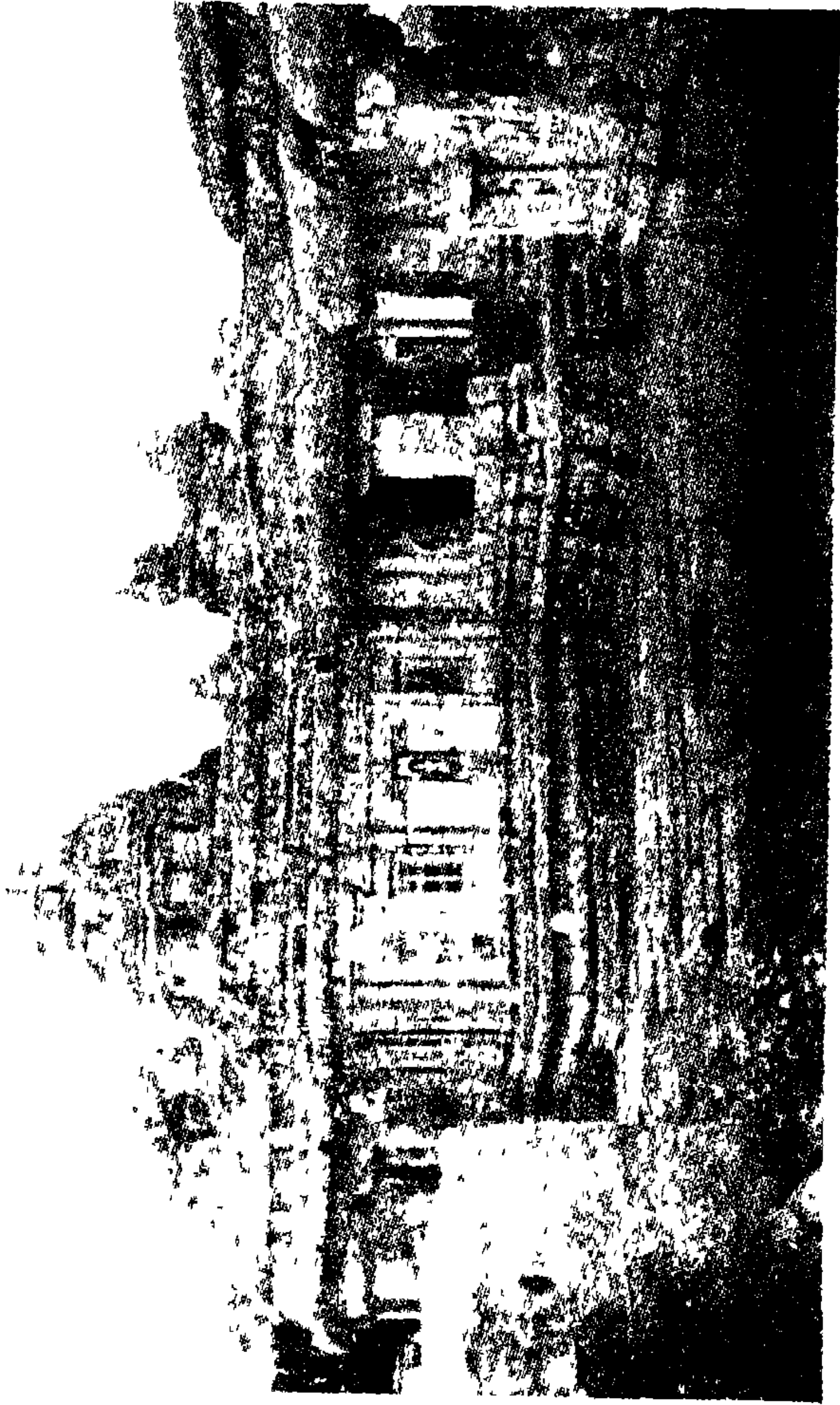
फलक ७६
महाबलिपुरम्—समुद्रनट मन्दिर



फलक ७७



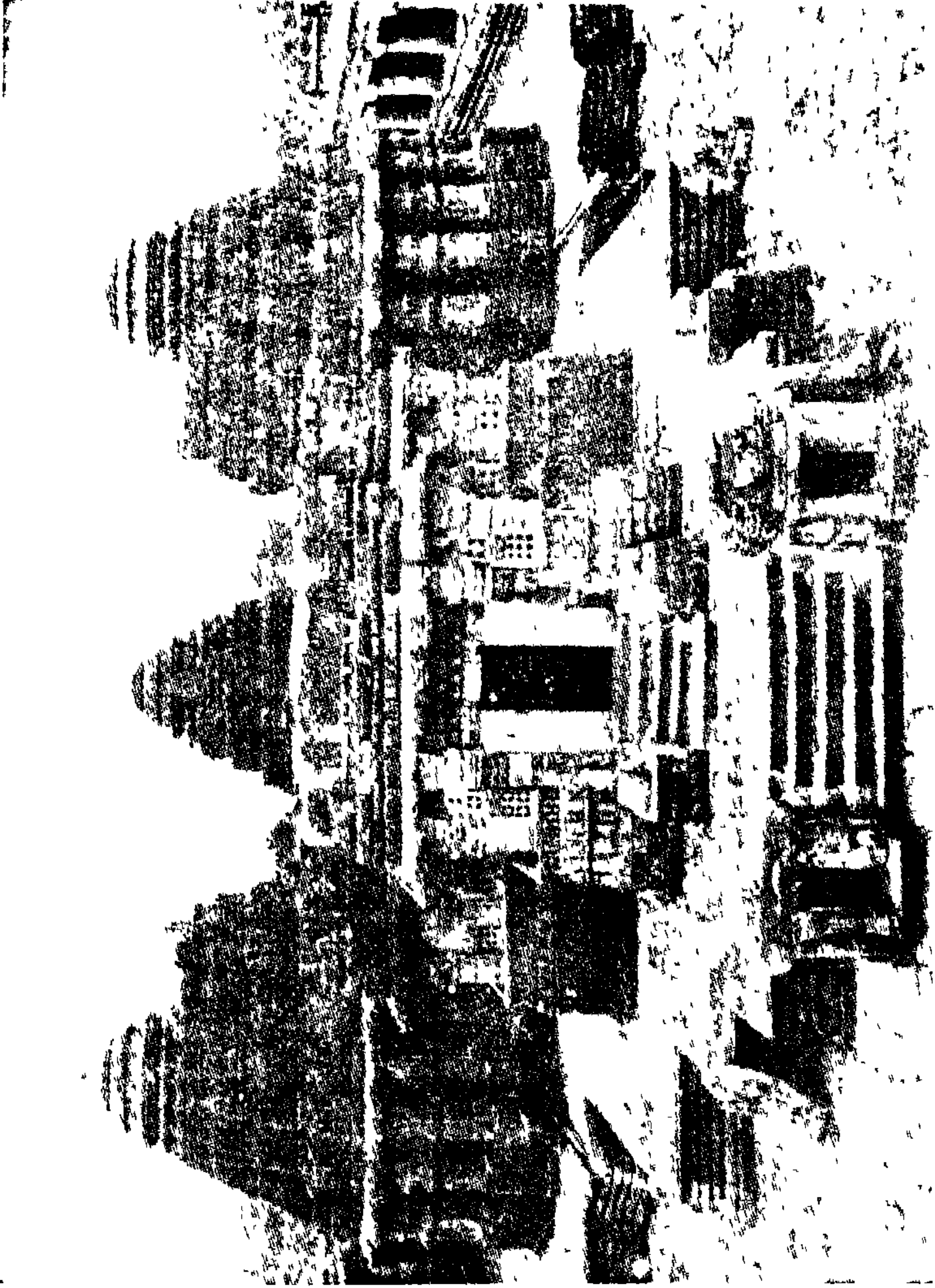
कैलाश मंदिर—काशीपुरम्



फलक ७८

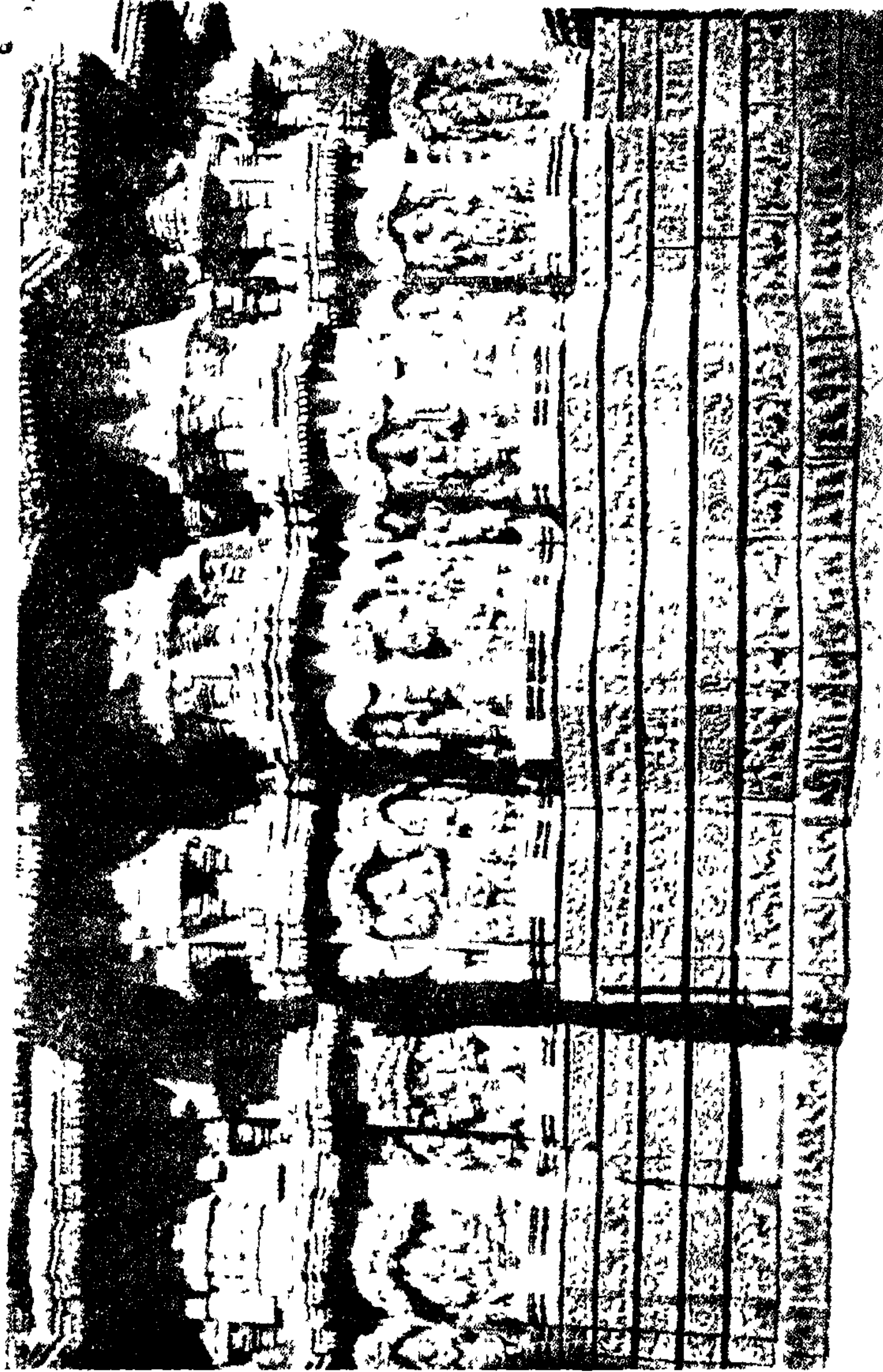
विमलाक्ष मन्दिर—पट्टादकल (मथुरा)

फलक ७९
केगत्र मडिर—सोमनाथपुर
(मैसूर)

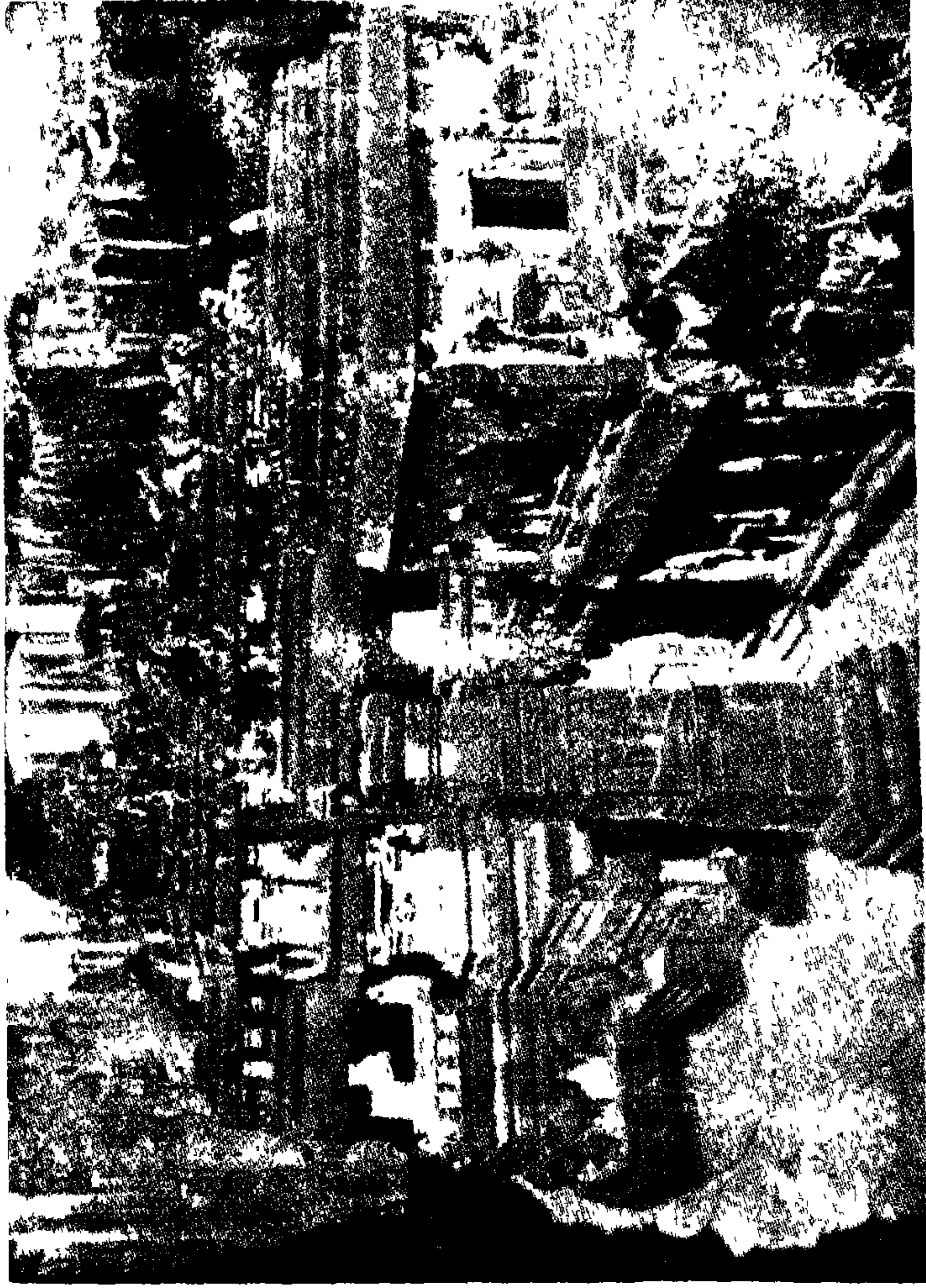


फलक ८०

हेलविदका होयसनेश्वर
मंदिर—मैमूर (खुदी
बाहरी दीवार)



फलक ८१
कैलाशनाथ मंदिर—एलोरा

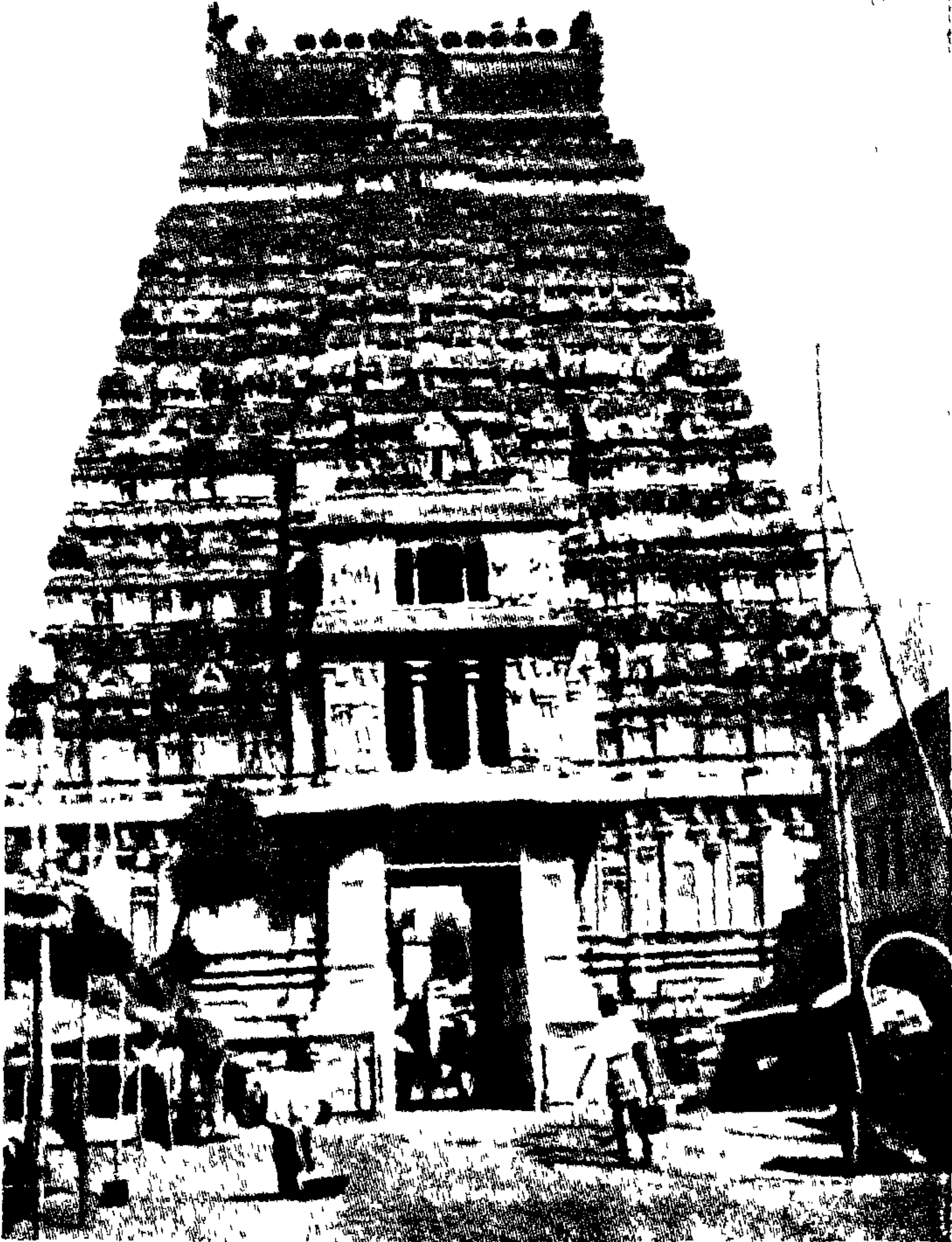


फलक ८२



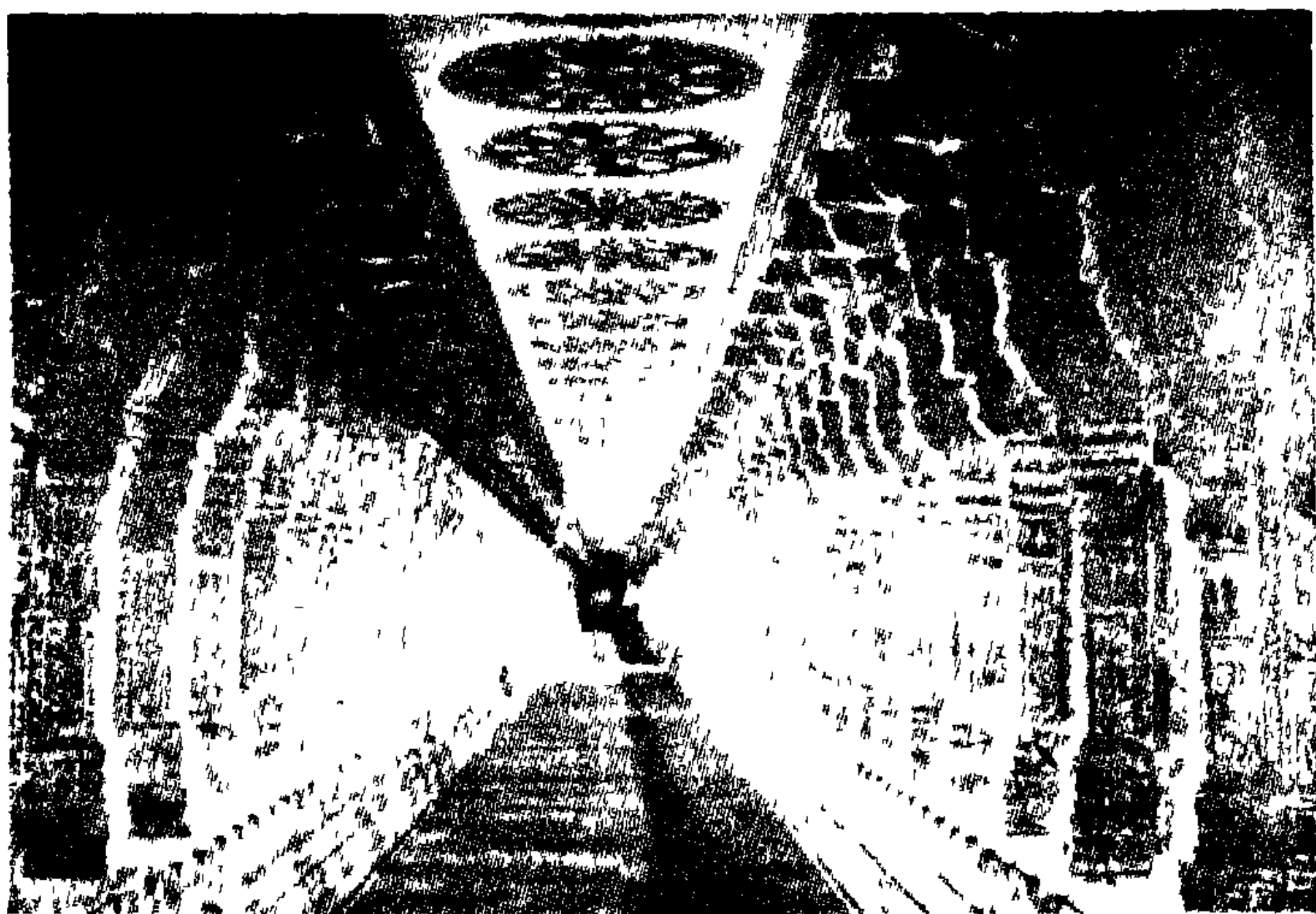
तेजी का वृहदेस्वर मंदिर

फलक ८३



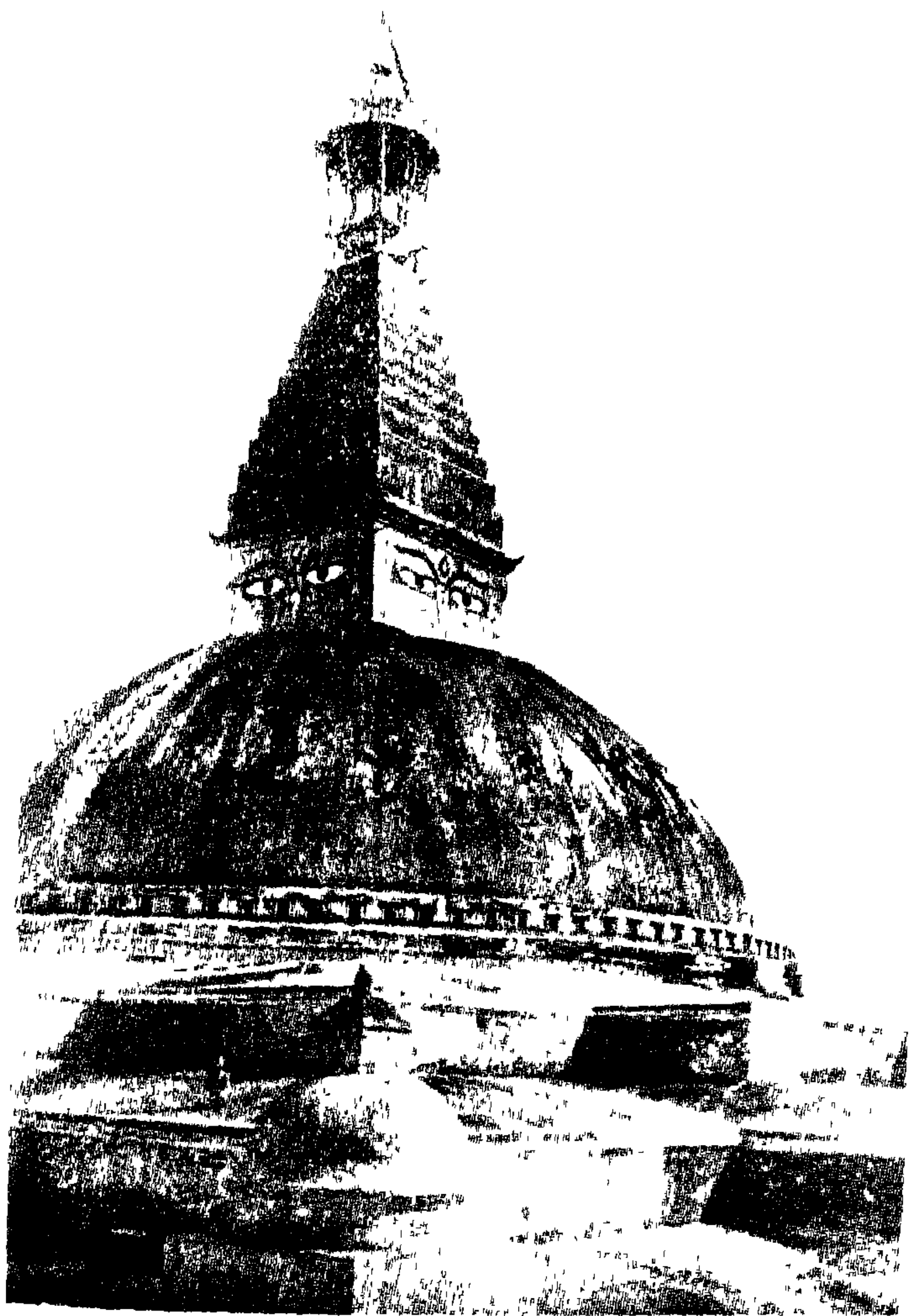
गोपुरम्—श्री रगनाथ मंदिर

फलक ८४

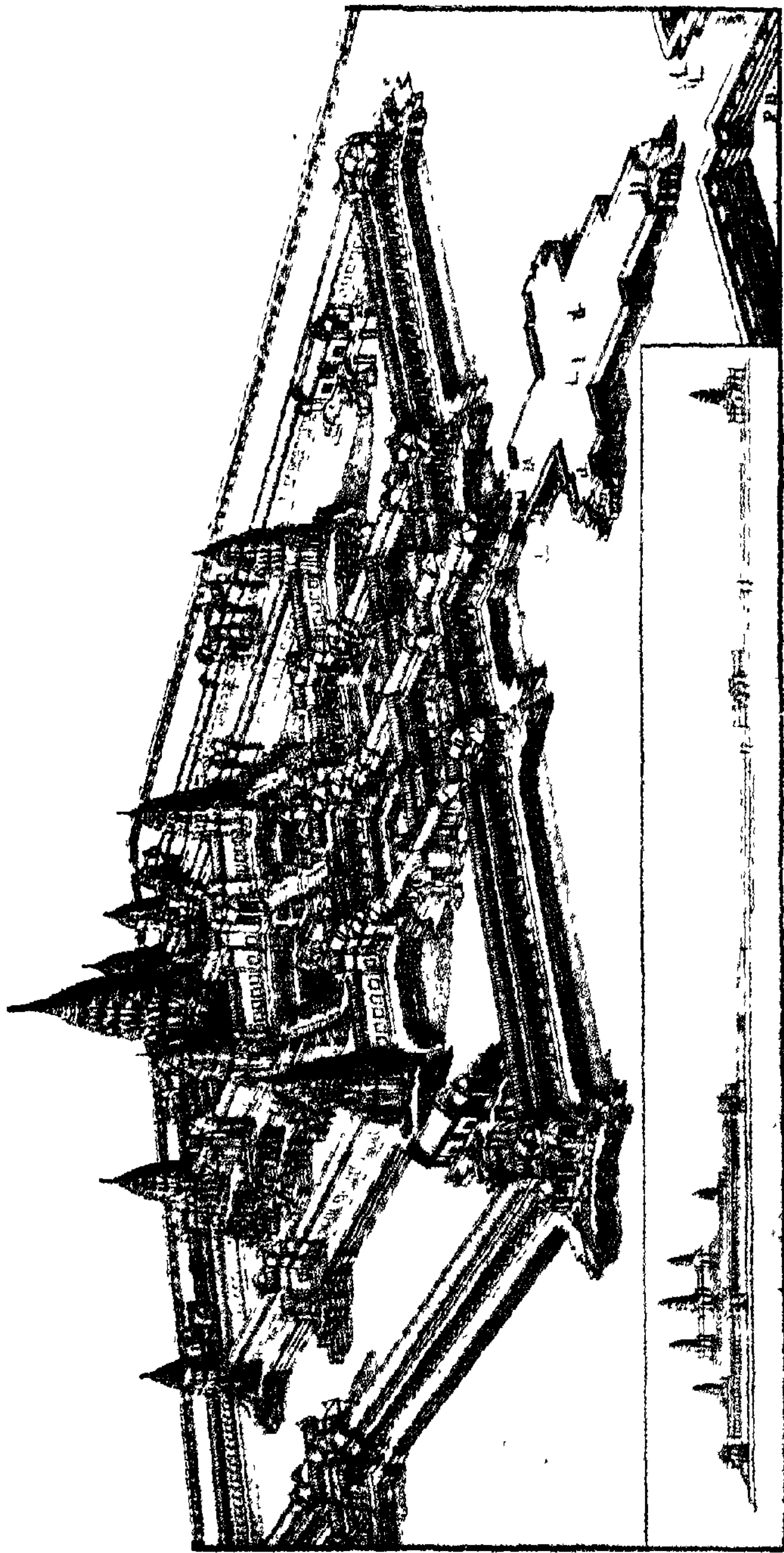


रामेश्वरम् मन्दिर का गलियारा

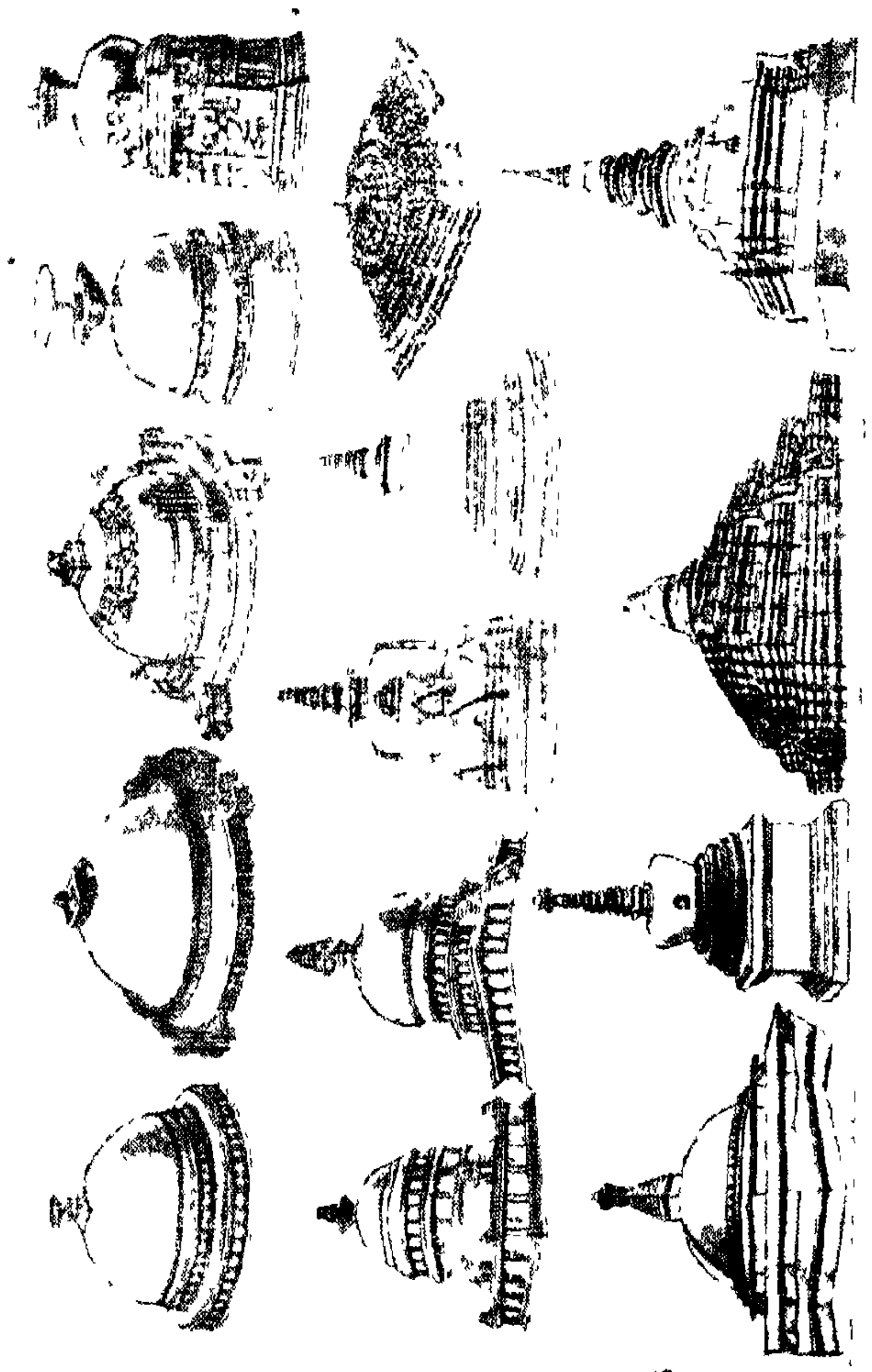
फलक ८५



स्वयंभुनाथ—नेपाल

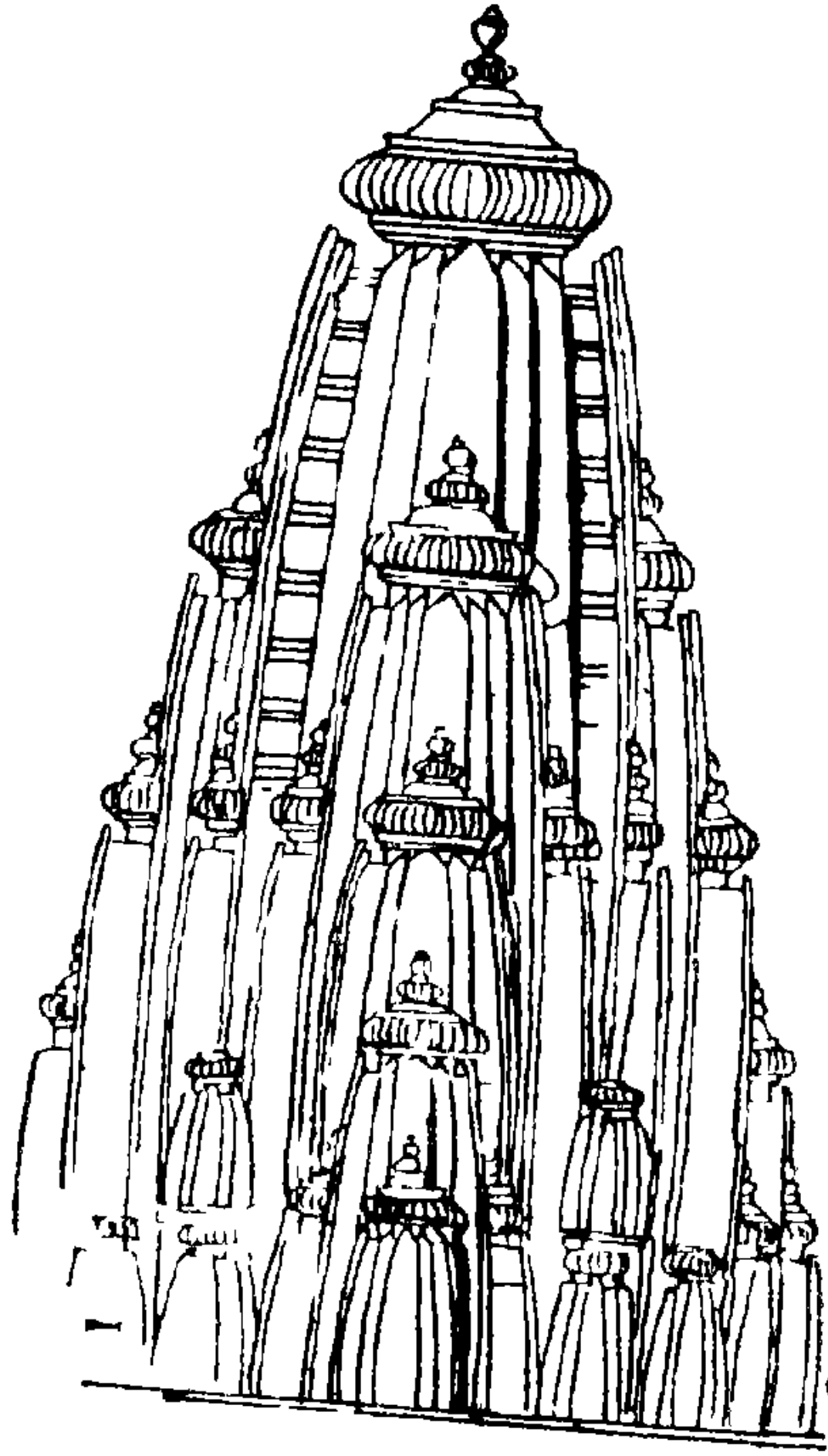


कंबुज का अंकोर बट (मंदिर)



स्तूपों का क्रमिक विकास

फलक ८८



सजुराहो शिखर

